॥ श्री ॥

हरिदास संस्कृत ग्रन्थमाला
७७

श्रीमन्नारायणपण्डितसंगृहीत

हितोपदेश-मित्रलाभः

'किरणावली' संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेतः

व्याख्याकार
न्यायाचार्य श्रीकृष्णवल्लभाचार्यः
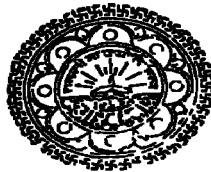
चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी-१
१९७७

प्रकाशक : चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी

मुद्रक : चौखम्बा प्रेस, वाराणसी

संस्करण : पञ्चदश, वि० सं० २०३३

मूल्य : ४-५०

K. 37/99, Gopal Mandir Lane

Post Box 8, Varanasi-221001 (India)

1977

Phone : 63145

अपरं च प्राप्तिस्थानम्

चौखम्बा अमरभारती प्रकाशन

के० ३७/११८, गोपाल मन्दिर लेन

पो० बा० १३८, वाराणसी—२२१००१ (भारत)

कथासार

कथामुख (पृष्ठ ५)

गंगाजी के तटपर पटना नगर है। वहाँ एक गुणवान् राजा रहते थे, जिनका नाम सुदर्शन था। उन्होंने पढ़ते हुए विद्यार्थी से दो श्लोक सुने, जिनका आशय था—'अनेक सदेह को मिटानेवाला और परोक्ष पदार्थको दिखानेवाला शास्त्र सबका नेत्र है, वह जिसे नहीं है, वह मनुष्य अन्धा ही है। जवानी, धन, प्रभुता और अविचार—इनमें से एक एक भी अनर्थ करनेवाले है और जिसके पास चारों हैं, उसका क्या कहना'। यह सुनकर अपने पुत्रोंके मूर्ख और कुमार्गगामी होनेसे राजा सोचने लगे—'जिसका पुत्र विद्वान्, गुणी, धर्मात्मा और वशमें रहनेवाला नहीं है, उसका होना व्यर्थ है। सो इन पुत्रोंको किस तरह गुणी बनाऊँ।' यह सोच पण्डितोंकी सभा बुलाकर उन्होंने अपने पुत्रोंको पढ़ानेके लिये कहा। उन पण्डितोंमेंसे विष्णुशर्मा बोले कि मैं इन पुत्रोंको छः मासमें पढ़ाकर विद्वान् बना दूँगा। यह सुनकर प्रसन्नचित्त राजाने उन पुत्रोंको पढ़ाने के लिए विष्णुशर्माको सौंप दिया।

चित्रग्रीव (कबूतर) तथा हिरण्यक (चूहे) की कथा (पृष्ठ २७)

एक दिन किसी व्याधने वनमें चावलके दानोंको छींटकर जाल फैला दिया था आकाशमें उड़ते हुए कबूतरोंने जब उसे देख उन चावलों को खाना चाहा, तब कबूतरोंके राजा चित्रग्रीवने कबूतरोंको बहुत समझाया कि इस जगलमें इतने चावल कहाँसे आये, इन्हें खानेका लोभ मत करो, क्योंकि—'लोभात् क्रोधः प्रभवति ' इत्यादि नीतिकार कहते हैं। किन्तु कबूतरोंने उसकी बात नहीं मानी और वे चावल खानेके लिये वहाँ उतरते ही जालमें फँस गये। तब चित्रग्रीव ने कहा—'इसमें किसीका दोष नहीं है, अभाग्यवश आपत्ति आती है, आपत्तिमें धैर्य रखकर उससे छूटनेका उपाय सोचना चाहिये। जैसे 'विपदि धैर्यम् '। इस कारण तुम लोग एक राय करके जालके साथ उड़ चलो' यह सुन सब कबूतर जालको लेकर उड़ गये और 'गण्डकी' नदीके किनारे सैकड़ों मुँहवाले बिलमें रहनेवाले 'हिरण्यक' नामक चूहेके पास पहुँचे। वह चूहा चित्रग्रीवका परम मित्र था। चित्रग्रीवके बुलाने पर बाहर आकर उस चूहेने चित्रग्रीवको जालमें फँसा देख आश्चर्यसे पूछा—'मित्र! यह क्या?' उसने उत्तर दिया—'मेरे पूर्वजन्मका फल है, जैसे कहा भी है—'रोगशोकपरीताप '। यह सुन कर हिरण्यक चित्रग्रीवके जालको काटनेके लिये उसके पास पहुँचा तो चित्रग्रीवने कहा—'पहिले इन मेरे आश्रितोंका बन्धन काटो,

दिया तब एक दिन उसमें बेचारा मृग फँस गया। यह देख स्यार मन ही मन खुश होकर कहने लगा कि जब मृगको किसान मारेगा तब मुझे खून लिपटी हुई हड्डियाँ खाने को मिलेंगी। स्यारको देख प्रसन्न होकर मृगने कहा—'मित्र! शीघ्र मेरे बन्धनोंको काटो' यह सुन कर कपटी मित्र स्यारने कहा—'मित्र! आज रविवारका दिन है, चर्मीसे बने इस फन्देको कैसे स्पर्श करूँ, मैं इसे कल काट दूँगा।' ऐसा कह कर थोड़ी दूरपर छिपकर बैठ गया। इधर प्रतिदिन के समान सन्ध्या होनेपर मृगके निवास स्थानपर नहीं लौटनेसे सुबुद्धि कौवा घबड़ाकर मृगको ढूँढ़ता हुआ वहाँ पहुँचा और उसने मृगको फँसा हुआ देखकर पूछा—'मित्र! यह क्या?' उसे देख रोते हुए चित्राङ्ग मृगने कहा—'मित्रकी बात नहीं माननेका फल मैं भोग रहा हूँ।' इसके बाद प्रातःकाल लाठी लिये किसानको आते देख कर कौवेने मृगसे कहा 'तुम हाथ-पैर फैलाकर श्वास रोक लो और मैं तुम्हारी आँखोंको धीरे-धीरे खोदूँगा, जिससे किसान तुम्हें मरा हुआ जान लेगा, फिर मैं जब बोलूँ तब बहुत शीघ्र उठकर भाग जाना'। इतनेमें किसान वहाँ आकर मृगके ऊपर बैठे हुए कौवेको देख उसे मरा हुआ समझ कर फन्देको समेटने लगा, इतनेमें कौवेके शब्द को सुन कर जब मृग उठकर भाग चला तब किसानने अपनी लाठी उसपर फेकी जिससे पासमें बैठकर झाँकता हुआ मृगमास लोभी वह धूर्त स्यार मर गया।

जरद्गव (गीध) तथा दीर्घकर्ण (बिलाव) की कथा (पृष्ठ ६४)

गङ्गाके किनारे 'गृध्रकूट' नामक पहाड़पर पाकर का पेड़ था। उसके खोढ़रेमें जरद्गव नामका एक वृद्ध गीध रहता था। उस पेड़पर रहनेवाले पक्षीगण कृपाकर अपने-अपने भोजन से थोड़ा थोड़ा उस गीधको देते थे और वह उसे खाकर उन पक्षियोंके बच्चोंकी रखवाली करता था। एक दिन एक बिलावको आते देखकर पक्षियोंके बच्चे चिल्लाने लगे। उसे सुनकर गीधने कहा—'अरे कौन आता है?' उसका विशाल शरीर देखकर कपटी बिलाव डर गया और कहने लगा 'मैं दीर्घकर्ण नामक बिलाव सर्वदा गंगामें स्नान करता हुआ चान्द्रायण व्रत करता हूँ। प्रतिदिन सब पक्षी मेरे पास आकर आपके धर्मज्ञानी होनेकी प्रशंसा करते हैं, इसीसे मैं आपसे धर्म सुननेके लिए आया हूँ। सो आप तो ऐसे धर्मात्मा निकले कि मुझ अतिथिको देखते ही तमक उठे। धर्मशास्त्रोंका मत है कि घर आनेपर शत्रुका भी आदर-सत्कार करना चाहिये'। इस प्रकार गीधको विश्वास दिलाकर पेड़के एक खोढ़रेमें वह बिलाव रहने लगा और पक्षियोंके बाहर चले जानेपर चुपकेसे उनके

क्योंकि ये जाति, क्रिया और गुणमें मेरे बराबर होनेपर भी बिना वेतनके मेरा आश्रय नहीं छोड़ते, अत: मेरे क्षणभङ्गुर शरीर की चिन्ता छोड़कर स्थायी यशके लिए इनका बन्धन पहले काटो।' यह सुन प्रसन्न होकर हिरण्यकने पहले अन्य कबूतरों के बन्धनोंको काटकर पश्चात् चित्रग्रीव का बन्धन काटा।

बूढ़े बाघ और लोभी पथिककी कथा (पृष्ठ २०)

एक बूढ़ा बाघ तलाब के किनारे स्नानकर कुश, जल और सोने का कंकण लिये जोरसे कह रहा था—'इस सुवर्णके कंकणका कोई दान ले'। यह सुन एक लोभी पथिकने बाघ से पूछा—'कहाँ है तेरा कंकण ! तुझ जैसे हिंसकपर किस प्रकार विश्वास किया जाय ?' हाथ फैलाकर सुवर्णकंकणको दिखाते हुए बाघने कहा—'पहले मैं बहुत क्रूर था, अनेक गौ-ब्राह्मणादिके मारनेसे मेरे पुत्र-स्त्री सब मर गये और मेरे दाँत नाखून सब गिर पड़े। एक महात्माके उपदेशसे मैं स्नान कर इस सुवर्णकंकणको किसी को देना चाहता हूँ, किन्तु 'बाघ मनुष्यको खाता है', यह निन्दा किस प्रकार दूर की जाय ?—क्योंकि 'गतानुगतिको लोकः' ' ऐसा नीतिज्ञ लोग कहते हैं। दरिद्र तथा अपना कोई उपकारी नहीं होनेसे यह सात्विक दान मैं तुम्हें देना चाहता हूँ, अत इस तालाबमें स्नानकर इस कंकणको लो'। यह सुन वह पथिक उसकी बातोंपर विश्वासकर तालाबमें स्नानार्थ प्रवेश करते ही कीचड़में फँसकर चिन्ता करने लगा—'हाय ! नदीनां शस्त्रपाणीनां—'इत्यादि नीतिकारोंके वचनोंके विपरीत मैंने विश्वासकर अच्छा नहीं किया, विद्वान् होनेपर भी किसीका स्वभाव नहीं बदलता। जैसे कहा भी है—'न धर्मशास्त्रं पठतीति—' ऐसा विचार कर ही रहा था कि वह बाघ उसे मारकर खा गया।

चित्राङ्ग (मृग), सुबुद्धि कौवा तथा स्यार की कथा (पृष्ठ ६१)

'मगध' देशमें 'चम्पकावती' नामक बड़ा वन था, उसमें मृग और कौवा बड़ी दोस्तीसे रहते थे। एक दिन मृग मांसलोभी धूर्त स्यार मित्रता करने के बहाने मृगके निवास स्थानपर गया। स्यार और मृगको एक साथ देखकर 'सुबुद्धि' नामक कौवा बोला—'यह कौन है तथा यहाँ क्यों आया है ? अज्ञात कुलाचारवाले व्यक्ति पर विश्वास नहीं करना चाहिये।' कौवेकी इस बातको सुनकर स्यार बोला—'भाई ! यह मेरा है, या तुम्हारा है' यह विचार तो क्षुद्र बुद्धिवाले ही करते हैं, उदार हृदयवालोंका प्राणिमात्र परिवार ही होता है।' इस प्रकार विश्वास दिलाकर वह स्यार भी वहाँ रहने लगा और उस धूर्त स्यारके दिखानेपर मृग प्रतिदिन एक खेतमें जाकर चरने लगा। यह देखकर किसानने जब खेतमें जाल फैला

दिया तब एक दिन उसमें बेचारा मृग फँस गया। यह देख स्यार मन ही मन खुश होकर कहने लगा कि जब मृगको किसान मारेगा तब मुझे खून लिपटी हुई हड्डियाँ खाने को मिलेंगी। स्यारको देख प्रसन्न होकर मृगने कहा—'मित्र! शीघ्र मेरे बन्धनोंको काटो' यह सुन कर कपटी मित्र स्यारने कहा—'मित्र! आज रविवारका दिन है, चर्बीले बने इस फन्देको कैसे स्पर्श करूँ, मैं इसे कल काट दूँगा।' ऐसा कह कर थोड़ी दूरपर छिपकर बैठ गया। इधर प्रतिदिन के समान संध्या होनेपर मृगके निवास स्थानपर नहीं लौटनेसे सुबुद्धि कौवा घबड़ाकर मृगको ढूँढता हुआ वहाँ पहुँचा और उसने मृगको फँसा हुआ देखकर पूछा—'मित्र! यह क्या? उसे देख रोते हुए चित्राङ्ग मृगने कहा—'मित्रकी बात नहीं माननेका फल मैं भोग रहा हूँ।' इसके बाद प्रातःकाल लाठी लिये किसानको आते देख कर कौवेने मृगसे कहा 'तुम हाथ पैर फैलाकर श्वास रोक लो और मैं तुम्हारी आँखोंको धीरे-धीरे खोदूँगा, जिससे किसान तुम्हें मरा हुआ जान लेगा, फिर मैं जब बोलूँ तब बहुत शीघ्र उठकर भाग जाना'। इतनेमें किसान वहाँ आकर मृगके ऊपर बैठे हुए कौवेको देख उसे मरा हुआ समझ कर फन्देको समेटने लगा, इतनेमें कौवेके शब्द को सुन कर जब मृग उठकर भाग चला तब किसानने अपनी लाठी उसपर फेंकी जिससे पासमें बैठकर झाँकता हुआ मृगमांस लोभी वह धूर्त स्यार मर गया।

जरद्गव (गीध) तथा दीर्घकर्ण (बिलाव) की कथा (पृष्ठ ६४)

गङ्गाके किनारे 'गृध्रकूट' नामक पहाड़पर पाकर का पेड़ था। उसके खोड़रेमें जरद्गव नामका एक वृद्ध गीध रहता था। उस पेड़पर रहनेवाले पक्षीगण कृपाकर अपने-अपने भोजन से थोड़ा थोड़ा उस गीधको देते थे और वह उसे खाकर उन पक्षियोंके बच्चोंकी रखवाली करता था। एक दिन एक बिलावको आते देखकर पक्षियोंके बच्चे चिल्लाने लगे। उसे सुनकर गीधने कहा—'अरे कौन आता है?' उसका विशाल शरीर देखकर कपटी बिलाव डर गया और कहने लगा 'मैं दीर्घकर्ण नामक बिलाव सर्वदा गंगामें स्नान करता हुआ चान्द्रायण व्रत करता हूँ। प्रतिदिन सब पक्षी मेरे पास जाकर आपके धर्मज्ञानी होनेकी प्रशंसा करते हैं, इसीसे मैं आपसे धर्म सुननेके लिए आया हूँ। सो आप तो ऐसे धर्मात्मा निकले कि मुझ अतिथिको देखते ही तमक उठे। धर्मशास्त्रोंका मत है कि घर आनेपर शत्रुका भी आदर-सत्कार करना चाहिये'। इस प्रकार गीधको विश्वास दिलाकर पेड़के एक खोड़रेमें वह बिलाव रहने लगा और पक्षियोंके बाहर चले जानेपर चुपकेसे उनके

बच्चोंको अपने खोदरेमें लाकर खाने लगा। जिन-जिनके बच्चोंको बिलावने खा लिया, वे इधर-उधर अपने बच्चोंको ढूँढने लगे, यह जान बिलाव तो धीरेसे भाग गया और उसके खोदरेमें पड़ी हड्डियों को देख 'गीधने हमारे बच्चों को खाया है' ऐसा निश्चयकर पक्षियोंने उस वृद्ध गीधको मार डाला। इसलिए कहा है—'अज्ञातकुलशीलस्य' इत्यादि।

चूडाकर्ण तथा वीणाकर्ण संन्यासियोंकी कथा (पृष्ठ ९९)

चम्पक नगरीमें संन्यासियोंके एक आश्रममें 'वीणाकर्ण' नामका सन्यासी रहता था। वह खानेसे बचे हुए भिक्षान्नको खूँटीमें टाँगकर जब सो जाता था तब 'हिरण्यक' नामक चूहेका राजा उसे प्रतिदिन खा जाता था। एक दिन उसने मित्र 'चूडाकर्ण' नामक संन्यासीके आनेपर बातचीत करते हुए एक बाँसके टुकड़ेको लेकर चूहेको डरानेके लिये भूमिपर पटका, यह देख चूडाकर्णने कहा—'मित्र! मेरे साथ बात करनेमें तुम्हारा मन क्यों नहीं लग रहा है?' चूडाकर्णने उत्तर दिया—'मेरा मन बात करनेमें तो लग,रहा है किन्तु यह दुष्ट चूहा मेरे भिक्षान्नको कूद-कूदकर प्रतिदिन खा जाता है, उसीको भगानेके लिये मैंने बाँस पटका है।' खूँटीकी ऊँचाई देखकर वीणाकर्णने कहा—'छोटासा चूहा इतना ऊँचा कूदता है, इससे यह मालूम होता है कि इसने बहुत सा अन्न आदि इकट्ठा कर लिया है, इसी एकत्रित धनके अभिमानसे यह इतना कूद रहा है।' यह कहकर उसने चूहेके बिलको खोदा और बहुत दिनका इकट्ठा किया हुआ सब धन ले लिया। एक दिन शक्तिहीन चूहेको धीरे-धीरे चलते हुए देखकर वीणाकर्णने कहा—'मित्र चूडाकर्ण! धनहीन इस चूहेको देखो कि कितना धीरे धीरे चल रहा है। नीति भी कहती है—'धनेन बलवांल्लोके ' इत्यादि।

भैरव (व्याध) तथा लोभी स्यारकी कथा (पृष्ठ ११९)

'कल्याणकटक' नामक देशमें 'भैरव' नामका व्याध रहता था। उसने एक दिन बाणसे एक मृगको मारकर घर लौटते समय एक सूअरको देखा। फिर उसने मारे हुये मृगको भूमिपर रखकर जैसे ही बाणसे उसे मारा वैसे ही बाण लगनेसे क्रुद्ध वह सूअर दौड़कर भैरव व्याधके अण्डकोशमें दाँतसे प्रहार कर बैठा जिससे वह उसी समय गिर पड़ा और उसके नीचे दबकर एक सर्प भी मर गया। इधर बाणकी पीड़ा से व्याकुल होकर सूअर भी मर गया। इतनेमें ही कहीं से घूमता हुआ एक लोभी स्यार आया और मरे हुये मृग, व्याध, सूअर, सर्प तथा व्याधके धनुषको देखकर विचारने लगा—'भगवान्ने आज मुझे बहुत दिनोंके लिये भोजन दे दिया। इनमें १–१ महीने मृग, सूअर, व्याध तथा १ दिन सर्पको खाऊँगा और आज तेज भूखमें स्वादहीन धनुषकी डोरीको ही खा लेता हूँ' ऐसा निश्चयकर उसने धनुषकी

ढेरीको खानेके लिये जो काटा तो चढ़ा हुआ धनुष उछलकर उसके पेटमें लगा और वह भी वहीं मर गया। इसलिये नीतिकारोंने कहा है—'सञ्चय तो करना चाहिये, किन्तु बहुत अधिक सञ्चय नहीं करना चाहिये।'

कर्पूरतिलक हाथी तथा स्यार की कथा (पृष्ठ १३६)

'ब्रह्मारण्य' में 'कर्पूरतिलक' नामका एक हाथी रहता था। उसे देखकर स्यारोंने विचारा कि 'यदि यह किसी उपायसे मर जाय तो हम लोगोंका इच्छानुसार चार मासका भोजन होगा'। यह सुन एक स्यारने कहा—'मैं अपनी बुद्धिसे इसे मारूँगा' ऐसा कहकर वह कर्पूरतिलक हाथीके पास जाकर साष्टाङ्ग प्रणाम कर बोला—'सरकार! जङ्गलके रहनेवाले सब पशुओंने मिलकर मुझे आपके पास भेजा है—बिना राजाके रहना अच्छा नहीं और इस समय राजा होने लायक आप ही हैं, सो जब तक राज्याभिषेकके शुभ मुहूर्तका समय नहीं बीत रहा है तब तक ही कृपाकर आप जल्दी चलिए'। राज्यके लोभमें पड़ा हुआ वह कर्पूरतिलक हाथी स्यारके कहनेमें आकर उसके पीछे-पीछे चल दिया। कुछ ही दूर आगे जानेपर महा दलदल में फँसकर वह बोला—'मित्र स्यार! मैं तो दलदलमें फंस गया, अब क्या करूँ'। यह सुनकर स्यारने कहा 'मेरे-जैसे नीच का विश्वास करनेका फल भोगो' इसीसे नीतिकारोंने कहा है—जो काम उपायसे होताहै, वह पराक्रमसे नहीं।

लघुपतनक (कौवा), हिरण्यक (चूहा), मन्थरक (कछुआ) और चित्राङ्ग (मृग) की कथा (पृष्ठ १४०)

चित्रग्रीव और हिरण्यककी मित्रताको देखकर लघुपतनक नामक कौवेने कहा—हिरण्यक! मैं तुम्हारे साथ मित्रता करना चाहता हूँ। यह सुन हिरण्यकने कहा—तुम मेरे भक्षक हो और मैं तुम्हारी भक्ष्य हूँ, अतः हम दोनोंमें मित्रता कैसी हो सकती है? शत्रुके साथ एकभाव होनेपर भी मेल नहीं करना चाहिये, क्योंकि बहुत गर्म भी पानी आगको बुझा देता है। इस प्रकार अस्वीकार करने पर लघुपतनकने कहा—यदि तुम मेरे साथ मित्रता नहीं करोगे तो मैं भोजन त्याग-कर यहीं प्राण दे दूँगा, क्योंकि तुम सज्जन हो और सज्जनोंकी मित्रता बड़े भाग्यसे होती है। एक ऐसे दृढ़ निश्चयको सुनकर हिरण्यकने लघुपतनकसे मित्रता कर ली। एक दिन लघुपतनकने हिरण्यकसे कहा—मित्र! यहाँ लोग पशु-पक्षियोंको मारकर खा जाते हैं, इस कारण दण्डकवनके कर्पूरगौर नामक तालाबमें रहने-वाले अपने पुराने मित्र मन्थरक नामक कछुयेके पास मैं जाना चाहता हूँ। वहाँ मुझे यथेच्छ भोजन मिलेगा। यह सुन हिरण्यकने कहा—मित्र! मैं तुम्हारे-जैसे

मित्र के विना कैसे रहूँगा, इससे मुझे भी वहां ले चलो। यह सुन लघुपतनक उसे अपनी पीठपर बैठाकर उड़ता हुआ अपने मित्र मन्थरकके पास पहुँचा। वहां मन्थरक लघुपतनकसे हिरण्यकका परिचय पाकर बड़ा प्रसन्न हुआ और उसने हिरण्यकका भी अच्छी तरह आतिथ्य किया। भोजन आदिसे निश्चिन्त होकर तीनों एक साथ बैठे तो मन्थरकने हिरण्यकसे पूछा—मित्र हिरण्यक! अपने देशको छोड़कर इस निर्जन वनमें आप क्यों आये? यह सुन हिरण्यकने कहा—धनरहित होकर परिवारमें रहनेसे बड़ा अपमान सहना पड़ता है, निर्धन मनुष्य जंगलमें चला जाय, देश छोड़ दे, परन्तु परिवार में रहकर अपमान न सहे। कहा भी है—'वरं वनं व्याघ्रगजेन्द्रसेवितम् ' '। यही विचारकर मैं आया हूँ। यह सुन मन्थरकने कहा—मित्र! प्राणीको तृष्णा छोड़ देनी चाहिये, क्योंकि जितनी तृष्णा की जायगी, वह उतनी ही बढ़ती जायगी। सन्तोष धारण करनेके समान संसारमें दूसरा कोई सुख नहीं है। इतने में ही भागता हुआ एक मृग आकर कहने लगा—'कलिंग देशका राजा 'रुक्माङ्गद' दिग्विजयके लिये निकला है। उसकी सेना चन्द्रभागा नदीके किनारे पड़ाव डालकर पड़ी है, उसके साथ रहने वाले शिकारियों-से डरकर मैं यहां आपकी शरणमें आया हूँ। दो-तीन दिनमें यहां भी वे आनेवाले हैं, ऐसा मैंने सुना है' यह सुन मन्थरक भयके मारे वहांसे चल पड़ा और दूसरे तालाबमें स्थलमार्गसे जाते हुए उसे एक व्याधने पकड़ लिया। यह देख हिरण्यक-ने कहा—हे चित्राङ्ग! तुम इस व्याधके मार्गमें आगे एक पानीवाले गढ़ेके पास पेट फुलाकर लेट जाओ और लघुपतनक तुम्हारे मुखपर बैठकर आखों में धीरे-धीरे चोंच से खोदता रहे, जिससे यह व्याध तुम्हें मरा हुआ जानकर मन्थरकको गढ़ेके किनारे रखकर तुम्हें लानेके लिए आयगा, इतनेमें मैं मन्थरकके फन्देको काट दूंगा और वह शीघ्र पानीमें घुस जायगा तथा तुम भी व्याधको पासमें आते देख झट उठकर भाग जाना। यह उपाय उन दोनोंको बहुत अच्छा लगा और उन्होंने ऐसा ही किया जिसे देख व्याध मृगको मरा हुआ समझकर कुशाकी रस्सीसे बांधे हुए मन्थरकको गढ़ेके किनारे रखकर मृगको लानेके लिए गया। उधर व्याधको पासमें आता हुआ देख कौवा उड़ गया और मृग भाग गया। फिर वापस लौटकर बन्धनसे भागे हुए मन्थरकको देखकर व्याध सोच करने लगा—'जो निश्चितको छोड़कर अनिश्चितके लिये दौड़ता है, उसकी दशा मेरी-जैसी होती है।' इस प्रकार शोक करता हुआ वह घर चला गया। इधर सब मित्र (मन्थरक, हिरण्यक, चित्राङ्ग तथा लघुपतनक) फिर मिलकर सुखपूर्वक रहने लगे।

॥ श्री ॥

हितोपदेश-मित्रलाभः

किरणावली-संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेतः

मङ्गलाचरणम्

सिद्धिः साध्ये सतामस्तु प्रसादात्तस्य धूर्जटेः ।
जाह्नवीफेनलेखेव यन्मूर्ध्नि शशिनः कला ॥ १ ॥

तर्कश्रुतिभिरावेद्यमक्षरात् परत परम् ।
पर ब्रह्म नमस्कृत्य 'स्वामिनारायण' प्रभुम् ॥
'श्रीकृष्णवल्लभाचार्य' करोति 'किरणावलीम्' ।
व्याख्या शिशुहिता रम्या 'मित्रलाभ'नयानुगाम् ॥

अन्वय —यन्मूर्ध्नि शशिन. कला जाह्नवीफेनलेखा इव (अस्ति), तस्य धूर्जटे. प्रसादात् सता साध्ये सिद्धि. अस्तु ॥ व्याख्या—यस्य मूर्धा यन्मूर्धा, तस्मिन् । यस्य=शङ्करस्य मूर्ध्नि=ललाटे । कला=षोडशो भाग, 'कला तु षोडशो भाग' इत्यमर. । जाह्नवीफेनलेखेव=जह्नो. अपत्य कन्या जाह्नवी=गङ्गेत्यर्थ. । जाह्नव्या फेन.=डिण्डीर, 'डिण्डीरोऽब्धिकफ फेन' इत्यमर, जाह्नवीफेनस्य लेखा=चिह्नमिव विराजते-इति शेष । धूर्जटे–धू भारभूता जटि=जटा यस्य स. तस्य= शङ्करस्य, प्रसादात्=अनुग्रहात् । सता=सज्जनाना विद्यार्थिनाम्, साध्ये=साधितु योग्ये स्वाभिकथिते एतद्ग्रन्थाऽध्ययनात्मके कार्ये, सिद्धिरस्तु=पारगामित्वं भवतु ।

भाषान्तरम्—जिन शङ्करजीके ललाटमें चन्द्रकी एक कला गङ्गाजी के फेन (गाज) की रेखाके समान सुशोभित है, उन शङ्करजीकी प्रसन्नतासे सब सत्पुरुषोंके कार्योंकी निर्विघ्न सिद्धि हो ॥ १ ॥

ग्रन्थस्योपादेयता दर्शयति—

श्रुतो हितोपदेशोऽयं पाटवं संस्कृतोक्तिषु ।
वाचां सर्वत्र वैचित्र्यं नीतिविद्यां ददाति च ॥ २ ॥

अ०—श्रुतः अयं हितोपदेशः संस्कृतोक्तिषु पाटवम्, सर्वत्र वाचां वैचित्र्यम्, नीतिविद्यां च ददाति ॥ व्या०—श्रुत = अधीतः—गुरुमुखात् श्रावणप्रत्यक्षविषयीकृत इति यावत्, अयम्—एष बुद्धिस्थ, हितोपदेश —हित = हितकर. उपदेशो यस्मात्, तादृशः 'हितोपदेश'नामा ग्रन्थः (इदं कर्तृपदम्), संस्कृतोक्तिषु—संस्कृतस्य = संस्कृतभाषाया', उक्तय. भाषणानि तासु—इत्यर्थ. । पाटवम् = पटोर्भाव पाटवम् = चतुरताम् (ददाति), सर्वत्र = यावति शब्दप्रयोगात्मके व्यवहारे, वाचाम् = गिराम् 'गीर्वाग् वाणी सरस्वती' इत्यमरः । वैचित्र्यम् = नवनवार्थशालित्वम् (ददाति), नीतिविद्या च = नीयते लभ्यते स्वेप्सितम् अनया इति नीति. = सामदानभेददण्डेत्युपायचतुष्टयप्रयोग, विद्या = वेदन ज्ञानम्, नीत्याः विद्या नीतिविद्या = नीतिशास्त्रज्ञान ताम्, सामदानादिप्रयोगज्ञान ददातीत्यर्थ. ॥

भा०—इस हितोपदेशका अध्ययन करनेसे संस्कृत भाषामें व्युत्पत्ति, सभी प्रकारके शब्दप्रयोगात्मक व्यवहारों में निपुणता तथा नीतिका ज्ञान प्राप्त होता है ॥ २ ॥

विद्याप्रशंसा

अजराऽमरवत् प्राज्ञो विद्यामर्थं च चिन्तयेत् ।
गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत् ॥ ३ ॥

अ०—प्राज्ञ अजराऽमरवत् विद्याम् अर्थं च चिन्तयेत् । मृत्युना केशेषु गृहीत इव धर्ममाचरेत् ॥ व्या०—प्रकर्षेण जानातीति प्रज्ञ, प्रज्ञ एव इति प्राज्ञ, स्वार्थे अण्, धीमान् मनुष्य इत्यर्थं । न विद्यते जरा यस्य स., अथवा न जीर्यते इत्यजर., न म्रियते इत्यमर, अजरश्चासौ अमरश्चेति अजराऽमर, स इव = तेन तुल्यम् = इत्यजराऽमरवत् = जरामरणरहित इवेत्यर्थं । विद्याम् = शास्त्रज्ञानकलाज्ञानादिकम्, अर्थं च = द्रव्यं च, चिन्तयेत् = उपार्जयेत् । मृत्युना = अन्तकेन, केशेषु = शिरोरुहेषु, गृहीत इव = धृत इव धर्मं = पुण्यम् । आचरेत् = अनुतिष्ठेत् ॥

भा०—बुद्धिमान् मनुष्य अपने को अजर-अमर समझ कर विद्या तथा द्रव्य (धन) का उपार्जन करे और मृत्यु हमको ले जाने के लिये हमारे शिर के केश (चोटी) पकड़े हुए है, ऐसा समझ कर सदा धर्माचरण करे ॥ ३ ॥

सर्वद्रव्येषु विद्यैव द्रव्यमाहुरनुत्तमम् ।
अहार्यत्वादनर्घत्वादक्षयत्वाच्च सर्वदा ॥ ४ ॥

अ०—(तत्त्वज्ञा) सर्वदा, अहार्यत्वात् अनर्घत्वात् अक्षयत्वाच्च सर्वद्रव्येषु विद्यैव अनुत्तम द्रव्यम् अस्तीति आहु ॥ व्या०-(तत्त्ववेत्तार –सत्याऽसत्यविवेचका) सर्वदा = सर्वकालम्, अहार्यत्वात् = हर्तुं योग्या हार्या, हार्या न भवतीति अहार्या, तस्या भावः अहार्यत्वम् तस्मात् अहार्यत्वात् = चौरादिभिरपहर्तुम् अयोग्यत्वा-

वित्यर्थः। अनर्घत्वात्=नास्ति अर्घो मूल्यं यस्याः सा अनर्घा=अमूल्या, तस्या भावः अनर्घत्वम्, तस्मात्, अनर्घत्वात्, द्रव्यादिमूल्येनाऽपि प्राप्तुमशक्यत्वादित्यर्थः। अक्षयत्वात्=नास्ति क्षयः=नाशः स्थूलपदार्थवत् छेदनदहनपरिणामाद्यात्मकः शीघ्र विनाशो यस्या सा इति अक्षया, तस्या भावस्तस्मात्। व्यये कृते वृद्धिशीलत्वादिति यावत्। सर्वद्रव्येषु=सर्वाणि च तानि द्रव्याणि च सर्वद्रव्याणि=सुवर्णरजताद्यात्मकानि रत्नाद्यात्मकानि अन्यानि च यानि क्रयविक्रयार्हवस्तूनि, तेषु मध्ये विद्या एव, अनुत्तमम्=उत्कृष्टं पराकाष्ठां गतम्, द्रव्यम् (अस्तीति) आहुः=वदन्तीति। अत्र श्लोके—अनुमानत्रयम्—हेतुत्रयेण बोध्यम्।

भा०—विद्वान् लोग सब धनों में से विद्या को ही उत्तम धन कहते हैं, क्योंकि चोर लोग उसकी चोरी नहीं कर सकते हैं, और मूल्य देने पर भी वह खरीदी नहीं जा सकती है, और दूसरे को देने (पढाने) से कमती नहीं होती है, किन्तु बढती ही रहती है, इसलिये श्रेष्ठ है॥ ४॥

संयोजयति विद्यैव, नीचगाऽपि नरं सरित्।
समुद्रमिव दुर्धर्षं नृपं भाग्यमतः परम्॥ ५॥

अ०—नीचगा अपि सरित् दुर्धर्षं समुद्रमिव (नीचगाऽपि) विद्या एव नरं नृपं संयोजयति, अतः (विद्या) परम् भाग्य (उद्घाटयति)। व्या०—नीचगाऽपि=निम्नप्रदेशगामिन्यपि, सरित्=नदी, (तृणकाष्ठादिकम्) दुर्धर्षम्=दुःखेन धृष्यते आक्रम्यते इति दुर्धर्षं तम्, दुरतिक्रमम् दुष्प्रापमिति यावत्, समुद्रम्—मुद्राभिः= रत्नैः सहितः समुद्रः, तम्=अर्णवम्, इव=यथा (संयोजयति) तथा (नीचगाऽपि) नीचः कुलस्वभावादिनाऽपकृष्टमपि पुरुषं गच्छतीति नीचगा, नीचैरधीता सत्यपीत्यर्थं, नरं=जातिकुलाद्यपकृष्टं जनम्, विद्या एव दुर्धर्षं=दुष्प्रापम्, नृपम्= नॄन् पातीति नृपः, लोकरक्षको राजा, तम्, संयोजयति=सङ्गमयतीत्यर्थं, प्रापयतीति यावत्, अतः परम्=इतः ऊर्ध्वं, भाग्यम्=दैवाधीनम् फलम्।

भा०—जैसे नीचे प्रदेश में बहने वाली नदी तुच्छ तृणकाष्ठादिकको दुष्प्राप्य अथाह समुद्र में जा मिलाती है वैसे ही नीच पुरुषको प्राप्त होकर विद्या ही उस पुरुष को बडे भारी राजा से मिलाती है। उसके बाद वह भाग्यानुसार फल पाता है॥ ५॥

विद्या ददाति विनयं विनयाद्याति पात्रताम्।
पात्रत्वाद् धनमाप्नोति धनाद्धर्मं ततः सुखम्॥ ६॥

अ०—विद्या विनय ददाति, विनयात् पात्रता याति, पात्रत्वात् धनम् आप्नोति, धनाद् धर्मं (करोति), ततः सुखम् (आप्नोति)। व्या०—विद्या विनयं=नम्रताम्, ददाति (जनयेति शेषः), विद्यायुक्तः नम्रो भवतीति भावः। विनयात्= नम्रत्वात् (हेत्वर्थे पञ्चमी, एवमग्रेऽपि) पात्रता=सत्पात्रत्वम्, याति=प्राप्नोति,

(विनयवान् जन इति शेष) पात्रत्वात्=सत्पात्रत्वात्, दानादिसमर्पणयोग्यत्वाद् विश्वासपात्रत्वाद्वा, धनम्=सुवर्णरजताद्यात्मकम् अर्थम् आप्नोति, विश्वासकार्ये नियुक्तः सन् कार्यपरिसमाप्त्या प्रसादितात् स्वामिन विपुल धनं लभते इति भावः। धनात्=नीतिसम्पादिताद् धनात्, धर्मम्=यागदानादिद्वारा पुण्यम्, अर्जयति-इति शेषः। तत=तस्मात् पुण्यात्, सुखम्=स्त्री-पुत्र-समृद्धि-प्रतिष्ठाऽऽरोग्यादिभि सर्वदा आनन्दम्, अनुभवतीति शेष।

भा०—मनुष्य विद्या को पढ़ने से विनयवान् बनता है, विनयवान् होने से ही वह सुपात्र कहाता है, सुपात्र होने से वह धन को प्राप्त करता है, धन से धर्मकार्य यज्ञदानादि करके पुण्यशाली बनता है, पुण्यशाली होने से सांसारिक स्त्री, पुत्र, समृद्धि, लोकप्रतिष्ठा आदि से सदा सुखी रहता है॥ ६॥

विद्या शस्त्रस्य शास्त्रस्य द्वे विद्ये प्रतिपत्तये।
आद्या हास्याय वृद्धत्वे द्वितीयाऽऽद्रियते सदा॥ ७॥

अ०—शस्त्रस्य शास्त्रस्य विद्या (भवति), द्वे विद्ये प्रतिपत्तये (भवतः) आद्या वृद्धत्वे हास्याय (भवति), (अत) द्वितीया सदा आद्रियते। व्या०—शस्त्रम्=खड्गादिकं परेभ्य स्वरक्षणसाधनम्, शास्त्रम्=विधिनिषेधादिना लोकशासनाय आप्तविरचितवाक्यसमूहश्चेति द्वयं विद्या भवति, कारणे कार्योपचाराद् विद्यासाधनयोरपि द्वयोर्विद्याप्रयोग। एते द्वे विद्ये प्रतिपत्तये=स्वेष्टकार्यसिद्ध्यै, भवत। तयोर्मध्ये या आद्या=शस्त्रात्मिका विद्या, सा तु वृद्धत्वे=वार्धक्ये सति, दुर्बलावस्थाया सामर्थ्याऽपगमे सतीति भाव, हास्याय=उपहासाय भवति, अत एव द्वितीया (या)=शास्त्रविद्या सा तु सदा=सर्वदा, बाल्ये यौवने प्रौढे वार्धक्येऽपि चेत्यर्थ। आद्रियते=लोके प्रशस्यते=आदृता भवतीति भावः। (अत्र श्लोके-'विद्या शस्त्रस्य शास्त्रस्येति' पाठान्तरम्-)।

भा०—संसार में दो विद्यायें प्रसिद्ध हैं, एक शस्त्रविद्या दूसरी शास्त्रविद्या, उन दोनों को पढने से मनुष्यकी इष्टसिद्धि होती है, किन्तु निर्बल (वृद्धादि) अवस्था में शस्त्रविद्या से अपना रक्षण तथा विजयादि नहीं कर सकते हैं, इसलिये शस्त्रविद्या हँसी कराती है, शास्त्रविद्या तो सबल निर्बल सभी अवस्थाओं में सुख देनेवाली है, इसलिये द्वितीय विद्या शास्त्रविद्या ही प्रशसित है॥ ७॥

यन्नवे भाजने लग्नः संस्कारो नाऽन्यथा भवेत्।
कथाच्छलेन बालानां नीतिस्तदिह कथ्यते॥ ८॥

अ०—यत् नवे भाजने लग्न संस्कार अन्यथा न भवेत्, तत इह कथाच्छलेन बालानां नीति कथ्यते। व्या०—यत्=यस्माद्धेतो, (यथा) नवे=नूतने-अपक्वे भाजने=मृत्पात्रादौ, लग्नः=अङ्कित, संस्कार=रेखादिचिह्नम्, अन्यथा=अन्य-

प्रकारो विलीनो वा न भवेत् (तथा) यत् = यस्माद्धेतोः नवे = नूतने विद्या-संस्काररहिते, भाजने = विद्यापात्ररूपे बालान्तःकरणे, लग्न = सङ्क्रान्त संस्कार = विद्यासंस्कारः अन्यथा = विपरीतो न भवेत् । तत् = तस्माद्धेतो, इह = अस्मिन् ग्रन्थे, कथाच्छलेन—कथा काककूर्मादीना कल्पितोपाख्यानम्, तदेव छल तेन, बालानाम् = प्रथमं संस्कृतभाषायां प्रवेशाऽभिलाषुकाणाम् (बोधार्थमिति शेषः) कथ्यते = उपदिश्यते । मया विष्णुशर्मणेति शेषः ।

भा०—बालकों का हृदय मृत्तिका के नये घट के समान निर्मल होता है, इसलिये नये घटादि में खींचे हुए रेखा आदि के चिह्न—बरतन फूटने तक नहीं जाते वैसी ही बालकों के निर्मल अन्तःकरणों में उपदेश द्वारा किये गये शुभ संस्कार भी जीवनपर्यन्त दूर नहीं होते, इसलिये मैं (विष्णुशर्मा) बालकों को मनोरंजक नीतियुक्त कथायें कहकर उपदेश देने का प्रयत्न करता हूँ ॥ ८ ॥

मित्रलाभः सुहृद्भेदो विग्रहः सन्धिरेव च ।
पञ्चतन्त्रात् तथाऽन्यस्मात् ग्रन्थादाकृष्य लिख्यते ॥ ९ ॥

अ०—(मया) पञ्चतन्त्रात् तथा अन्यस्मात् ग्रन्थात् आकृष्य मित्रलाभः, सुहृद्भेदः, विग्रहः, सन्धिः, एव च लिख्यते । व्या०—मया (विष्णुशर्मणा) पञ्चतन्त्रात् = 'पञ्चतन्त्र' नामकग्रन्थात्, तथा अन्यस्माद् ग्रन्थात् = महाभारत-कामन्दकीयादेः नीतिशास्त्रान्तरात्, आकृष्य = समाहृत्य सङ्गृह्य च, मित्रलाभः = मित्रस्य लाभः प्राप्तिः, सुहृद्भेदः = सुहृदो भेदः = वैमत्यम्, विग्रहः = युद्धम्, सन्धिः = मेलनं चेति लिख्यते एवेति ।

भा०—मैं नीति के प्रतिपादक पञ्चतन्त्र तथा महाभारतादि ग्रन्थों से पाठकों का हित करने वाली कथायें एकत्रित करके मित्रलाभ, सुहृद्भेद, विग्रह, सन्धि-चार प्रकरणों में पर्यवसित ऐसा यह 'हितोपदेश' नाम का ग्रन्थ लिखता हूँ ॥ ९ ॥

अथ कथामुखम्

अस्ति भागीरथीतीरे पाटलिपुत्रनामधेयं नगरम् । तत्र सर्वस्वामिगुणोपेतः सुदर्शनो नाम नरपतिरासीत् । स भूपतिरेकदा केनाऽपि पठ्यमानं श्लोकद्वयं शुश्राव ।

व्या—भागीरथीतीरे = 'भागीरथ' नाम्ना राजकुमारेण आनीता या गङ्गा सा भागीरथी, तस्याः तीरे तटे पाटलिपुत्रनामधेयम् = नाम एव इति नामधेयम्, 'पाटलिपुत्र' इति (पटना) नामधेयं यस्य तत् 'पाटलिपुत्र' नामकं, नगरं = पुरम् अस्ति = वर्तते । तत्र = तस्मिन्निति तत्र = पाटलिपुत्रनगरे, सर्वस्वामिगुणोपेतः = स्वम् ऐश्वर्यं प्रजेशनशीलस्वरूपम् अस्ति अस्य इति स्वामी = राजा, स्वामिनो गुणाः =

शौर्यादयः, सर्वे च ते स्वामिगुणाः सर्वस्वामिगुणाः तैः उपेतः=युक्तः सुदर्शनो नाम=सुष्ठु सुखकरं दर्शनं यस्य स सुदर्शनः, 'सुदर्शन'नामा नरपतिः=पाति रक्षतीति पतिः नराणां पतिः नरपतिः=राजा, आसीत्=बभूव। स भूपतिः= असौ 'सुदर्शन' नामा भूपतिः भुवः पतिः भूपतिरिति विग्रहः। एकदा=एकस्मिन् काले, केनाऽपि=व्यक्तिविशेषेण विदुषा, पठ्यमानम्=पठ्यते तत् पठ्यमानम् श्लोकयोः द्वयम्-श्लोकद्वयम् 'अनेके'-त्यादिरूपं वक्ष्यमाणं पद्यद्वयम्, शुश्राव= आकर्णितवान्।

भा०—श्रीभागीरथी गङ्गाके तीर पर 'पाटलिपुत्र' (पटना) नाम का एक नगर है, उस नगर का राजा 'सुदर्शन' नाम का था, वह राजाओं के सब गुणों से युक्त था, उस राजा ने एक समय किसी द्वारा पढे जाते हुए इन दो श्लोकों को सुना जो आगे कहे जा रहे हैं।)

अनेकसंशयोच्छेदि परोक्षार्थस्य दर्शकम्।
सर्वस्य लोचनं शास्त्रं यस्य नास्त्यन्ध एव सः॥ १०॥

व्या०—सर्वस्य=निखिलजनस्य, अनेकसंशयोच्छेदि, न एके=अनेके, अनेके च ते संशयाः अनेकसंशयाः। अनेकसंशयानाम् उच्छेदि, इत्यनेकसंशयोच्छेदि= बहुविधधार्मिक-राजनीतिक-सामाजिकैतिहासिक-संशयनिरासकमित्यर्थः। परोक्षार्थस्य—अक्षाणाम्=इन्द्रियाणां परः इति परोक्षः, परोक्षश्चासौ अर्थश्चेति परोक्षार्थः तस्य परोक्षार्थस्य=भूतभविष्यत्सूक्ष्मपदार्थस्येत्यर्थः। दर्शकम्=प्रत्यक्षमिव यथार्थज्ञानजनकम्, शास्त्रम् (एव) द्वितीयं दिव्यं लोचनं=नेत्रं भवतीति हेतोः यस्य जनस्य तद् दिव्यलोचनात्मकं शास्त्रम् नास्ति स अन्धः एव।

भा०—सब मनुष्य को स्थूल, दोनों नेत्रों से अलग दिव्य नेत्र शास्त्र होता है, क्योंकि शास्त्रों से ही धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक, ऐतिहासिक संशय दूर होते हैं, भविष्य में होने वाले हानि लाभ भी शास्त्र से ही विदित होते हैं, इसलिये ऐसा शास्त्र जिसने नहीं पढा वह अन्ध ही के समान है॥ १०॥

यौवनं धनसम्पत्तिः प्रभुत्वमविवेकिता।
एकैकमप्यनर्थाय किमु यत्र चतुष्टयम्॥ ११॥

अ०—यौवनं, धनसम्पत्ति, प्रभुत्वम्, अविवेकिता—(एतन्मध्ये) एकैकमप्यनर्थाय (भवति) तर्हि) यत्र चतुष्टयं तत्र किमु॥

व्या०—यूनो भावो यौवनम्=यौवनावस्था, धनसम्पत्ति=धनस्य सम्पत्तिः=धनविभव इत्यर्थः। प्रभुत्वम्=प्रभवति नियमनाय जनानां यः स प्रभुः, प्रभोर्भावः प्रभुत्वम्, स्वामित्वम् आधिपत्यं नियामकत्वमिति यावत्, अविवेकिता, विवेकस्य भावः विवेकिता न विवेकितेति अविवेकिता=विवेकशून्यता अज्ञानतेति यावत्। एतेषां चतुर्णां मध्ये एकैकम्=प्रत्येकमपि, अनर्थाय—अर्थः=पुरुषार्थो न भवतीति अनर्थः

शास्त्रनिषिद्धम् आपत्तिप्रद कर्म इत्यर्थ., तस्मै भवति = एकैकमप्यनर्थं जनयतीति भावः। तर्हि यत्र = यस्मिन् पुरुषे, चतुष्टयम्—यौवन धनसम्पत्तिः प्रभुत्वमविवेकिता चेति चतुष्टयमपि एकत्रितं भवति, तत्र = पुरुषे, किमु = किं वक्तव्यम्, यत. स तु अनर्थानां खनि(कोश)रूप एव भवतीति भाव. ।

भा०—जवानी, धनदौलत, आधिपत्य (अधिकार) और अज्ञानता (विवेकशून्यता) इन चारों में से एक-एक भी बड़ा-बड़ा अनर्थ (अत्याचार) कराता है तो चारों जहाँ एकत्रित हों वहाँ कौन अनर्थ नहीं होगा। अर्थात् सभी अनर्थ होंगे (महाराज सुदर्शन के पुत्रों में चारों उपस्थित थे) ॥ ११ ॥

इत्याकर्ण्याऽऽत्मनः पुत्राणामनधिगतशास्त्राणां नित्यमुन्मार्गगामिनां शास्त्राऽननुष्ठानेनोद्विग्नमनाः स राजा चिन्तयामास ।

व्या०—इति = एतत् श्लोकद्वयम् आकर्ण्य=श्रुत्वा, आत्मन = स्वस्य, अनधिगत शास्त्राणाम् = अधिगतं शास्त्रं यैस्ते अधिगतशास्त्रा, अधिगतशास्त्रा न भवन्ति ते अनधिगतशास्त्रा, तेषाम् = शास्त्रज्ञानशून्यानामित्यर्थं । अत एव नित्यम् = सर्वदा उन्मार्गगामिनाम्=कुत्सितो मार्ग. उन्मार्ग, उन्मार्गेण गच्छन्तीति उन्मार्गगामिनः तेषाम् = कुपथप्रवृत्ताना द्यूतक्रीडादिव्यसनाऽऽसक्तानामित्यर्थ.। पुत्राणा=स्वतनयानाम्, शास्त्राऽनुष्ठानेन=अनुष्ठीयते तत् अनुष्ठानम् अभ्यास., अनुष्ठानं न भवतीत्यननुष्ठानम्, शास्त्राऽनभ्यास., (अर्थात्) शास्त्रविरुद्धाचरणम् इति यावत्, तेन हेतुना उद्विग्नमना. = उद्विग्नं व्याकुलित मन. = मानस यस्य स, चिन्ताऽऽकुलित. सन्नित्यर्थ., तादृश. स राजा 'सुदर्शन'नृपति., चिन्तयामास = शुशोच ।

भा०—इन दोनों श्लोकों को सुनकर विद्याध्ययन नहीं करने वाले तथा सर्वदा शास्त्र-निषिद्ध व्यसनों में चलने वाले अपने राजकुमारोंके शास्त्र-विरुद्धाऽऽचरण से दुःखित 'सुदर्शन' महाराज चिन्ता करने लगे।

चिन्तां निरूपयति—'कोऽर्थं' इत्यादिना 'पुस्तकेषु चे'ति (३९) पर्यन्तेन—

✓कोऽर्थः पुत्रेण जातेन यो न विद्वान् न धार्मिकः ।
काणेन चक्षुषा किं वा चक्षुः पीडैव केवलम् ॥ १२ ॥

अ०—यः न विद्वान् (भवति), न धार्मिक. (भवति), (तेन) जातेन पुत्रेण कः अर्थं (भवति) ? (यथा) काणेन चक्षुषा किंवा (भवति), चक्षुः केवलं पीडा एव (भवति)। व्या०—य. पुत्र न विद्वान् = वेत्तीति विद्वान्, पण्डित, विविधशास्त्रकलाविज्ञानी न भवति इति यावत्। न धार्मिक.=न धर्मानुशीलनरत.(भवति), (.तेन) अविदुषा अधार्मिकेण पुत्रेण = 'पुं'नामकनरकात् त्रायते इति पुत्र, तेन। जातेन = स्वस्मादुत्पन्नेनापि, क अर्थ =धर्मार्थकाममोक्षाख्येषु कः पुरुषार्थः (भवति) सिद्ध्यति ? न कोऽपीत्यर्थः। स्वसम्बन्धिजनपुत्रैः वर्तमानैरपि तदपेक्षया साक्षात्

स्वतनयेनाऽर्पितं जलाञ्जल्यादिकं पितरस्तावदाप्नुवन्ति, अधमा अपि पितरः स्वतनयकृतमहायज्ञादिना उद्धारं (मोक्ष) गच्छन्ति अधार्मिकेण पुत्रेण तु धर्मादिकः कोऽपि पुरुषार्थो न सिद्ध्यति । अत एवोक्तं—'पापिनां नोपतिष्ठन्ति स्नानं दान जलाञ्जलिः' इति भाव । यथा (दृष्टान्त) काणेन = नेत्ररत्नविहीनेन कृपाऽवशेषेणेत्यर्थः, चक्षुषा = नेत्रगोलकेन, किं वा ? = किं दर्शनादिकं फलं भवति ? न किमपि फलं भवतीत्यर्थः, यतः ताहश चक्षुः केवलं पीडैव = पीडाकरमेवेत्यर्थः ।

भा०—जिस पुत्र में विद्या और धन नहीं है, वैसा पुत्र दीर्घायु होनेपर भी धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, इन चारों पुरुषार्थों में से किसी पुरुषार्थ को सिद्ध नहीं कर सकता, इसलिये उसका *जन्म निष्फल है, जैसे कि—नेत्ररत्नहीन और रोगयुक्त आंखसे प्रत्यक्ष देखना* आदि कोई भी काम नहीं होता । इसलिये वह निरर्थक है और दुःखदायी है ॥ १२ ॥

मृतपुत्रादपि मूर्खतनयस्य शोकप्रदत्वमाह—

अजातमृतमूर्खाणां वरमाद्यो न चाऽन्तिमः ।
सकृद्दुःखकरावाद्यावन्तिमस्तु पदे पदे ॥ १३ ॥

अ०—अजातमृतमूर्खाणाम् आद्यौ वरम्, अन्तिमः न च वरम्, आद्यौ सकृद्दुःखकरौ, अन्तिमस्तु पदे पदे (दुःखदो भवतीति शेष) । व्या०—न जातः अजातः अजातश्च मृतश्च मूर्खश्च अजातमृतमूर्खाः तेषाम् अजातः = अनुत्पन्न बीजभावाऽनापन्न, मृतः=उत्पद्य निधनं गतः, मूर्खः=विद्याशून्य, तेषा मध्ये आद्यौ–प्रथमोपस्थितौ अजातमृतौ पुत्रौ वरञ्च = श्रेष्ठौ—तृतीयापेक्षया ईषत् प्रियौ भवतः । अन्तिमः = मूर्खस्तु न वरमिति; यतः = तेषामाद्यौ = अजातमृतौ, द्वौ सकृत् = एकवारं दुःखकरौ = क्लेशप्रदौ भवतः, अन्तिमः = मूर्खस्तु पदे पदे = प्रतिपदम्, क्षणे क्षणे, निरन्तरमिति यावत् । दुःखदो भवतीति ।

भा०—'पुत्र का उत्पन्न नहीं होना' अथवा 'उत्पन्न होकर मर जाना' या 'जीवन-पर्यन्त मूर्ख रहना'—इन तीनों प्रकार के पुत्रों में से—'उत्पन्न नहीं होना' 'या उत्पन्न होकर मर जाना' ये दोनों अच्छे हैं, किन्तु तीसरा–'जीवनपर्यन्त मूर्ख पुत्र' अच्छा नहीं है । क्योंकि अनुत्पन्न पुत्र का बीजभावके व्यर्थ होने पर ही क्षणमात्र दुःख होता है । मृत पुत्र के मरण समय में दुःख होता है, परन्तु दीर्घजीवी मूर्ख पुत्र से तो क्षण-क्षण में दुःख होता है ॥ १३ ॥

किञ्च—वरं गर्भस्रावो, वरमपि च नैवाऽभिगमनं
वरं जातः प्रेतो वरमपि च कन्याऽवजनिता ।
वरं वन्ध्या भार्या वरमपि च गर्भेषु वसति-
र्न वाऽविद्वान् रूपद्रविणगणयुक्तोऽपि तनयः ॥ १४ ॥

अ०—गर्भस्राव वरम्, न एव अभिगमनम् अपि च वरम्, जातः प्रेतः वरम्, अवजनिता कन्या अपि च वरम् । वन्ध्या भार्या वरम्, गर्भेषु वसतिः अपि च वरम्, (किन्तु) रूपद्रविणगणयुक्तः अपि अविद्वान् तनयः न वा वरम् ।

व्या०—(प्रक्षिप्तोऽयं श्लोक) गर्भस्राव =गर्भस्य स्राव. गर्भस्राव:=गर्भपात इत्यर्थ. । वरम्=ईषत् प्रियम् । न एव अभिगमनम्=ऋतुमत्या पत्न्या सह सम्भोगा- करणम् । अपि च वरम्=श्रेष्ठम् । जात:=उत्पन्नोऽपि प्रेत:=मृत पुत्रश्च वरम्, अव- जनिता=उत्पादिता कन्या अपि च वरम्, वन्ध्या=अप्रसूतसन्ताना भार्या अपि वरम्, गर्भेषु=कुक्षिषु वसति:=स्थिति: अपि च वरम्, पुत्रस्य अप्रसव एव वरमिति भाव । किन्तु रूपद्रविणगणयुक्त=रूप च द्रविणञ्च रूपद्रविणे, रूपद्रविणयो गण: तेन युक्त=सौन्दर्ययुक्त धनराशिसम्पन्नश्चेत्यर्थ. । अपि=निश्चयेन अविद्वान्=विद्या- शून्य मूर्ख इति यावत् । तनय. पुत्र न वरम् । शिखरिणीवृत्तम् ॥

भा०—जो पुत्र रूपयौवनधनादि से युक्त होने पर भी अगर विद्याशून्य हो—यह अच्छा नहीं, उससे तो गर्भ ही गिर जाना अच्छा है, अथवा ऋतुकाल में स्त्री का भोग न करना ही अच्छा है, अथवा मूर्ख पुत्र का पैदा होते ही मर जाना अच्छा है, अथवा कन्या उत्पन्न होना अच्छा है (पर मूर्ख पुत्र रहना अच्छा नहीं है) ॥ १४ ॥

✓ स जातो येन जातेन याति वंशः समुन्नतिम् ।
परिवर्तिनि संसारे मृतः को वा न जायते ॥ १५ ॥

अ०—येन जातेन वंश समुन्नतिं याति स जात., परिवर्तिनि संसारे मृत: को वा न जायते । व्या०—येन=पुरुषेण (पुत्रेण) जातेन=उत्पन्नेन (सता) वंश:=स्वकु- लम्, समुन्नतिम्=सम्यग् उन्नति समुन्नतिस्ताम्=अभ्युदय गौरव च याति= प्राप्नोति, यो हि कुलदीपक इत्यर्थ', स पुरुष जात =सफलजन्मा भवति । परिवर्तिनि परिवर्तते परिणमते प्रतिक्षणमिति परिवर्ती तस्मिन् परिणामस्वभावे, उत्पादविना- शशालिनीति यावत्, ससारे=भवे, मृत =निधन गत., मृत्वा इति यावत्, का वा व्यक्ति न जायते=न उत्पद्यते । अर्थात् प्राणिनां मरणोत्तर कर्मफलभोगार्थम् अवश्य जन्म ग्रहीतव्यम्, तत्र य. कुलोज्ज्वलकारी, स एव पुरुष. (पुत्र.) इत्यर्थः ॥

भा०—जो पुरुष पैदा होकर अपने कुल की अच्छी उन्नति करता है, उसी का जन्म सफल है, क्योंकि नित्य परिवर्तनशील संसार के भारम्भ से बहुत ही मरते रहते और पैदा होते रहते हैं ॥ १५ ॥

अन्यच्च—गुणिगणगणनाऽऽरम्भे, न पतति कठिनी ससम्भ्रमाद् यस्य ।
तेनाऽम्बा यदि सुतिनी, वद वन्ध्या कीदृशी भवति ? ॥१६॥

अ०—गुणिगणगणनाऽऽरम्भे ससम्भ्रमात् यस्य कठिनी न पतति, तेन अम्बा यदि सुतिनी (भवति) (तदा) वन्ध्या कीदृशी भवति वद । व्या०—गुणा. सन्ति येषा ते गुणिन' गुणवन्त इत्यर्थ । गुणिना गण =समूह., तस्य गणना श्रेष्ठवर्गेऽस्य- अग्रगण्यबोधिनी सख्या एकत्वादिरूपा तस्या आरम्भ:—उपक्रम. तस्मिन् सतीत्यर्थ. । गुणवता सख्यासमये इति भाव । ससम्भ्रमात्—सम्भ्रमेण गौरवेण सहित ससंभ्रमं

स्वतनयेनाऽर्पितं जलाञ्जल्यादिकं पितरस्तावदाप्नुवन्ति, अधमा अपि पितरः स्वतनयकृतमहायज्ञादिना उद्धारं (मोक्ष) गच्छन्ति अधार्मिकेण पुत्रेण तु धर्मादिकः कोऽपि पुरुषार्थो न सिद्ध्यति। अत एवोक्तं-'पापिनां नोपतिष्ठन्ति स्नानं दानं जलाञ्जलिः' इति भाव। यथा (दृष्टान्त.) काणेन = नेत्ररत्नविहीनेन कूपाऽवशेषेणेत्यर्थः, चक्षुषा = नेत्रगोलकेन, किं वा ? = किं दर्शनादिकं फलं भवति ? न किमपि फलं भवतीत्यर्थं, यत' तादृश चक्षु केवलं पीडैव = पीडाकरमेवेत्यर्थ.।

भा०—जिस पुत्र में विद्या और धन नहीं है, वैसा पुत्र दीर्घायु होनेपर भी धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, इन चारों पुरुषार्थों में से किसी पुरुषार्थ को सिद्ध नहीं कर सकता, इसलिये उसका जन्म निष्फल है, जैसे कि—नेत्ररत्नहीन और रोगयुक्त आंखसे प्रत्यक्ष देखना आदि कोई भी काम नहीं होता। इसलिये वह निरर्थक है और दु खदायी है॥ १२॥

मृतपुत्रादपि मूर्खतनयस्य शोकप्रदत्वमाह—

अजातमृतमूर्खाणां वरमाद्यौ न चाऽन्तिमः।
सकृद्दुःखकरावाद्यावन्तिमस्तु पदे पदे॥ १३॥

अ०—अजातमृतमूर्खाणाम् आद्यौ वरम्, अन्तिम न च वरम्, आद्यौ सकृद्दुःखकरौ, अन्तिमस्तु पदे पदे (दु खदो भवतीति शेष)। व्या०—न जात. अजातः अजातश्च मृतश्च मूर्खश्च अजातमृतमूर्खा' तेषाम् अजात. = अनुत्पन्न बीजभावाऽनापन्न, मृत.=उत्पद्य निधन गत', मूर्ख=विद्याशून्य, तेषां मध्ये आद्यौ-प्रथमोपस्थितौ अजातमृतौ पुत्रौ वरञ्च = श्रेष्ठौ—तृतीयापेक्षया ईषत् प्रियौ भवत.। अन्तिमः = मूर्खस्तु न वरमिति; यत. = तेषामाद्यौ = अजातमृतौ, द्वौ सकृत् = एकवारं दु.खकरौ = क्लेशप्रदौ भवतः, अन्तिम. = मूर्खस्तु पदे पदे = प्रतिपदम्, क्षणे क्षणे, निरन्तरमिति यावत्। दु.खदो भवतीति।

भा०—'पुत्र का उत्पन्न नहीं होना' अथवा 'उत्पन्न होकर मर जाना' या 'जीवन-पर्यन्त मूर्ख रहना'—इन तीनों प्रकार के पुत्रों में से—'उत्पन्न नहीं होना' 'या उत्पन्न होकर मर जाना' ये दोनों अच्छे हैं, किन्तु तीसरा—'जीवनपर्यन्त मूर्ख पुत्र' अच्छा नहीं है। क्योंकि अनुत्पन्न पुत्र का बीजभावके व्यर्थ होने पर ही क्षणमात्र दुःख होता है। मृत पुत्र के मरण समय में दु ख होता है, परन्तु दीर्घजीवी मूर्ख पुत्र से तो क्षण-क्षण में दु ख होता है॥ १३॥

किञ्च—वरं गर्भस्रावो, वरमपि च नैवाऽभिगमनं
वरं जातः प्रेतो वरमपि च कन्याऽवजनिता।
वरं वन्ध्या भार्या वरमपि च गर्भेषु वसति-
र्न चाऽविद्वान् रूपद्रविणगणयुक्तोऽपि तनयः॥ १४॥

अ०—गर्भस्राव वरम्, न एव अभिगमनम् अपि च वरम्; जात. प्रेत वरम्, अवजनिता कन्या अपि च वरम्। वन्ध्या भार्या वरम्, गर्भेषु वसति. अपि च वरम्, (किन्तु) रूपद्रविणगणयुक्त. अपि अविद्वान् तनय. न वा वरम्।

व्या०—(प्रविष्टोऽयं श्लोकः) गर्भस्राव = गर्भस्य स्रावः गर्भस्रावः = गर्भपात इत्यर्थः। वरम्=ईषत् प्रियम्। न एव अभिगमनम्=ऋतुमत्या पत्न्या सह सम्भोगाकरणम्। अपि च वरम्=श्रेष्ठम्। जात =उत्पन्नोऽपि प्रेत.=मृत पुत्रश्च वरम्, अवजनिता = उत्पादिता कन्या अपि च वरम्, वन्ध्या = अप्रसूतसन्ताना भार्या अपि वरम्, गर्भेषु=कुक्षिषु वसतिः=स्थिति अपि च वरम्, पुत्रस्य अप्रसव एव वरमिति भाव। किन्तु रूपद्रविणगणयुक्तः=रूप च द्रविणञ्च रूपद्रविणे, रूपद्रविणयो गण तेन युक्तः=सौन्दर्ययुक्त धनराशिसम्पन्नश्चेत्यर्थः। अपि=निश्चयेन अविद्वान्=विद्याशून्य. मूर्ख इति यावत्। तनय. पुत्र न वरम्। शिखरिणीवृत्तम्॥

भा०—जो पुत्र रूपयौवनधनादि से युक्त होने पर भी अगर विद्याशून्य हो—वह अच्छा नहीं, उससे तो गर्भ ही गिर जाना अच्छा है, अथवा ऋतुकाल में स्त्री का भोग न करना ही अच्छा है, अथवा मूर्ख पुत्र का पैदा होते ही मर जाना अच्छा है, अथवा कन्या उत्पन्न होना अच्छा है (पर मूर्ख पुत्र रहना अच्छा नहीं है)॥ १४॥

स जातो येन जातेन याति वंशः समुन्नतिम्।
परिवर्तिनि संसारे मृतः को वा न जायते॥ १५॥

अ०—येन जातेन वंश समुन्नतिं याति स जात, परिवर्तिनि ससारे मृतः को वा न जायते। व्या०—येन=पुरुषेण (पुत्रेण) जातेन=उत्पन्नेन (सता) वंशः=स्वकुलम्, समुन्नतिम्=सम्यग् उन्नति समुन्नतिस्ताम्=अभ्युदय गौरव च याति= प्राप्नोति, यो हि कुलदीपक इत्यर्थः, स पुरुष जात =सफलजन्मा भवति। परिवर्तिनि परिवर्तते परिणमते प्रतिक्षणमिति परिवर्ती तस्मिन् परिणामस्वभावे, उत्पादविनाशशालिनीति यावत्, ससारे=भवे, मृत =निधन गत., मृत्वा इति यावत्, का वा व्यक्ति न जायते=न उत्पद्यते। अर्थात् प्राणिना मरणोत्तर कर्मफलभोगार्थम् अवश्य जन्म ग्रहीतव्यम्, तत्र च कुलोज्ज्वलकारी, स एव पुरुष. (पुत्रः) इत्यर्थः॥

भा०—जो पुरुष पैदा होकर अपने कुल की अच्छी उन्नति करता है, उसी का जन्म सफल है, क्योंकि नित्य परिवर्तनशील संसार के भारस्प तो बहुत से मरते रहते और पैदा होते रहते हैं॥ १५॥

अन्यच्च—गुणिगणगणनाऽऽरम्भे, न पतति कठिनी ससम्भ्रमाद् यस्य।
तेनाऽम्बा यदि सुतिनी, वद वन्ध्या कीदृशी भवति?॥१६॥

अ०—गुणिगणगणनाऽऽरम्भे ससम्भ्रमात् यस्य कठिनी न पतति, तेन अम्बा यदि सुतिनी (भवति) (तदा) वन्ध्या कीदृशी भवति वद। व्या०—गुणा. सन्ति येषा ते गुणिन गुणवन्त इत्यर्थ। गुणिना गण =समूह., तस्य गणना श्रेष्ठवर्गोऽन्य प्रवाण्यबोधिनी सख्या एकत्वादिरूपा तस्या आरम्भः= उपक्रम तस्मिन् सतीत्यर्थः। गुणवता सख्यासमये इति भाव.। ससम्भ्रमात्—सम्भ्रमेण गौरवेण सहितं ससम्भ्रम

तस्मात्, सगौरवादित्यर्थः, यस्य (पुंसः) पुत्रस्य कठिनी =वर्णविन्याससाधनरूप खटिका (—भाषायां 'खड़ी' 'चाक' इति प्रसिद्धा) न पतति=एकत्वसङ्ख्याळेखनार्थं न उपयुक्ता भवतीत्यर्थः । तेन=मुख्यगणनारहितेन पुत्रेण यदि अम्बा=माता, 'अम्बा माताऽथ बाला स्यादि'त्यमरः । सुतिनी=पुत्रवती भवति, तदा=तर्हि वन्ध्या=अजाततनया, कीदृशी=किंविधा भवति ? वद = कथय । मूर्खपुत्रशतेऽपि जननी वन्ध्यैवेति भावः । आर्यावृत्तम् ।

भा०—जिस पुत्र का नाम गुणवान् श्रेष्ठ पुरुषों की गणना करते समय प्रथम नहीं लिया जाता, उसकी मा को यदि पुत्रवती कहें तो बताओ वन्ध्या कैसी होती है ॥ १६ ॥

अपि च—दाने तपसि शौर्ये च यस्य न प्रथितं मनः ।
विद्यायामर्थलाभे च मातुरुच्चार एव सः ॥ १७ ॥

अ०—दाने तपसि शौर्ये च विद्यायाम् अर्थलाभे च यस्य मनः (यशः इति पाठान्तरम्) न प्रथितं सः मातुः उच्चार एव । व्या०—(यस्य पुरुषस्य मन इत्य- नेन सम्बन्धः) दाने = सत्पात्रेषु धनवितरणे । तपसि = तपस्यायां व्रतनियमादौ । शौर्ये = शूरस्य भावः शौर्यं तस्मिन् = वीरतायामित्यर्थः । विद्यायाम् = ज्ञानार्जने, अर्थ- लाभे = अर्थस्य = धनस्य, लाभे = अर्जने, यस्य पुरुषस्य मनः = अन्तःकरणम् , न प्रथितं = न सोत्साहतया ख्यातम् । सः पुरुषः (पुत्रः) मातुः = स्वजनन्याः, उच्चारः = पुरीषसमान इत्यर्थः, 'उच्चारावस्करौ शमलं शकृत्' इत्यमरः ।

भा०—जिस पुरुष (पुत्र) का अन्तःकरण दान देने में, तप करने में, विद्या पढने में तथा धन कमाने में उत्साहित नहीं रहता है, वह पुरुष (पुत्र) माता के त्याग किये हुये मल के समान निरर्थक है ॥ १७ ॥

अपरञ्च—वरमेको गुणी पुत्रो न च मूर्खशतैरपि ।
एकश्चन्द्रस्तमो हन्ति न च तारागणैरपि ॥ १८ ॥

अ०—एकः गुणी पुत्रः वरम् (भवति), मूर्खशतैः अपि न (वरेण भूयते) एकः चन्द्रः तमो हन्ति, तारागणैः न च (तम हन्यते)। व्या०—एकः = एक सङ्ख्याकः, गुणी = दानतपोविद्यादिगुणवान् , पुत्रः = तनयः, वरम्=श्रेष्ठ , प्रियो भव तीत्यर्थः । मूर्खशतैः अपि = मूर्खाणां शतानि तैः , मूर्खसहस्रेणापीत्यर्थः, न च वरेण भूयते, सहस्रमूर्खपुत्रा अपि प्रिया न भवन्तीत्यर्थः । तत्र दृष्टान्तो यथा-एकः = एकाकी अपि, चन्द्रः = शशी, तमः = निखिलमन्धकारम् , हन्ति = विनाशयति । तारागणैः तारागणाम् = नक्षत्राणाम् , गणैः = समूहैरपि (तमः) न च (हन्यते)। अत्र श्लोके 'मूर्खशतान्यपि' इति पाठान्तरम् । 'न च मूर्खशत वरम्' इत्यपि पाठा- न्तरम् । 'न च तारागणोऽपि तत्' इत्यपि पाठान्तरम् ।

भा०—जैसे एक ही तेजस्वी चन्द्रमा अपने तेज से समग्र अन्धकार को दूर करता है

किन्तु बहुत से भी तेजरहित ताराओं का समूह अन्धेरे का नाश नहीं कर सकता, वैसे ही एक भी तेजस्वी पुत्र अपने सामर्थ्य से धन कमा कर अपने कुटुम्ब का दारिद्र्यरूपी अन्धेरा दूर करता है वही श्रेष्ठ है, परन्तु सैकड़ों मूर्ख पुत्र किसी काम के नहीं ॥ १८ ॥

पुण्यतीर्थे कृतं येन तपः क्वाप्यतिदुष्करम् ।
तस्य पुत्रो भवेद् वश्यः समृद्धो धार्मिकः सुधीः ॥ १९ ॥

अ०—येन क्वापि पुण्यतीर्थे अतिदुष्करं तपः कृतम्, तस्य पुत्रः, वश्यः समृद्धः धार्मिकः सुधीः (च) भवेत् । व्या०—येन=पुरुषेण क्वापि=कस्मिंश्चिदपि, पुण्यतीर्थे= पुनाति इति पुण्यं=महापातकिनामपि पातकनाशनम्, तरति अनेनेति तीर्थम्= काशीप्रभृति, पुण्यं च तत् तीर्थञ्च पुण्यतीर्थं, तस्मिन्, पापप्रध्वंसके त्रिविधतापो- द्धारके क्षेत्रे इति भावः । अतिदुष्करम्=अतिदुःखेन क्रियते यत् तत् अतिदुष्करम्= अतिकठिनं, बहुकष्टसाध्यमिति यावत् । तपः = भगवन्नामजप मौन व्रतोपवास यज्ञाद्यनुष्ठानात्मक कर्म, कृतम् = अनुष्ठितम्, श्रद्धाऽऽदरनरन्तर्याऽऽसेवितमिति यावत् । तस्य = तपस्विनः पुण्यशालिनः पुरुषस्य, पुत्रः = तनयः, वश्यः = वशम् अर्हतीति वश्यः = सदा पितुराज्ञासेवाऽऽदिपरः, समृद्धः =जनपुत्रकलत्राऽधिकार- वैभवादिपरिपूर्णः, धार्मिकः=यज्ञदानादिधर्मानुष्ठानपरः, सुधीः =शोभना शास्त्रा- ध्ययनाऽऽसादितविचित्रप्रतिभावती धीः =बुद्धिर्यस्य इति सुधीः=शास्त्रलोक- हृदयेतिप्रथाऽनुकूलबुद्धिमानित्यर्थः । भवेत्=स्यात् ।

भा०—जिस पुरुष ने पवित्र तीर्थस्थान में बहुत कठिन तप किया हो, उसी पुरुष के घर में पूर्व के पुण्य से अपने पिता की आज्ञा में रहने वाला तथा सेवा करने वाला, धन दौलत से सुखी, धर्म कार्य में प्रेमी और बुद्धिमान् पुत्र उत्पन्न होता है ॥ १९ ॥

तथा चोक्तम्—

अर्थाऽऽगमो नित्यमरोगिता च प्रिया च भार्या प्रियवादिनी च ।
वश्यश्च पुत्रोऽर्थकरी च विद्या षड् जीवलोकेषु सुखानि राजन् ॥

अ०—हे राजन् ! जीवलोकेषु नित्यम् अर्थागमः अरोगिता च, प्रिया च प्रियवा- दिनी च भार्या, वश्यः पुत्रश्च, अर्थकरी विद्या च (एतानि) षट् सुखानि (भवन्ति)।

व्या०—हे राजन् ! जीवलोकेषु=जीवानां प्राणिनां लोकाः=निवासस्थानानि इति जीवलोकास्तेषु, संसारे इत्यर्थः । नित्यम्=प्रत्यहं सदा, यावज्जीवनमिति यावत् । अर्थागमः —अर्थस्य=धनस्य आगमः = आयः । अरोगिता—नीरोगिता, सदा शरीर- स्वास्थ्यमिति यावत् । प्रिया प्रीणाति इति प्रिया=प्रीतिकरी, प्रियवादिनी प्रियं वदतीति प्रियवादिनी = मधुरभाषिणी चेत्यर्थः, भार्या—भ्रियते असौ भार्या = स्वस्त्री च । वश्यः=आज्ञावहः, पुत्रः = सुतश्च । अर्थकरी—अर्थं पुरुषार्थं करोतीति अर्थकरी= धर्मार्थकाममोक्षाख्यपुरुषार्थप्रदेत्यर्थः । विद्या चेति, एतानि षट्प्रकारेण, सुखानि

भवन्तीति। 'जीवलोकस्य' इति पाठान्तरम्। उपजातिः वृत्तम्।

भा०—इस संसार में छः सुख हैं, जैसे कि १—प्रतिदिन पूर्ण धन प्राप्ति होना। २—शरीर सदैव नीरोग रहना। ३—अतिशय प्रेम करने वाली तथा ४—मीठा बोलने वाली धर्मपत्नी (स्त्री) मिलना। ५—आज्ञापालक पुत्र पैदा होना और ६—धर्म-अर्थ काम-मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों को देने वाली विद्या पढना। ये छः न होने में जन्म व्यर्थ कहलाता है॥ २०॥

को धन्यो बहुभिः पुत्रैः कुशूलाऽऽपूरणाऽऽढकैः।
वरमेकः कुलाऽऽलम्बी यत्र विश्रूयते पिता॥ २१॥

अ०—कुशूलाऽऽपूरणाऽऽढकैः बहुभिः पुत्रैः कः धन्यः? (भवति किन्तु) यत्र पिता विश्रूयते (तादृशः) कुलालम्बी एकः पुत्रः वरम्। व्या०—कुशूलाऽऽपूरणाढकैः—कुशन्ति पवनादिना स्थानान्तरं गच्छन्ति कुशूलाः=तुषाः, तैः आ समन्तात् पूरणा इति कुशूलापूरणाः आढौकन्ते पूरयन्ति—इति आढकाः = 'अन्नमापकप्रमाण' विशेषाः, (पलं निकुञ्चनं मुष्टिः कुडवस्तच्चतुष्टयम्। चत्वारः कुडवाः प्रस्थश्चतुःप्रस्थमथाढकम्॥ द्वावाढकौ भवेद् द्रोणो द्विद्रोणः शूर्प उच्यते। सार्धशूर्पो भवेत् खारी द्वे खार्यौ द्रोण्युदाहृता॥) कुशूलाऽऽपूरणाश्च ते आढकाश्च तैः कुशूलापूरणाऽऽढकैः=(सदृशार्थे लक्षणा) तुषपूर्णमानपात्रसदृशैरित्यर्थः। बहुभिः=अनेकैः, पुत्रैः कः पुरुषः धन्यः=कृतकृत्यो भवति=जायते। न कोऽपीति भावः। किन्तु—यत्र=यस्मिन् पुत्रे सति, पिता=जनकः, विश्रूयते=लोके कीर्त्यते, लोके प्रशंसितो भवेदिति भावः। तादृशः कुलालम्बी—कुलं वंशम् आलम्बते आश्रयतीति कुलालम्बी=वंशस्य अभ्युदयकरः कुलदीपकरूपः, एकः अपि पुत्रः वरम् (बहुमूर्खपुत्रेभ्यः एकः यशस्वी धीमान् श्रेयानिति भावः)।

भा०—भूसी से परिपूर्ण पात्र के समान शरीरधारी अनेक मूर्ख पुत्रों से कोई भी पुरुष सुखी, यशस्वी नहीं होता, किन्तु कुल का पोषण तथा अभ्युदय करने वाला बुद्धिमान् एक भी पुत्र—जिससे पिता लोकमान्य होता है—श्रेष्ठ है॥ २१॥

ऋणकर्ता पिता शत्रुर्माता च व्यभिचारिणी।
भार्या रूपवती शत्रुः पुत्रः शत्रुरपण्डितः॥ २२॥

अ०—ऋणकर्ता पिता शत्रुः (भवति), व्यभिचारिणी माता च (शत्रुः भवति), रूपवती भार्या च (शत्रुः भवति), अपण्डितः पुत्रः च (शत्रुः भवति)। व्या०—ऋणस्य कर्ता ऋणकर्ता=ऋणग्रहीता, पिता=जनकः, शत्रुः=शत्रुसमानो भवति, तथा व्यभिचारिणी=परपुरुषेण सह (गमनं) व्यभिचारं कुर्वती, माता=जननी च, शत्रुतुल्या भवति, एवं रूपवती—रूपम् अस्ति अस्या इति रूपवती=अतिसौन्दर्यवतीत्यर्थः, भार्या=पत्नी, च शत्रुसदृशी भवति। एवम्—अपण्डितः=अविद्वान् मूर्खः

एतादृश पुत्र अपि शत्रुवद् दुःखदो भवतीति ।

भा०—'जो कष्ट देने वाला हो'—वही 'शत्रु' कहलाता है । इसलिये ऋण करने वाला पिता ऋण करके कष्ट दे तो वह भी शत्रु ही है और व्यभिचार करनेवाली माता, सुन्दर पति को नहीं चाहने वाली रूपवती स्त्री तथा मूर्ख रहकर सदा के लिए दुःख देनेवाला पुत्र भी शत्रुसमान हैं ॥ २० ॥

यस्य कस्य प्रसूतोऽपि गुणवान् पूज्यते नरः ।
धनुर्वंशविशुद्धोऽपि निर्गुणः किं करिष्यति ॥ २१ ॥

अ०—गुणवान् नर यस्य कस्य प्रसूत अपि (लोके) पूज्यते, वंशविशुद्ध अपि धनु (यदि) निर्गुण (तदा) किं करिष्यति ॥ व्या०—गुणवान्—गुणा सन्ति अस्येति गुणवान्=गुणशाली नर =मनुष्य, कस्य=श्रेष्ठस्य अधमस्य वा वंशस्य (सम्बन्धे षष्ठी) प्रसूत=जात अपि (लोके) पूज्यते=सम्मान्यते। तत्र व्यतिरेकदृष्टान्तो यथा—वंशविशुद्ध—वंशो=वेणु विशुद्ध = सुशक्तो यस्य स = सुदृढवेणु निष्पन्नोऽपीत्यर्थ, धनु =चाप यदि निर्गुण —निर्गतो गुणो=ज्या यस्य स निर्गुणः= ज्याहीन, तदा किं कार्यं=शत्रुहननादिरूपं करिष्यति ? अर्थात् न करिष्यतीति। तथा निर्गुणेन पुत्रेण किं स्यादिति भाव ।

भा० – उत्तम बांस का बनाया हुआ भी धनुष जब तक रस्सी में नहीं ताना जाता तब तक किसी भी (शत्रु मारणादि) कार्य में समर्थ नहीं होता, वैसे ही श्रेष्ठ कुल में उत्पन्न हुआ भी मनुष्य जब तक किसी गुण (कला) को नहीं सीखता तब तक किसी भी काम को सन्तोषपूर्वक सिद्ध नहीं कर सकता है ॥ २३ ॥

हा हा पुत्रक ! नाऽधीतं गतास्वेतासु रात्रिषु ।
तेन त्वं विदुषां मध्ये पङ्के गौरिव सीदसि ॥ २४ ॥

अ०—हा हा पुत्रक ! गतासु एतासु रात्रिषु (त्वया) न अधीतम्, तेन त्वं विदुषां मध्ये पङ्के गौ इव सीदसि । व्या०—हा हेति खेदे । हे पुत्रक ! पुत्र एवेति पुत्रक, तत्सम्बुद्धौ हे पुत्रक ! एतासु गतासु=अतीतासु रात्रिषु=निशासु, गतेष्वहर्निशेष्वित्यर्थ. । त्वया न अधीतम्=शास्त्रादिक नाऽभ्यस्तम्, तेन हेतुना त्व विदुषा=धीमतां मध्ये उपस्थित सन्, पङ्के=कर्दमे, गौरिव=गोवत् सीदसि, गोवद् अवसन्नो भवसीत्यर्थं ।

भा०—जैसे कि कीचड़ में गई (धँसी) हुई गौ बाहर निकलने की शक्ति नहीं होने से बाहर नहीं आ सकती, वैसे ही तुम भी विद्वानों की सभा में जाकर विद्यारहित होने से उस सभा को जीतकर श्रेष्ठता को नहीं पा सकोगे, इसलिये विद्या पढ़ना चाहिए ॥ २४ ॥

तत् कथमिदानीमेते मम पुत्रा गुणवन्तः क्रियन्ताम् ? यतः—

व्या०—तत्=तस्माद्धेतो इदानीम्=एतर्हि काले, एते मम पुत्रा, कथं=केन

भवन्तीति। 'जीवलोकस्य' इति पाठान्तरम्। उपजातिः वृत्तम्।

भा०—इस संसार में छः सुख हैं, जैसे कि १—प्रतिदिन पूर्ण धन प्राप्ति होना। २—शरीर सदैव नीरोग रहना। ३—अतिशय प्रेम करने वाली तथा ४—मीठा बोलने वाली धर्मपत्नी (स्त्री) मिलना। ५—आज्ञापालक पुत्र पैदा होना और ६—धर्म-अर्थ काम-मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों को देने वाली विद्या पढना। ये छ न होने में जन्म व्यर्थ कहलाता है॥ २०॥

को धन्यो बहुभिः पुत्रैः कुशूलाऽऽपूरणाऽऽढकैः।
वरमेकः कुलाऽऽलम्बी यत्र विश्रूयते पिता॥ २१॥

अ०—कुशूलाऽऽपूरणाऽऽढकैः बहुभिः पुत्रैः कः धन्यः? (भवति किन्तु) यत्र पिता विश्रूयते (तादृशः) कुलालम्बी एकः पुत्रः वरम्। व्या०—कुशूलाऽऽपूरणाढकैः—कुशन्ति पवनादिना स्थानान्तरं गच्छन्ति कुशूलाः=तुषाः, तैः आ समन्तात् पूरणा इति कुशूलापूरणाः आढौकन्ते पूरयन्ति—इति आढकाः = 'अवमापकप्रमाण' विशेषाः,(पल निकुञ्चन मुष्टिः कुडवस्तच्चतुष्टयम्। चत्वारः कुडवाः प्रस्थश्चतुःप्रस्थमथाढकम्॥ द्वावाढकौ भवेद् द्रोणो द्विद्रोणं शूर्पं उच्यते। सार्धशूर्पो भवेत् खारी द्वे खार्यौ द्रोण्युदाहृता॥) कुशूलाऽऽपूरणाश्च ते आढकाश्च तैः कुशूलापूरणाऽऽढकैः= (सदृशार्थे लक्षणा) तुषपूर्णमानपात्रसदृशैरित्यर्थः। बहुभिः=अनेकैः, पुत्रैः कः पुरुषः धन्यः=कृतकृत्यो भवति=जायते। न कोऽपीति भावः। किन्तु—यत्र=यस्मिन् पुत्रे सति, पिता=जनकः, विश्रूयते=लोकैः कीर्त्यते, लोकैः प्रशंसितो भवेदिति भावः। तादृशः कुलालम्बी—कुलं वंशम् आलम्बते आश्रयतीति कुलालम्बी=वंशस्य अभ्युदयकरः कुलदीपकरूपः, एकः अपि पुत्रः वरम् (बहुमूर्खपुत्रेभ्यः एकः यशस्वी धीमान् श्रेयानिति भावः)।

भा०—भूसी से परिपूर्ण पात्र के समान शरीरधारी अनेक मूर्ख पुत्रों से कोई भी पुरुष सुखी, यशस्वी नहीं होता, किन्तु कुल का पोषण तथा अभ्युदय करने वाला बुद्धिमान् एक भी पुत्र—जिससे पिता लोकमान्य होता है—श्रेष्ठ है॥ २१॥

ऋणकर्ता पिता शत्रुर्माता च व्यभिचारिणी।
भार्या रूपवती शत्रुः पुत्रः शत्रुरपण्डितः॥ २२॥

अ०—ऋणकर्ता पिता शत्रुः (भवति), व्यभिचारिणी माता च (शत्रुः भवति), रूपवती भार्या च (शत्रुः भवति), अपण्डितः पुत्रः च (शत्रुः भवति)। व्या०—ऋणस्य कर्ता ऋणकर्ता=ऋणग्रहीता, पिता=जनकः, शत्रुः=शत्रुसमानो भवति, तथा व्यभिचारिणी=परपुरुषेण सह (गमनं) व्यभिचारं कुर्वती, माता=जननी च, शत्रुतुल्या भवति, एवं रूपवती—रूपम् अस्ति अस्याः इति रूपवती=अतिसौन्दर्यवतीत्यर्थः, भार्या=पत्नी, च शत्रुसदृशी भवति। एवम्—अपण्डितः=अविद्वान् मूर्खः

प्रकारेण, गुणवन्तो गुणाः सन्ति एषामिति गुणवन्तः, विद्याविनयादिगुणपरिपूर्णाः इत्यर्थः—क्रियन्ताम् = विधीयन्ताम् ? यतः = यस्माद्धेतोः—

भा०—विद्याविहीन पुरुष की कहीं भी विजय नहीं होती, इसलिये—ये मेरे पुत्र किसी प्रकार से गुणी बनाये जाँय ? क्योंकि—

आहारनिद्राभयमैथुनञ्च, समानमेतत् पशुभिर्नराणाम् ।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो, धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः ॥२५॥

अ०—नराणाम्=आहारनिद्राभयमैथुनञ्च-एतत् पशुभिः समानम् (भवति) तेषां धर्मो हि अधिकः विशेषः (भवति), धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः (भवन्ति) ।

व्या०—नराणाम्=मनुष्याणाम्, आहारश्च निद्रा च भयञ्च मैथुनञ्च तेषां समाहारद्वन्द्वः एतत्=आहारादिकं चतुष्टयं, पशुभिः समानम्=पशुतुल्यमित्यर्थः । किन्तु तेषां मनुष्याणां धर्मः हि=धर्म एव, अधिकः विशेषः=पशुभ्यो व्यावर्तको गुणो भवति । अतो यदि मनुष्याः धर्महीनास्तदा आहारादिचतुर्भिः पशुभिः समानाः एवेत्यर्थः ।

भा०—मनुष्यों में और पशुओं में—खाना, सोना, डरना, स्त्रीसंग करना, ये चारों क्रियायें तो समान ही हैं इसलिए मनुष्य और पशु दोनों में भेद नहीं है । लेकिन मनुष्यों में एक अधिक गुण धर्म है, उस धर्म से मनुष्यों का पशुओं से भेद हो जाता है, वह धर्म अगर मनुष्य में न हो तो वह मनुष्य पशु ही है ॥ २५ ॥

यतः—धर्मार्थकाममोक्षाणां यस्यैकोऽपि न विद्यते ।
अजागलस्तनस्येव तस्य जन्म निरर्थकम् ॥ २६ ॥

अ०—यस्य धर्मार्थकाममोक्षाणाम् एकोऽपि न विद्यते, अजागलस्तनस्य इव तस्य जन्म निरर्थकं (भवति) । व्या०—यस्य=पुरुषस्य, धर्मश्च अर्थश्च कामश्च मोक्षश्च तेषाम्, तच्चतुर्विधपुरुषार्थमध्ये इत्यर्थः । एकः अपि न विद्यते = नास्ति, अजा = छागी तस्याः गलस्य स्तनस्य इव = यथा निरर्थकत्वम् , तथा तस्य = धर्मादिपुरुषार्थरहितस्य पुरुषस्य, जन्म = आत्मनः मनुष्यशरीरयोगः निरर्थकम् = निष्फलम् इत्यर्थः ।

भा०—जैसे बकरी के गले में वर्तमान स्तन दूधरहित होने से निरर्थक कहा जाता है, वैसे ही जिस पुरुष में धर्म, अर्थ काम और मोक्ष, इनमें से एक भी न हो, उस पुरुष का मनुष्यजन्म निष्फल है ॥ २६ ॥

यच्चोच्यते—आयुः कर्म च वित्तञ्च विद्या निधनमेव च ।
पञ्चैतान्यपि सृज्यन्ते गर्भस्थस्यैव देहिनः ॥ २७ ॥

अ०—(स्रष्ट्रा) आयुः, कर्म च, वित्तञ्च, विद्या, निधनमेव च, एतानि पञ्च अपि गर्भस्थस्य एव देहिनः सृज्यन्ते । व्या०—(स्रष्ट्रा निर्धार्यन्ते इत्यन्वयः) आयुः=जीवनसमयः, कर्म=आमरणान्तं स्वकृतधर्माऽधर्मशुभाशुभकार्यसमुदायः, वित्तं=द्रव्यादिसम्पत्तिः विद्या = विविधकलाशास्त्रादिजन्यज्ञानम् , निधनं=मरणञ्च, एतानि=

आयुरादीनि पञ्चापि, गर्भस्थस्यैव = जननीगर्भस्थितस्यैव प्रसवात्पूर्वमेव, देहिन.— देहः शरीरं भोगस्थानत्वेन अस्ति अस्य = आत्मन इति देही, तस्य = प्राणिनः इत्यर्थः, तत्सम्बन्धे सृज्यन्ते = निर्धार्यन्ते ।

भा०—सब प्राणियों के लिये गर्भ से ही ब्रह्मा ने पाँच वस्तुएँ निर्धारित की हैं १-आयुष्य, २-प्रारब्धानुसार सुख दु ख देने वाले कर्म, ३-धनवैभवादि, ४-विद्या व्यावहारिक ज्ञान, अथवा कला-विज्ञानादि, (पशु आदिमें भी बहुत से विज्ञानी मिलते हैं) ५-निमित्त-जिससे मरण होना हो ॥ २७ ॥

किञ्च—अवश्यम्भाविनो भावा भवन्ति महतामपि ।
नग्नत्वं नीलकण्ठस्य महाऽहिशयनं हरेः ॥ २८ ॥

अ०—महताम् अपि अवश्यभाविनो भावा भवन्ति, (यथा) नीलकण्ठस्य नग्नत्वम् (भवति), हरे' महाऽहिशयनञ्च (भवति) । व्या०—महताम्=दिव्यैश्वर्यशालिनामपि नृपाणां देवानामपि चेति भावः, अवश्य भविष्यन्तीति अवश्यंभाविन = अवश्यमेव भवितव्या', भावा' सुखदु खादयो धर्मा., भवन्ति = आपतन्ति, अत एवोदाहरति-नीलकण्ठस्येति । नील , विषपानेन कृष्णरूप कण्ठे यस्य सः, तस्य = दिव्यैश्वर्यशालिनोऽपि महादेवस्य. नग्नत्वम् = दिगम्बरत्व, वर्तते । अथ च हरे. = विष्णो., महाश्चासौ अहिः महाऽहिः = शेषः, तस्मिन् शयनम् इति महाऽहिशयनम् , 'महाहि शयनम्' इति पाठान्तरम् । शेतेऽस्मिन्निति शयनं शय्या ।

भा०—प्रतापी और ऐश्वर्यवाले महान् पुरुषों को भी ससार में दैवाधीन होने वाले सुख दु ख, वैभव, दारिद्र्य आदि अवश्य ही होते हैं, जैसे कि स्वय महादेवजी को भी वस्त्राभाव से नग्न रहना पडता है और विष्णु को शय्या के अभाव से शेषनाग पर सोना पडता है ॥ २८ ॥

अन्यच्च—यदभावि न तद्भावि भावि चेन्न तदन्यथा ।
इति चिन्ताविषघ्नोऽयमगदः किं न पीयते ॥ २९ ॥

अ०—यद् अभावि (भवति), तद् न भावि (भवति), (यत्) भावि चेत् (भवति,) तत् अन्यथा न (भवति) इति अय चिन्ताविषघ्न अगद. किं न पीयते (जनै) । व्या०—'यत्=यद् वस्तु, अभावि=भविष्यतीति भावि, न भावि अभावि= भविष्यत्काले असम्भवीत्यर्थ । तद् वस्तु, न भावि=न भविष्यत्येवेति । यच्च वस्तु भावि='अवश्यम्भव चेत् । तद् अन्यथा = अन्यप्रकारेण, न भावि' इति = एवं प्रकारेण, अय = ज्ञानरूप , चिन्ता एव विष गरल तद् हन्तीति चिन्ताविषघ्न. = चिन्तारूपविषनाशक , अगद —नास्ति गद = रोगो यस्मात् स. अगद=औषधम् , किं = कथम् , न पीयते = न सेव्यते ।

भा०—'शरीरधारियों' को जो नहीं होने वाला कार्य है वह किसी प्रयत्न से भी नहीं

होता और जो होने वाला है वह मिटता नहीं—ऐसा ज्ञान रखना चाहिए, क्योंकि उससे चिन्ता दूर होती है ॥ २९ ॥

एतत्कार्याऽक्षमाणां केषाञ्चिदालस्यवचनम् ।

व्या०—एतत्='यदभावि न तद्भावि'—इत्यादिरूपम् कार्याऽक्षमाणाम्=क्षमन्ते इति क्षमा, न क्षमा अक्षमाः, कार्ये अक्षमा कार्याऽक्षमा,, तेषाम् = कार्यसिद्धिसम्पादने शक्तिविहीनानामित्यर्थं । केषाञ्चिद् आलस्यवचनम् = अलसाना भाव आलस्यम्, आलस्येन प्रयुक्त वचनम आलस्यवचनम्, बोध्यमिति शेष । आलस्ययुक्ताः श्रमकातरा पुरुषा वदन्ति—'दैवात सर्वं भवति, अस्माभिर्न प्रयतितव्यमिति' ।

भा०—यह कार्य करनेमें आलस्य रखने वाले किसी मनुष्यका आलस्यप्रयुक्त वचन है ।

पुरुषकारौत्कर्ष्यमाह—यथा ह्येकेन चक्रेण न रथस्य गतिर्भवेत् ।
✓ तथा पुरुषकारेण विना दैवं न सिद्ध्यति ॥ ३० ॥

अ०—यथा हि एकेन चक्रेण रथस्य गतिः न भवेत्, तथा पुरुषकारेण विना दैव न सिद्ध्यति । व्या०—यथा = यद्वत, एकेन अद्वितीयेन चक्रेण = रथाङ्गेन, रथस्य गति =गमन न भवेत=न जायते, तथा = तद्वत, पुरुषकारेण विना=पुरुषप्रयत्नमन्तरेण, दैवम्=भाग्यम् , अदृष्टमिति यावत , न सिद्ध्यति=न फलद भवति ।

भा०—जैसे कि रथ का चलना एक चक्र (पहिये) से नहीं हो सकता, दो से ही हो सकता है, वैसे ही दैव अकेला कुछ भी फल नहीं दे सकता, पुरुष के प्रयत्न करने से ही दैव फलप्रद होता है ॥ ३० ॥

तथा च—पूर्वजन्मकृतं कर्म तद् दैवमिति कथ्यते ।
✓ तस्मात् पुरुषकारेण यत्नं कुर्यादतन्द्रितः ॥ ३१ ॥

अ०—(यत्) पूर्वजन्मकृतं कर्म (भवति) तद् दैवम् (भवति) इति (विद्वद्भि) कथ्यते, तस्मात (जन) अतन्द्रित' (सन्) पुरुषकारेण यत्न कुर्यात् । व्या०—यत कर्म = धर्माधर्मात्मकफलप्रदा क्रिया, पूर्वं च तत् जन्म पूर्वजन्म, तस्मिन् पूर्वजन्मनि=प्राग्भवे, कृतम् = अनुष्ठितम् ; तत् = पूर्वजन्मकृतं कर्म, दैवम् = भाग्यम् , इति विद्वद्भि. कथ्यते = व्यवह्रियते । पूर्वजन्मकृतशुभाशुभकर्मसम्पादितम् अदृष्टं धर्माऽधर्माख्यमेव दैवमिति भाव । तस्माद् हेतोः लोक जन , अतन्द्रित. तन्द्रा = आलस्यं जाता अस्य इति तन्द्रित. न तन्द्रित अतन्द्रित.=आलस्य विहायेत्यर्थं, पुरुषकारेण = पुरुषप्रयत्नेन, पुरुषप्रयत्नमवलम्ब्येत्यर्थ. । यत्न=सर्वत्र कार्येषु उद्योग कुर्यादिति ।

भा०—दैव अर्थात् पूर्वजन्म में किये हुये धर्म अधर्मरूप कार्य ही अदृष्ट है, उससे अतिरिक्त कोई दैव नहीं है, इसलिये पुरुषप्रयत्न का अवलम्बन करके उत्साहपूर्वक सब कामों में उद्यम करना चाहिये ॥ ३१ ॥

न दैवमपि सञ्चिन्त्य त्यजेदुद्योगमात्मन ।
अनुद्योगेन तैलानि तिलेभ्यो नाऽप्तुमर्हति ॥ ३२ ॥

अ०—दैवमपि सञ्चिन्त्य (जन) आत्मन. उद्योगं न त्यजेत्, (यत) अनुद्योगेन तिलेभ्यः तैलानि (जन) आप्तुम् न अर्हति । व्या०—दैवमपि सञ्चिन्त्य='अह किं करवाणि यथा मम दैव वर्तते तथा भविष्यति' इति मत्वा, जन =अभ्युन्नयाभिलाषी, आत्मन' =स्वस्य उद्योग=व्यापार चेष्टा. प्रवृत्तिमिति यावत्, न त्यजेत्=न परिहरेत्, यत. अनुद्योगेन=व्यापारानुकूलप्रवृत्त्यकरणेन तु तिलेभ्य =तैलपूर्णेभ्य अपि तिलेभ्यः, तैलानि अपि (जनः) निरुद्योगी पुरुष. आप्तु= प्राप्तु नार्हति ।

भा०—'भाग्य से ही सब होना है, मेहनत से कुछ नहीं' ऐसा सोचकर पुरुष को उद्योगहीन नहीं होना चाहिए क्योंकि मिलने योग्य तैलप्राप्तिरूप फल भी तिलों में से बिना प्रयत्न नहीं मिलता, इसलिये उद्योग करना चाहिए ॥ ३२ ॥

अन्यच्च—

उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मीर्दैवेन देयमिति कापुरुषा वदन्ति ।
दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या यत्ने कृते यदि न सिध्यति कोऽत्र दोषः ॥

अ०—लक्ष्मी. उद्योगिनं पुरुषसिंहम् उपैति, कापुरुषा -'दैवेन देयम्' इति वदन्ति दैव निहत्य आत्मशक्त्या पौरुष कुरु, यत्ने कृते यदि न सिद्ध्यति, अत्र क' दोष. ।

व्या०—लक्ष्मी =सम्पत्ति., उद्योगिनम्–उद्योग =यत्न. अस्ति अस्य इति उद्योगी तम् उद्योगिनम् = प्रयतमानमित्यर्थः, पुरुषसिंहम्–पुरुष सिंह इवेति =(उपमित-समास) पुरुषसिंहस्तम् = पुरुषश्रेष्ठम् , उपैति=आश्रयति । दैवेन = भाग्येन, देयं–दातुं योग्य देयम् , सम्पादनीयमित्यर्थ , इति =एव तु कापुरुषा –कुत्सिता. पुरुषाः कापुरुषा.—सामर्थ्य (पौरुष) हीना एव पुरुषा , वदन्ति =कथयन्ति, अत दैव = भाग्याऽऽधारमात्रम् , निहत्य =दूरीकृत्य, आत्मन. शक्त्या=स्वस्य सामर्थ्येन, यथा सामर्थ्यमित्यर्थः, पौरुषम् =पुरुषप्रयत्नम् , उद्योगमिति यावत् , कुरु=त्व विधेहि । तादृशे यत्ने कृते सत्यपि यदि कार्य न सिद्ध्यति =न सम्पद्यते, तदा अत्र = यत्ने प्रयतमानस्य पुरुषस्य को दोष =का त्रुटि , इति मार्गणीयमिति शेषः ।

भा०—भाग्य में लिखी हुई भी लक्ष्मी (धन दौलत) पुरुष को प्रयत्न किये बिना नहीं मिलती, इसलिये 'भाग्य में जो होगा वह मिलेगा व्यर्थ प्रयास नहीं करना' ऐसा जो निबल पुरुषों का वचन है उसका ख्याल न करके अपनी शक्ति के अनुसार पुरुष को प्रयत्न करते रहना चाहिए, प्रयास करने पर भी अगर लक्ष्मी न मिले तो प्रयास करने में क्या त्रुटि रह गई है ? यह खोज करनी चाहिए ॥ ३३ ॥

यथा मृत्पिण्डत. कर्ता कुरुते यद् यदिच्छति ।
एवमात्मकृतं कर्म मानवः प्रतिपद्यते ॥ ३४ ॥

अ०—यथा कर्ता मृत्पिण्डत यद् यद् इच्छति, तद् तत् कुरुते, एवं मानवः

आत्मकृत कर्म प्रतिपद्यते। व्या०—यथा = यद्वत्, कर्ता = कुम्भकारः, मृत्पिण्डतः मृदा पिण्ड मृत्पिण्डस्तस्माद् = मृत्पिण्डात् मृत्तिकास्तूपादित्यर्थः, यद् यद् = शरावादिक निर्मातुम्, इच्छति = अभिलषति, तद् तदेव कुरुते = निर्माति, एवम् = मानव' = मनुष्य, आत्मकृतम् = आत्मना कृतम् आत्मकृतम् = स्वोत्क्रमकारेण, ऽनुष्ठितम्, कर्म = शुभाऽशुभकर्मफलमित्यर्थः, प्रतिपद्यते = लभते।

भा०—जैसे मिट्टीके पिण्ड मे भी घटादि बनाने का प्रयत्न करनेवाला कर्ता घटरूपी फल को प्राप्त करता है उसी प्रकार मानव अपने से किये शुभाशुभ कर्मफल को प्राप्त करता है॥

अपरञ्च—काकतालीयवत्प्राप्तं दृष्ट्वाऽपि निधिमग्रतः।
न स्वयं दैवमादत्ते पुरुषार्थमपेक्षते ॥ ३५ ॥

अ०—काकतालीयवत् प्राप्तं निधिम् अग्रत दृष्ट्वा अपि दैवं स्वय न आदत्ते, (किन्तु) पुरुषार्थमपेक्षते। व्या०—काकतालीयवत् = काकतालीयन्यायेनेत्यर्थः (काकनिपतनकाले एव अकस्मात् तालस्य पतनवत्) प्राप्तम् = दैवयोगात् समुपस्थितम्, निधिम् = धनराशिम्, अग्रतः-पुरत, दृष्ट्वा = निरीक्ष्याऽपि, दैवं तत न आदत्ते = आनीय न ददाति, अपितु पुरुषार्थम् = स्वकरेणाऽऽदानाऽनुकूलप्रयत्नम्, अपेक्षते = अवलम्बते, अत पुरुषार्थः कर्तव्य।

भा०—काकतालीय न्याय से (जैसे कि काक बैठा और उसी समय दैवयोग से ताड़फल गिर पड़ा), वैसे दैवयोग से उपस्थित रत्न आदिक धन को भी जब तक प्रयत्न करके हाथ से न उठावे तब तक स्वहस्तगत नहीं होता है, इसलिये प्रयत्न करना चाहिए॥ ३५॥

उद्यमेन हि सिद्ध्यन्ति कार्याणि न मनोरथैः।
न हि सुप्तस्य सिंहस्य प्रविशन्ति मुखे मृगाः॥ ३६॥

अ०—हि उद्यमेन कार्याणि सिद्ध्यन्ति, न (तु) मनोरथै, सुप्तस्य सिंहस्य मुखे मृगाः न हि प्रविशन्ति। व्या०—हि = यस्माद्धेतो, उद्यमेन = उद्योगेन, कार्याणि = अनुष्ठेयकर्माणि, सिद्ध्यन्ति = सफलानि भवन्ति। न तु केवल मनोरथैः = उद्यमाऽसहकृतसङ्कल्पै, सिद्ध्यन्तीति पूर्वाऽन्वय। तत्राऽनुरूपदृष्टान्तमाह—न हीति, सुप्तस्य = निद्रितस्येव अवस्थितस्य, निर्व्यापारस्येति यावत्, सिंहस्य = केसरिणः मुखे = आननमध्ये, मृगा = हरिणादय, न हि प्रविशन्ति = न हि यान्तीति।

भा०—जैसे उद्यम नहीं करने वाले सिंह के मुख में मृग स्वय जाकर नहीं गिरता है वैसे उद्यम करनेवाले पुरुष को ही सब अर्थ प्राप्त होता है उद्यम करने से ही मिलता है, केवल मनोरथ मात्र से कुछ भी नहीं होता॥ ३६॥

तथा चोक्तम्—माता शत्रुः पिता वैरी येन बालो न पाठितः।
न शोभते सभामध्ये हंसमध्ये बको यथा॥ ३७॥

अ०=येन, बाल० न पठितः (तद्बालकस्य) माता शत्रुः पिता वैरी (भवति) यथा हंसमध्ये बको न शोभते (तथा स बाल०) सभामध्ये (न शोभते)। व्या०—येन=मातापित्रोरन्यतरेण, बाल=पुत्र न पाठित =न शिक्षित',(तद्बालकस्य) सा माता शत्रु =अहितकारिणी, स पिता च वैरी=अहितकारी भवति स' अनधीतो बाल. यथा-हंसानां मध्य हंसमध्य तस्मिन् बको न शोभते तथा विबुधाना सभा मध्ये-सभायाः=परिषद मध्य सभामध्य तस्मिन्, सभामध्ये=विबुधजनसंसदीत्यर्थं, न शोभते=न सम्यग् आदृतो भवतीति।

भा०—माँ-बाप को चाहिए कि अपनी प्रजा (सन्तति) को अवश्य विद्याध्ययन में नियुक्त करें। विद्या नहीं पढाने से माँ बाप शत्रु कहाते हैं और जैसे हंसों के मध्य में बगुला शोभा तथा आदर नहीं पाता है, वैसे विद्याहीन सन्तति भी विद्वानों के मध्य में शोभा और आदर नहीं पाती ॥ १७ ॥

—रूपयौवनसम्पन्ना विशालकुलसम्भवाः।
विद्याहीना न शोभन्ते निर्गन्धा इव किंशुकाः ॥ १८ ॥

अ०—रूपयौवनसम्पन्ना विशालकुलसम्भवा (अपि) विद्याहीना' (पुरुषाः) निर्गन्धा किंशुका इव न शोभन्ते। व्या०—रूप=शरीरसौन्दर्यम्, यौवन=तरुणत्वम्, ताभ्यां सम्पन्ना, सौन्दर्यशालिनो यौवनशालिनश्चेत्यर्थं.। विशाल=महत् मान्य श्रेष्ठमिति यावत्। तादृश यत् कुल=वंशः, तस्मिन् सम्भव'=जनिर्येषान्ते तादृशा' श्रेष्ठसम्भूता अपीत्यर्थ., विद्यया हीना, विद्याहीनाः=गुणहीना, सन्त इत्यर्थ'। तादृशा पुरुषा' (कर्तृपदम्), निर्गन्धा -निर्नास्ति गन्ध.=आमोदो येषान्ते निर्गन्धा सुगन्धात्मकगुणरहिता', किंशुका=पलाशपुष्पाणीव, सौन्दर्ययुक्ता अपि न शोभन्ते=शोभावरो न लभेते इति भावः।

भा०—जैसे सुन्दर लाल रूप युक्त और कोमल होने पर भी पलाश का पुष्प गन्धरहित होने से आदरणीय नहीं होता, वैसे ही सौन्दर्य, यौवन, श्रेष्ठकुल में जन्म आदि होनेपर भी गुण (विद्यादिकला) शून्य पुरुष का आदर नहीं होता है ॥ १८ ॥

अपरञ्च—पुस्तकेषु च नाऽधीतं नाऽधीतं गुरुसन्निधौ।
न शोभते सभामध्ये जारगर्भ इव स्त्रिया. ॥ १९ ॥

अ०—(येन) पुस्तकेषु च न अधीतम्, गुरुसन्निधौ च न अधीतम् (स') स्त्रिया जारगर्भ इव सभामध्ये न शोभते। व्या०—येन बालेन, पुस्तकेषु=नीत्यादिशास्त्रेषु न अधीतम्=यथाशक्ति स्वय न पठितम्, न वा गुरुसन्निधौ च=गुरोः सन्निधौ=शिक्षागुरोः सकाशेऽपीत्यर्थः, न अधीतम् शास्त्रमिति शेषः (स) तादृशो बाल स्त्रिया=रमण्या, जारगर्भ इव जारस्य गर्भ जारगर्भ=व्यभिचारेण उत्पन्नो बाल, इव=यथा, न शोभते, तथा सभामध्ये-सभाया मध्ये=लोकसमाजे इत्यर्थं, न शोभते=न उत्कर्षतया शोभा वहतीत्यर्थ।

भा०—जैसे व्यभिचारीसे उत्पन्न हुआ पुरुष वर्णसंकर होने के कारण जनसमुदाय में श्रेष्ठ नहीं कहलाता, वैसे पुस्तकों में या गुरु के सामने जिसने विद्या का अभ्यास नहीं किया, वह जनसमाज में श्रेष्ठरूप से सम्मान्य नहीं होता है। ३९ ॥

एतच्चिन्तयित्वा राजा पण्डितसभां कारितवान्। राजोवाच—'भो भोः पण्डिताः! श्रूयतां मम वचनम्—'अस्ति कश्चिद् एवम्भूतो विद्वान्, यो मम पुत्राणां नित्यम् उन्मार्गगामिनाम् अनधिगतशास्त्राणाम् इदानीं नीतिशास्त्रोपदेशेन पुनर्जन्म कारयितुं समर्थः?

व्या०—सः राजा = सुदर्शननृपतिः, एतत् = उक्तं सर्वं, चिन्तयित्वा = विचार्य, पण्डितसभाम्—पण्डितानाम्=पण्डा विद्योज्ज्वला मतिः जाता येषां तेषां व्यवहारादिनिपुणविबुधानाम्, सभा=मण्डलीम्, कारितवान् = कारयामास। ततः सः सुदर्शनराजः उवाच = उक्तवान्, भो भोः=सम्बोधनार्थकमव्ययम्, आदरे द्विरुक्तिः। पण्डिताः=हे विबुधाः, भवद्भिः, मम वचनं = मे कथनम्, श्रूयताम्=आकर्ण्यताम्। तद्वचनमाह—अस्तीति। कश्चित्=कोऽपि, एवम्भूतः=एतादृशविशिष्टगुणोपेतः, विद्वान्—वेत्ति इति विद्वान् = विबुधजनः पण्डितः, अस्ति = अस्यां सभायां वर्तते। यः = यः पण्डितः, नित्यं=सर्वदा, उन्मार्गगामिनाम् = उत्=उद्गतः कुत्सितः मार्गः = पन्थाः इत्युन्मार्गः, उन्मार्गं गच्छन्ति ते उन्मार्गगामिनः, तेषाम्=असत्कर्मप्रवृत्तानाम्, यतः अनधिगतशास्त्राणाम्—अधिगतं पठितं शास्त्रं यैस्ते अधिगतशास्त्राः, ते न भवन्तीति अनधिगतशास्त्रास्तेषाम्, एतावत्समयम् अपि शास्त्राभ्यासविमुक्तानामित्यर्थः, मम=मे, पुत्राणां = तनयानाम् इदानीम् = अस्मिन् काले, अध्ययनसमये व्यतीतेऽपि, यौवनकाले इत्यर्थः, नीतिशास्त्रोपदेशेन—नीतेः प्रतिपादकं शास्त्रं नीतिशास्त्रं तस्य उपदेशः = शिक्षा तेन, पुनर्जन्म—पुनः = द्वितीयम्, जन्म = पाण्डित्याऽऽधानेन मनुष्यगणनायोग्यतारूपं जननं कारयितुं समर्थः = शक्तो भवतीति।

भा०—इस प्रकार बहुत विचार करके उस राजा ने पण्डितों की एक बड़ी सभा बुलाई, उसमें राजा सुदर्शन ने कहा कि हे माननीय पण्डितवृन्द! मेरी प्रार्थना सुनिए—कोई ऐसा विद्वान् है जो कि शास्त्र तथा धर्म से विमुख मेरे पुत्रों को नीतिशास्त्र का उपदेश देकर विद्वत्तासम्बन्धी नया जन्म दे सके?"

यतः—काचः काञ्चनसंसर्गाद् धत्ते मारकतीर्द्युतीः।
तथा सत्सन्निधानेन मूर्खो याति प्रवीणताम् ॥ ४० ॥

अ०—(यथा) काचः काञ्चनसंसर्गात् मारकतीः द्युतीः धत्ते, तथा मूर्खः सत्सन्निधानेन प्रवीणतां याति। व्या०—(यथा यद्वत्) काचः किञ्चिन्मात्रहरिद्वर्णः=अपकृष्टपार्थिवपदार्थोऽपि, काञ्चनस्य=सुवर्णस्य संसर्गः=सन्निधानं तस्मात्, (हेत्वर्थे पञ्चमी)। मारकतीः मरकतस्य मणेः इमाः मारकत्यः ताः मारकतीः (पित्राज्ञमिश्रणात् नाति

पिशङ्गहरिद्रूपा. किन्तु मध्याभा), द्युती, कान्तीरिति यावत्, धत्ते = धारयति। तथा = तद्वत्, मूर्खं = मूढ, अकुशल इति यावत्, एतादृश अपि पुरुष., सता = पण्डिताना, सन्निधानेन = सहवासेन, प्रवीणता = निपुणता • व्यवहारकुशलताधर्म• श्रद्धादिक याति = विन्दति।

भा०—जैसे कांच हल्का रग का होने पर भी सुवर्ण के साथ रखने से मरकतमणि की कान्ति के समान तेजस्वी कान्तिवाला हो जाता है वैसे ही सद्गुणवाले पुरुषों के सहवास से दुर्बुद्धि वाला पुरुष भी सद्गुणवान् हो जाता है ॥ ४० ॥

उक्त च—हीयते हि मतिस्तात ! हीनैः सह समागमात्।
समैश्च समतामेति विशिष्टैश्च विशिष्टताम् ॥ ४१ ॥

अ०—हे तात ! हीनै सह समागमात् मति हीयते हि, समै च समताम् एति. विशिष्टै• च विशिष्टताम् (एति)। व्या०—हे तात ! हे प्रिय ! 'स्निग्धे पितरि पूज्ये च तातशब्द प्रयुज्यते' इति। हीनै = स्वाऽपेक्षया न्यूनस्वभावबुद्धिगुणादिभि. पुरुषै सह समागमात् = सदा सहयोगात्, मति = स्वकीयबुद्धि गुणाः स्वभाव• श्चेति, हीयते = नीचता याति, हि = निश्चयार्थं। अथ च समै = स्वसमानगुणशालिभि समागमात् स्वबुद्ध्यादिक समता = समानस्थितिम्, यादृश भवेत् तथैवेत्यर्थं, एति = प्राप्नोति। अथ च विशिष्टै = स्वाऽपेक्षया गुणादिभिरुत्कृष्टै• सह समागमात्तु विशिष्टताम्, महतीं स्थितिमिति यावत्, एति = प्राप्नोति।

भा०—नीच पुरुषों के सग से श्रेष्ठपुरुष भी नीच काम करनेवाला हो जाता है, समानगुणी जन के सग से अपनी यथास्थिति में ही रहता है और श्रेष्ठ पुरुष के सग से नीच भी श्रेष्ठ हो जाता है इसलिए महापुरुषों का सग करना चाहिये ॥ ४१ ॥

अत्रान्तरे विष्णुशर्मनामा महापण्डित सकलनीतिशास्त्रतत्त्वज्ञो बृहस्पतिरिवाऽब्रवीत्—'देव ! महाकुलसम्भूता एते राजपुत्रा', तत् मया नीति ग्राहयितुं शक्यन्ते।

व्या०—अत्र = अस्मिन्, अन्तरे = अवसरे, विष्णुशर्मनामा = 'विष्णुशर्मा' इति नाम यस्य स (बहुव्रीहि) तादृश, सकलनीतिशास्त्रतत्त्वज्ञ.—सकलानि च तानि नीतिशास्त्राणि चेति सकलनीतिशास्त्राणि, तेषा तत्त्व = गूढाऽभिप्राय., तत् जानाति इति सकलशास्त्रेषु विद्वान् इत्यर्थं, महापण्डित = विबुधाऽग्रगण्य। बृहस्पतिरिव = सुरगुरुरिवेत्युपमा, अब्रवीत् = अकथयत्। हे देव ! हे राजन् ! एते राजपुत्रा = राज्ञ• पुत्रा राजपुत्रा, महाकुलसम्भूता = महाकुले सम्भूता महाकुलसम्भूता = श्रेष्ठ• राजकुले लब्धजन्मान सन्ति, तत् = तस्माद्धेतो, एते, मया = विष्णुशर्मणा, नीतिं = नीतिशास्त्रम्, ग्राहयितु = सम्यग् बोधयितु शक्यन्ते।

भा०—राजा के निवेदन के बाद उसी समय 'विष्णुशर्मा' नाम का पण्डित जो कि सकल नीतिशास्त्र को जानता था और बृहस्पति के समान था उसने कहा—हे राजन् ! उत्तम

कुल में उत्पन्न हुए इन राजपुत्रों को मैं नीतिशास्त्र का ज्ञान करा सकता हूँ।

यतः—नाऽद्रव्ये निहिता काचित् क्रिया फलवती भवेत्।
न व्यापारशतेनाऽपि शुकवत् पाठ्यते बकः॥ ४२॥

अ०—अद्रव्ये निहिता काचिद् (अपि) क्रिया फलवती न भवेत्, (यथा) बकः व्यापारशतेनाऽपि शुकवत् (बकोऽपि) न पाठ्यते। व्या०—अद्रव्ये-न द्रव्यम् अद्रव्य तस्मिन् अयोग्ये पात्रे इत्यर्थः। निहिता = प्रयुक्ता, काचिदपि क्रिया=शिक्षाप्रदानात्मिका, फलवती = सफला फलशालिनी, भवेत्। तत्र दृष्टान्त—यथा बकः = बकनामा पक्षी, अपात्रत्वात् व्यापारशतेनाऽपि—व्यापाराणां शतं तेन=बहुधा प्रयत्नेनाऽपि शुकवत् = यथा स्वल्पप्रयासेन शुकः पात्रत्वात् पाठ्यते तथेत्यर्थः, केनाऽपि न पाठ्यते = पक्षिशिक्षकेणाऽपि पाठयितुं न शक्यते इति।

भा०—जो कुपात्र है, उसमें प्रयत्नपूर्वक किया हुआ भी कार्य सफल नहीं होता जैसे कि बगुला वाक्य बोलने का पात्र नहीं होने से बहुप्रयत्नपूर्वक किया हुआ शिक्षण भी उसमें सफल नहीं होता है और सुग्गा का (पात्र होने से) शिक्षण सफल होता है। वैसे इन सुपात्र राजपुत्रों में मेरा प्रयत्न सफल होगा॥ ४२॥

अन्यच्च—अस्मिंस्तु निर्गुणं गोत्रे नाऽपत्यमुपजायते।
आकरे पद्मरागाणां जन्म काचमणेः कुतः॥ ४३॥

अ०—अस्मिन् तु गोत्रे निर्गुणम् अपत्यं न उपजायते (यथा) पद्मरागाणाम् आकरे काचमणेः जन्म कुतः। व्या०—अस्मिन् तु = एतस्मिन् श्रेष्ठतमे भवदीये, गोत्रे = वंशे, निर्गुणम्-न-विद्यन्ते गुणा यस्य तत् निर्गुणं गुणशून्यम्, अपात्रमिति यावत्, एतादृशम्। अपत्यम्-न अधः पतन्ति पितरः अनेनेति अपत्यं = सन्ततिः, न उपजायते न प्रादुर्भवति। यथा (दृष्टान्त)—पद्मरागाणाम्-पद्मस्य राग इव रागो येषान्ते इति पद्मरागाः = कमलान्तर्गतरक्तिमसमकान्तिमन्तो मणिविशेषास्तेषाम्, आकरे-उत्पत्तिस्थाने खनिविशेषे, काचमणेः=काचस्य तुच्छपार्थिवपदार्थस्य, जन्म = उद्भवः, कुतः कस्मात् सम्भवति, अर्थात् न संभवत्येव।

भा०— बुद्धिशाली तथा सद्गुणी राजाओं के वंश में बुद्धिशाली और गुणवाली ही संतति उत्पन्न होती है, मूर्ख और गुणहीन नहीं होती। जैसे कि मणि के उत्पत्तिस्थान में से मणि ही पैदा होता है, काच नहीं होता। इसलिए बुद्धिशाली तथा सुगुणी इन राजपुत्रों को अल्प प्रयास से नीति का शिक्षण दे सकता हूँ॥ ४३॥

अतोऽहं षण्मासाभ्यन्तरे भवत्पुत्रान् नीतिशास्त्राऽभिज्ञान् करिष्यामि।' राजा सविनयं पुनरुवाच।

व्या०—अतः=अस्मात् हेतोः महाकुलप्रसूतत्वेन-उपदेशग्रहणधारणपटुतायोग्यत्वादित्यर्थः। अहं=विष्णुशर्मा, षण्मासाभ्यन्तरे-षड्वयवा मासाः षण्मासाः तेषाम्

अभ्यन्तर = मध्य तस्मिन् , षण्णा मासानामपरिसमाप्तो यावदित्यर्थ । भवत = राज्ञ , पुत्रान् = कुमारान् , नीतिशास्त्रम् अभिजानन्तीति नीतिशास्त्राभिज्ञास्तान् = नीतिनिपुणान् करिष्यामि = विधास्यामीति । तत राजा = सुदर्शन , सविनयम् — विनयेन सह वर्तमान यथा स्यात्तथा = सप्रश्रय पुन = भूय उवाच = उक्तवान् ।

भा०—इस हेतुसे (बुद्धिमान् होने के कारण) छ मास के अन्दर आप के पुत्रों को नीतिशास्त्र में निपुण कर दूँगा । उसके बाद सुदर्शन राजाने फिर नम्रतापूर्वक कहा—

—'कीटोऽपि सुमन.सङ्गादारोहति सतां शिर ।
अश्माऽपि याति देवत्वं महद्भि. सुप्रतिष्ठित ॥' ४४ ॥

अ०—कीट अपि सुमनसङ्गात् सतां शिर आरोहति, अश्मा अपि महद्भि' सुप्रतिष्ठित (सन्) देवत्व याति । व्या०—कीट = क्षुद्रजन्तु , अपि = स्पर्शनाऽनर्होऽपि सुमन सङ्गात्— सुमनसा = कुसुमाना सङ्ग =योग तस्मात् , पुष्पेऽवस्थानादित्यर्थ , सता=महापुरुषाणा राजादीनाम् , शिर = मस्तकम् , आरोहति आश्रयति, शिरसि स्थान लभत इत्यर्थ । एवम् अश्मा=प्रस्तर , अपि=निकृष्टपार्थिवपदार्थोऽपि, महद्भि=श्रोत्रियपुरुषै (जन्मना ब्राह्मणो ज्ञेय सस्काराद् द्विज उच्यते । विद्यया याति विप्रत्व त्रिभि' श्रोत्रिय उच्यते ॥)सुप्रतिष्ठित =वेदमन्त्रादिना प्रतिष्ठां नीत., सन् , देवत्व = लक्ष्मीनारायणादिदेवभावम् , याति = प्राप्नोति ।

भा०—जैसे क्षुद्रजन्तु कीडा भी पुष्प के योग से बडे २ पुरुषों के शिर पर जा बैठता है और पत्थर भी बडे पुरुषोंसे मूर्तिरूपसे स्थापित करने पर देवभाव को प्राप्त हो जाता है वैसे ही मेरे पुत्र मूर्ख होनेपर भी आप जैसे विद्वान् के आश्रय में रहने से गुणवान् हो जायँगे ॥

अन्यच्च—यथोदयगिरेर्द्रव्यं सन्निकर्षेण दीप्यते ।
तथा सत्सन्निधानेन हीनवर्णोऽपि दीप्यते ॥ ४५ ॥

अ०—यथा द्रव्यम् उदयगिरे सन्निकर्षेण दीप्यते, तथा हीनवर्ण अपि सत्सन्निधानेन दीप्यते । व्या०—यथा = यद्वत् , द्रव्यम्=उदयाचलसमीपस्थ चाकचिक्यादियुक्तपाषाणादिकम् , उदयगिरे =उदयाचलपर्वतस्य सन्निकर्षेण (हेत्वर्थे पञ्चमी) सामीप्यादित्यर्थ , दीप्यते = प्रकाशते, दीप्तिमद् भवति । तथा = तद्वत , हीनवर्णः अपि—हीन निकृष्ट' वर्ण' जातिर्यस्य, अथवा हीना वर्णा अक्षराणि यस्य स =जात्याऽपकृष्ट अक्षरज्ञानशून्यो वेत्यर्थ , एतादृश पुरुषोऽपि । सता महताम् , विबुधानामिति यावत् , सन्निधान = सहवास आश्रयणमिति यावत् , तेन (हेत्वर्थे तृतीया) सह तामाश्रयणादित्यर्थं । दीप्यते = शोभते, उत्कर्षं लभते इत्यर्थं ।

भा०—जैसे तेजहीन श्वेत पत्थर आदि वस्तु उदयाचल के समीप में रहने से तेजस्वी बन कर चमकती है, वैसे छोटी जाति में उत्पन्न हुआ अथवा कुछ भी नहीं पढा हुआ ऐसा पुरुष भी बडे पुरुष के आश्रय से बडा हो जाता है ॥ ४५ ॥

गुणा गुणज्ञेषु गुणा भवन्ति ते निर्गुणं प्राप्य भवन्ति दोषाः ।
आस्वाद्यतोयाः प्रवहन्ति नद्यः समुद्रमासाद्य भवन्त्यपेयाः ॥४६॥

अ०—गुणा गुणज्ञेषु गुणा भवन्ति, ते निर्गुणं प्राप्य दोषाः भवन्ति, नद्यः आस्वाद्यतोया प्रवहन्ति, समुद्रम् आसाद्य अपेयाः भवन्ति। व्या०—गुणाः=विद्याविनयशौर्यदानदाक्षिण्यादयः, गुणज्ञेषु गुणान् जानन्ति इति गुणज्ञास्तेषु=गुणपरीक्षणसमर्थेषु, पुरुषेषु, गताः सन्त, गुणाः=गुणत्वेन ख्याताः सद्गुणा इति यावत्, भवन्ति=सम्पद्यन्ते, ते एव=विद्यादयो गुणाः निर्गुणं तदपरीक्षकं कुपात्रम्, प्राप्य=आश्रयत्वेन=समासाद्य, दोषा=दोषत्वेन ख्याता दुष्टगुणाः, भवन्ति=सम्पद्यन्ते तत्र दृष्टान्तः नद्यः=सरित, आस्वाद्यतोया-आस्वाद्य सुपेयं मधुर, तोयं=जल यासु ता यासा ता वा इति आस्वाद्यतोयाः=सुपेयमधुरजलशालिन्य, प्रवहन्ति=प्रकर्षेण वहन्ति। किन्तु ता समुद्रं=लवणोदकसागरम्, आसाद्य=आश्रयत्वेन अङ्गीकृत्य, अपेया—पातु योग्या., पेया ता न भवन्ति इति अपेयाः=क्षारससर्गात् पानायोग्या भवन्ति इति।

भा०—जैसे जब तक जल नदियों में रहता है तब तक मधुर पीने लायक होता है और समुद्रमें जाने के बाद खारा हो जाने से पीने लायक नहीं रहता। वैसे ही अच्छे २ गुण भी लायक (सज्जन) पुरुषों को सिखाने से श्रेष्ठ सद्गुण होते हैं और कुपात्र को सिखाने से गुण भी दुर्गुण दोषरूप हो जाते हैं ॥ ४६ ॥

तदेतेषामस्मत्पुत्राणां नीतिशास्त्रोपदेशाय भवन्तः 'प्रमाणम्' इत्युक्त्वा तस्य विष्णुशर्मणो (करे) बहुमानपुरःसरं पुत्रान् समर्पितवान् ।

व्या०—तत्=तस्माद्धेतोः, यतः सत्पुरुषयोगात् निकृष्टोऽपि उत्कर्षं याति अस्माद्धेतोरित्यर्थः। भवन्त=यूयम्, विष्णुशर्मा पण्डित (सम्मानार्थे बहुवचनप्रयोगः) एतेषां=पुर समुपस्थितानाम्, अस्माक पुत्रा अस्मत्पुत्रा तेषां मम सुदर्शनस्य तनयानाम्, नीतिशास्त्रोपदेशाय—नीतिरेव शास्त्र तस्य उपदेश.=शिक्षा, तस्मै इत्यर्थं, प्रमाणम्=('प्रमाण निश्चयमर्यादाशास्त्रेषु सत्यवादिनि। इयत्तायां च हेतौ च क्लीबैकत्वे प्रमातरि ॥' इति मेदिनीवचनात् 'प्रमाणम्' इति एकवचन क्लीबत्वञ्च 'वेदाः प्रमाणम्' इतिवत्) प्रमातार=स्वतन्त्रसत्ताका इत्यर्थः। इति=इत्थम्, उक्त्वा=कथयित्वा स सुदर्शनराज, तस्य-शिक्षकत्वेन निर्धारितस्य विष्णुशर्मण पण्डितस्य, (करे=हस्ते) बहुमानपुर सर—पुर सरति इति पुरःसर, बहुमान पुरःसरो यस्मिन् कर्मणि यथा भवति तथा तत्, अतिसम्मानपूर्वकमित्यर्थं, पुत्रान्=स्वसुतान् समर्पितवान्=सम्यक् अर्पयामास।

भा०—महान् पुरुषके योग से ही महत्ता मिलती है—इसलिए इन मेरे पुत्रों को नीतिशास्त्र का शिक्षण देने के लिए आप (विष्णुशर्मा) ही प्रमाणभूत हैं, ऐसा कहकर राजाने उस विष्णुशर्मा पण्डित के हाथ में अति आदर पूर्वक अपने राजकुमारों को सौंप दिया।

अथ मित्रलाभ-प्रस्तावः

अथ प्रासादपृष्ठे सुखोपविष्टानां राजपुत्राणां पुरस्तात् प्रस्तावक्रमेण स पण्डितोऽब्रवीत्—भो राजपुत्राः शृणुत—

व्या०—अथ=समर्पणानन्तरम्, प्रासादपृष्ठे-प्रासादस्य=सौधस्य राजभवनस्य, पृष्ठम्=उपरिभागः चन्द्रशाला तस्मिन्, सुखोपविष्टानाम्—सुखम् उपविष्टास्तेषां=शान्तिपूर्वकं स्थितानामित्यर्थः। राज्ञः पुत्राः राजपुत्राः तेषां=नृपस्य तनयानामित्यर्थः। पुरस्तात्=समक्षम्। प्रस्तावस्य=अवसरसङ्गते, क्रमः=रीतिः तेन, अवसरं प्राप्येत्यर्थः, स विष्णुशर्मा पण्डितः अब्रवीत्=कथयामास (वक्ष्यमाणमिति शेषः)। भो राजपुत्राः=भो-इति सम्बोधने, हे राजतनयाः यूयम् शृणुत=आकर्णयत।

भा०—राजपुत्रों के सुपुर्द करने के बाद राजभवन के ऊपर छतपर सुखपूर्वक बैठे हुए राजपुत्रों के सामने अवसर देखकर विष्णुशर्मा पण्डित ने कहा—हे राजपुत्रो! सुनो—

काव्यशास्त्रविनोदेन कालो गच्छति धीमताम्।
व्यसनेन च मूर्खाणां निद्रया कलहेन वा॥ १॥

अ०—धीमतां कालः काव्यशास्त्रविनोदेन गच्छति, मूर्खाणां (तु कालः) व्यसनेन निद्रया कलहेन वा (गच्छति)। व्या०—धियः सन्ति एषामिति धीमन्तः तेषां=विदुषामित्यर्थः, कालः=आयुः समयः, काव्यम्—कवेः कर्म काव्यं=रसान्वितं व्याख्यानं वचनमिति यावत्, तदेव शास्त्रम् इति काव्यशास्त्रम्, तेन यो विनोदः=आनन्दः तेन काव्यशास्त्रविनोदेन=आलोचने श्रवणे वा सति रसजनकवाक्यसमूहात्मकशास्त्रजनिताऽऽनन्देनेत्यर्थः, गच्छति=व्यतीतो भवति, न तु व्यर्थो गच्छति। मूर्खाणां=शास्त्रविमुखानां (तु कालः=आयुः समयः) व्यसनेन—व्यस्यते क्षिप्तम् अनेनेति व्यसनं तेन=सुरापानद्यूतक्रीडामृगयादिव्यसनेनेत्यर्थः। निद्रया=दिवा निद्रया, स्वप्नतुल्यया तामसाऽऽपन्नया मद्यपानादिजन्योन्मत्ताऽवस्थयेति यावत्। कलहेन=विवादेन वा, गच्छति=अतिवर्तते। इति।

भा०—बुद्धिमान लोग अपने जीवन समय को नीतिशास्त्रादि में बिता कर सार्थक करते हैं और मूर्खलोग तो जुवा खेलना आदि व्यसनों में, सोने में, या तो क्लेश टंटा में अपने जीवन समय को बरबाद करते हैं इसलिये अपने को नीतिशास्त्र के चिन्तन में विनोद करना चाहिए॥ १॥

तद् भवतां विनोदाय काककूर्मादीनां विचित्रां कथां कथयिष्यामि। राजपुत्रैरुक्तम्-आर्य! कथ्यताम्। विष्णुशर्मोवाच-शृणुत यूयम्, सम्प्रति मित्रलाभः प्रस्तूयते, यस्यायमाद्यः श्लोकः।

व्या०—तत्=तस्मात्, 'यत धीमतां काव्यशास्त्रविनोदेन कालो गच्छति' इत्य

स्माद्धेतोरित्यर्थ , भवतां=युष्माकम् (राजपुत्राणाम्), विनोदाय=प्रीत्यर्थम् , अहम् (विष्णुशर्मा) काककूर्मादीनाम्–काकश्च कूर्मश्च काककूर्मौ, तौ आदी येषान्ते तेषा= काककूर्महरिणमूषकादीनामित्यर्थः, विचित्रा = विविधा रमणीया, मनोहारिणीमित्यर्थं , कथाम् = उपन्यासम् वार्तामिति यावत् , कथयिष्यामि = वक्ष्यामि (एतच्छ्रुत्वा) राजपुत्रैः=राज्ञ पुत्रा. राजपुत्रास्तै = राजकुमारै. उक्तम् = अभिहितम् आर्य !=पूज्य ! कथ्यताम् (कथा भवद्भिरिति शेष)। तदनन्तरं विष्णुशर्मा पण्डितः उवाच = उक्तवान् , यूयम् = भवन्त राजपुत्रा', शृणुत = सावधानम् आकर्णयत, सम्प्रति = एतस्मिन् समये, मित्रलाभ —मित्रस्य = सुहृदो लाभ = प्राप्ति मित्रलाभाख्यविषय. प्रस्तूयते = यथावसर प्रारभ्यते, 'मित्रं कीदृग्भवति कीदृग् मित्र कर्तव्यम् , केन प्रकारेण वा श्रेष्ठमित्र लभ्यते' इत्येतत् सर्वं कथयामि। यस्य = मित्रलाभाख्यस्य उपाख्यानस्य, अय = वक्ष्यमाण., आद्य –आदौ भव' प्रथमस्थ श्लोक. = अनुष्टुब्वृत्तात्मककविता, अस्तीति शेषः।

भा०—धीमान् पुरुषों का समय काव्य-शास्त्रविनोद से ही व्यतीत होना चाहिये इसलिये आपके विनोद के लिये मैं काक, कूर्म आदि की विचित्र मनोरञ्जक कथायें कहूँगा। तब राजपुत्रों ने कहा—आर्य ! कहिये। (उसके बाद) विष्णुशर्माजीने कहा—आपलोग सुनिए इस समय मित्रलाभ नाम की कथा प्रारम्भ करता हूँ, जिसका यह पहला श्लोक है—

असाधना वित्तहीना बुद्धिमन्तः सुहृत्तमाः।
साधयन्त्याशु कार्याणि काककूर्ममृगाखुवत् ॥ २ ॥

अ०—असाधना. वित्तहीना बुद्धिमन्त. सुहृत्तमा. काककूर्ममृगाऽऽखुवत् कार्याणि आशु साधयन्ति। व्या०—न विद्यते साधनानि = अस्त्रशस्त्राद्युपायात्मकनिमित्तकारणानि येषान्ते असाधना , निरुपाया इत्यर्थ । वित्तेन=सुवर्णरूप्यकादिद्रव्येण धनेन, हीना =शून्या , दरिद्रा इत्यर्थं । बुद्धि विद्यते येषान्ते बुद्धिमन्त. = बुद्धिमतिप्रतिभैतत्त्रयवन्त इति यावत् , ('बुद्धिस्तात्कालिकी ज्ञेया, मतिरागामिगोचरा। प्रज्ञां नवनवोन्मेषशालिनीं प्रतिभा विदु ॥' इति) शोभन = परस्परनिष्कपट हृदय येषान्ते सुहृद् , अतिशयेन सुहृद इति सुहृत्तमा = परस्परम् अतिशयेन सौहार्दम् आपन्ना सर्वकार्यैकमत्या, सन्त., काकश्च (वायस) कूर्मश्च (कच्छप) मृगश्च (हरिण) आखुश्च (मूषक) इति काककूर्ममृगाऽऽखव , तै. इवेति काककूर्ममृगाऽऽखुवत् । आशु = शीघ्रम् , कार्याणि=आरब्धकार्याणि, साधयन्ति=सम्पादयन्ति।

भा०—जैसे काक–कूर्म–हरिण–चूहा इन चारों के पास कोई साधन तथा धन नहीं था, तो भी अपनी बुद्धिमत्ता के साथ साथ मित्रता से एकमत होकर असाध्य कार्य को भी सिद्ध किया जैसे अस्त्र-शस्त्रादिक साधन तथा धनरहित भी बुद्धिमान् मित्रगण मिलकर असाध्य कार्य को भी सिद्ध कर सकते हैं ॥ २ ॥

राजपुत्रा ऊचुः—कथमेतत्? सोऽब्रवीत्—

अस्ति गोदावरीतीरे विशालः शाल्मलीतरुः। तत्र नानादिग्देशादागत्य रात्रौ पक्षिणो निवसन्ति। अथ कदाचिद् अवसन्नायां रात्रौ अस्ताचलचूडाऽवलम्बिनि भगवति कुमुदिनीनायके चन्द्रमसि, लघुपतनकनामा वायसः प्रबुद्धः कृतान्तमिव द्वितीयमटन्तं पाशहस्तं व्याधम् अपश्यत्। तम् आलोक्याचिन्तयत्—'अद्य प्रातरेवाऽनिष्टदर्शनं जातम्, न जाने किम् अनभिमतं दर्शयिष्यति' इत्युक्त्वा तदनुसरणक्रमेण व्याकुलश्चलितः।

अ०—राज्ञः पुत्राः राजपुत्राः=राजकुमाराः, ऊचुः=कथयामासुः, एतत्='असाधना' इत्यादिश्लोकोक्तं यत् काकादीनां निदर्शनं (दृष्टान्तम्) तत् कथम्—केन प्रकारेणाऽस्ति? इत्येवं प्रश्नानन्तरम्, सः=विष्णुशर्मा पण्डितः, अब्रवीत्=अकथयत्-गोदावरीतीरे-गोदावर्याः=गोदावरीनामनद्याः, तीरं=कूलं तस्मिन्, विशालः=विस्तृतशाखादिपरिकरः, शाल्मलीतरुः='शाल्मली' नामा तरुः वृक्षः, अस्ति=विद्यते। तत्र=तस्मिन् वृक्षे, नानादिग्देशात्=दिक् च देशश्च तयोः समाहारः दिग्देशम्, नाना च तत् दिग्देशं चेति तस्मात्=विभिन्नदिशः विभिन्नदेशाच्चेत्यर्थः, आगत्य=एत्य, रात्रौ=निशायाम्, पक्षिणः-पक्षा विद्यन्ते एषाम् इति पक्षिणः खगाः पतत्रिणः, निवसन्ति=रात्रिकालं यापयन्ति। अथ गच्छति समये, कदाचित्=एकस्मिन् समये, रात्रौ=निशायाम्, अवसन्नायां=क्षीणायाम्, प्रभातायां सन्ध्यामिति यावत्, भगवती=भगाः=ऐश्वर्याणि सन्ति अस्य भगवान् तस्मिन्=ऐश्वर्यशालिनि, कुमुदिनीनायके-कुमुदिन्याः नायकः तस्मिन्=कुमुद्वतीपतौ, चन्द्रमसि=शशाङ्के, अस्ताचलस्य चूडा=शिखरम्, तदवलम्बते इति अस्ताचलचूडावलम्बि तस्मिन्, अस्तं गते सतीत्यर्थः। लघु द्रुतं पतनं उड्डयनं यस्य सः, लघुपतनकः, लघुपतनक इति नाम=अभिधानं यस्य सः=लघुपतनकनामा, वायसः=काकः, प्रबुद्धः=प्रकर्षेण जागरितः सन्, द्वितीयम्-द्वयोः पूरणः द्वितीयस्तं द्वितीयम्=अन्यम्, कृतान्तमिव—कृतं सृष्टम् अन्तयति मारयति यः कृतान्तस्तं यममिव, अटन्तम्—अटतीति अटन्तः=भ्रमन्तम्, पाशहस्तम्=पाशः=जालं हस्ते यस्य सः पाशहस्तस्तं करगृहीतजालम्, व्याधं=कञ्चित् मृगयुम्, अपश्यत्=ददर्श। तं मृगयुम्, अवलोक्य=साक्षात्कृत्य, स वायसः अचिन्तयत्=चिन्तां कृतवान्, अद्य=अस्मिन् दिवसे, प्रातरेव=प्रभातसमये निद्रात्यागाऽवसरे एव, अनिष्टदर्शनम्—न इष्टः अनिष्टस्तस्य=अनभिलषितस्य अमङ्गलरूपस्य व्याधस्य दर्शनम्=अवलोकनम्, दैवात् जातं=सम्भूतम् न जाने=अहं (काकः) न वेद्मि, किम् अनभिमतं=किंविधम् अशुभम्, दर्शयिष्यति=घटयिष्यति, इत्युक्त्वा=इति वाक्यमुच्चार्य, तदनुसरणक्रमेण—तस्य व्याधस्य अनुसरणं=पश्चाद् गमनं, तस्य क्रमः=

आचरणम् , तेन व्याकुलः विशेषेण आकुलः सन् , चलित = चचाल।

भा०—तब राजपुत्रों ने कहा—असाध्य कार्य को भी सिद्ध करने में काक-कच्छपादि का दृष्टान्त बताया सो किस प्रकार? विष्णुशर्मा ने कहा (कथा शुरू की)—गोदावरी नाम की नदी के किनारे पर विशाल 'सेमल' का वृक्ष है, उस वृक्ष पर चारो तरफ के बहुत से पक्षिगण देश देशान्तरों से आकर रात्रि बिताते थे, एक बार प्रातःकाल हुआ और भगवान् कुमुदिनीनायक चन्द्रमा अस्त हो गये, तब एक 'लघुपतनक' नामक काक ने जागते ही यम के सदृश और हाथ में जाल के के घूमते हुए व्याध को देखा, व्याध को देख कर काक सोचने लगा 'आज प्रातःकाल में ही अमाङ्गलिक (अशुभसूचक) दर्शन हुआ, न मालूम यह किस प्रकार का अनिष्ट (आपत्ति) करेगा' इतना कहकर उस व्याधि के पीछे पीछे वह काक व्याकुल होकर चल दिया।

यतः—शोकस्थानसहस्राणि भयस्थानशतानि च।
दिवसे दिवसे मूढमाविशन्ति न पण्डितम् ॥ ३ ॥

अ०—शोकस्थानसहस्राणि भयस्थानशतानि च दिवसे दिवसे मूढम् आविशन्ति, न तु पण्डितम्। व्या०—उक्त. कारणमाह-शोकेति। शोकस्य = परितापस्य, स्थानानि = निमित्तानि तेषा सहस्राणि, सहस्रश शोकस्य निमित्तकारणानीत्यर्थः। भयस्य स्थानानि=निमित्तकारणानि, तेषां शतानि=शतशः भयकारणानि चेत्यर्थ, दिवसे दिवसे=प्रतिदिनमित्यर्थं। मूढ=मूर्खं पुरुषम् , आविशन्ति=व्याकुलीकुर्वन्तीत्यर्थः। न तु पण्डितं=बुद्धिमन्त पुरुषम् , तानि शोकादिस्थानानि पराभवन्तीति।

भा०—मूर्ख जन अपने स्वभाव से ही नित्यप्रति शोक और भय के कारणों को उत्पन्न करता है न कि विद्वान्, क्योंकि विद्वान् जन अपनी निपुणता से ही शोक के कारणों को शुभप्रद बना देते हैं, इसलिये काक भी अपनी बुद्ध्यनुसार आनेवाला दु ख न आने पावे ऐसा प्रयास करने में प्रवृत्त हुआ ॥ ३ ॥

अन्यच्च—विषयिणामिदमवश्यं कर्त्तव्यम्।

उत्थायोत्थाय बोद्धव्यं महद् भयमुपस्थितम्।
मरणव्याधिशोकानां किमद्य निपतिष्यति ॥ ४ ॥

अ०—उत्थाय उत्थाय अद्य मरणव्याधिशोकाना कि निपतिष्यति (इति यद्) भयम् उपस्थितम् (तद्) बोध्यम्। व्या०—किञ्च, विषयिणाम्= सुखप्रदविषयाऽ(साधनविशेषा-) भिलाषिणा गृहिणाम् , इद=वक्ष्यमाणकार्यं तु, अवश्य=निश्चय एव कर्तव्यम् = अनुष्ठेयम्। तत्किमित्यत आह—उत्थायेति। प्रतिदिन शय्याय। उत्थितो भूत्वेत्यर्थं। अद्य = अस्मिन् दिवसे, मरण=मृत्यु , व्याधि =रोगाद्यात्मक , शोक = हृदयचिन्ताऽऽत्मकताप , तेषा मध्ये किम् = कतमत्-मरण व्याधि शोको वा, निपतिष्यति = समेष्यति। इति = इत्येव प्रकारेण यत् यत् महत् = गरिष्ठकारणम् , भय=भयनिदानम् , उपस्थित=समागतं स्यात् , तत्तत् सर्वं बोद्धव्यम्।

भा०—इस संसार में अपना मरण चाहने वाले जनों का यह कर्तव्य है कि—रोजाना प्रातःकाल उठकर मरण वा दुःख अथवा शोक इन तीनों में से जो आज आने वाला हो—उसका विचार करके तब महान् भय दूर करने के प्रयत्न में सावधान बने ॥ ४ ॥

अथ तेन व्याधेन तण्डुलकणान् विकीर्य जालं विस्तीर्णम्। स च तत्र प्रच्छन्नो भूत्वा स्थितः। अस्मिन्नेव काले चित्रग्रीवनामा कपोतराजः सपरिवारो वियति विसर्पंस्तांस्तण्डुलकणान् अवलोकयामास। ततः कपोतराजस्तण्डुलकणलुब्धान् कपोतान् प्राह—'कुतोऽत्र निर्जने वने तण्डुलकणानां सम्भवः, तन्निरूप्यतां तावत्, भद्रमिदं न पश्यामि प्रायेणाऽनेन तण्डुलकणलोभेनाऽस्माभिरपि तथा भवितव्यम्।

व्या०—अथ व्याधाऽनुगमनाऽनन्तरम् (कुत्रचित्स्थले) तेन पूर्वोक्तेन व्याधेन, तण्डुलानां कणास्तान् = तण्डुलखण्डानित्यर्थं, विकीर्य = भूमौ विक्षिप्य, जालं=पतत्रिपक्ष्यादिबन्धनरूप जालम्, विस्तीर्णं=भूमौ तण्डुलकणोपरि प्रसारितम्, (क्वचित्पुस्तके—'विस्तीर्य' इति पाठः, तस्य प्रसार्य इत्यर्थो बोध्य) स च=पूर्वोक्तः व्याध, तत्र=समीपप्रदेशे, प्रच्छन्नः=लतागुल्मादौ तिरोहितो भूत्वा, स्थितः=वर्तते स्म, अस्मिन्नेव काले=समये, चित्रग्रीवनामा—गिलति अनया सा ग्रीवा, चित्रा=नानारूपवती ग्रीवा यस्य स=चित्रग्रीवनामक इत्यर्थः। कपोतानां राजा इति कपोतराजः= वृद्धपारावतः, सपरिवारः परिव्रियन्ते एभिः इति परिवारास्तैः सहितः सपरिवार= परिजनसहितः, वियति=गगने, विसर्पन्—गच्छन् उड्डीयमानः सन्, तान् विकीर्णान् तण्डुलकणान्, अवलोकयामास=ददर्श। ततः=दर्शनाऽनन्तरम्, कपोतराजः सः पारावताधिपतिः, तण्डुलकणलुब्धान्—तण्डुलानां कणास्तण्डुलकणा, तण्डुलकणाना लुब्धास्तान्, तण्डुलखण्डलोलुपान् कपोतान् प्रति आह=उवाच, अत्र=एतस्मिन्, निर्जने=न विद्यन्ते जना यत्रेति निर्जनं तस्मिन् मनुष्यसञ्चरणशून्ये, वने= कानने तण्डुलकणानां कुतः=कस्माद् हेतोः, सम्भवः=उत्पत्तिः, निर्जनवने तण्डुलसम्भवो भवेन्न वा इति. प्रथमम् निरूप्यतां=निपुणतया विचार्यताम्, यतः विना विचार कणभक्षणे प्रवृत्तौ कृतायां सत्याम् अहम्, इदं=साहसम्, भद्रं=सुखदं न पश्यामि अनेन साहसोत्पादकेन, तण्डुलकणानां लोभेन, अस्माभिः सर्वैः कपोतैरपि, प्रायेण=बाहुल्येन, तथा=व्याघ्रेण कङ्कणं प्रदर्श्य स्नानार्थं प्रेरितः पङ्के निमग्नः पान्थः पश्चान्मारितः तादृशाऽवस्थैः, भवितव्यमिति।

भा०—उसके बाद उस व्याध ने चावल के कणों को पृथ्वीपर छींटकर ऊपर से जाल को फैला दिया और वह पास के छोटे पेड़ों के निकट छिपकर बैठ गया, उसी समय 'चित्रग्रीव' नाम के कबूतरों के राजा ने अपने परिवार सहित आकाश में उड़ते २ उन चावलों के कणों को देख लिया, उसके बाद उन चावल के कणों को खाने के लिये लोभी

कबूतरों से कपोतराज ने कहा—इस मनुष्यरहित जङ्गल में चावल के कणों का सम्भव कैसे हो सकता है? (अर्थात नहीं हो सकता) इसलिये प्रथम उस बात का विचार करिये। (साहस करने मे मैं कपोतराज अपना) कल्याण नहीं देख रहा हूँ, इन चावलों के कणों के लोभ से अपने को भी वैसा ही (जैसा कि सिंह के कहने से एक यात्री को सोने के कङ्कण के लोभ से तालाब के कीचड में फँस कर मरना पडा) होना पडेगा।

कङ्कणस्य तु लोभेन मग्नः पङ्के सुदुस्तरे।
वृद्धव्याघ्रेण सम्प्राप्तः पथिकः सम्मृतो यथा'॥ ५॥

अ०—कङ्कणस्य तु लोभेन सुदुस्तरे पङ्के मग्नः पथिकः वृद्धव्याघ्रेण सम्प्राप्तः यथा सम्मृतः। व्या०—कङ्कणस्य=सुवर्णमयकराऽऽभूषणस्य वलयस्य, तु लोभेन=प्राप्त्य भिलाषया तु, सुदुस्तरे=अतिदुःखेनापि तरितुम् अशक्य सुदुस्तर तस्मिन् अतिगाढे इत्यर्थः, पङ्के=कर्दमे, मग्नः=निपतितः, पथिकः=पन्थान गच्छतीति पथिकः=कश्चित् मार्गगो यात्री, वृद्धश्चासौ व्याघ्रः तेन=जीर्णशार्दूलेन, सम्प्राप्तः = सम्यग् आक्रान्तः सन् , यथा = येन प्रकारेण, सम्मृतः=मृत्यु गतः, अस्माभिरपि प्रायेण तथा भवितव्यम् , इत्यन्वयः।

भा०—जैसे सोने के कडे के लोभ से एक यात्री बाघ के कहने से तालाब में स्नान के लिये गया और वहाँ के गाढे कीचड मे फँस गया, तब बाघ ने उसे मार डाला (ऐसे अपने को भी मरना होगा) ॥ ५॥

कपोता ऊचुः—'कथमेतत्' सोऽब्रवीत्—

कथा २

अहमेकदा दक्षिणारण्ये चरन्नपश्यम्—एको वृद्धो व्याघ्रः स्नातः कुशहस्तः सरस्तीरे ब्रूते—भो भो पान्थाः! इदं सुवर्णकङ्कणं गृह्यताम्' ततो लोभाऽऽकृष्टेन केनचित्पान्थेन आलोचितं—भाग्येन एतत् सम्भवति, किन्तु अस्मिन् आत्मसन्देहे प्रवृत्तिर्न विधेया।

व्या०—कपोताः=अन्ये पारावताः, ऊचुः=वदन्ति स्म, एतत् व्याघ्रेण पथिकस्य मारणं कृतं तत् , कथ=केन प्रकारेण जातम्? इत्येवं पृष्टे सति, सः=कपोतराजः, अब्रवीत्=प्रत्युवाच—अहं कपोतराजः, एकदा=एकस्मिन् समये, दक्षिणाऽरण्ये= ऋच्छति गच्छति दूरं सिद्धयर्थं यस्मिन् तत् अरण्यं=वनम् , दक्षिणं=दक्षिणदिशास्थं च तद् अरण्यं चेति तस्मिन् , 'दण्डकाऽरण्ये वने' इति यावत् , चरन्—चरति इति चरन्=भ्रमन् सन् (वक्ष्यमाणम्) अपश्यम्=दृष्टवान्। तथा हि—एकः वयसा वृद्धः कश्चिद् व्याघ्रः= विशेषेण आसमन्तात् जिघ्रति=आघ्राय जानाति पश्वादिकम् ,इति व्याघ्रः, स्नातः=कृतस्नानः, कुशाः सन्ति हस्ते यस्य सः कुशहस्तः, तथाभूतः सन् सरन्ति जलानि भूमितलतो यस्मिन् इति सरः=तडागः, तस्य तीरं तस्मिन्=तडाग

तटे इत्यर्थं, ब्रूते=कथयति—भो भोः पान्थाः ! = (आदरे द्विरुक्तिः) हे पथिकाः !, इदं = मम करस्थितम्, सुवर्णस्य कङ्कणं सुवर्णकङ्कणं = स्वर्णमयं कराऽऽभूषणं वलयम्, युष्माभिः गृह्यताम् । ततः लोभेन आकृष्टः तेन लोभाकृष्टेन=लुब्धेन केनचित् पान्थेन = मार्गगेण, आलोचितं=चिन्तितम्, भाग्येन=पूर्वजन्मकृतपुण्येन दैवेन वा, एतत् बहुमूल्यं सुवर्णकङ्कणम्, सम्भवति=सम्यक् प्राप्तं भवति, किन्तु अस्मिन् आत्मसन्देहे आत्मनः =स्वस्य सन्देहः =मरणशङ्का यस्मिन् कार्ये वर्तते आत्मसन्देहस्तस्मिन्, मरणसन्देहास्पदकार्ये इत्यर्थं, प्रवृत्तिः =साहसप्रयत्नः, न विधेया = न कर्तव्या ।

भा०—कबूतरों ने पूछा—व्याघ्र ने पथिक को मार डाला वह कथा किस प्रकार है ? तब 'चित्रग्रीव' नामक कबूतर कहने लगा—मैंने दक्षिणदिशा के 'दण्डक' वन में घूमते २ देखा कि-एक वृद्ध व्याघ्र स्नान करके हाथ में कुशा लेके तालाब के किनारे बैठकर बोलता था कि हे यात्री लोग ! यह सोने का कड़ा ले लो, ऐसा सुनकर लोभ के अधीन हो कर एक यात्री ने सोचा कि भाग्य से सुवर्ण का कड़ा मिला है, लेकिन जान के खतरे वाले कार्य में साहस की प्रवृत्ति नहीं करनी चाहिये ।

यतः—अनिष्टादिष्टलाभेऽपि न गतिर्जायते शुभा ।
यत्राऽऽस्ते विषसंसर्गोऽमृतं तदपि मृत्यवे ॥ ६ ॥

अ०—अनिष्टाद् इष्टलाभे अपि शुभा गतिः न जायते, यत्र विषसंसर्गः आस्ते तद् अमृतम् अपि मृत्यवे (भवति) । व्या०—न इष्टम् अनिष्टं तस्माद्=अप्रियाद् अहितकरात् व्याघ्रादेः इष्टस्य लाभः इष्टलाभस्तस्मिन्=स्वेप्सितकङ्कणलाभेऽपि, शुभा = कल्याणदा, गतिः =गम्यते इति गतिः फलं दशापरिणाम इति यावत्, न जायते=न सम्पद्यते । तत्र दृष्टान्तः—यत्र=यस्मिन्, अमृते, विषस्य=गरलस्य, संसर्गः = किञ्चिन्मात्रसम्बन्धः, मिश्रणभावात्मकः, आस्ते=वर्तते, तत्=तादृशम्, अमृतमपि=मृत्युनिवारकमपि, मृत्यवे=मरणाय भवति ।

भा०—जैसे अमृत यद्यपि बहुत इष्ट वस्तु है, तो भी विष का संसर्ग होने से उसको त्याग देना चाहिये, वैसे ही अनिष्ट करने वाले प्राणीसे अपनी इच्छित वस्तु को ग्रहण करने से भी आखिर में दुःख होता है, इसलिये सोने का कड़ा भी त्याग देना चाहिए ॥ ६ ॥

किन्तु सर्वत्राऽर्थार्जनप्रवृत्तौ सन्देह एव । तथा चोक्तम्—

न संशयमनारुह्य नरो भद्राणि पश्यति ।
संशयं पुनरारुह्य यदि जीवति पश्यति ॥ ७ ॥

अ०—नरः संशयम् अनारुह्य भद्राणि न पश्यति, पुनः संशयम् आरुह्य यदि जीवति, (तदा) पश्यति । व्या०—किन्तु=परन्तु, सर्वत्र=सर्वस्मिन् स्थले, अर्थानाम् अर्जनं अर्थार्जनम्, तस्य प्रवृत्तिः तस्यां=धनसञ्चयकरणप्रयत्ने इत्यर्थं, सन्देह एव=

आत्मनाशशङ्काऽवश्यं भवति। तथा च सन्देहे प्रमाणम् उक्तम्=अभिहितम्—न संशयमिति। नरः=मनुष्यः, संशयम् अनारुह्य='अस्मिन्कार्ये प्रवृत्तोऽहं जीविष्यामि मरिष्यामि वा' इत्येतम् आत्मनः जीवनमरणसन्देहम् अकृत्वा, भद्राणि=बहुधनलाभादिशुभकार्याणि न पश्यति=न लभते। पुनः=किन्तु संशयं=जीवनमरणादिसन्देहम्, आरुह्य=प्राप्य, प्राप्तमपि अतिक्रम्येति यावत्, यदि जीवति=प्राणिति, तद् भद्राणि पश्यति=लभते, इति।

भा०—धन के उपार्जनरूपी कठिन कार्य में सबको प्रथम मरण तक आपत्ति का सन्देह हो जाता है, लेकिन उस सन्देह को दूर करके—'इष्ट की सिद्धि हो, या तो मरण हो'—ऐसा निश्चय करके ही कार्य करना चाहिये, ऐसा करने से ही इष्ट की सिद्धि होती है ॥ ७ ॥

तन्निरूपयामि तावत्। प्रकाशं ब्रूते-'कुत्र तव कङ्कणम् ?'। व्याघ्रो हस्तं प्रसार्य दर्शयति। पान्थोऽवदत्-कथं मारात्मके त्वयि विश्वासः ?

व्या०—तत्=तस्मात् अस्याऽग्रे कङ्कणं वर्तते न वा इति सन्दिग्धत्वात् हेतोः, तावदिति वाक्यालङ्कारे, निरूपयामि=कङ्कणस्य निश्चयं करोमि, कङ्कणस्य निश्चयार्थं, प्रकाशं=प्रसिद्धं यथा स्यात्तथा, ब्रूते=कथयति, स यात्री इति शेषः। कुत्र=कस्मिन् स्थाने, तव (व्याघ्रस्य) कङ्कणम्, वर्तते इति शेषः। व्याघ्रः=शार्दूलः हस्तं=यस्य हस्तस्य मणिबन्धप्रदेशे कङ्कणं धृतं वर्तते तं भुजम्, प्रसार्य=विस्तार्य, दर्शयति पान्थायेति शेषः। तद् दृष्ट्वा पान्थः=स यात्री, अवदत्=उवाच, कथं=केन प्रकारेण, मारात्मके=मारयति नाशयति इति मारः घातकः, मारः आत्मा शरीरं स्वभावो वा यस्य सः मारात्मकस्तस्मिन्=हिंस्रे, त्वयि=भवति, विश्वासः कर्तव्यो भवेत्। हिंस्रो न विश्वासभूमिः स्वेषामपि भवतीति भावः।

भा०—'सुवर्ण का कड़ा है कि नहीं' इस बात का प्रथम निश्चय कर लें, (यह सोचकर) वह यात्री बोला—'तुम्हारा कङ्कण कहाँ है ?' (यह सुनकर) व्याघ्र ने अपना हाथ लम्बा करके कङ्कण बताया। उसके बाद यात्री बोला—'तू हिंसा करने वाला क्रूर प्राणी है, इसलिये मैं कैसे विश्वास करूँ।'

व्याघ्र उवाच—शृणु रे पान्थ! प्रागेव यौवनदशायामहम् अतीव दुर्वृत्त आसम्, अनेकगोमानुषाणां वधाद् मे पुत्रा मृता दाराश्च, वंशहीनश्चाहम्। ततः केनचिद्धार्मिकेणाहमुपदिष्टः—'दानधर्मादिकं चरतु भवान्' इति। तदुपदेशादिदानीमहं स्नानशीलो दाता वृद्धो गलितनखदन्तः न कथं विश्वासभूमिः ?।

व्या०—व्याघ्रः=पूर्वोक्तः शार्दूलः, उवाच=उक्तवान्। रे पान्थ!=अरे यात्रिन्! शृणु=त्वम् आकर्णय, प्रागेव=पुरा एव यौवनदशायां=यूनो भावो यौवनं, यौवनस्य दशा, तस्याम्, यौवनावस्थायामित्यर्थः, अहम् (व्याघ्रः) अति=अत्यन्तं दुः=क्रौर्यं

वृत्तम्=आचरण यस्य स अतिदुर्वृत्त=हिंसादिदुराचरण, आसम्=अभूवम्। अनेक-गोमानुषाणा=गावश्च मानुषाश्च गोमानुषा, अनेके च ते गोमानुषाश्च अनेकगोमानु-षास्तेषाम्, बहूना गवा मानुषाणाञ्चेत्यर्थ.। वधात्=हननात्, हननजन्यपापपुञ्जा-दिति यावत्। मे=मम, पुत्रा=तनुजा, दाराश्च=गृहिणी च, मृता=निधन गता, अह च (व्याघ्र) वंशेन हीन वंशहीन =निर्वंशो जातोऽस्मि। तत =वंशनाशान-न्तरम्, केनचिद् धार्मिकेण=धर्मम् उपदिशति य स धार्मिकस्तेन धर्मोपदेष्ट्रा पुरुषे णेत्यर्थं, अहं (व्याघ्र) उपदिष्ट =उपदेशेन नियन्त्रितोऽस्मि, आज्ञाऽङ्कितोऽस्मीति यावत्। भवान्=त्वम्, दानधर्मादिकम्=दानमेव धर्म दानधर्म', दानधर्म आदि-र्यस्य तद् दानधर्मादिक=दानप्रभृतिपुण्यकर्म, चरतु इति=करोत्वित्यर्थं। तदुपदे शात्=तस्य धार्मिकस्य पुरुषस्य उपदेश =आज्ञात्मक शिक्षण तस्मात्, इदानीं = वर्तमानाऽवस्थायाम्, अह=(व्याघ्र.) स्नानशील=स्नान शील यस्य स, त्रिसन्ध्य स्नानकर्ता, वृद्ध =जीर्णशरीर, अत एव गलितनखदन्त =नखाश्च दन्ताश्च नखदन्तम्, गलित=पतितं नखदन्त यस्य स गलितनखदन्त'-हस्ते नखरहित मुखे दन्तरहित-श्चेत्यर्थ। तादृश सन्, दाता=दानकर्ता, कथ=केन हेतुना, न विश्वासभूमि =विश्वा सस्य भूमि -स्थान, पात्रम्। न भवामि किन्तु भवाम्येवेत्यर्थ'।

भा०—व्याघ्र ने कहा-अरे पथिक! सुनो, प्रथम ही युवावस्था में मैं बहुत हिंसामय कर्म करता था, बहुत से गौ और मनुष्योंको मारता था, उस पाप से मेरे पुत्र तथा स्त्री सब मर गये, मैं निर्वंश हो गया। उसके बाद कोई एक धार्मिक पुरुष ने मुझको उपदेश दिया कि 'तुम दान आदिक धर्म करो'। उसके उपदेश से इस वृद्धावस्था में नित्य त्रिकाल-स्नान सन्ध्या करनेवाला और वृद्ध होने से मुख में दांत हीन, हाथ में नखहीन ऐसा मैं (व्याघ्र) विश्वास का पात्र क्यों नहीं हूँ? (अर्थात् विश्वासपात्र ही हूँ)।

उक्तञ्च—इज्याऽध्ययनदानानि तप: सत्यं धृति' क्षमा।
अलोभ इति मार्गोऽयं धर्मस्याऽष्टविध. स्मृतः ॥ ८ ॥

अ०—इज्याऽध्ययनदानानि तप सत्य धृति क्षमा अलोभ इति अय धर्मस्य अष्टविध' मार्ग स्मृत। व्या०—इज्या=यज्ञ, अध्ययन—स्ववेदशास्त्रादिपठनम्, दान सत्पात्रे वितरण, तानि, तप'=चान्द्रायणादितपश्चर्या, सत्यम्=ऋतम्, धृति - धैर्यम्, दु खसहिष्णुतेति यावत्, क्षमा=क्षान्ति, अलोभ'=अस्पृहा, तृष्णाराहित्य मिति यावत्। अय धर्मस्य अष्टविध'=अष्टौ विधा प्रकारा यस्य स.=अष्टधा मार्ग =उपाय', स्मृत =कथित. शास्त्रेषु विद्वद्भिरिति शेष।

भा०—शास्त्रों में धर्म आठ प्रकारका है, जैसे-यज्ञ, वेदाध्ययन, दान, तप, सत्य, धीरज, क्षमा और अलोभ। (इनमें से मैं दान करता हूँ, सत्य बोलता हूँ, लोभ नहीं करता हूँ, इसलिए मेरा विश्वास करो) ॥ ८ ॥

तत्र पूर्वश्चतुर्वर्गो दम्भार्थमपि सेव्यते ।
उत्तरस्तु चतुर्वर्गो महात्मन्येव तिष्ठति ॥ ९ ॥

अ०—तत्र पूर्वं चतुर्वर्गः दम्भार्थमपि सेव्यते, उत्तर चतुर्वर्गः तु महात्मनि एव तिष्ठति । व्या०—तत्र=तेषु अष्टप्रकारेषु मध्ये, पूर्वः=प्रथमोक्तः चतुर्वर्गः=चतुर्णां यागाऽध्ययनदानतपसां वर्गः दम्भार्थम् अपि, दम्भाय इदम् इति दम्भार्थम्=ख्यातिप्रतिष्ठाद्यर्थं, दम्भेनापीत्यर्थः । सेव्यते=अनुष्ठीयते, जनैरिति शेषः । उत्तरः चतुर्वर्गस्तु=सत्यधृतिक्षमाऽलोभात्मको धर्मस्तु, महात्मनि = महान् = उदारः आत्मा=चित्तं चरितं वा यस्य स इति महात्मा तस्मिन् महात्मनि=धार्मिके पवित्रपुरुषे एव तिष्ठति=वर्तते इति ।

भा०—संसारमें बहुतसे लोग ख्याति, प्रतिष्ठा और यश के लिए याग, अध्ययन, दान और तप करते हैं । लेकिन सत्य, धीरज, क्षमा और अलोभ ये चार तो महापुरुषों के ही गुण हैं और अपने कल्याण के लिये ही उपयोगी हैं । (अलोभ तथा सत्य गुण से मैं महात्मा हूँ, इसलिए मेरा विश्वास करो) ॥ ९ ॥

मम चैतावान् लोभविरहः, येन स्वहस्तस्थमपि सुवर्णकङ्कणं यस्मै कस्मैचिद् दातुमिच्छामि तथाऽपि 'व्याघ्रो मानुषं खादति' इति लोकाऽपवादो दुर्निवारः ।

व्या०—मम=व्याघ्रस्य, एतावान्=इयान्, लोभविरहः=लोभस्य विरहः त्यागः, लोभाऽभावो जात इत्यर्थः । येन=लोभाऽभावेन, स्वहस्तस्थमपि=स्वस्य हस्तः स्वहस्तः, स्वहस्ते तिष्ठतीति स्वहस्तस्थं तं स्वहस्तस्थं=स्वकराऽऽभूषणरूपमपि, सुवर्णस्य कङ्कणं यस्मै कस्मैचिद् अभ्यर्थिने, दातुम्=अर्पयितुम्, इच्छामि=अभिलाषामि, तथाऽपि=यदेव लोभपरित्यज्य दानादिनामदीयमहात्मत्वदशायामपि व्याघ्रः=शार्दूलः, मानुषं=मनुष्यादिकम्, खादति=भक्षयति इत्ययं लोकानाम् अपवादः=जनप्रवादः, दुर्निवारः=दुःखेनापि निवारयितुम् अशक्यो भवतीति ।

भा०—मैंने यहाँ तक लोभ का त्याग कर दिया है कि—अपने हाथ का सोने का कङ्कण भी जिस किसी को देना चाहता हूँ । तो भी 'व्याघ्र मनुष्यों को खा जाता है' ऐसा लोकापवाद मिटाने से भी नहीं मिटता ।

यतः—गताऽनुगतिको लोकः कुट्टनीमुपदेशिनीम् ।
प्रमाणयति नो धर्मे यथा गोघ्नमपि द्विजम् ॥ १० ॥

अ०—गताऽनुगतिको लोकः धर्मे गोघ्नं द्विजमपि यथा, (तथा) उपदेशिनीं कुट्टनीं नो प्रमाणयति । व्या०—गतस्य=अतीतस्य पूर्वजैरनुसृतस्य मार्गस्य, अनुगतिः=अनुसरणं यत्र सः गताऽनुगतिकः, प्राचीनाऽऽचरितमार्गानुसारीत्यर्थः

लोक=लोकानां समुदाय, धर्मे=धर्मनिर्धारणे, यथा गोघ्न गां हन्ति इति गोघ्न स्त=गोहत्याकारिणम्, द्विजम्=अपि यथा द्वाभ्या संस्काराभ्या जन्मयज्ञोपवीताभ्या जायत शुद्ध्यति स द्विज., त=विप्रम्, अपि-इव, धर्मे नो प्रमाणयति इत्यत्राऽन्वय । तथा उपदेशिनीम्=उपदेशप्रदाम्, कुट्टनीं=शम्भलीं परपुरुषपरनार्यो व्यभिचार कारयित्रीं स्त्रीम्, नो प्रमाणयति=प्रमाण न करोति ।

भा०—जैसे गोहत्या करने वाला ब्राह्मण तथा व्यभिचार कराने वाली स्त्री (शुभाऽऽचरण करते हुए भी) धार्मिक उपदेश करने से प्राचीन धर्मानुयायी मनुष्यों में आदरणीय नहीं हैं। (वैसे ही मैंने प्रथम बहुत हिंसा की है पर इस समय हिंसादोष रहित होने-पर भी मेरे वचन मे विश्वास नहीं हो सकता परन्तु सचमुच मैं विश्वासपात्र हू) ॥ १० ॥

मया च धर्मशास्त्राणि अधीतानि । शृणु—

भा०=मैंने धर्मशास्त्र भी पढा है। सुनो—

मरुस्थल्यां यथा वृष्टिः क्षुधार्त्ते भोजनं तथा ।
दरिद्रे दीयते दानं सफलं पाण्डुनन्दन ! ॥ ११ ॥

अ०—हे पाण्डुनन्दन ! यथा मरुस्थल्या वृष्टि., (सफला भवति यथा च) क्षुधाऽऽर्त्ते भोजनम्, (सफल भवति) तथा दरिद्रे (यत्) दान दीयते, (तत्) सफल भवति। व्या०—हे-पाण्डुनन्दन ! पाण्डो.=पाण्डुनाम्नो राज्ञ, तनय=सुत.= युधिष्ठिर., तत्सम्बुद्धौ हे युधिष्ठिर ! यथा मरुस्थल्यां=जलशून्ये शुष्कप्रदेशे वृष्टिः= वर्षणम्, सफल=सार्थक भवति, यथा च क्षुधया आर्त क्षुधार्त. तस्मिन्=क्षुधा-पीडिते जने, भोजन=भोजनवस्तुदानम्, सफल भवति, तथा दरिद्रे=धनहीने, यद् दान दीयते तद् सफल भवति इति ।

भा०—हे युधिष्ठिर ! जैसे कि सूखी भूमि में वृष्टि सार्थक होती है और भूखे को भोजन देना सार्थक होता है वैसे ही निर्धन को धनदान देना बहुत सार्थक है, (ऐसा मानकर मैं दान देता हू, तुम ले लो) ॥ ११ ॥

प्राणा यथाऽऽत्मनोऽभीष्टा भूतानामपि ते तथा ।
आत्मौपम्येन भूतानां दयां कुर्वन्ति साधवः ॥ १२ ॥

अ०—यथा आत्मन. प्राणा. अभीष्टा. (भवन्ति) तथा भूतानामपि ते (भवन्ति) साधव. आत्मौपम्येन भूतानामपि दयां कुर्वन्ति । व्या०—यथा आत्मन=स्वस्य, प्राणा=असवः, अभीष्टाः=प्रिया., भवन्ति तथा भूतानामपि=स्वभिन्नानां सर्वथा शरीरिणामपि, ते=प्राणा. अभीष्टा भवन्ति । अत एव, साधव=सज्जनाः आत्मौपम्येन=उपमाया भाव. औपम्यम् आत्मन औपम्य तेन स्वतुलनयेत्यर्थ । भूतानामपि=सर्वशरीरिणाम् अपि, उपरि, दया=प्राणाऽनुकूला कृपा कुर्वन्ति ।

भा०—'अपने प्राण जैसे अपने को प्यारे हैं, वैसे ही सब जीवों को उनके प्राण

प्यारे हैं' ऐसा समझ कर साधुजन प्राणिमात्र के ऊपर दया रखते हैं ॥ १२ ॥

अपरञ्च—प्रत्याख्याने च दाने च सुखःदुखे प्रियाप्रिये ।
आत्मौपम्येन पुरुषः प्रमाणमधिगच्छति ॥ १३ ॥

अ०—पुरुष प्रत्याख्याने दाने च सुखदु खे प्रियाऽप्रिये च आत्मौपम्येन प्रमाणम् अधिगच्छति । व्या०—पुरुष = सज्जनः (स्वस्य) प्रत्याख्याने = भर्त्सने. प्रार्थित-स्याऽलाभे वा, दाने = स्वस्मै धनाऽर्पणे च, सुखदु खे = सुख च दुःख चेति तयो. समाहार सुखदु.ख,तस्मिन्, सुखे स्त्रीभोगचन्दनमालादिरूपे, दुःखे च-ज्वरव्याध्या-दिरूपे इत्यर्थं, प्रियाऽप्रिये = प्रिय च अप्रिय च तयो. समाहारः प्रियाऽप्रियं तस्मिन् प्रिये = सन्तोषजनके सम्मानादिविषये, अप्रिये=असन्तोषकारके विरुद्धाऽऽचरणादौ, आत्मौपम्येन = आत्मन स्वस्य औपम्येन सादृश्येन तुलनया प्रमाणं=दृष्टान्तम्, अधिगच्छति = अध्यवस्यति, जानाति समालोचयतीति ।

भा०—अपना अपमान होने से तथा दानादिलाभ होने से, प्रियविषय में तथा अप्रिय विषय में जैसा अपने को सुख दु खादि का अनुभव होता है, वैसा ही सब जीवों को होता है, ऐसा समझ करके सज्जन लोग सब जीवों के ऊपर दयापूर्वक व्यवहार करते हैं ॥ १३ ॥

अन्यच्च—मातृवत्परदारेषु परद्रव्येषु लोष्टवत् ।
आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पण्डितः ॥ १४ ॥

अ०—य. परदारेषु मातृवत्, परद्रव्येषु लोष्टवत्, सर्वभूतेषु आत्मवत् पश्यति स. पण्डितः । व्या०—य =पुरुषः, परदारेषु = परेषा दारा. (दारशब्द. नित्यबहुव-चनान्त.) स्त्रियस्तेषु = परकलत्रेषु, परदारानित्यर्थं मातृवत् मन्यते इति । मातर' तासु इव इति मातृवत्, जननीष्विवेत्यर्थं.'। पश्यति इति शेषः। एवं परेषा द्रव्याणि = धनानि, पाषाणखण्डमिव पश्यतीति शेष.। एवम्-सर्वाणि च तानि भूतानि च तेषु, सर्वप्राणिन' इत्यर्थं.। आत्मवत्=आत्मनि इव, आत्मानमिवेत्यर्थ.। पश्यति स. पुरुष पण्डित. = विद्वान् विज्ञानी, महापुरुष इति यावत् ।

भा०—जिस पुरुष को परस्त्रियों में अपनी माता के समान भावना हो, तथा परधन (वस्तु) में ढेले के समान न लेने की भावना हो, तथा सब जीवों में आत्मसमान दृष्टि हो वही महापुरुष कहाता है । (अर्थात् जितेन्द्रिय निर्लोभी, दयालु ही महापुरुष कहाते हैं) ॥१४॥

त्वञ्च अतीव दुर्गतः, तेन तत्तुभ्यं दातुं सयत्नोऽहम् । तथा चोक्तम्-

व्या०—त्वञ्च=भवांश्च, अतीव = अत्यन्तम्, दुर्गत. = दुरवस्थापन्नो निर्धन, असि, तेन = हेतुना, तत = कङ्कणम्, तुभ्य=भवते, दातुम्=अर्पयितुम्, अह सयत्न.-यत्नेन सहित., अस्मि, भवादृशाय निर्धनाय सत्पात्रायेव सुवर्णकङ्कणस्य दानम् धर्मशास्त्रेषु निर्दिष्टमिति ।

भा०—तुम बहुत गरीब हो इसलिए सुवर्ण का दान तुम जैसे को देने के लिये मैं प्रयत्न कर रहा हूँ। शास्त्र में वैसे ही बताया गया है—

दरिद्रान् भर कौन्तेय! मा प्रयच्छेश्वरे धनम्।
व्याधितस्यौषधं पथ्यं नीरुजस्य किमौषधैः॥ १५॥

अ०—हे कौन्तेय! दरिद्रान् भर, ईश्वरे धन मा प्रयच्छ, (यतः) व्याधितस्य औषध पथ्य भवति, नीरुजस्य, औषधैः किम्? व्या—हे कौन्तेय! कुन्त्याः अपत्यं पुमान् कौन्तेय, तत्सम्बुद्धौ हे कौन्तेय! हे युधिष्ठिर! दरिद्रान्=निर्धनान्, भर=अन्नवस्त्रादिना प्रतिपालय, ईश्वरे=धनवति पुरुषे, धन मा प्रयच्छ=न देहि, यत व्याधितस्य=व्याधि सञ्जातोऽस्य इति व्याधितस्तस्य रोगिण इत्यर्थः। औषध=भेषजम्, पथ्य=पथ अनपेत पथ्य हितकर भवति। नीरुजस्य=नास्ति रुजा यस्य स नीरुजस्तस्य रोगहीनस्य औषधैः किं प्रयोजनमस्ति? (अर्थात् न किमपि प्रयोजनमस्तीति)।

भा०—हे युधिष्ठिर राजन्! निर्धनों का पालन करो, धनी को धन देना निष्प्रयोजन होता है, कारण कि—रोगी को औषध देना सफल होता है, नीरोगी को देने से कोई लाभ नहीं। (इसलिये हे यात्रिन्, मैं तुझे देता हूँ)॥ १५॥

अन्यच्च—दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणि।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं विदुः॥ १६॥

अ०—दातव्यमिति यद् दान देशे काले च अनुपकारिणि पात्रे दीयते, तद्दानं सात्त्विक विदुः। व्या०—दान दातव्यमिति=निःस्वार्थभावनया यत्=धनादिदानं देशे=तीर्थस्थले, काले=पुण्यपर्वणि, अनुपकारिणि=उपकारः प्रतिलाभोऽस्ति अस्य इति उपकारी स न भवतीति अनुपकारी तस्मिन् प्रत्युपकाररहिते, पात्रे=सत्पात्रे ब्राह्मणादौ, (अनुपकारिणे इति चतुर्थ्यन्तपाठे तु—'पात्रे' इत्यपि, पाति धर्मम् इति पाता तस्मै इति व्युत्पत्त्या धार्मिकायेत्यर्थक चतुर्थ्यन्तं बोध्यम्) दीयते तद्दानं सात्त्विक=सात्त्विकभावान्वितं पुण्यप्रदम्, विदुः=विद्वांसो जानन्ति।

भा०—जिसका बदला लेने की आशा न हो, और 'देना ही' ऐसा समझ कर जो दान पवित्र देश काल में सत्पात्र को दिया जाता है—वही सात्त्विक दान शास्त्र में कहा गया है (इसलिए मैं तुमको बदले की आशा बिना देता हूँ, ले लो)॥ १६॥

तदत्र सरसि स्नात्वा सुवर्णकङ्कणमिदं गृहाण। ततो यावदसौ तद्वचःप्रतीतो लोभात् सरः स्नातुं प्रविष्टः, तावन्महापङ्के निमग्नः पलायितुमक्षम। तं पङ्के पतितं दृष्ट्वा व्याघ्रोऽवदत्—'अहह! महापङ्के पतितोऽसि! अतस्त्वामहमुत्थापयामि' इत्युक्त्वा शनैः शनैरुपगम्य तेन व्याघ्रेण धृत स पान्थोऽचिन्तयत्—

व्या०—तत् = तस्मात्, निर्धनाय सत्पात्रभूताय तुभ्यमेव दातुमिच्छामीति हेतो', अत्र = अस्मिन् पुरोवर्तिनि, सरसि = सरोवरे, स्नात्वा = आप्लवनं कृत्वा, स्नानेन शुद्धो भूत्वेति भाव. । इदं सुवर्णस्य कङ्कणम्, गृहाण = स्वीकुरु, ततः = व्याघ्रकथनानन्तरम्, यावत् = यस्मिन् क्षणे, लोभात् = लालसया, तद्वच'प्रतीतः=तस्य व्याघ्रस्य वचसि प्रतीत विश्वस्त सन् । 'जातविश्वास.' इति पाठान्तरम् । असौ = यात्री, सर' स्नातुं प्रविष्ट, 'प्रविशति' इति पाठान्तरम् । सरोवरे स्नानार्थ प्रविशति तावत् = तस्मिन्नेव क्षणे, महाश्वासौ पङ्क तस्मिन् = गाढकर्दमे, निमग्न' = नितराम् अतीव मग्न अवगाढ निपतित. सन्, पलायितु = प्रपलाय्य शार्दूलात् स्वरक्षण कर्तुम्, अक्षम = न क्षमते इति अक्षम. अशक्त' बभूव । तदनन्तरं पङ्के = पङ्कमध्ये पतितं = मग्नम्, तं = यात्रिण, दृष्ट्वा = अवलोक्य, व्याघ्र. अवदत् = उक्तवान्, अहह ! अहो इति खेदे, हा हा महापङ्के = गाढकर्दमे, पतित' = मग्नः, त्वम्, असि, अत = अस्माद्धेतो', अहं (व्याघ्र.) त्वाम् (यात्रिणम्) उत्थापयामि = निष्कास्य जीवयामि, इत्युक्त्वा = उक्तप्रकार वचनमुच्चार्य, शनै. शनै = स्वैरं स्वैरम्, तेन व्याघ्रेण, उपगम्य = समीपे गत्वा, धृत. = सम्यग् आक्रान्त., स. पान्थ. = स यात्री (पथिक.) अचिन्तयत् = वक्ष्यमाणचिन्तन चकार ।

भा०—तुमको ही देना है इसलिये तालाब में स्नान करके पवित्र होके सुवर्ण का कङ्कण ग्रहण करो ! ऐसा सुन कर लोभ से व्याघ्र के वचन में विश्वास रख कर तालाब में स्नान करने को जैसे गया कि एकदम भारी कीचड में गड गया और भागने को असमर्थ हो गया । उस यात्री को कीचड में गडा हुआ देख कर व्याघ्र बोला—अहा हा ! तुम भारी कीचड में गड़ गये हो, मैं तुमको बाहर निकालता हूँ । व्याघ्र ने ऐसा कह कर धीरे से यात्री के पास जाकर यात्री को पकड लिया, तब यात्री विचार करने लगा कि—

न धर्मशास्त्रं पठतीति कारणं न चाऽपि वेदाध्ययनं दुरात्मनः ।
स्वभाव एवाऽत्र तथाऽतिरिच्यते यथा प्रकृत्या मधुरं गवां पयः ॥१७॥

अ०—दुरात्मन. (धर्माऽऽचरणे इति शेष) धर्मशास्त्र पठति इत्यपि कारण न (भवति) वेदाध्ययनमपि (कारण) न च (भवति), किन्तु अत्र-(धर्माचरणे) तथा स्वभाव एव अतिरिच्यते, यथा गवां पय प्रकृत्या मधुर भवति । व्या०—दुरात्मन' = दुः=दुष्ट. आत्मा = भावना आचारो वा यस्य सः दुरात्मा, तस्य दुरात्मन दुष्टव्यक्ते., (धर्माऽऽचरणे = धर्मात्मकप्रवृत्तौ) धर्मशास्त्रम् = धर्मस्य प्रतिपादक शास्त्र धर्मशास्त्रम्, तत् पठति = अधीते, दुरात्मा इति शेषः । इत्यपि कारणं न भवति = दुष्टात्मा धर्मशास्त्रम् अधीत चेत् तेनाऽपि किं फलम् ? न किञ्चित्, धर्मशास्त्राऽध्ययने कृतेऽपि दुष्टस्वभावस्य अविनाशाद् इत्यर्थः । एव वेदाऽध्ययन—वेदस्य = ऋक्सामयजुरथर्वणामन्यतमस्य, अध्ययन = पठनमपि, दुरात्मन' धर्माचरणे

(कारणं) न च भवति। किन्तु अत्र=धार्मिकप्रवृत्तौ तथा स्वभाव एव=जन्मना तादृशः सात्त्विकभाव एव, अतिरिच्यते=मुख्यकारणत्वेन परिगणना वहति। तथा तत्र दृष्टान्ततः—गवां पयः=दुग्धम्, प्रकृत्या=स्वभावेनैव, मधुरम्=अमृतसमस्वादु, भवति। वंशस्थवृत्तम्।

भा०—जैसे गौ का दुग्ध स्वभाव से ही मधुर होता है, वैसे ही जो व्यक्ति स्वभावसे ही सत्त्वगुणी सत्पुरुष हो उसको ही धर्म में प्रवृत्ति होती है और जो स्वभाव से ही दुष्ट हो, उसने चाहे कई धर्मशास्त्र और वेद का अध्ययन भले ही कर डाला हो तो भी उसकी दुष्टता तथा अधर्माचरण दूर नहीं होते। इसलिये दुष्टात्मा व्याघ्र जैसे का शास्त्राध्ययन दूसरों को फँसाने के लिये ही है, (धर्माचरणार्थ नहीं)॥ १७॥

किञ्च—अवशेन्द्रियचित्तानां हस्तिस्नानमिव क्रिया।
दुर्भगाऽऽभरणप्रायो ज्ञानं भारः क्रियां विना॥ १८॥

अ०—अवशेन्द्रियचित्तानां क्रिया हस्तिस्नानमिव (निष्फला भवति) क्रियां विना ज्ञानं दुर्भगाऽऽभरणप्रायः भारः (भवति)। व्या०—इन्द्रियाणि=श्रोत्रादीनि, चित्तानि=मनोबुद्ध्यहङ्कारचित्तात्मकाऽन्तःकरणानि, अवशानि इन्द्रियाणि चित्तानि च येषान्ते तेषाम्=इन्द्रियाऽन्तःकरणवशीभूतानामित्यर्थः। क्रिया=सन्ध्यावन्दनात्मिका नित्या, व्रतयज्ञात्मिका नैमित्तिकी, यावत्यः क्रिया इत्यर्थः। हस्तिस्नानमिव—हस्तः=शुण्डादण्डः अस्ति अस्य सः हस्ती, हस्तिनः स्नानं तद्वत्, यथा हस्ती स्नात्वा पुनः स्वदेहं धूलीविकिरणेन मलिनीकरोति अतस्तस्य स्नानं निष्फलम्, तद्वदित्यर्थः। निष्फला=फलरहिता भवति, पुनः पापाचरणादिति भावः। तथा क्रियां विना=इन्द्रियविजयरूपं शास्त्रोक्तं वा यज्ञाद्यनुष्ठानमन्तरेण, ज्ञानं=केवलधर्मशास्त्रादिजन्यबुद्धिरपि दुर्भगाऽऽभरणप्रायः—भगं=पतिसौभाग्यम् दुः=नास्ति पतिसौभाग्यरूपं भगं यस्याः सा दुर्भगा, विधवेति यावत्, तस्याः आभरणम्=अलङ्कारः, तत्प्रायः=तत्तुल्यः, भार एव=विधवास्त्रीधृताऽऽभूषणानि न शोभावहानि, किन्तु भाररूपाण्येव, अथवा दुर्भगायाः वन्ध्यायाः भरणम् आजीवनं पोषणं यथा भाररूपं तथा निष्क्रियं ज्ञानं निरर्थकं भारभूतमित्यर्थः।

भा०—जैसे हाथी स्नान करके फिर अपने शरीर को धूलि से मलिन कर लेता है इस लिये उसका स्नान व्यर्थ है, वैसे ही इन्द्रियाधीन पुरुष सन्ध्या यज्ञादि करके फिर पाप करता है इसलिए उसका सन्ध्यादि करना निष्फल है और इस हेतु से ही जैसे विधवा स्त्री का आभूषण धारण करना भाररूप है वैसे इन्द्रियाधीन पुरुष का धर्मादि कार्य सब भार (क्लेश) रूप हो जाता है॥ १८॥

तन्मया भद्रं न कृतम्, यदत्र मारात्मके विश्वासः कृतः। तथा चोक्तम्—

व्या०—तत्=तस्मात् मया (यात्रिणा) भद्रं=सुन्दरं कर्म न कृतम्=न आचरितम् यत्=यस्मात्, अत्र=अस्मिन्, मारात्मके=हिंस्रस्वभावे व्याघ्रे, विश्वासः कृत इति।

भा०—इसलिये मैंने यह अच्छा काम नहीं किया, जो कि—इस हिंसक व्याघ्र में विश्वास किया। कहा भी है —

नदीनां शस्त्रपाणीनां नखिनां शृङ्गिणां तथा।
विश्वासो नैव कर्तव्यः स्त्रीषु राजकुलेषु च ॥ १९ ॥

अ०—नखिनां शस्त्रपाणीनां नदीनां तथा शृङ्गिणां स्त्रीषु राजकुलेषु च विश्वासो नैव कर्तव्यः। व्या०—नदीनां=स्रोतस्वतीनां सरिताम्। शस्त्रं पाणौ येषान्ते शस्त्रपाणयस्तेषां=शस्त्रवतामित्यर्थः। नखाः सन्ति येषामिति नखिनस्तेषां=नखाऽऽयुधानां व्याघ्रादीनामित्यर्थः। शृङ्गाणि विद्यन्ते एषाम् इति शृङ्गिणस्तेषां=विषाणवताम्, गोमहिषमेषादीनामित्यर्थः। (सर्वत्र सम्बन्धे षष्ठी) स्त्रीषु=नारीषु। राज्ञां कुलानि तेषु=राजवंशोत्पन्नेषु च विश्वासः न कर्तव्यः, कदाचित् हानिकरत्वात्।

भा०—जिसका नियमित स्वभाव न हो जैसे कि—नदियां, शस्त्रवाले, सींगवाले, नखवाले, स्त्रियां और राजपुरुष, इनका विश्वास नहीं करना, (क्योंकि उनके अन्तर की कोई एक स्थिति न होने से कभी वे महादुःख की खाई में गिरा सकते हैं) ॥ १९ ॥

अपरञ्च—सर्वस्य हि परीक्ष्यन्ते स्वभावा नेतरे गुणाः।
अतीत्य हि गुणान् सर्वान् स्वभावो मूर्ध्नि वर्तते ॥ २० ॥

अ०—(लोके) सर्वस्य स्वभावा हि परीक्ष्यन्ते इतरे गुणाः न (परीक्ष्यन्ते) हि सर्वान् गुणान् अतीत्य स्वभावो मूर्ध्नि वर्तते। व्या०—सर्वस्य=प्राणिमात्रस्य स्वभावाः=प्रकृतयः हि=निश्चयः यथा तथा, परीक्ष्यन्ते=सम्यक् आलोच्य विचार्यन्ते। इतरे=दानधर्मविद्यादयो गुणाः न परीक्ष्यन्ते, लोकैरिति शेषः। हि=यस्माद्धेतोः, सर्वान्=यावतः गुणान्=विद्यादीन् श्रेष्ठतमान् अपि गुणान् अतीत्य=अतिक्रम्य, स्वभावः=जातिजन्मादिस्वभावः, मूर्ध्नि=सर्वाग्रे शिरो भूत्वेत्यर्थः, वर्तते।

भा०—जातिस्वभाव ही सब सद्गुण और दुर्गुणों को ढांक कर प्रबल रहता है। इसलिये सभी के स्वभाव की ही परीक्षा की जाती है न कि अन्य गुणों की ॥ २० ॥

अन्यच्च—स हि गगनविहारी कल्मषध्वंसकारी
दशशतकरधारी ज्योतिषां मध्यचारी।
विधुरपि विधियोगाद् ग्रस्यते राहुणाऽसौ
लिखितमपि ललाटे प्रोज्झितुं कः समर्थः ॥ २१ ॥

अ०—स हि गगनविहारी कल्मषध्वंसकारी दशशतकरधारी ज्योतिषां मध्यचारी असौ विधुरपि विधियोगाद् राहुणा ग्रस्यते। इह ललाटे लिखितं प्रोज्झितुं कः समर्थः (भवति)। व्या०—स हि=प्रसिद्धः सः, गगने विहर्तुं शीलमस्य इति गगनविहारी=आकाशे विहरणशीलः, कल्मषस्य=पापस्य, अन्धकारस्येति यावत्, ध्वंसं नाशं करो-

तीति कल्मषध्वंसकारी = सर्वपापघ्न, सर्वाऽन्धकारघ्नो वा। दशाऽधृत शत प्रश-शत=सहस्र करान् रश्मीन् धरतीति दशशतकरधारी = सहस्रांशु सूर्य, अथ च ज्योतिषा = ग्रहनक्षत्राणाम्, मध्यचारी = मध्यविहारी, असौ = प्रसिद्ध. विधुः = चन्द्रमा, अपि, विधि = दैवम्, अस्य योगात् = नियमात्, राहुणा = विधुन्तुदेन सैंहिकेयेन. ग्रस्यते - कवलीक्रियते (आच्छाद्यते)। इह = जगति, ब्रह्मणा यत् शुभाऽशुभम्, ललाटे = भाले लिखित = निश्चित्य निहितम्, तत् प्रोज्झितुम् = अन्यथाकर्तुं हातुम्, क जन. समर्थ = शक्त? न कोऽपीत्यर्थ।

भा०—आकाश में चलने वाला, पापों का नाश करने वाला सूर्य और तारागणों के मध्य में रहने वाला चन्द्रमा ये दोनों दैवाधीन होकर राहु से ग्रस्त हो जाते हैं। इसलिए विधाता द्वारा ललाट में लिखा हुआ भाग्य कभी बदलता नहीं है, ('मार्ग में चलते कङ्कण के लोभ से व्याघ्र द्वारा मरना, या तो कङ्कण पाना' जो लिखा होगा, सो हो जायगा) ॥२१॥

इति चिन्तयन्नेवाऽसौ व्याघ्रेण धृत्वा व्यापादितः खादितश्च। अतोऽहं ब्रवीमि—'कङ्कणस्य तु लोभेन' इत्यादि। अत एव सर्वथाऽविचारितं कर्तव्यमिति।

व्या०—इति = उक्तप्रकारेण, चिन्तयन् = चिन्ता कुर्वन्नेव, असौ = अयं पान्थो, व्याघ्रेण = शार्दूलेन, धृत्वा=गृहीत्वा, आक्रम्य, व्यापादित = नखैर्विदारित., खादितश्च। अत =अविचार्य कर्मकर्ता मरणमाप्नोतीति हेतो परिणामे शुभाऽशुभविचारमकृत्वा, कर्म = किमपि कार्यं, न कर्तव्यम्। अहम्! (वृद्धकपोतराजः) ब्रवीमि = कथयामि 'कङ्कणस्येत्यादि'। अत एव सर्वथा = येन केनाऽपि प्रकारेण, अविचारितं-प्राक् सम्यग् अनालोचितं कर्म = किमपि कार्यं न कर्तव्यमिति।

भा०—ऐसा विचार करते हुए उस यात्री को व्याघ्र ने मारकर खा डाला। इसलिये मैंने कङ्कण के लोभ का दृष्टान्त दिया। उसका सारांश यह है कि अपने को भी अविचारित काम नहीं करना चाहिए।

यतः—सुजीर्णमन्नं सुविचक्षणः सुत.

सुशासिता स्त्री नृपतिः सुसेवित.।

सुचिन्त्य चोक्तं सुविचार्य यत् कृतं

सुदीर्घकालेऽपि न याति विक्रियाम् ॥ २२ ॥

अ०—सुजीर्णम् अन्नम्, सुविचक्षण' सुत, सुशासिता स्त्री, सुसेवित नृपति, सुचिन्त्य च उक्तम्, सुविचार्य यत् कृतम्, (तत्) सुदीर्घकालेऽपि विक्रियां न याति।

व्या०—सुष्ठु जीर्णं परिपाकमापन्नम्, अन्न = भुक्तान्नम्, सुष्ठु = विचक्षण = शिक्षित, सुत = तनय, सुष्ठु शासिता = वश नीता, स्त्री = भार्या, सुष्ठु सेवित. = आराधित., नृपति = राजा, सुचिन्त्य = सम्यक् पूर्वाऽपरं विचिन्त्य = विविच्य, च

उक्तं=कथितम्, सुविचार्यं=सम्यक् परीक्ष्य यत् कृतम्=अनुष्ठितम्। तत् सर्वं सुदीर्घकालेऽपि=सुदीर्घश्चासौ कालस्तस्मिन्=चिरकाले व्यतीतेऽपि, विक्रियां=विकारम् अन्यथाभावम्, न याति=न प्राप्नोति। वंशस्थवृत्तम्।

भा०—जैसे पचे हुए भोजन से कभी भी विकार नहीं होता है, सुशिक्षित पुत्र से दुःख नहीं होता है, पतिपरायणा स्त्री अधर्म नहीं करती है, प्रसन्न हुआ राजा हानिकारक नहीं होता है, निष्कपट बोलने से क्लेश नहीं होता है, वैसे ही विचार करके काम करने से भविष्य में कभी भी दुःख नहीं होता है। इसलिये विचार करके चावल खाने के लिये जाना चाहिये)॥ २१ ॥

एतद्वचनं श्रुत्वा कश्चित् कपोतः सदर्पमाह—आः! किमेवमुच्यते?—

व्या०—एतद्वचनम्=कपोतराजाभिहितं वचनम्, श्रुत्वा=आकर्ण्य, कश्चित् कपोतमण्डलान्तर्गतः कश्चिदेकः, कपोतः=पारावतः, सदर्पम्=दर्पेण सहितं सदर्पं=साहङ्कारम्, आह=ब्रवीति—आः=अनादरे, एवं=निरुत्साहम् उक्तप्रकार वचनम्, किमुच्यते=कथं कथ्यते।

भा०—वृद्ध कबूतर का वचन सुनकर कोई दूसरा कबूतर अहङ्कार के साथ बोल उठा अँह, ऐसा उत्साहशून्य क्यों बोलते हो (उसके बोलने का ख्याल मत करो क्योंकि)—

वृद्धस्य वचनं ग्राह्यमापत्काले ह्युपस्थिते।
सर्वत्रैवं विचारे च भोजनेऽप्यप्रवर्तनम्॥ २२॥

अ०—आपत्काले उपस्थिते हि वृद्धस्य वचन ग्राह्यम्, सर्वत्र एव विचारे (सति) भोजनेऽपि अप्रवर्तनं स्यात्। व्या०—आ=समन्तात् पद्यते आगच्छतीति=आपत्, आपदः कालस्तस्मिन्=विपत्तिसमये, उपस्थिते हि=प्राप्ते एव, वृद्धस्य=वयोवृद्धस्य ज्ञानवृद्धस्य गुणवृद्धस्य च, वचनम्=उपदेशवाक्यम्, ग्राह्यम्=जनेन स्वीकार्यम्, न तु सर्वत्र, यत सर्वत्र=सर्वस्मिन् अनपेक्षितवृद्धोपदेशविषये, एवम्=वृद्धवचन ग्राह्यमिति, विचारे=पर्यालोचने कृते सति, भोजनेऽपि=आहारेऽपि=अप्रवर्तन=अप्रवृत्तिः, स्यात्।

भा०—बड़ी-बड़ी आपत्तियाँ आने पर वृद्धपुरुषों के वचनों को मान कर कार्य करना चाहिये। अल्प कार्य में भी वृद्धों के वचनों को मानने लगे, तो भोजन-जैसा साधारण कार्य भी स्वतन्त्रता से न हो सकेगा। (इसलिए चावल खाने को जाना चाहिये)॥ २२ ॥

यतः—शङ्काभिः सर्वमाक्रान्तमन्नं पानञ्च भूतले।
प्रवृत्तिः कुत्र कर्तव्या जीवितव्यं कथं नु वा?॥ २४॥

अ०—भूतले शङ्काभिः अन्न पानञ्च सर्वम् आक्रान्तम्, कुत्र प्रवृत्ति कर्तव्या, कथं नु वा जीवितव्यम्। व्या०—भूतले-भुवस्तल भूतल तस्मिन्-भूमण्डले, शङ्काभिः=इदम् अनिष्टजनक न वा इति संशयैः, अन्न=भोज्य, पान=नीरक्षीरादिकम्, चेति सर्वम्, आक्रान्तं=व्याप्तम्। एव सति कुत्र=कस्मिन् विषये, प्रवृत्तिः=

प्रयत्न', कर्त्तव्या, नु =(प्रश्ने) तर्हि पृच्छामि, (हे चित्रग्रीव !) कथं वा = केन प्रकारेण, जीवितव्य = प्राणितव्य ? अत. सशयमात्रेण तण्डुला न त्यक्तव्याः ।.

भा०—संसार में खान-पानादि सब पदार्थों में अनुकूल होने का सशय रहा है, शङ्कामात्र से प्रवृत्ति का निरोध करने से जीवन चलना भी दुर्लभ होगा ॥ २४ ॥

तथा चोक्तम्—ईर्ष्यी घृणी त्वसन्तुष्ट. क्रोधनो नित्यशङ्कितः।
परभाग्योपजीवी च षडेते दु खभागिन ॥ २५ ॥

अ०—ईर्ष्यी घृणी तु असन्तुष्ट क्रोधन नित्यशङ्कित. परभाग्योपजीवी च एते षट् दु खभागिन (भवन्ति)। व्या०--ईर्ष्या=पराऽभ्युदयाऽसहिष्णुता विद्यते अस्य इति ईर्ष्यी = परोत्कर्षाऽसहिष्णु, घृणा विद्यते इति घृणी, सन्तोपरहित., सतृष्ण इति यावत्। क्रोधन = कोपनस्वभाव, द्वेषणशील इति यावत्। नित्य शङ्कित = सर्वदा शङ्कायुक्त, परस्य भाग्य परभाग्यम्, परभाग्येन उपजीवतीति परभाग्योपजीवी = पराधीनजीवन इत्यर्थ.। एते षट = षट्संख्यका जना, दुःख भजन्ते इति दु खभागिन = क्लेशभाज भवन्ति।

भा०—ईर्ष्यादि सब दु ख के कारण हैं, इस हेतु से ईर्ष्यावाला, घृणा (नफरत) करने वाला, तृष्णावाला, क्रोधवाला, शङ्कावाला, पराधीन जीवनवाला मनुष्य दु ख को ही पाता है। (इससे नि शङ्क होकर चावल खाने को जाना चाहिये) ॥ २५ ॥

एतच्छ्रुत्वा तण्डुलकणलोभेन नभोमण्डलादवतीर्य सर्वे कपोता· स्तत्रोपविष्टाः।

व्या०—एतद् = अव्यवहितपूर्वमुक्त वचनम्, श्रुत्वा = आकर्ण्य, तण्डुलानां कणा तण्डुलकणा, तेषा लोभस्तेन, नभस = गगनस्य मण्डलम् तस्मात्, अवतीर्य = अवरुह्य, सर्वे कपोता. = पारावता, तत्र = जालाच्छादिते तण्डुलयुक्ते भूतले, उपविष्टा = निषण्णा।

भा०—पूर्वोक्त वचन सुन कर चावलकणों के लोभ से आकाश मे नीचे उतर कर सभी कबूतर जाल पर बैठ गये।

यत —सुमहान्त्यपि शास्त्राणि धारयन्तो बहुश्रुताः।
छेत्तारः संशयानाञ्च क्लिश्यन्ते लोभमोहिता' ॥ २६ ॥

अ०—सुमहान्ति शास्त्राणि धारयन्त बहुश्रुता सशयाना च छेत्तार. अपि लोभ· मोहिता क्लिश्यन्ते। व्या०—सुमहान्ति=महार्थप्रतिपादकानि अनेकानि, शास्त्राणि= वेदवेदाङ्गादीनि, धारयन्त = पठन्त, बहुश्रुता = बहूनि श्रुतानि येषा ते, विपुल· ज्ञानसम्पन्ना, अत एव च सशयाना = बहुविधसन्देहानाम्, छेत्तार = निराकर्त्तार पण्डिता अपि, लोभेन मोहिता लोभमोहिताः = लोभपरवशा सन्त, क्लिश्यन्ते = क्लेशमापद्यन्ते।

भा०—वेद-शास्त्रों को पढे हुए और हर तरह के सन्देहों को दूर करने वाले पण्डित लोग भी लोभ से दुःख पाते हैं (तो चावलों के लोभी इन पक्षियों को आपत्ति आने में क्या आश्चर्य ?) ॥ २६ ॥

अन्यच्च—लोभात् क्रोधः प्रभवति लोभात् कामः प्रजायते ।
लोभान्मोहश्च नाशश्च लोभः पापस्य कारणम् ॥ २७॥

अ०—(यथावत् बोध्य) व्या०—लोभात = धनाद्यर्थस्पृहात, क्रोधः = कोपः प्रभवति = जायते, एवमेव लोभात, कामः = विषयभोगवासना, प्रजायते, एवमेव लोभात्, मोहः = विचारवैमुख्यम्, अविवेकित्वमिति यावत्, नाशः = मृत्युः, च, जायते, अत एव लोभः पापस्य = सर्वविधानिष्टस्य, कारणं = मूलं भवतीति ।

भा०—लोभ से लोभनीय वस्तु को प्रतिरोध करने वाले पर क्रोध होता है और लोभ से ही स्त्रियों के फंदे में फस जाने से कामवासना पैदा होती है और लोभ से ही पापाचरण करने वाले को सत्य-असत्य का विचार भी नहीं सूझता, इससे कभी प्राणहानि भी हो जाती है । अतः लोभ ही सब पापों का कारण है ॥ २७ ॥

अन्यच्च—असम्भवं हेममृगस्य जन्म तथाऽपि रामो लुलुभे मृगाय ।
प्रायः समापन्नविपत्तिकाले धियोऽपि पुंसां मलिना भवन्ति ॥

अ०—हेममृगस्य जन्म असम्भवं (भवति) तथाऽपि रामः मृगाय लुलुभे । समापन्नविपत्तिकाले पुंसां धियः अपि प्रायः मलिनाः भवन्ति । व्या०—हेम्नः = सुवर्णस्य मृगः=हरिणस्तस्य, जन्म=उद्भवः, असम्भवं = सम्भवरहितमेव, तथाऽपि= 'सुवर्णमृगा न भवन्ती'ति ज्ञानसत्त्वेऽपि, रामः = रमन्ते योगिनोऽस्मिन् सः रामः दाशरथिः भगवान्, मृगाय = सुवर्णहरिणाय, लुलुभे = लोभाधीनो बभूव । यतः समापन्नाश्च ताः विपत्तयः = समापन्नविपत्तयः = निकटवर्त्यापदः, तासां कालस्तस्मिन्, पुंसां = विबुधानामपि जनानाम्, धियः अपि, प्रायः = बाहुल्येन, मलिनाः= मोहिताः कर्तव्याऽकर्तव्यविचारशून्याः, भवन्ति ।

भा०—सुवर्ण का हरिण हो नहीं सकता है, तो भी रामचन्द्र भगवान् सुवर्णमृग में लुब्ध हो गये, इस दृष्टान्त से निश्चय होता है कि विपत्ति आने के समय में बडे पुरुषों की बुद्धि भी मलिन (विचारशून्य) हो जाती है (तो कबूतरों की बुद्धि के लिये क्या कहना ?) ॥

अनन्तरं ते सर्वे जालनिबद्धा बभूवुः, ततो यस्य वचनात् तत्रावलम्बितास्तं सर्वे तिरस्कुर्वन्ति स्म ।

व्या०—अनन्तरं=निपतनानन्तरम्, ते सर्वे=कपोताः जालेन निबद्धाः=संयताः बभूवुः । ततः = बन्धनानन्तरम् यस्य = यत्कपोतस्य, वचनात् = वाक्यश्रवणात्, तत्र = जालाच्छादितभूतले, अवलम्बिताः = अवरुद्धाः, तं = कपोतम्, ते सर्वे = कपोताः, तिरस्कुर्वन्ति स्म ।

भा०—बैठने के बाद वे सब कबूतर जालमें बँध गये, तब जिस (कबूतर) के कहने से वे सब कबूतर, जालयुक्त भूतलमें उतरे थे, उस (कबूतर) का तिरस्कार करने लगे

यतः—न गणस्याग्रतो गच्छेत् सिद्धे कार्ये समं फलम्।
यदि कार्यविपत्तिः स्यान्मुखरस्तत्र हन्यते॥ २९॥

अ०—(कश्चित्) गणस्य अग्रतः न गच्छेत्, कार्ये सिद्धे फलं समम् (भवति) यदि कार्यविपत्तिः स्यात्, तत्र (सर्वैः) मुखरः हन्यते। व्या०—गणस्य=समूहस्य मण्डलस्येति यावत्। अग्रतः=अग्रे अग्रयायी भूत्वेत्यर्थः, न गच्छेत्=न प्रवर्तेत, यतः कार्ये=चिकीर्षिते कर्मणि, सिद्धे=निष्पन्ने सति तु, फलम्=इष्टलाभः, समम्=तुल्यम्, समाशं भवतीति। यदि चेत् कार्यविपत्तिः=कार्यस्य चिकीर्षितस्य विपत्तिः= अनिष्पत्तिः, स्यात्, तर्हि तत्र=तस्मिन् विषये, तेषु मध्ये वा, सर्वैः, मुखरः–मुखं-वाक् अस्ति आज्ञाप्रवृत्त्वेन अस्य इति मुखरः=आज्ञाकारी प्रवर्तक इत्यर्थः। हन्यते= तिरस्क्रियते इति।

भा०—किसी भी कार्य में समुदाय का नेता नहीं होना चाहिये, क्योंकि कार्यसिद्धि होने पर सब समानफलभागी बनते हैं और कार्यसिद्धि न होने पर नेता को ही अपयश तथा तिरस्कार का पात्र (सब) बनाते हैं॥ २९॥

तस्य तिरस्कारं श्रुत्वा चित्रग्रीव उवाच—नाऽयमस्य दोषः। यतः—

भा०—इस प्रवर्तक कबूतर के तिरस्कार को सुनकर चित्रग्रीव ने कहा—इस (प्रवर्तक कबूतर) का यह दोष नहीं। क्योंकि—

आपदामापतन्तीनां हितोऽप्यायाति हेतुताम्।
मातृजङ्घा हि वत्सस्य स्तम्भीभवति बन्धने॥ ३०॥

अ०—हितः अपि आपतन्तीनाम् आपदां हेतुताम् आयाति, हि मातृजङ्घा वत्सस्य बन्धने स्तम्भीभवति। व्या०—हितः आप=यो हितकरः सोऽपि, आपतन्तीनाम्= आगच्छन्तीनाम्, अवश्यम्भाविनीनाम्, आपदाम्=विपदाम्, हेतुताम्=निमित्त-कारणताम्, आयाति=आप्नोति। हि यतः मातुः जङ्घा मातृजङ्घा=परमहितकारी अपि स्वजनन्याः ऊरुप्रदेशः वत्सस्य बन्धने–संयमने, स्तम्भीभवति=न स्तम्भः अस्तम्भः, अस्तम्भः स्तम्भो यथा सम्पद्यमानस्तथा भवति इति स्तम्भीभवति, बन्धनस्तम्भो भवतीति।

भा०—सदा हित करनेवाले जन भी अवश्य आनेवाली आपत्तियों में निमित्तभूत हो जाते हैं, क्योंकि गौ की जाँघ कभी (दोहन के समय) बछड़े का बन्धनस्तम्भरूप भी होती है। इसलिये यह कबूतर निर्दोष है॥ ३०॥

अन्यच्च—स बन्धुर्यो विपन्नानामापदुद्धरणक्षमः।
न तु भीतपरित्राणवस्तूपालम्भपण्डितः॥ ३१॥

अ०—यः विपन्नानाम् आपदुद्धरणक्षमः (भवति) स बन्धुः (भवति) भीतपरित्राणवस्तूपालम्भपण्डितः तु न (बन्धुः भवति) । व्या०—यः=जनः, विपन्नानाम् = आपदाक्रान्तानाम् , आपदुद्धरणक्षमः = आपत्सु विपत्सु उद्धरणं = परित्राणं तत्र क्षमः = समर्थः, आपत्तिकाले रक्षणकर्ता भवति इत्यर्थः । स जनः बन्धुः = स्वजनः भवति, यस्तु भीतपरित्राणवस्तूपालम्भपण्डितः–भीतानां = विपद्गतानां परित्राणात्मकं यद्वस्तु = कार्यम् , तस्मिन् उपालम्भः = तिरस्कारः तस्मिन् पण्डितः = कुशलः, विपत्पराहतानाम् उपालम्भकर्ता इत्यर्थः । तु–पुनः, न स्वजनः भवति ।

भा०—जो पुरुष विपत्तियों से बचाता है वही बन्धु है । विपत्तियों के आने पर रक्षण न करके केवल तिरस्कार करने में कुशल जो पुरुष है वह बन्धु नहीं है ॥ ३१ ॥

विपत्काले विस्मय एव कापुरुषलक्षणम् , तदत्र धैर्यमवलम्ब्य प्रतीकारश्चिन्त्यताम् । यतः—

व्या०—विपत्काले–विपदाम्=आपदां कालः = वर्तमानसमयः तस्मिन् , विस्मय एव =व्याकुलचित्तता, अधैर्यमिति यावत् । कापुरुषलक्षणम् कुत्सितः = लघुः पुरुषः कापुरुषस्तस्य लक्षणं = चिह्नं भवतीति । तत् = तस्माद्धेतो , अत्र = एतादृशेऽस्मिन्नापत्तिसमये, धैर्यम् = धीराणां भावो धैर्यम् , अव्याकुलताम् , गाम्भीर्यमिति यावत् । अवलम्ब्य = आश्रित्य, प्रतीकारः =जालबन्धनविमुक्तेरुपायः, चिन्त्यताम् ।

भा०—आपत्काल में व्याकुल होना ही हलके पुरुषों का लक्षण है, इसलिये धीरज रखकर इस जाल बन्धन से छूटने का उपाय खोजो । क्योंकि—

विपदि धैर्यमथाभ्युदये क्षमा
सदसि वाक्पटुता युधि विक्रमः ।
यशसि चाभिरुचिर्व्यसनं श्रुतौ
प्रकृतिसिद्धमिदं हि महात्मनाम् ॥ ३२ ॥

अ०—विपदि धैर्यम् , अभ्युदये क्षमा, सदसि वाक्पटुता, युधि विक्रमः, यशसि चाभिरुचिः, श्रुतौ व्यसनम् , इदं हि महात्मनां प्रकृतिसिद्धम् । व्या०—विपदि = आपत्तिसमये, धैर्यं = चित्तस्यानुद्वेगता, गाम्भीर्यमिति यावत् , अथ च अभ्युदये = सम्पल्लाभे, क्षमा=क्षान्तिः अनौद्धत्यम् , अनुत्फुल्लतेति यावत् , सदसि = विबुधजनसभायाम् , वाक्पटुता–वाचां=वाणीनां पटुता=सयुक्तिकश्रवणमधुरता हृदयग्राहिता च, युधि = संग्रामे, विक्रमः = जयशीलपराक्रमयुक्तशूरता, यशसि = आनुषङ्गिके यशसि ख्यातौ, अभिरुचिः = तीव्राभिलाषा, श्रुतौ = शास्त्रे, व्यसनम् = अत्यन्तमासक्तिः, इदं हि = एतत् सर्वमेव (हि=निश्चयार्थकः) महात्मनाम् = महान् धैर्यादिभिरुदारः आत्मा येषान्ते तेषां = सत्पुरुषाणाम् , प्रकृतिसिद्धम्=प्रकृत्या स्वभावेन सिद्धं सम्पन्नम् , सहजमिति यावत् ।

भा०—आपत्काल में धीरता रखना, समर्थ होने पर भी क्षमा रखना, सभा में बोलने में चतुर होना, युद्ध में शूर-वीर होना, कीर्त्ति में रुचि होनी, शास्त्रों में प्रेम होना, महापुरुषों के ये सब स्वाभाविक (जन्मसिद्ध) होते हैं ॥ ३१ ॥

सम्पदि यस्य न हर्षो विपदि विषादो रणे च भीरुत्वम् ।
तं भुवनत्रयतिलकं जनयति जननी सुतं विरलम् ॥ ३२ ॥

अ०—सम्पदि यस्य हर्षो न (भवति), विपदि विषादो न (भवति), रणे च भीरुत्व (न भवति) तं भुवनत्रयतिलक सुत (काचित्) जननी विरल जनयति ।

व्या०—सम्पदि = सम्पत्तौ सत्याम् , यस्य=यजनस्य, हर्षः =आनन्दातिशय., न भवति, विपदि=विपत्तौ सत्याम् , विषाद.=खेद , अनुत्साह , न भवति, अथ च रणे= संग्रामे सति, भीरुत्व=भयशीलत्वम् , न भवति, तं=तादृशगुणयुक्तम् , अत एव भुवनत्रयतिलकम्-भुवनानां=स्वर्गमर्त्यपातालाना त्रय, तस्य तिलक विशेषक., तम् त्रिलोकश्रेष्ठमित्यर्थः । सुतं=पुत्रम् , काचित् जननी=माता, विरल=स्तोक यस्मिन् कर्मणि यथा भवति तथा तत् कदाचित क्वचिदिति यावत् , जनयति=प्रसूते । आर्य्यावृत्तम् ।

भा०—सम्पत्तिका लाभ होने पर जिसको हर्ष नहीं है, विपत्ति आने पर जिसको शोक नहीं है और युद्ध के मौके पर जिसको कुछ भी भय नहीं है, ऐसे गुणोंसे युक्त त्रिलोकपूज्य पुत्र को कभी कोई माता जन्म देती है ॥ ३२ ॥

अन्यच्च—षड् दोषाः पुरुषेणेह हातव्या भूतिमिच्छता ।
निद्रा तन्द्रा भयं क्रोध आलस्यं दीर्घसूत्रता ॥ ३४ ॥

अ०—इह भूतिमिच्छता पुरुषेण निद्रा तन्द्रा भय क्रोधः आलस्य दीर्घसूत्रता (इति) षड्दोषाः हातव्या । व्या०—इह=अस्मिन् ससारे, भूतिं=सम्पदम्-अभ्युदयम्, इच्छता=वाञ्छता, पुरुषेण=जनेन, निद्रा=स्वाप., तन्द्रा=जाड्यम् , कार्याऽनुत्साह , भय = भीरुस्वभाव., क्रोध.=कोपनम् , आलस्य=परिश्रमविधुरता, दीर्घं=चिरकालेन, सूत्रम्=ईप्सितकार्यव्यवस्था यस्य स , तस्य भाव , चिरक्रियतेति अर्थ. । इति षट्-सख्याका दोषा', हातव्या. =सर्वथा त्यक्तव्या इति ।

भा०—इस ससार में अभ्युदयकी इच्छावाले लोग-'निद्रा, तन्द्रा, भय, क्रोध, आलस्य, दीर्घसूत्रता'—इन छह दोषों का त्याग करे ॥ ३४ ॥

इदानीमपि एवं क्रियताम्—सर्वैरेकचित्तीभूय जालमादाय उड्डीयताम् ।

भा०—अब भी ऐसा करो कि हम सब एकचित्त होकर जाल को लेकर उड़ चलें ।

यत—अल्पानामपि वस्तूनां संहतिः कार्यसाधिका ।
तृणैर्गुणत्वमापन्नैर्बध्यन्ते मत्तदन्तिनः ॥ ३५ ॥

अ०—अल्पानामपि वस्तूनां संहतिः कार्यसाधिका (भवति, यथा) गुणत्वमापन्नैः तृणैः मत्तदन्तिनो बध्यन्ते । व्या०—अल्पानामपि=निर्बलानां क्षुद्राणां बहूनामपि, संहतिः=समुदायः मेलनम् , कार्यस्य साधिका कार्यसाधिका = महत्तरकार्यस्य सम्पादयित्री भवति । तत्र दृष्टान्तमाह—तृणैरिति । यथा गुणत्वं = रज्जुभावम् , आपन्नैः = प्राप्तैः, तृणैः = निर्बलैः तृणघासैः , मत्ताश्च ते दन्तिनः मत्तदन्तिनः = बहुबलाः करिणः, बध्यन्ते = नियम्यन्ते

भा०—जैसे बहुत तृणों की बनाई हुई रस्सी मदोन्मत्त हाथी को बाँधती है वैसे ही निर्बल तथा क्षुद्र चीजें भी मिलकर बडे कार्य को सिद्ध करती हैं ॥ ३५ ॥

संहतिः श्रेयसी पुंसां स्वकुलैरल्पकैरपि ।
तुषेणापि परित्यक्ता न प्ररोहन्ति तण्डुलाः ॥ ३६ ॥

अ०—पुंसाम् अल्पकैः अपि स्वकुलैः सह संहतिः श्रेयसी, तुषेणापि परित्यक्ताः तण्डुलाः न प्ररोहन्ति । व्या०—पुंसां = जनानाम् , अल्पकैः अपि = निर्बलैः स्वल्पसङ्ख्याकैश्चापि, स्वकुलैः = स्वस्य कुलानि = जातिबन्धवाः, तैः, सह संहतिः = मेलनम् एकता, श्रेयसी = कल्याणकरी भवति । तत्र व्यतिरेकिदृष्टान्तमाह—तुषेणेति । यथा तुषेण = क्षुद्रेणापि तुषेण, परित्यक्ताः = वियुक्ताः, तण्डुलाः, न प्ररोहन्ति=न अङ्कुरम् उद्गमयितुं समर्था भवन्ति इति ॥ ३६ ॥

भा०—मनुष्यों को अपने थोडे और निर्बल भी कुटुम्बिजनों से मेल रखना ही अच्छा है, क्योंकि चावल भी अपने छिलकों से अलग होने पर अङ्कुर को पैदा नहीं कर सकता ॥

इति विचिन्त्य पक्षिणः सर्वे जालमादाय उत्पतिताः, अनन्तरं स व्याधः सुदूराज्जालापहारकांस्तान् अवलोक्य पश्चाद्धावितोऽचिन्तयत्—

व्या०—सर्वे=समस्ताः, पक्षिणः=कपोताः, इति=उक्तप्रकारेण, विचिन्त्य=मन्त्रं कृत्वा, जालं=पाशम् , आदाय = नीत्वा, उत्पतिताः । अनन्तरम् = उड्डयनात् परम् , सः = पूर्वोक्तः, व्याधः, सुदूरात्=अतिदूरम् , जालस्य अपहारकान् , तान्= कपोतान् , अवलोक्य, पश्चात् = पृष्ठतः, धावितः सन् अचिन्तयत् ।

भा०—ऐसी सलाह करके सब कबूतर जाल को लेकर उड गये, तब वह व्याध भी जाल लेकर जाते हुए कबूतरों को देखकर दूर तक पीछे-पीछे दौडता हुआ सोचने लगा—

संहतास्तु हरन्त्येते मम जालं विहङ्गमाः ।
यदा तु निपतिष्यन्ति वशमेष्यन्ति मे तदा ॥ ३७

अ०—एते विहङ्गमास्तु संहताः मम जालं हरन्ति, तु यदा निपतिष्यन्ति, तदा मे वशम् एष्यन्ति । व्या०—एते, विहायसा आकाशेन गच्छन्तीति विहङ्गमाः = कपोतास्तु, संहताः = मिलिताः सन्तः, मम (व्याधस्य) जालं=पाशम्, हरन्ति=नीत्वा

पलायन्ते, तु=किन्तु, यदा भूतले निपतिष्यन्ति=अवतरिष्यन्ति, तदा मे (व्याधस्य), वशम्, एष्यन्ति = प्राप्स्यन्तीति ।

भा०—ये सब कबूतर मिलकर मेरे जाल को ले जा रहे हैं, लेकिन जब पृथिवी पर उतरेंगे तब-अवश्य मेरे हाथ आ जायेंगे ॥ १७ ॥

ततस्तेषु चक्षुर्विषयमतिक्रान्तेषु पक्षिषु स व्याधो निवृत्तः । अथ लुब्धकं निवृत्तं दृष्ट्वा कपोता ऊचुः-'स्वामिन् ! किमिदानीं कर्तुमुचितम् ?' चित्रग्रीव उवाच —

व्या०—तत=अनन्तरम्, किन्तु इति यावत्, तेषु पक्षिषु=कपोतेषु, चक्षुषोर्विषयस्तम्=चक्षुर्ग्राह्यताम्, अतिक्रान्तेषु=अतीत्य गतेषु सत्सु, स =धावन्, व्याध. निवृत्त.=जालाशामपि विहाय स्वस्थानं प्रति गत । अथ=अनन्तरम्, ते कपोता, लुब्धक=व्याधम्, निवृत्तं दृष्ट्वा=प्रतिनिवृत्तमवलोक्य, ऊचुः=कपोतराज पप्रच्छु., स्वामिन् ! (वृद्धसम्बोधने), इदानीम्=अस्मिन् समये, किं=कीदृशो व्यापार कर्तुम्=अनुष्ठातुम, उचितं=योग्य:, तदा चित्रग्रीव, उवाच=उक्तवान् ।

भा०—लेकिन जब वे कबूतर अदृश्य हो गये, तब व्याध घर लौट गया । उसके बाद व्याध को लौटे हुए देखकर सब कबूतरों ने वृद्ध कबूतर से पूछा—स्वामिन् ! अब क्या करना चाहिये ? चित्रग्रीव ने जवाब दिया ।

माता मित्रं पिता चेति स्वभावात् त्रितयं हितम् ।
कार्यकारणतश्चाऽन्ये भवन्ति हितबुद्धयः ॥ १८ ॥

अ०—माता मित्र पिता च इति त्रितय स्वभावाद् हितम् (भवति)। अन्ये च कार्यकारणत हितबुद्धय भवन्ति । व्या०—माता=स्वजननी, मित्र=स्वाभाविक सुहृत्, पिता=स्वजनकश्च, इति=एतत्, त्रितय=पयत्रयम्, हितं=सर्वदा स्वभावत एव हितकर भवति । अन्ये=एत्यस्त्रिभ्य इतरे तु, कार्यं च कारणं च ताभ्याम्, केचित् कार्यवशात्, केचिच्च कारणवशात्, हितबुद्धय.=हिता बुद्धिर्येषान्ते हितकरा भवन्ति इति ।

भा०—माता, मित्र और पिता ये तीनों स्वभाव से हित करने वाले होते हैं और दूसरे तो कार्य कारण रूपी स्वार्थ के लिये हितकारी बन जाते हैं ॥ १८ ॥

तस्मे मित्रं हिरण्यको नाम मूषिकराजो गण्डकीतीरे चित्रवने निवसति. सोऽस्माकं पाशांश्छेत्स्यति इत्यालोच्य सर्वे हिरण्यकविवरसमीपं गताः, हिरण्यकश्च सर्वदा अपायशङ्कया शतद्वारं विवरं कृत्वा निवसति ।

व्या०—तत्=तस्मात्, मित्रस्य सदा हितकरत्वात्, मे मित्र=मम गाढसुहृत्

'हिरण्यक' इति नाम्ना प्रसिद्धः, मूषिकाणां राजा इति मूषिकराजः' गण्डकी' नामनद्यास्तीर तस्मिन् , चित्रं च तद् वनं च तस्मिन् , निवसति = वासं करोति । सः हिरण्यकः, अस्माकं=सर्वेषां कपोतानाम् , पाशान्=बन्धान् , छेत्स्यति=दन्तैः विदारयिष्यति, इति = इत्येवम् आलोच्य = विचार्य, सर्वे कपोता , हिरण्यकस्य विवरं=बिलम्, तस्य समीपं=निकटम्, गताः । हिरण्यक., सर्वदा=अनवरतम् , अपायस्य=नाशस्य विघ्नस्य मरणस्येति यावत् , शङ्का तथा शतद्वार = शतं द्वाराणि निर्गमनप्रवेशमार्गा यस्य तत् तादृशम् , विवरं=बिलं पृथिव्यन्तर्गतम् कृत्वा, निवसति=निर्भय. सन् वसति ।

भा०—इसलिये मेरा मित्र हिरण्यक नाम का चूहों का राजा गण्डकी नदी के किनारे चित्रवन में रहता है, वह हम लोगों के बन्धनों को काटेगा । ऐसा विचार करके सब कबूतर हिरण्यक के निवासस्थान (बिल) पर गये । हिरण्यक भी सदा विघ्नों की शङ्का से सैकड़ों मुख का बिल बनाकर रहता है ।

ततो हिरण्यकः कपोताऽवपातभयाच्चकितः तूष्णीं स्थितः । चित्रग्रीव उवाच—'सखे हिरण्यक ! कथमस्मान्न सम्भाषसे !' ततो हिरण्यकस्तद्वचनं प्रत्यभिज्ञाय ससम्भ्रमं बहिर्निःसृत्य अब्रवीत्—आः ! पुण्यवानस्मि प्रियसुहृन्मे चित्रग्रीवः समायातः—

व्या०—तत विवरं प्रति गमनानन्तरम् , हिरण्यकनामा मूषिकराज , कपोतानाम् अवपातः = वेगात् पक्षशब्दसहितम् अवरोहण, तस्माद् यद् भय तस्मात् , चकित सम्भ्रान्त सन्त्रस्त सन् , तूष्णीं = मौनम् , स्थित = तस्थौ । ततः चित्रग्रीवनामा कपोतराजः, उवाच = उक्तवान् , सखे = मित्र ! हिरण्यक ! कथ = केन हेतुना, अस्मान्=न कपोतान् , न सम्भाषसे=त्वं न सम्भावयसि, तत.-चित्रग्रीवोक्तिश्रवणानन्तरम् , हिरण्यकनामा मूषिकराज , तस्य चित्रग्रीवस्य वचन शब्द प्रत्यभिज्ञाय = ज्ञात्वा परीक्ष्य, ससम्भ्रम = सम्भ्रमेण = आनन्दोत्साहेन सहितं यथा स्यात् तथा, विवरात् बहि प्रदेशे, नि सृत्याऽब्रवीत्=आगत्य उक्तवान् , आः (आश्चर्येऽव्ययम्) पुण्यवान् = पुण्यमस्ति अस्य पुण्यात्मा, अस्मि = भवामि, यद् मे=मम, प्रियसुहृत् = प्रीणातीति प्रियः शोभनं हृदय यस्य स सुहृत्=प्रियश्चासौ सुहृच्चेति प्रियसुहृत् = गाढप्रेमास्पदं सखा चित्रग्रीव समायात = आगत. ।

भा०—बिल पर कबूतरों के आने के बाद कबूतरों के उतरने की आवाज से भयभीत होकर वह हिरण्यक चुपचाप हो रहा, तब चित्रग्रीव बोला—मित्र हिरण्यक हमसे क्यों नहीं बोलते हो ? हिरण्यक अपने मित्र के उस वचन को पहचान कर बड़े आनन्द और उत्साहके साथ बाहर आया और बोला—ओहो ! मेरा पुण्योदय हुआ क्योंकि आज मेरे प्रिय मित्र चित्रग्रीव आये हैं ।

यस्य मित्रेण सम्भाषो यस्य मित्रेण संस्थितिः ।
यस्य मित्रेण संलापस्ततो नास्तीह पुण्यवान् ॥ ३९ ॥

अ०—यस्य मित्रेण सम्भाषः, यस्य मित्रेण संस्थितिः, यस्य मित्रेण संलापः, (भवति) इह ततः पुण्यवान् नास्ति । व्या०—यस्य = जनस्य, मित्रेण = सुहृदा सह, सम्भाषः = सम्यग् वार्तालापः भवति, यस्य = जनस्य, मित्रेण सह, संस्थितिः = एकत्रवासः भवति, यस्य=जनस्य, मित्रेण सह संलापः = परस्पररहस्यविचारादिकं च भवति, इह = अस्मिन् संसारे, ततः = तस्माज्जनात्, पुण्यवान् = पुण्यशाली, अन्यः कश्चिदपि नास्तीति ।

भा०—जिसका मित्र के साथ सम्भाषण होता है, जिसका मित्र के साथ रहना होता है, तथा जिसका मित्र के साथ रहस्य विचार होता है, उस पुरुष के समान पुण्यशाली दूसरा कोई नहीं है ॥ ३९ ॥

अथ पाशबद्धांश्चैतान् दृष्ट्वा सविस्मयः क्षणं स्थित्वा उवाच—सखे ! किमेतत् ? चित्रग्रीव उवाच—'सखे ! अस्माकं प्राक्तनजन्मकर्मणः फलमेतत्' ।

व्या०—अथ = बहिर्निःसरणानन्तरम्, एतान् = कपोतान्, पाशबद्धान्=पाशेन बद्धास्तान्, दृष्ट्वा, सविस्मयः=विस्मयेन आश्चर्येण सहितः सन्, क्षणं=क्षणमात्रम्, स्थित्वा=स्तब्धत्वेनाऽवस्थाय, (स हिरण्यकः) उवाच=उक्तवान्, सखे != मित्र ! चित्रग्रीव ! एतत् पाशबन्धनम्, किं = किंनिमित्तं जातम् ? चित्रग्रीव उवाच = प्रत्युक्तवान्—सखे != मित्र हिरण्यक ! एतत् अस्माकं=सर्वेषां कपोतानाम्, प्राग्भवं प्राक्तनम्, प्राक्तनं च तज्जन्म, प्राक्तनजन्म, तस्मिन् कृतं कर्म तस्य, पूर्वभवकृताऽनिष्टस्येत्यर्थः । फलं = परिणामः अस्तीति ।

भा०—बाहर आने के बाद जाल से बंधे हुए सब कबूतरों को देखकर आश्चर्य के साथ क्षणमात्र स्तब्ध हो के हिरण्यक बोला-चित्रग्रीव ! यह बन्धन कैसे हुआ ? चित्रग्रीव ने कहा-मित्र हिरण्यक ! यह बन्धन हमारे पूर्वजन्मकृत पापों के फलस्वरूप उपस्थित हुआ है ।

यस्माच्च येन च यथा च यदा च यच्च
यावच्च यत्र च शुभाऽशुभमात्मकर्म ।
तस्माच्च तेन च तथा च तदा च तच्च
तावच्च तत्र च विधातृवशादुपैति ॥ ४० ॥

अ०—यस्माच्च येन च यथा च यदा च यच्च यावच्च यत्र च शुभाऽशुभम् आत्मकर्म (भवति) विधातृवशात् तस्माच्च तेन च तथा च तदा च तावच्च तत्र च तच्च उपैति । व्या० -यस्मात् = यत्कारणाच्च, येन = करणेन च यथा = येन

'हिरण्यक' इति नाम्ना प्रसिद्धः, मूषिकाणां राजा इति मूषिकराजः' गण्डकी' नामनद्यास्तीर तस्मिन्, चित्रं च तद् वनं च तस्मिन्, निवसति = वास करोति। स. हिरण्यकः, अस्माक=सर्वेषा कपोतानाम्, पाशान्=बन्धान्, छेत्स्यति=दन्तै. विदारयिष्यति, इति = इत्येवम् आलोच्य = विचार्य, सर्वे कपोता, हिरण्यकस्य विवरं= विलम्, तस्य समीपं=निकटम्, गताः। हिरण्यक., सर्वदा=अनवरतम्, अपायस्य= नाशस्य विघ्नस्य मरणस्येति यावत्, शङ्का तया शतद्वार = शतं द्वाराणि निर्गमनप्रवेशमार्गा यस्य तत् तादृशम्, विवर=विलं पृथिव्यन्तर्गतम् कृत्वा, निवसति= निर्भय. सन् वसति।

भा०—इसलिये मेरा मित्र हिरण्यक नाम का चूहों का राजा गण्डकी नदी के किनारे चित्रवन में रहता है, वह हम लोगों के बन्धनों को काटेगा। ऐसा विचार करके सब कबूतर हिरण्यक के निवासस्थान (बिल) पर गये। हिरण्यक भी सदा विघ्नों की शङ्का से सैकड़ों मुख का बिल बनाकर रहता है।

ततो हिरण्यकः कपोताऽवपातभयाच्चकितः तूष्णीं स्थितः। चित्रग्रीव उवाच—'सखे हिरण्यक! कथमस्मान्न सम्भाषसे!' ततो हिरण्यकस्तद्वचनं प्रत्यभिज्ञाय ससम्भ्रमं बहिर्निःसृत्य अब्रवीत्—आः! पुण्यवानस्मि प्रियसुहृन्मे चित्रग्रीवः समायातः—

व्या०—तत. विवरं प्रति गमनानन्तरम्, हिरण्यकनामा मूषिकराज., कपोतानाम् अवपात.=वेगात् पक्षशब्दसहितम् अवरोहण, तस्माद् यद् भय तस्मात्, चकित सम्भ्रान्त सन्त्रस्त. सन्, तूष्णीं=मौनम्, स्थित.=तस्थौ। ततः चित्रग्रीवनामा कपोतराजः, उवाच=उक्तवान्, सखे=मित्र! हिरण्यक! कथ=केन हेतुना, अस्मान्=न' कपोतान्, न सम्भाषसे=त्वं न सम्भाषयसि, तत.–चित्रग्रीवोक्तिश्रवणानन्तरम्, हिरण्यकनामा मूषिकराज, तस्य चित्रग्रीवस्य वचनं शब्द, प्रत्यभिज्ञाय=ज्ञात्वा परीक्ष्य, ससम्भ्रम=सम्भ्रमेण=आनन्दोत्साहेन सहितं यथा स्यात् तथा, विवरात् बहि प्रदेशे, नि सृत्याऽब्रवीत्=आगत्य उक्तवान्, आः (आश्चर्यार्थेऽव्ययम्) पुण्यवान्=पुण्यमस्ति अस्य पुण्यात्मा, अस्मि=भवामि, यद् मे= मम, प्रियसुहृत्=प्रीणातीति प्रियः शोभनं हृदयं यस्य स. सुहृत्=प्रियश्चासौ सुहृच्चेति प्रियसुहृत्=गाढप्रेमास्पद सखा चित्रग्रीवः समायात =आगत ।

भा०—बिल पर कबूतरों के जाने के बाद कबूतरों के उतरने की आवाज से भयभीत होकर वह हिरण्यक चुपचाप हो रहा, तब चित्रग्रीव बोला–मित्र हिरण्यक हमसे क्यों नहीं बोलते हो? हिरण्यक अपने मित्र के उस वचन को पहचान कर बड़े आनन्द और उत्साहके साथ बाहर आया और बोला—ओहो! मेरा पुण्योदय हुआ क्योंकि आज मेरे प्रिय मित्र चित्रग्रीव आये हैं।

यस्य मित्रेण सम्भाषो यस्य मित्रेण संस्थितिः ।
यस्य मित्रेण संलापस्ततो नास्तीह पुण्यवान् ॥ ३९ ॥

अ०—यस्य मित्रेण सम्भाषः, यस्य मित्रेण संस्थितिः, यस्य मित्रेण संलापः, (भवति) इह ततः पुण्यवान् नास्ति । व्या०—यस्य = जनस्य, मित्रेण = सुहृदा सह, सम्भाषः = सम्यग् वार्तालापः भवति, यस्य = जनस्य, मित्रेण सह, संस्थितिः = एकत्रवासः भवति, यस्य = जनस्य, मित्रेण सह संलापः = परस्परं रहस्यविचारादिकं च भवति, इह = अस्मिन् संसारे, ततः = तस्माज्जनात्, पुण्यवान् = पुण्यशाली, अन्यः कश्चिदपि नास्तीति ।

भा०—जिसका मित्र के साथ सम्भाषण होता है, जिसका मित्र के साथ रहना होता है, तथा जिसका मित्र के साथ रहस्य विचार होता है, उस पुरुष के समान पुण्यशाली दूसरा कोई नहीं है ॥ ३९ ॥

अथ पाशबद्धांश्चैतान् दृष्ट्वा सविस्मयः क्षणं स्थित्वा उवाच—सखे ! किमेतत् ? चित्रग्रीव उवाच—'सखे ! अस्माकं प्राक्तनजन्मकर्मणः फलमेतत्' ।

व्या०—अथ = बहिर्निःसरणानन्तरम्, एतान् = कपोतान्, पाशबद्धान् = पाशेन बद्धास्तान्, दृष्ट्वा, सविस्मयः = विस्मयेन आश्चर्येण सहितः सन्, क्षणं = क्षणमात्रम्, स्थित्वा = स्तब्धत्वेनाऽवस्थाय, (स हिरण्यकः) उवाच = उक्तवान्, सखे ! = मित्र ! चित्रग्रीव ! एतत् पाशबन्धनम्, किं = किंनिमित्तम् आगतम् ? चित्रग्रीव उवाच = प्रत्युक्तवान्—सखे ! = मित्र हिरण्यक ! एतत् अस्माकं = सर्वेषां कपोतानाम्, प्राग्भवं प्राक्तनम्, प्राक्तनं च तज्जन्म, प्राक्तनजन्म, तस्मिन् कृतं कर्म तस्य, पूर्वभवकृताऽनिष्टस्येत्यर्थः । फलं = परिणामः अस्तीति ।

भा०—बाहर आने के बाद जाल से बंधे हुए सब कबूतरों को देखकर आश्चर्य के साथ क्षणमात्र स्तब्ध हो के हिरण्यक बोला-चित्रग्रीव ! यह बन्धन कैसे हुआ ? चित्रग्रीव ने कहा-मित्र हिरण्यक ! यह बन्धन हमारे पूर्वजन्मकृत पापों के फलस्वरूप उपस्थित हुआ है ।

यस्माच्च येन च यथा च यदा च यच्च
यावच्च यत्र च शुभाऽशुभमात्मकर्म ।
तस्माच्च तेन च तथा च तदा च तच्च
तावच्च तत्र च विधातृवशादुपैति ॥ ४० ॥

अ०—यस्माच्च येन च यथा च यदा च यच्च यावच्च यत्र च शुभाऽशुभम् आत्मकर्म (भवति) विधातृवशात् तस्माच्च तेन च तथा च तदा च तावच्च तत्र च तच्च उपैति । व्या० -यस्मात् = यत्कारणाच्च, येन = करणेन च यथा = येन

प्रकारेण च, यदा=यस्मिन् काले च, यत्=यादृश च, यावत्=यत्परिमाणं च, यत्र च=यस्मिन् स्थले च, शुभञ्च अशुभ च शुभाऽशुभ=पुण्यदं पापद च, आत्म-कर्म=आत्मन' स्वस्य कर्म कर्तव्य भवति। विधातृवशात्=विधातु वश. तस्माद् दिष्टाधीनतः, तस्माच्च कारणात्, तेन च करणेन, तथा च=तेन च प्रकारेण, तदा च=तस्मिंश्च काले, तावत परिमाण च, तत्र च स्थले, तत्=तादृश शुभाऽशुभ कर्म, उपैति=उपस्थित भवति।

भा०—जिस कारण से जिस करण से, जिस प्रकार से, जिस काल में, जैसा जितना छोटा-बड़ा, जहाँ जो जो शुभ या अशुभ कर्म फल भोगना लिखा होता है, भाग्यवश से उस कारण से, उस करण से, उसी प्रकार से, उसी समय में वैसा ही छोटा या बड़ा उसी स्थल में वह शुभाऽशुभ कर्म, फलस्वरूप में परिणत हो कर उपस्थित हो जाता है ॥ ४० ॥

रोगशोकपरीतापबन्धनव्यसनानि च।
आत्माऽपराधवृक्षाणां फलान्येतानि देहिनाम् ॥ ४१ ॥

अ०—रोगशोकपरीतापबन्धनव्यसनानि एतानि च देहिनाम् आत्मापराधवृक्षाणां फलानि (भवन्ति)। व्या०—रोग.-शारीरव्याधिश्च, शोक=मानसिकचिन्ता च, परीतापः=नानाविधा वेदना च, बन्धनं=पाशादिनियन्त्रणा च, व्यसन=विपत्तिश्च स्त्रीरोगादयो वा, इति रोगशोकपरीतापबन्धनव्यसनानि, (इतरेतरद्वन्द्व-'उपसर्गस्य दीर्घत्व क्विच्चजादौ क्वचिद्भवेत्' इति परेर्दीर्घता) एतानि=रोगादीनि, देहिनां=शरीरिणाम्, आत्मापराधवृक्षाणाम्=आत्मना स्वेषाम् अपराधाः—कृष्णकर्माणि ते एव वृक्षास्तरवस्तेषाम् फलानि=परिणामा सन्तीति।

भा०—रोग, शोक, वेदना, बन्धन, व्यसन आदि आपत्तियां जो शरीरधारियों को होती हैं, वे सब अपने किये दुष्ट कर्म रूप वृक्ष के फल हैं ॥ ४१ ॥

एतच्छ्रुत्वा हिरण्यकः (स मूषिकः) चित्रग्रीवस्य बन्धनं छेत्तुं सत्वरमुपसर्पति, तत्र चित्रग्रीव उवाच—'मित्र! मा मैवं कुरु, (किन्तु) प्रथमममस्मदाश्रितानामेतेषां तावत् पाशांश्छिन्धि, मम पाशं पश्चाच्छेत्स्यसि।' हिरण्यकोऽप्याह—'अहमल्पशक्तिः, दन्ताश्च मे कोमलाः, तदेतेषां पाशांश्छेत्तुं कथं समर्थो भवामि? तत् यावन्मे दन्ता न त्रुट्यन्ति तावत् तव पाशं छिनद्मि। तदनन्तरमप्येतेषां बन्धनं यावत् शक्यं छेत्स्यामि।' चित्रग्रीव उवाच—'अस्त्वेवं तथाऽपि यथाशक्ति बन्धनमेतेषां खण्डय।' हिरण्यकेन उक्तम्—'आत्मपरित्यागेन यदाश्रितानां परिरक्षणं तन्न नीतिवेदिनां सम्मतम्।'

व्या०—एतत्=उक्तवाक्यम्, श्रुत्वा=आकर्ण्य, स हिरण्यकनामा मूषिक, चित्र-

ग्रीवस्य-कपोतराजस्य, बन्धन = पाशनियन्त्रणम् , छेत्तु=विदारयितुम् , सत्वर = द्रुतम् , उपसर्पति=चित्रग्रीवस्य समीपे गच्छति, तत्र=तस्मिन् समये, चित्रग्रीवः = कपोतराज., उवाच=उक्तवान् , मित्र ! = सुहृद् ! हिरण्यक ! मा मा = न हि न हि, एव = प्रथमं मम बन्धनच्छेदनप्रयासम् , कुरु = विधेहि, किन्तु प्रथम = पूर्वम् , अस्मान् आश्रिता अस्मदाश्रितास्तेषाम् = अस्मदुरपयाणाम् एतेषा कपोतानाम् , तावत् = साकल्येन, पाशान् = बन्धनानि, छिन्धि त्वं विदारय, पश्चात्=अनन्तरम् , मम (चित्रग्रीवस्य) बन्धन = पाशम् , छेत्स्यसि=विदारयिष्यसि, हिरण्यकनामा मूषिकराज., अपि, आह-ब्रवीति, अहम् अल्पशक्ति = अल्पा लघ्वी शक्ति. सामर्थ्यं बल यस्य स', स्वल्पबलवान् भवामीति । किञ्च मे (हिरण्यकस्य) दन्ता.=दशनाः, कोमला , जर्जरिताश्च भवन्तीति तत् = तस्माद्धेतो , एतेषा = सर्वेषां कपोतानाम् , पाशान् = बन्धनानि, छेत्तु = विदारयितुम् कथं = केन प्रकारेण, समर्थ = क्षमः भवामि, तत् = तस्मात् असमर्थत्वाद्धेतोः, मे = मम, दन्ता = दशना , यावत् = यावत्समय न त्रुट्यन्ति = भग्ना न भवन्ति, तावत् = तदवधिकालम् तव (ते चित्रग्रीवस्य) पाश = बन्धनम् , छिनद्मि=अहं खण्डयामि, तदनन्तर=ते बन्धन-च्छेदनात् परम् , एतेषां = यावता कपोतानाम् , बन्धनमपि यावत् शक्यम् = यावता यत्नेन छेत्तु शक्यते तावत्, छेत्स्यामि = खण्डयिष्यामि, (एतच्छ्रुत्वा) चित्रग्रीवः = कपोतराज., उवाच-एवम् अस्तु = यत् तवाऽभिमत तदेव भवतु, तथाऽपि पूर्वम् एतेषां = यावतां कपोतानाम्, बन्धन यथाशक्ति शक्तिम् अनतिक्रम्य वर्तते इति यथाशक्ति = यावच्छक्यं तावत् , खण्डय=त्व विदारय, ततो हिरण्यकेन मूषिकराजेन उक्तम्-आत्मन. = स्वस्य परित्याग.=हति. तेन=स्वविनिमयेनेत्यर्थः। आश्रितानाम्=अनुजीविनाम् , यत् परिरक्षण = परित्राणम्, तत् नीतिवेदिनाम्—नीतिं विदन्ति इति नीतिवेदिनस्तेषा = नीतिज्ञानाम् , न सम्मतम् ।

भा०—यह सुनकर हिरण्यक नाम का चूहा चित्रग्रीव नामक कपोतराज के बन्धन को काटने के लिए शीघ्रता से जाता है। इतने में चित्रग्रीव ने कहा—मित्र ! ऐसा मत करो। प्रथम हमारे आश्रित इन सब कबूतरों के बन्धन काटो, पीछे मेरा बन्धन काटना, तब हिरण्यक ने कहा—मैं अल्पशक्ति वाला हूँ—और मेरे दाँत निर्बल हैं, इसलिये इन सबके बन्धनों को कैसे काट सकूँगा, तो भी जब तक मेरे दाँत नहीं टूटेंगे तब तक तुम्हारे (चित्रग्रीव के) बन्धन को काट डालूँ, उसके बाद सबके बन्धनों को जहाँ तक बन सकेगा काटूँगा। तब चित्रग्रीव ने कहा—अच्छा वैसा ही सही, तो भी जहाँ तक बन सके इन सबके बन्धनों को पहले काटो। तब हिरण्यक ने कहा—अपने को छोड़कर आश्रितों का रक्षण करना यह नीतिज्ञों का सम्मत नहीं है।

यतः—आपदर्थे धनं रक्षेद् दारान् रक्षेद् धनैरपि ।
आत्मानं सततं रक्षेद् दारैरपि धनैरपि ॥ ४२ ॥

अ०—आपदर्थे धनं रक्षेत्, धनैरपि दारान् रक्षेत्। दारैरपि धनैरपि आत्मानं सततं रक्षेत्।

व्या०—आपदां=दुर्भिक्षादिविपदाम् अर्थः=निवारणं तस्मिन्, आपत्तिपरिहारार्थेत्यर्थः। धनं=रूप्यसुवर्णादिकम्, रक्षेत्=सगृह्य कोषे स्थापयेत्, धनैरपि=अर्थैः, सुवर्णादिभिरपि, सर्वस्वविनिमयेनाऽपीति यावत्। दारान्=विपन्नां स्त्रियम्, रक्षेत = त्रायेत, दारैरपि धनैरपि च = दारधनादिविनिमयेन च, आत्मानं=स्वम्, सततं= नित्यकालम्, रक्षेत्=त्रायेतेति।

भा० दुर्भिक्ष आदि आपत्तियाँ दूर करने के लिये धन का सग्रह करना और धन को भी छोड कर विपत्ति में पडी हुई स्त्री की रक्षा करना और स्त्री तथा धन दोनों को छोड कर भी आपत्तिग्रस्त अपनी (आत्माकी) रक्षा करनी चाहिये ॥ ४२ ॥

अन्यच्च—धर्मार्थकाममोक्षाणां प्राणाः संस्थितिहेतवः।
तान् निघ्नता किन्न हतं? रक्षता किं न रक्षितम् ॥ ४३ ॥

अ०—प्राणाः धर्मार्थकाममोक्षाणां संस्थितिहेतवः (भवन्ति) तान् निघ्नता किं न हतम् (भवति) रक्षता (च) किं न रक्षितं (भवति)। व्या०—प्राणाः=असवः, स्वजीवनमिति यावत्। धर्मश्च अर्थश्च कामश्च मोक्षश्च तेषां चतुर्णां पुरुषार्थानामित्यर्थः। संस्थितिहेतवः—संस्थितेः=संरक्षणस्य हेतवः=कारणानि, भवन्ति। तान्=प्राणान्, निघ्नता=विनाशयता अनेन, किं=किं वस्तु, न हतं = न विनाशितं भवति? तान् प्राणान् रक्षता = पोषयता च अनेन, किं वस्तु, न रक्षितम्? अर्थात् सर्वमेव रक्षितमिति।

भा०—प्राण ही धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों के कारण हैं, इसलिये प्राण के नाश करने वालों ने क्या नाश नहीं किया? अर्थात् सब कुछ नाश किया और प्राण (जीवन) का रक्षण करने वालों ने किस चीज का रक्षण नहीं किया? अर्थात् सबका रक्षण किया है ॥ ४३ ॥

चित्रग्रीव उवाच—सखे! नीतिस्तावत् ईदृश्येव, किन्त्वहमस्मदाश्रितानां दुःखं सोढुं सर्वथाऽसमर्थस्तेनेदं ब्रवीमि।

व्या०—चित्रग्रीवनामा कपोतराजः, उवाच=उक्तवान्, सखे!=मित्र! हिरण्यक! (तावत् वाक्यालङ्कारे) नीतिः, ईदृशी=इयमिव दृश्यते इति ईदृशी, भवता यादृशी कथ्यते स्वविनिमयेन आश्रितरक्षणम् अन्याय्यमित्येतादृशी, एवकारः निश्चयार्थकः, किन्तु = परन्तु, अहम्, अस्माकम् आश्रितास्तेषाम्=एतेषां कपोतानाम्, दुःखं सोढुम् सर्वथा=सर्वप्रकारेण, असमर्थः=समर्थो न भवामि, तेन हेतुना, इदम्=अस्मदाश्रितानां बन्धनं प्राक् छिन्धि' इति वचनम्, ब्रवीमि=कथयामि।

भा०—चित्रग्रीव बोला—मित्र हिरण्यक ! नीति तो तुमने कही वैसी ही है, लेकिन क्या करूँ, अपने अनुजीवियों के कष्ट को सहन करने के लिये मैं सर्वथा असमर्थ हूँ, इस लिये ऐसा बोल रहा हूँ।

यतः—धनानि जीवितञ्चैव परार्थे प्राज्ञ उत्सृजेत् ।
सन्निमित्ते वरं त्यागो विनाशे नियते सति ॥ ४४ ॥

अ०—प्राज्ञः परार्थे एव धनानि जीवितञ्च उत्सृजेत्, विनाशे नियते सति सन्निमित्ते त्यागः वरम् । व्या०—प्राज्ञः = प्रज्ञ एव प्राज्ञः बुद्धिमान् जन, परार्थे=परेषाम् अर्थः प्रयोजन तस्मिन्, परकार्यसिद्ध्यर्थम्, धनानि = रूप्यकादीनि, जीवितञ्च = आत्मप्राणांश्च, उत्सृजेत्=त्यजेत् । कुतः ? इत्याह=विनाशे=धनस्य विनाशे, जीवितस्य च मरणे, नियते सति = निश्चिते सति, सन्निमित्ते-सत्=शोभनम्, उत्तम निमित्तं-कारणं परोपकाररूप तस्मिन्, सत्कार्यसिद्धावित्यर्थः । त्यागः=धनजीवितयोर्विसर्जनम्, वरम्=ईषत्प्रिय भवतीति ।

भा०—बुद्धिमान् मनुष्य परोपकारमे ही अपने धन तथा जीवन का उपयोग करें क्योंकि धन तथा जीवन का नाश कभी न कभी जरूर होगा, इससे सत्कार्यमें लगाना अच्छा है ॥४४॥

अयमपरश्चाऽसाधारणो हेतुः—

व्या०—अय=वक्ष्यमाणप्रकारः, अपरः=द्वितीयोऽपि, असाधारणः=न साधारणः असाधारणः-मुख्यः, हेतुः = कारणं भवतीति—

भा०—यह भी एक दूसरा मुख्य कारण है—

जातिद्रव्यबलानाञ्च साम्यमेषां मया सह ।
मत्प्रभुत्वफलं ब्रूहि कदा किं तद् भविष्यति ॥ ४५ ॥

अ०—मया सह एषां जातिद्रव्यबलानाञ्च साम्यम्, (भवति) तत् ब्रूहि मत्प्रभुत्वफलं किं कदा भविष्यति ? व्या०—मया = चित्रग्रीवेण, सह, एषाम् = एतेषां सर्वेषां कपोतानाम्, जातिः = कपोतत्वम्, द्रव्य=पक्षचञ्च्वादिसम्पत्, बल शक्तिः सामर्थ्यं, तेषाम् चकारेण सहवासादीनां सग्रह । साम्यम्=एकरूपता अस्ति । तत्= तर्हि एवं सति, ब्रूहि=कथय, मम प्रभुत्वं मत्प्रभुत्व तस्य फल = मम आधिपत्यस्य कर्तव्यफलम्, किं=किंरूपम्, कदा=कस्मिन् समये, भविष्यति, नैव भविष्यतीति ।

भा०—मेरे साथ इन सब के जाति, सम्पत्, बल ये सब बराबर हैं, मेरे में इन सबका आधिपत्य ही अधिक है । अब कहिये अगर मैं इनका इस वक्त रक्षण न करूँ, तो दूसरा आधिपत्य का कौन सा फल होगा अर्थात् कोई नहीं ॥ ४५ ॥

अन्यच्च—विना वर्त्तनमेवैते न त्यजन्ति ममान्तिकम् ।
तन्मे प्राणव्ययेनाऽपि जीवयैतान् ममाश्रितान् ॥ ४६ ॥

अ०—एते वर्तनं विना ममाऽन्तिकं नैव त्यजन्ति, तद् मे प्राणव्ययेनाऽपि एतान् ममाश्रितान् जीवय। व्या०—एते=इमे सर्वे कपोताः, वर्तनं=वृत्तिं, विना=ऋते, मम अन्तिकं=सन्निधिम्, नैव त्यजन्ति=मुञ्चन्ति, तत=तस्माद् हेतोः, मे=मम, प्राणानां व्ययः विनिमयस्तेन, अपि, एतान् मम आश्रितान्=मदनुजीविनः सेवारकान् कपोतान्, जीवय=त्व प्रथम रक्ष।

भा०—ये सब कबूतर वेतन नहीं लेते तो भी मेरा साथ नहीं छोडते हैं, इसलिये मेरे जीवन के बदले से भी मेरे आश्रित इन सब की रक्षा करो ॥ ४६ ॥

किञ्च—मांसमूत्रपुरीषाऽस्थिपूरितेऽत्र कलेवरे।
विनश्वरे विहायाऽऽस्थां यशः पालय मित्र मे ॥ ४७ ॥

अ०—मित्र! मांसमूत्रपुरीषाऽस्थिपूरिते विनश्वरे अत्र कलेवरे आस्थां विहाय, मे यशः पालय। व्या०—हे मित्र!=हे सखे!, मांसं च=पिशितञ्च-मूत्रं च पुरीष च अस्थि च तैः पूरित पूर्णं तस्मिन्, विनश्वरे=नाशशीले, अत्र=अस्मिन्, कलेवरे=देहे आस्था=ममताम् आदरम्, विहाय=परित्यज्य, मे=मम, यशः=स्वानुजीविरक्षणात्मिका कीर्तिम्, पालय=रक्ष। मांसमूत्रपुरीषाऽस्थिनिर्मितेऽत्रेति पाठान्तरम्।

भा०—हे मित्र! मास, मूत्र, मल, हड्डियाँ इन सबसे भरे हुए इस क्षणिक शरीर में ममता का त्याग कर मेरे शरणागतरक्षणरूप यश का रक्षण करो ॥ ४७ ॥

अपरञ्च पश्य—यदि नित्यमनित्येन निर्मलं मलवाहिना।
यशः कायेन लभ्येत तन्न लब्धं भवेन्नु किम् ॥ ४८ ॥

अ०—यदि अनित्येन मलवाहिना कायेन नित्य निर्मलं यश लभ्येत, नु तत् किं लब्ध न भवेत्? व्या०—यदि=चेत्, न नित्यम् अनित्यं तेन=विनाशिना मलानि वहतीति मलवाही, तेन=मूत्रपुरीषादिपूर्णेनाऽशुद्धेन, कायेन=शरीरेण नित्यम्=अविनाशि, ध्रुवम्, निर्मलं=विशुद्धम्, यशः=कीर्तिः, लभ्येत=जनैः प्राप्येत 'नु पृच्छायां विकल्पे च' इत्यमरः। नु=भो। हिरण्यक! तत्=तर्हि किं वस्तु, न लब्धं=जनैः क पदार्थो न प्राप्तः? अर्थात् सर्वोऽपि लब्ध इति।

भा०—अगर अनित्य तथा मलवाही अशुद्ध शरीर से नित्य और विशुद्ध यश मिले, तो क्या नहीं मिला अर्थात् सब कुछ मिला ॥ ४८ ॥

यतः—शरीरस्य गुणानाञ्च दूरमत्यन्तमन्तरम्।
शरीरं क्षणविध्वंसि कल्पान्तस्थायिनो गुणाः ॥ ४९ ॥

अ०—शरीरस्य गुणानाञ्च अन्तरम् अत्यन्तं दूरं (भवति) शरीरं क्षणविध्वंसि (भवति), गुणा कल्पान्तस्थायिनः (भवन्ति)। व्या०—शरीरस्य=कायस्य, गुणानां=धर्मज्ञानवैराग्यभक्तियशदयादीनाञ्च, अन्तरं=प्रभेदः विरूपता, अत्यन्तम्=अतिशयेन, दूरम्=अधिकम्, महदन्तरमित्यर्थः। तत्र हेतुमाह-शरीरमिति। शरीरं=कायः,

क्षणविध्वंसि=क्षणेन अकस्माद् विध्वंसते नश्यति, क्षणभङ्गुरमित्यर्थः। धर्मादयो गुणास्तु कल्पान्तस्थायिनः=कल्पस्य महाप्रलयस्य अन्तः शेषस्त तावत् तिष्ठन्ति इति कल्पान्तस्थायिन', महाप्रलयपर्यंन्त स्थितिमन्त इत्यर्थः।

भा०—शरीर और गुणों में महान् विभेद है, क्योंकि शरीर तो अकस्मात् क्षणमात्र में नष्ट होने योग्य है और धर्मादि गुण तो महाकल्पपर्यन्त स्थिर रहनेवाले हैं॥ ४९॥

इत्याकर्ण्य हिरण्यक. प्रहृष्टमनाः पुलकितः सन् अब्रवीत्—'साधु मित्र! साधु, अनेनाऽऽश्रितवात्सल्येन त्रैलोक्यस्याऽपि प्रभुत्वं त्वयि युज्यते।' एवमुक्त्वा तेन सर्वेषां कपोतानां बन्धनानि छिन्नानि। ततो हिरण्यकः सर्वान् सादरं सम्पूज्य आह—सखे चित्रग्रीव! सर्वथाऽत्र जालबन्धनविधौ सति दोषमाशङ्क्य आत्मनि अवज्ञा न कर्तव्या।

व्या०—हिरण्यकः, इति=चित्रग्रीवस्य इत्येवं वचनम्, आकर्ण्य, प्रहृष्टमना'= प्रहृष्ट सन्तुष्ट मनो यस्य स तादृश, अत एव च पुलकित=पुलका रोमाञ्चा सञ्जाता अस्येति पुलकित. रोमाञ्चगात्र सन्, अब्रवीत्, हे मित्र! साधु साधु=त्वया शोभनमुच्यते, अनेन आश्रितवात्सल्येन=आश्रितेषु वात्सल्य स्नेहातिशयस्तेन, त्रैलोक्यस्याऽपि=त्रयाणां लोकाना समाहार, त्रिलोकी, (समाहारद्विगुः ङीप् च) त्रिलोकी एव त्रैलोक्य तस्य अपि, प्रभुत्व=स्वामित्वम् त्वयि=भवति, युज्यते=युक्त भवति, तेन=हिरण्यकेन, एवमुक्त्वा=इत्येवं प्रशंसावाक्यमभिधाय, सर्वेषां कपोतानां बन्धनानि पाशा, छिन्नानि=विदारितानि, ततो हिरण्यकः सर्वान्=अशेषान् कपोतान् सादरम्=आदरेण सहित यथा स्यात् तथा, सम्पूज्य=सम्यक् पूजयित्वा, आह=उक्तवान्, सखे! चित्रग्रीव! अत्र=एतस्मिन्, जालबन्धनविधौ सति= जालेन बन्धन तस्य विधि भवनम् तस्मिन् सति, दोषं=स्वस्य अविमृश्यकारिता- रूपमपराधम्, आशङ्क्य=विचिन्त्य, आत्मनि=स्वस्मिन्, अवज्ञा=स्वस्याऽनादरः, न कर्तव्या त्वया इति।

भा०—चित्रग्रीव का वचन सुनकर हिरण्यक आनन्दित और पुलकित होकर बोला—हे मित्र चित्रग्रीव! तुमने ठीक कहा, आश्रितोंपर इस प्रकार के वात्सल्य से तुम्हारे में त्रिलोकी के प्रभुत्व की योग्यता है, ऐसा कहकर उस हिरण्यक ने सब कबूतरों के बन्धनों को काट डाला। उसके बाद हिरण्यक आदरपूर्वक सब कबूतरों की पूजा करके बोला—मित्र चित्रग्रीव! इस जाल के बन्धन में अपने अविचार्यकारितारूप अपराध को मानकर आत्मा के प्रति तिरस्कारबुद्धि नहीं करनी।

यत —योऽधिकाद् योजनशतात् पश्यतीहामिषं खगः।
स एव प्राप्तकालस्तु, पाशबन्धं न पश्यति॥ ५०॥

अ०—इह य खग योजनशतात् अधिकाद् आमिषं पश्यति, स एव प्राप्तकालस्तु

पाशबन्ध न पश्यति । व्या०—इह=अस्मिन् लोके, यः खगः—खे=आकाशे गच्छति इति खगः=श्येनपक्षी, = योजनशतात्=योजनानां शतं तस्मात्, अधिकात्=अधिक-दूरात्, शताऽधिकयोजनमपि दूरे स्थित्वाऽपि इत्यर्थः । आमिषं=भक्ष्य मांसादिकम्, पश्यति=अवलोकयति, किन्तु स एव श्येनः प्राप्तकालस्तु=प्राप्तः प्रत्यासन्न कालः (मृत्युः) अन्तको यस्य सः तादृशः सन्, तु=पुन, पाशस्य बन्धस्तम्=अग्रावविस्तीर्णजालम्, न पश्यति=नाऽवलोकयतीति ।

भा०—इस जगत् में श्येन (बाज) पक्षी सौ योजन पर की दूरी से भी भक्ष्य पदार्थ-मांसादि को देखता है, किन्तु जब उसकी मृत्यु निकट आती है तब वह सामने स्थित जाल को भी नहीं देख सकता ॥ ५० ॥

अपरञ्च—शशिदिवाकरयोर्ग्रहपीडनं गजभुजङ्गमयोरपि बन्धनम् ।

मतिमताञ्च विलोक्य दरिद्रतां विधिरहो बलवानिति मे मतिः ॥

अ०—शशिदिवाकरयोर्ग्रहपीडनं गजभुजङ्गमयोरपि बन्धनं च मतिमतां दरिद्रतां विलोक्य मे मतिः (भवति) 'अहो ! विधिः बलवान्' इति ।

व्या०—शशः चिह्नरूपः अस्ति यस्य इति शशी चन्द्रमाः दिवाकरः सूर्यस्तयोः, ग्रहपीडनम् ग्रहेण = राहुणा पीडनम् = ग्रसनम् । गजभुजङ्गमयोः=गजः हस्ती भुजङ्गमः = सर्पस्तयोरपि = लीलया बहुप्राणिनाशसमर्थयोरपि तयोः बन्धनं=शृङ्खलेन मन्त्रादिना च संयमनम् । मतिमतां-मतिः = आगामिगोचरा धीः अस्ति एषां ते मतिमन्तस्तेषां = विदुषामित्यर्थः । दरिद्रस्य भावः दरिद्रता ताम् = अकिञ्चनतां च विलोक्य=दृष्ट्वा, स्थितस्य, मे = मम, मतिः = धीः, अहो ! = आश्चर्यं, विधिः = दैवम्, बलवान्=प्रबलः सर्वनियामकम्, इति = इत्याकारिका, भवति । द्रुतविलम्बितवृत्तम् ।

भा०—चन्द्र तथा सूर्य को भी ग्रह (राहु) कृत पीड़ा देखकर, हाथी तथा साँप को शृङ्खला तथा मन्त्रों से बन्धन देखकर और विद्वान् होने पर भी दरिद्रता देखकर—मुझे निश्चय होता है कि सबका—प्रारब्ध (भाग्य) बलवान् ॥ ५१ ॥

अन्यच्च—व्योमैकान्तविहारिणोऽपि विहगाः सम्प्राप्नुवन्त्यापदं

बध्यन्ते निपुणैरगाधसलिलान्मत्स्याः समुद्रादपि ।

दुर्नीतं किमिहाऽस्ति किं सुचरितं कः स्थानलाभे गुणः

कालो हि व्यसनप्रसारितकरो गृह्णाति दूरादपि ॥ ५२ ॥

अ०—व्योमैकान्तविहारिणः अपि विहगाः आपदं सम्प्राप्नुवन्ति, निपुणैः अगाधसलिलात् समुद्राद् अपि मत्स्याः बध्यन्ते । इह किं दुर्नीतम् अस्ति ? किं सुचरितम् ? स्थानलाभे कः गुणः (अस्ति) ? हि व्यसनप्रसारितकरः कालः दूरादपि गृह्णाति । व्या०—व्योम्नः—गगनस्य एकान्तः एकः अन्तः उपरिभागस्तस्मिन्

विहरन्ति इति व्योमैकान्तविहारिण=गगनगामिन इत्यर्थः । तादृशा अपि विहगाः=पक्षिणः, आपद=पाशबन्धनादिरूपां विपत्तिम्, सम्प्राप्नुवन्ति=अधिगच्छन्ति । निपुणैः=मत्स्यवधनिष्णातैः, अगाधसलिलात्—अगाधानि=अतलस्पर्शीनि सलिलानि=जलानि यस्मिन् सः तस्मात्=तादृशादपि समुद्रात्=पारावारात्, मत्स्याः=मीनाः, वध्यन्ते=ध्रियन्ते । इह=अत्र संसारे, किं दुर्नीतं=किं दुश्चरितम् अस्ति, (किं प्रश्ने)। किं च सुचरितं=सुनीतिः अस्ति ? स्थानलाभे=स्थानस्य निष्पाशप्रदेशस्य लाभः प्राप्तिः तस्मिन् सति, वा कः गुणः अस्ति ? हि=यस्मात्, व्यसनप्रसारितकरः—व्यसने विपदि प्रसारितौ विस्तारितौ करौ हस्तौ येन स तादृशः कालः=मृत्युः, दूरादपि, गृह्णाति=स्वग्रासतां प्रापयति ।

भा०—केवल आकाश में विहार करने वाले निरपराध पक्षी भी आपत्तियोंको पाते हैं, धीवर लोग अगाध समुद्र से भी निरपराध मत्स्यों को पकड लेते हैं, तो फिर इस जगत् में क्या सुनीति और क्या दुर्नीति ! दोनों में कुछ भेद मालूम नहीं पडता और उत्तमस्थान मिलने पर भी क्या लाभ है ? क्योंकि काल (मृत्यु) विपत्ति रूप हाथों को फैलाकर दूर से ही सबको पकड लेता है ॥ ५२ ॥

इति प्रबोध्य आतिथ्यं कृत्वा आलिङ्ग्य च तेन संप्रेषितश्चित्रग्रीवोऽपि सपरिवारो यथेष्टदेशान् ययौ; हिरण्यकोऽपि स्वविवरं प्रविष्टः ।

व्या०—इति=इत्थम्, तेन हिरण्यकेन, प्रबोध्य=आश्वासनं विधाय, आतिथ्यं=न तिष्ठति भोजनादिकम् एकस्थले इति अतिथिः, तस्य सेवा आतिथ्यम्, कृत्वा=विधाय, आलिङ्ग्य=आश्लिष्य, सम्प्रेषितः=विसृष्टः, चित्रग्रीवनामा कपोताऽधिपः, परिवारेण सहितः सपरिवारः, यथेष्टदेशान्=स्वाभिमतप्रदेशान् प्रति, ययौ=जगाम, हिरण्यकनामा मूषिकराजोऽपि स्वस्य विवरं स्वविवरम्, प्रविष्टः ।

भा०—हिरण्यक ने ऐसी सान्त्वना देकर और अतिथिसत्कार करके आलिङ्गन (परस्पर मिल) कर चित्रग्रीव को विदा किया, चित्रग्रीव अपने परिवार के साथ स्वेच्छित देशों के प्रति चला गया, हिरण्यक भी अपने बिल में घुस गया ।

यानि कानि च मित्राणि कर्तव्यानि शतानि च ।
पश्य मूषिकमित्रेण कपोता मुक्तबन्धनाः ॥ ५३ ॥

अ०—(अनेन) यानि कानि शतानि मित्राणि च कर्तव्यानि, कपोताः मूषिकमित्रेण मुक्तबन्धना, (बभूवुः) पश्य । व्या०—यानि कानि च=यादृशानि तादृशानि नीचानि महान्ति वा, शतानि=बहुशतसङ्ख्यकानि, मित्राणि=सखायः, कर्तव्यानि=जनै विधेयानि । कपोता=बहवः पारावताः, मूषिक एव मित्रं तेन=क्षुद्रेण उन्दुरुमित्रेण, मुक्तबन्धना=मुक्तं छिन्नं जालस्य बन्धनं येषान्ते, तादृशा, बभूवुः, पश्य=तदेतद् अवलोकय ।

भा०—छोटे या बडे बहुत से मित्र करने चाहिये, क्योंकि देखिये सब कबूतर चूहारूप मित्र से भी बन्धन से मुक्त हो गये ॥ ५३ ॥

अथ लघुपतनकनामा काकः सर्ववृत्तान्तदर्शी साश्चर्यम् इदमाह—'अहो हिरण्यक ! श्लाघ्योऽसि, अतोऽहमपि त्वया सह मैत्रीं कर्तुमिच्छामि, अतस्त्वं मां मैत्र्येणाऽनुग्रहीतुमर्हसि' एतच्छ्रुत्वा हिरण्यकोऽपि विवराऽभ्यन्तरादाह—'कस्त्वम् ?' स ब्रूते—लघुपतनकनामा वायसोऽहम् । हिरण्यको विहस्याऽऽह—का त्वया सह मैत्री ?

व्या०— अथ=अनन्तरम् , सर्ववृत्तान्तदर्शी=सर्वं च तत् वृत्तान्तं च सर्ववृत्तान्तं तत् पश्यति इति सर्ववृत्तान्तदर्शी=चित्रग्रीवहिरण्यकयोर्जालमोचनरूपवृत्तान्त प्रत्यक्षीकुर्वन् , 'लघुपतनक' नामा काक = वायस., साश्चर्यम् = आश्चर्येण सहितं यथा स्यात् तथा, इदं = वक्ष्यमाणवचनम् , आह = उक्तवान् , अहो ! (आश्चर्यद्योतकम व्ययम्) । हे हिरण्यक ! त्वं श्लाघ्य=प्रशंसनीय असि=भवसि । अत=अस्मात् हेतो., अहम् (वायस.) अपि, त्वया (हिरण्यकेन) सह, मैत्रीं = सौहार्दं बन्धुत्वम् , कर्तुम् इच्छामि=वाञ्छामि । अत = अस्मात् हेतो , त्व = भवान् , माम् (वायसमपि) मैत्र्येण = मित्रभावेन, अनुग्रहीतुम् = अनुग्रह कर्तुम् , अर्हसि=योग्योऽसि, मा मित्र कृत्वा कृतकृत्य कुरु इति भाव । हिरण्यकः (उन्दुरुः) अपि, एतत् = काकोक्तम् , श्रुत्वा=सम्यगाकर्ण्य, विवरस्य अभ्यन्तरम् , तस्मात्=विवरमध्यत एव, आह=उक्तवान् , त्व = भवान् क = नाम्ना जात्या च को व्यक्तिविशेषः असि ? स वायस., ब्रूते=कथयति, अहम् 'लघुपतनक' नामा वायस =काकजातीय. अस्मि । तदा हिरण्यक', विहस्य = हास्य कृत्वा, आह=उवाच, त्वया (काकेन) सह, मैत्री=मित्रता, का ? = किरूपा स्यात् ? दुष्टेन वायसेन सह मैत्री न युक्तेत्यर्थं ।

भा०—उसके बाद सब वृत्तान्त को देखने वाला लघुपतनक नामक कौवा आश्चर्यपूर्वक इस प्रकार बोला—'हे मित्र हिरण्यक !' तुम प्रशंसा के योग्य (श्रेष्ठ व्यक्ति) हो इसलिये मैं भी तुमसे मैत्री करना चाहता हूँ, मित्रता से मुझको अनुगृहीत करो । हिरण्यक (चूहा) भी ऐसा सुनकर बिल के भीतर से ही बोला—'तू कौन है ?' काक बोला—'मैं लघुपतनक नाम का कौवा हूँ ?' तब हिरण्यक हँस कर बोला—'तुम्हारे साथ मित्रता कैसी ?'

यत.—यद् येन युज्यते लोके बुधस्तत् तेन योजयेत् ।
अहमन्नं भवान् भोक्ता कथं प्रीतिर्भविष्यति ॥ ५४ ॥

अ०—लोके येन यत युज्यते, बुध. तत् तेन सह योजयेत् , अह अन्नम् (अस्मि) भवान् भोक्ता (अस्ति), प्रीति' कथ भविष्यति ? व्या०—लोके=ससारे, येन व्यक्तिविशेषेण सह, यत् = यो व्यक्तिविशेष', युज्यते-योजयितु युक्तो भवति, बुध.—धीमान् जन , तत् = व्यक्तिविशेष, तेन = योग्यव्यक्तिविशेषेण सह, योजयेत् =

अह मूषिकः, अन्नं=काकस्य भक्ष्यम् अस्मि, भवान्=च काक, मम मूषिकस्य भोक्ता=अत्ता अस्ति। तथा च आवयोः, भक्ष्यभक्षकयोः, प्रीति=सौहार्दं, कथं केन प्रकारेण, भविष्यति=सम्पत्स्यते? न कथमपीत्यर्थः।

भा०—संसार में जो जिसके साथ जोडने योग्य होता है, बुद्धिमान् जन उसी के साथ उसको जोडता है। मैं (चूहा) तेरा (काक का) खाद्य (भोजन) हूँ और तू (काक) मुझको (चूहों को) खाने वाला है। तब कैसे प्रीति हो सकती है, अर्थात् नहीं हो सकती ॥५४॥

अपरञ्च—भक्ष्यभक्षकयोः प्रीतिर्विपत्तेः कारणं मतम्।
शृगालात् पाशबद्धोऽसौ मृगः काकेन रक्षितः ॥ ५५ ॥

अ०—भक्ष्यभक्षकयोः प्रीतिः विपत्तेः कारणं मतम्, (भवति) शृगालात् पाशबद्धः असौ मृगः काकेन रक्षितः। व्या०—भक्षितुं योग्यः भक्ष्यः, भक्ष्यश्च भक्षकश्च तयोः=खाद्यखादकयोः, प्रीतिः सौहार्दं, कदाचित् अवश्यम्, आपत्तेः=आकस्मिकविनाशस्य, कारणं=निमित्तम् असाधारणहेतुः, मतं=विदुषां सम्मतमस्तीति। विपत्तेरेव (कारणमिति पाठान्तरम्) तथा हि=शृगालात्=भक्षककपटमित्रात् जम्बुकात् पाशेन जालेन बद्धः नियमितः, असौ=अयोग्यमित्रभावदृष्टान्ततया स्मरणविषयीभूतः=मृगः भक्ष्यनिष्कपटहरिणः, काकेन केनचित् वायसेन बन्धुरूपेण, रक्षितः=पाशादुन्मोचितः।

भा०—भक्ष्य और भक्षक इन दोनों की प्रीति विपत्ति के लिये हेतु बन जाती है, जैसे मित्र, शृगाल द्वारा जाल में फसाये गये मृग को कौवा ने बचाया ॥ ५५ ॥

वायसोऽब्रवीत्—कथमेतत्? हिरण्यकः कथयति—

भा०—लघुपतनक नाम का कौवा बोला—'शृगाल द्वारा फसाये गये मृग को काक ने मुक्त किया' यह कथा किस प्रकार है। हिरण्यक कहता है—

कथा २

अस्ति मगधदेशे चम्पकवती नाम अरण्यानि। तस्यां चिरात् महता स्नेहेन मृगकाकौ निवसतः। स च मृगः स्वेच्छया भ्राम्यन् हृष्टपुष्टाङ्गः केनचित् शृगालेनाऽवलोकितः। तं दृष्ट्वा शृगालोऽचिन्तयत्—आः! कथमेतन्मांसं सुललितं भक्षयामि? भवतु, विश्वासं तावदुत्पादयामि इत्यालोच्य उपसृत्याऽब्रवीत्—'मित्र! कुशलं ते?' मृगेणोक्तम्—'कस्त्वम्?' स ब्रूते—'क्षुद्रबुद्धिनामा जम्बुकोऽहम्। अत्राऽरण्ये बन्धुहीनो मृतवत् एकाकी निवसामि, इदानीं त्वां मित्रमासाद्य पुनः सबन्धुर्जीवलोकं प्रविष्टोऽस्मि, अधुना तवाऽनुचरेण मया सर्वथा भवितव्यमिति'। मृगेणोक्तम्—'एवमस्तु'।

व्या०—मगधदेशे = मगधाख्ये जनपदे, चम्पकवती—चम्पकवतीनाम्ना प्रसिद्धा, अरण्यानी = महारण्यम् (महत्त्वार्थे ङीप् आनुक च), अस्ति=विद्यते । तस्याम्-अरण्यान्याम्, मृगश्च काकश्च तौ = हरिणवायसौ उभौ, चिरात्=बहुसमयात् , महता = गाढेन परमेण, च स्नेहेन=प्रेम्णा, प्रेमपूर्वकौ इत्यर्थः, निवसतः=वास कुरुतः । हृष्टपुष्टाङ्ग = हृष्टानि च अङ्गानि यस्य सः= पुलकितमासपूर्णशरीर इत्यर्थः । स्वेच्छया = स्वस्य (मृगस्य) इच्छा = अभिलाष, तया, भ्राम्यन् = भ्राम्यति इति भ्राम्यन् = भ्रमण कुर्वन् , स च मृग =पूर्वोक्त स हरिण, केनचित् = येन केनाऽपि अपरिचितेन, शृगालेन = जम्बुकेन, अवलोकित = दृष्ट । शृगाल = जम्बुक , त = मृगम् , दृष्ट्वा=अवलोक्य, अचिन्तयत्=चिन्तन कृतवान् , आ=आश्चर्यम् , कथ= केन प्रकारेण, सुललितम् = अतिरमणीय मधुरस्वादु । एतन्मासम्=एतस्य मृगस्य मास=पिशितम् , अश्नामि = अश्नामि । भवतु = अस्तु—एतत्कर्तव्यमित्यर्थः । तावत् = प्रथमम् , विश्वास=मा शृगाल प्रति अस्य हरिणस्य विश्वासभावम् , उत्पादयामि=अह जनयामि, इति = इत्येवम् , आलोच्य=विचिन्त्य, उपसृत्य = मृगसमीपे गत्वा, अब्रवीत्=स शृगाल उक्तवान् , मित्र ! =सखे हरिण ! ते=तव, कुशल=क्षेमम् वर्तते । तेन मृगेण उक्तम्—त्वम् (प्रश्नकर्ता) क =को व्यक्तिविशेषोऽसि ? सः = शृगाल, ब्रूते = कथयति, अह 'क्षुद्रबुद्धि' नामा—क्षुद्रा = स्वल्पा बुद्धिर्विचारशक्तिर्यस्य स इति, क्षुद्रबुद्धि = स एव नाम यस्य स इति क्षुद्रबुद्धिनामा, जम्बुक = शृगाल, अस्मि, अत्रारण्ये=एतस्मिन् वने, बन्धुहीन —बन्धुभि=मित्रै, हीन=रहितः सन् , एकाकी = अद्वितीय एव, मृतवत् = मृत एव, निवसामि = वास करोमि, इदानीम् = अधुना, त्वाम्=भवन्तम् , मित्रम् = बन्धुम् , आसाद्य = प्राप्य, सबन्धु = बन्धुना सहित पुन जीवाना ससारिणा लोक = स्थिति स, मित्रलाभप्रयुक्तसुखस्थितिमित्यर्थः । प्रविष्टोऽस्मि = लब्धो भवामि, अधुना=साम्प्रतम् , तव (हरिणस्य) अनुचरेण=सेवकेन सहचरेण वा, मया (शृगालेन) सर्वथा भवितव्यमिति । मृगेण= हरिणेन, उक्तम् = अभिहितम् , एव=यथा त्व कथयसि तथा अस्तु = अनुचरो भूत्वा सहनिवासी भव ।

भा०—'मगध' देशमें चम्पकवती नामका बडा अरण्य है, उस अरण्यमें बहुत समयसे हरिण और कौवा ये दोनों गाढ प्रेम से रहते थे, स्वेच्छासे घूमते फिरते । हृष्टपुष्टाङ्ग उस मृगको किसी शृगाल ने देखा । मृग को देखकर शृगाल ने सोचा—'आ ! हा ! यह सुन्दर मांस कैसे खाने को मिले ' अच्छा, प्रथम उसको विश्वास दूँ, ऐसा विचारकर सामने जाके बोला—मित्र हरिण ! तुम कुशल से हो ? मृग बोला—'तुम कौन हो ?' शृगाल बोला—मैं क्षुद्रबुद्धि नामका शृगाल हूँ और वन में सग साथ रहित एकाकी मृत सदृश होकर रहता हूँ, लेकिन अब तुम जैसे मित्र को पाकर फिर मित्रसहित होता हुआ जीवलोक की स्थिति में प्रविष्ट हुआ हूँ, अब तुम्हारा अनुचर बनकर मैं तुम्हारे साथ ही रहूँगा । मृग बोला— 'अच्छा, ऐसा ही हो ।'

ततः पश्चादस्तङ्गते सवितरि भगवति मरीचिमालिनि तौ मृगस्य वासभूमिं गतौ। तत्र चम्पकवृक्षशाखायां सुबुद्धिनामा काको मृगस्य चिरमित्रं निवसति, तौ दृष्ट्वा काकोऽवदत्—'सखे चित्राङ्ग! कोऽयं द्वितीयः?' मृगो ब्रूते—'जम्बुकोऽयमस्मत्सख्यमिच्छन्नागतः'। काको ब्रूते—'मित्र! अकस्मादागन्तुना सह मैत्री न युक्ता, तन्न भद्रमाचरितम्'।

व्या०—ततः पश्चात्=तदनन्तरम्, भगवति=ऐश्वर्यवति, मरीचिमालिनि= मरीचीनां किरणानां माला=मण्डलम् अस्ति अस्य इति मरीचिमाली तस्मिन्, सवितरि=सूर्ये, अस्तम्=अस्ताद्रिं गते याते सति सायङ्काले, तौ=मृगश्रृगालौ, मृगस्य वासभूमिं=निवासस्थानं, गतौ=जग्मतुः, तत्र=तस्यां वासभूमौ, 'चम्पक' वृक्षस्य शाखा तस्याम्, मृगस्य चिरमित्रम्=चिरकालीनः सखा, 'सुबुद्धि' नामा= शोभना बुद्धिर्यस्य सः, सुबुद्धिः नाम यस्य सः इति सुबुद्धिनामा काकः=वायसः, निवसति=वासं करोति, तौ मृगश्रृगालौ, दृष्ट्वा=अवलोक्य, काकः अवदत्— उवाच, सखे! मित्र! चित्राङ्ग!, अयम्=एष उपस्थितः, द्वितीयः=अपरः, कः= नाम्ना जात्या च कोऽस्ति? मृगः=स हरिणः, ब्रूते=कथयति, अयं जम्बुकः= श्रृगालः, आवयोः, सख्य=मित्रताम्, इच्छन्=अभिलषन्, आगतः अस्ति, काकः= स वायसः, ब्रूते, मित्र चित्राङ्ग। अकस्मात्=विना परीक्षणं झटिति, आगन्तुना सह=नूतनाऽऽगतेन अज्ञातकुलस्वभावेन सह, मैत्री=सख्यम्, न युक्ता=न योग्या, तत्=तस्मात् हेतोः, त्वया भद्रं=क्षेमकरं, न आचरितम्=न अनुष्ठितम्।

भा०—उसके बाद किरणमण्डलयुक्त भगवान् सूर्य के अस्त हो जाने पर वे (श्रृगाल और मृग) दोनों मृगके निवासस्थल में गये, उस निवासस्थल में चम्पा के वृक्ष की शाखा पर मृग का प्राचीन मित्र सुबुद्धिनाम का कौवा रहता था, उन दोनों (श्रृगाल मृग) को देखकर बोला—मित्र चित्रांग! यह दूसरा कौन है? मृग बोला—यह जम्बुक है और अपने दोनों से मित्रता करने को आया है। काक बोला—चित्रांग! एकदम अनजान व्यक्ति से मित्रता करनी उचित नहीं है इसलिए तुमने यह ठीक नहीं किया।

तथा चोक्तम्—अज्ञातकुलशीलस्य वासो देयो न कस्यचित्।
मार्जारस्य हि दोषेण हतो गृध्रो जरद्गवः॥ ५६॥

अ०—अज्ञातकुलशीलस्य कस्यचित् वासो न देयः, हि मार्जारस्य दोषेण जरद्गवः गृध्रः हतः। व्या०—कुलं च शीलञ्च कुलशीले, न ज्ञाते अज्ञाते, अज्ञाते कुलशीले यस्य सः तस्य=अपरिचितवंशस्वभावस्येत्यर्थः, कस्यचित् अपि व्यक्तेः, वासः=स्वगृहे आश्रयः, न देयः—न दातव्यः। हि=यतः, मार्जारस्य=कस्यचित् अपरिचितस्य

विडालस्य, दोषेण = अपराधेन निमित्तभूतेन, जरद्गव = जरन्तौ जीर्णे गावौ दृशौ यस्य सः दृष्टिहीनो वृद्धः जरद्गवनामा पक्षी गृध्रः, अन्यैः पक्षिभिः, हतः= विनाशितः ।

भा०—जिससे कुल, स्वभाव आदि अपरिचित हों ऐसे भी व्यक्ति को आश्रय नहीं देना चाहिये, क्योंकि अपने आश्रय में स्थित विडाल के दोष से वृद्ध पक्षी गीध मारा गया था ॥ ५६ ॥

तौ आहतुः—'कथमेतत् ?' काकः—कथयति ।

भा०—वे मृग और शृगाल दोनों बोले—गीध और विडाल की कथा किस प्रकार है ? उसे कहो, काक कहता है—

कथा २

अस्ति भागीरथीतीरे गृध्रकूटनाम्नि पर्वते महान् पर्कटीवृक्षः। तस्य कोटरे दैवदुर्विपाकात् गलितनखनयनो जरद्गवनामा गृध्रः प्रतिवसति। अथ कृपया तज्जीवनाय तद्वृक्षवासिनः पक्षिणः स्वाऽऽहारात् किञ्चित् किंचिदुद्धृत्य तस्मै ददति, तेनाऽसौ जीवति, तेषां शावकरक्षां च करोति। अथ कदाचित् दीर्घकर्णनामा मार्जारः पक्षिशावकान् भक्षयितुं तत्राऽऽगतः। ततस्तमायान्तं दृष्ट्वा पक्षिशावकैर्भयार्त्तैः कोलाहलः कृतः। तच्छ्रुत्वा जरद्गवेन उक्तम्—कोऽयमायाति ? दीर्घकर्णो गृध्रमवलोक्य सभयमाह—'हा ! हतोऽस्मि' यतोऽयं मां व्यापादयिष्यति।

व्या०—भागीरथीतीरे=भागीरथस्य इयम् इति भागीरथी (पुरा कपिलस्य शापेन दग्धान् स्वपूर्वपितामहान् षष्टिसहस्रसङ्ख्याकसगरात्मजान् उद्धर्तुं सूर्यवंशीयः भगीरथः राजा तपस्तप्त्वा गङ्गां स्वर्गात् पृथिव्यामानिनाय इति तत आरभ्य गङ्गायाः 'भागीरथी' संज्ञा) तस्याः तीरं तस्मिन् = गङ्गातटे गृध्रकूटनाम्नि गृध्राः पक्षिणः वसन्ति कूटे यस्य सः गृध्रकूटः तन्नाम यस्य स गृध्रकूटनामा तस्मिन्, पर्वते—महीधरे, महान्=विशालः, पर्कटीवृक्षः =प्लक्षतरुः, अस्ति=विद्यते। तस्य=तद्वृक्षस्य, कोटरे = स्कन्धान्तर्गते, दैवदुर्विपाकात् = दैवस्य भाग्यस्य दुर्विपाकः प्रतिकूलत्वं तस्मात्, गलितनखनयनः = नखाश्च नयनानि च नखनयनम् (प्राण्यङ्गत्वादेकवद्भावः) गलितं नखनयनं यस्य स तादृशः, जरद्गव इति नाम यस्य स जरद्गवनामा, गृध्रः=गृध्रपक्षी गृध्रजातीयः प्रतिवसति=निवसति। (अथ-वाक्यारम्भे) तद्वृक्षवासिनः=तस्मिन् पर्कटीवृक्षे वसन्ति इति तद्वृक्षवासिनः, पक्षिणः=सर्वे पतत्रिणः, कृपया = दयया, तज्जीवनाय = तस्य जरद्गवस्य गृध्रस्य जीवनरक्षणं तस्मै,

स्वाहारात्=स्वेषां पक्षिणाम् आहारः खाद्यं तस्मात् किञ्चित्=कियन्मात्रं खाद्यम्, उद्धृत्य=अतिरिक्तमवस्थाप्य, ददति=प्रयच्छन्ति । असौ=अयं जरद्गवः, तेन=पक्षिदत्तखाद्येन, जीवति=जीवनं निर्वाहयति, तेषां=तत्रस्थानां पक्षिणाम्, शावकरक्षाम्=शावकानां बालानां रक्षां=त्राणम् ताम्, च करोति । अथ=अनन्तरं कदाचित्=एकस्मिन् समये, दीर्घकर्णनामा=दीर्घौ लम्बमानौ कर्णौ श्रोत्रे यस्य सः दीर्घकर्णः, स एव नाम यस्य स इति दीर्घकर्णनामा, मार्जारः=बिडालः, पक्षिशावकान्=पक्षिणां शावकाः बालाः तान्, भक्षयितुम्=अत्तुं खादितुम्, तत्र=पर्कटीवृक्षाऽधोभागे, आगतः । ततः=तदनन्तरम्, आयान्तम्=आयाति इति आयान् तं आयान्तं आगच्छन्तं, तं=बिडालम्, दृष्ट्वा=अवलोक्य, भयेन आर्त्ताः तैः=भयविह्वलैः, पक्षिणां शावकाः तैः=पतत्रिबालैः, कोलाहलः=कलकलायमानः भयार्त्तनादः, कृतः=प्रारब्धः । जरद्गवेन=तेन जरद्गवनाम्ना वृद्धगृध्रेण, तं=कोलाहलं, श्रुत्वा=आकर्ण्य, उक्तम्=अभिहितम् । अयम्=एषः दृष्टिविषयः व्यक्तिः, कः ? किंजातीयः किंनामा च ? आयाति=आगच्छति । दीर्घकर्णः=तन्नामा स मार्जारः, गृध्रं=तं गृध्रं गृध्रपक्षिणम्, अवलोक्य, सभयं=भयेन सहितं यथा स्यात् तथा, आह=उवाच, हा ! हन्त ! हतः=अहं विनाशितः, अस्मि=भवामि, यतः यस्मात् हेतोः, अयं=गृध्रः माम् (बिडालम्) व्यापादयिष्यति=मारयिष्यति ।

भा०—भागीरथी गङ्गा के तट पर, 'गृध्रकूट' नाम के पर्वत पर पाकड़ का बड़ा वृक्ष है, उसकी कोटर (पोल) में दुर्भाग्यवाला तथा जीर्ण नख और नेत्र वाला ऐसा एक 'जरद्गव' नाम का गीध पक्षी रहता था । उस वृक्ष पर रहने वाले पक्षीगण दया करके अपनी अपनी भोज्य वस्तुओं में से कुछ हिस्सा बचाकर उस गीध को देते थे, उससे गीध अपना जीवननिर्वाह करता था और पक्षियों के बच्चों की रक्षा करता था । एक समय 'दीर्घकर्ण' नाम का बिडाल उन पक्षियों के बच्चों को खाने के लिए उस स्थल पर आ पहुँचा, आते हुए बिडाल को देखकर पक्षियों के बच्चे भयभीत होकर कोलाहल करने लगे, यह सुन कर जरद्गव गीध ने कहा—कौन स्वर आ रहा है ! तब दीर्घकर्ण नाम का बिडाल उस गीध को देख भयभीत होकर बोला, हाय हाय ! मैं मारा जाता हूँ क्योंकि यह गीध मुझे मार (चीर) डालेगा ।

अथवा—तावद्भयस्य भेतव्यं यावद्भयमनागतम् ।
आगतं तु भयं वीक्ष्य नरः कुर्याद् यथोचितम् ॥ ५७ ॥

अ०—यावत् भयम्-अनागतं (भवति) तावत् भयस्य भेतव्यम्, तु भयम् आगतं वीक्ष्य, नरः यथोचितं कुर्यात् । व्या०—यावत्=यावत् कालपर्यन्तम्, भयं=भीतिकारणम् अनागतं=उपस्थितं न भवति, तावत्-तावत्कालपर्यन्तं, भयस्य=भयकारणात् (सम्बन्धे षष्ठी) भेतव्यं=शनैः असितव्यम् । तु=किन्तु, भयं=

भीतिम् , आगतम् = उपस्थितम् , वीक्ष्य=ज्ञात्वा, नरः यथोचितम्=यथायोग्यम् , प्रतिकुर्यात् = प्रतीकार विदध्यात् ।

भा०—जब तक भय न आया हो तब तक भय से डरना चाहिये । लेकिन जब भय सामने आ गया तब तो उसको दूर करने का प्रयत्न करना चाहिये ॥ ७ ॥

अधुनाऽतिसन्निधाने पलायितुमक्षमः । तद्यथा भवितव्यं तथा भवतु, तावत् विश्वासमुत्पाद्याऽस्य समीपमुपगच्छामि, इत्यालोच्य तमुपसृत्याब्रवीत्–'आर्य ! त्वाम् अभिवन्दे' । गृध्रोऽवदत्–'कस्त्वम्?' सोऽवदत्–'मार्जारोऽहम्' । गृध्रो ब्रूते–'दूरम् अपसर नो चेद् हन्त व्योऽसि मया' । मार्जारोऽवदत्-श्रूयतां मद्वचनम् , ततो यद्यहं वध्यस्तदा हन्तव्यः ।

व्या०—अधुना=इदानीम् , अतिसन्निधाने=जरद्गवस्य गृध्रस्यातिनिकटे आगतोऽस्मि अत एव पलायितु = पलाय्य गन्तुम् , अक्षम =अशक्त. अस्मि । तत् = तस्मात् असमर्थत्वात् हेतो., यथा = येन प्रकारेण, भवितव्यम् , तथा=तेन प्रकारेण भवतु=मरण जीवन वा यत्किमपि भवतु, किन्तु इत्यर्थं । तावत्=प्रथमम्, विश्वास= मा प्रति विश्वासभावम् , उत्पाद्य=जनयित्वा, अस्य = जरद्गवस्य गृध्रस्य, समीपं= निकटम् , उपगच्छामि, इति=एवम्, आलोच्य=विचार्य, त=जरद्गवम् , उपसृत्य = समीप समासाद्य, अब्रवीत्=अभिहितवान् । आर्य=माननीय वृद्ध ! त्वा=भवन्तम् , अभिवन्दे = सस्तवन प्रणमामि । गृध्र. = जरद्गव , अवदत् = उवाच, त्व = भवान् , क ? किंजातीय असि ? स = दीर्घकर्ण मार्जार., अवदत् = अकथयत्, अह मार्जार. = बिडालजातीय', अस्मि । गृध्र , ब्रूते=कथयति, दूर=दूरप्रदेशम् ; अपसर= त्व गच्छ । नो चेत्=यदि न गच्छसि ! तदा त्व मया गृध्रेण, हन्तव्यः = विदारणीय , असि = भवसि । मार्जार. = बिडाल , अवदत् = उक्तवान् , तावत् = प्रथमम् , मम वचन = मद्वचन = मे वाक्यम्, श्रूयताम् = आकर्ण्यताम् , तत. = श्रवणाऽनन्तरम् , यदि अह (मार्जार) वध्य. = वधाहश्चेत् भवामि । तदा हन्तव्य. = त्वया गृध्रेण विनाश्य ।

भा०—अब अति समीप होने से मैं भाग नहीं सकता । अच्छा, जो होना हो वह हो, लेकिन प्रथमें गीध को विश्वास दिला करके समीप में जाऊ । ऐसा सोचकर गीध के सामने आकर बोला आर्य गीध ! आपको मै प्रणाम करता हूँ । गीध बोला तुम कौन हो ? उसने कहा—मै बिडाल हूँ । गीध बोला—दूर जा यहाँ से नहीं तो मैं मार डालूगा । बिडाल बोला—प्रथम मेरा वचन सुनिये, पीछे अगर मैं मारने योग्य हूँ तो मार डालिये ।

यत —जातिमात्रेण किं कश्चिद् वध्यते पूज्यते क्वचित् ।
व्यवहारं परिज्ञाय वध्यः पूज्योऽथवा भवेत् ॥ ५८ ॥

अ०—(जनैः) क्वचित् कश्चित् जातिमात्रेण वध्यते पूज्यते किम् ? अथवा व्यवहारं परिज्ञाय वध्यः पूज्यः भवेत्। व्या०—क्वचित्=कुत्रचित् स्थाने, कश्चित् अपि जनः, जातिमात्रेण=जातिरेव जातिमात्रं तेन=चाण्डालत्वेन हन्तव्यः, ब्राह्मणत्वेन पूज्य इत्येव जातिव्यवहारेण। किम् (प्रश्ने) पृच्छामि। वध्यते=हन्यते, पूज्यते=अर्च्यते ? वा। अथवा=किन्तु, व्यवहारम्=आचारं श्रेष्ठं कनिष्ठं वा, परिज्ञाय=ज्ञात्वा वध्यः=नाश्यः, पूज्यः=अर्च्यो वा भवेत् ? इति।

भा०—किसी भी स्थलमें क्या जातिमात्र से ही कोई मारा जाता है या पूजा जाता है ? नहीं, किन्तु आचरण के अनुसार मारने योग्य और पूजने योग्य होता है ॥ ५८ ॥

गृध्रो ब्रूते—'ब्रूहि किमर्थमागतोऽसि ?' सोऽवदत्—'अहमत्र गङ्गातीरे नित्यस्नायी निरामिषाशी ब्रह्मचारी चान्द्रायणव्रतमाचरंस्तिष्ठामि। युष्मान् 'धर्मज्ञानरताः प्रेमविश्वासभूमयः' इति पक्षिणः सर्वे सर्वदा ममाग्रे प्रस्तुवन्ति, अतो भवद्भ्यो विद्यावयोवृद्धेभ्यो धर्मं श्रोतुमिहागतः। भवन्तश्चैतादृशा धर्मज्ञा, यन्मामतिथिं हन्तुमुद्यताः ?' गृहस्थधर्मश्च एष —

व्या०—गृध्रः=जरद्गवः पक्षी, ब्रूते=कथयति ब्रूहि=कथय, किमर्थं=कस्मै प्रयोजनाय, आगतोऽसि ? सः दीर्घकर्णनामा बिडालः, अवदत्=उवाच, अहम् नित्यं=त्रिसन्ध्यं स्नाति, इति नित्यस्नायी, निरामिषाशी=आमिषं मांसम् अश्नाति अत्ति इति आमिषाशी, स न भवतीति निरामिषाशी, ब्रह्मचारी=ब्रह्म=ऊर्ध्वरेतसां व्रतं चरितुं शीलमस्य इति ब्रह्मचारी, चन्द्रस्य अयनमिव अयनम् अस्मिन् इति चन्द्रायणम्,चन्द्रायणमेव चान्द्रायणम् (एकैकं ग्रासं ह्रासयेत् कृष्णे शुक्ले च परिवर्धयेत् इति) तद्व्रतं कृच्छ्रम्, आचरन्=अनुतिष्ठन्, अत्र=अस्मिन्, गङ्गायाः तीरं तस्मिन् तिष्ठामि=निवसामि। सर्वे=गङ्गातीरस्थाः प्रायशः सकलाः, पक्षिणः=पतत्रिणः सर्वदा=सर्वस्मिन् काले, ममाग्रे=मम पुरतः, युष्मान्=भवतः, सर्वान्-धर्मश्च ज्ञानं च धर्मज्ञाने तयोः धर्मज्ञानयोः रताः धर्मज्ञानरताः, प्रेमा च विश्वासश्च प्रेमविश्वासौ तयोः भूमयः स्थानानि तादृशाः इति प्रस्तुवन्ति=प्रकर्षेण प्रशंसन्ति। अतः=एतस्माद्धेतोः, भवद्भ्यः विद्यावयोवृद्धेभ्यः=विद्या च वयश्च विद्यावयसी, ताभ्यां वृद्धाः मत्तः अधिकाः तेभ्यः=तादृशेभ्यः श्रीमद्भ्यः। धर्मं=धर्मस्वरूपम्, श्रोतुं=ज्ञातुम्, इह भवतां सन्निधौ, आगतोऽस्मि। भवन्तश्च=यूयञ्च, एतादृशाः=ईदृशाः, धर्मवेत्तारः सन्ति। यत्=येन धर्मज्ञानेन हेतुना, अतिथिं माम्=जिज्ञासुं माम्, हन्तुम्=नाशयितुम्, उद्यताः=प्रवृत्ताः भवन्ति। (लज्जाजनकं वचनमेतत्) एषः=अग्रे वक्ष्यमाणः, गृहस्थधर्मः=गृहे दारैः सह तिष्ठन्ति इति गृहस्थास्तेषां धर्मः कर्तव्यविषयः अस्ति।

भा०—गीध ने कहा बोल, यहाँ क्यों आया है। बिडाल बोला—मैं नित्य त्रिकाल स्नान करता हूँ, मांसादि नहीं खाता हूँ, ब्रह्मचर्य व्रत पालता हूँ और चान्द्रायण व्रत को करता हुआ इस गङ्गाके तट पर रहता हूँ। बहुत से पक्षी लोग रोज मेरे पास आकर आप 'धर्मज्ञान के प्रेमी और प्रेम तथा विश्वास के पात्र हैं'—ऐसी आपकी प्रशंसा करते हैं। इसलिए विद्यावृद्ध तथा वयोवृद्ध आप को समझकर आप से धर्म का स्वरूप जानने आया हूँ (किन्तु) आप तो ऐसे धर्मज्ञ हैं कि मुझ अतिथि को मारने को तैयार हो गये। गृहस्थ धर्म ऐसा है—

अरावप्युचितं कार्यमातिथ्यं गृहमागते ।
छेत्तुः पार्श्वगताच्छायां नोपसंहरते द्रुमः ॥ ५९ ॥

अ०—गृहम् आगते अरौ अपि उचितम् आतिथ्यं कार्यम्, द्रुमः पार्श्वगतात् छेत्तुः छायां न उपसंहरते। व्या०—गृहं=भवनम्, आगते=समुपस्थिते, अरौ अपि= शत्रौ अपि, उचित=घटितम्, आतिथ्यम्=अतिथेः सत्कारः, कार्यम्=कर्तव्यम्, तदेव दृष्टान्तेन दृढं करोति द्रुम इति। द्रुम=तरुवर, पार्श्वगतात्=पार्श्वच्छाया प्रदेशं गतः तस्मात्=स्वच्छाया लब्धविश्रामादित्यर्थः। छेत्तुः=शाखाछेदनकर्तुः अपि पुरुषात् छायां न उपसंहरते=न आकर्षति।

भा०—अपने घर (आश्रम) में आये हुए शत्रुका भी अतिथि सत्कार करना चाहिए। क्योंकि वृक्ष अपनी छाया को अपनी शाखा काटने वाले पुरुष से नहीं हटाता है ॥ ५९ ॥

किञ्च—यदि अन्नं नास्ति तदा सुप्रीतेनाऽपि वचसा तावदतिथिः पूज्य एव।

व्या०—किञ्च=अथवा, यदि=चेत्, अन्न=भक्ष्यपदार्थः, नास्ति=उपस्थित न भवति, तद्=तादृश्यवस्थायाम्, सुप्रीतेनाऽपि=सुमधुरेण प्रीतियुक्तेन अपि, वचसा वाक्मात्रेण, अतिथिः=गृहागतः। अभ्यागतः। पूज्यः=सत्कार्यः इति।

भा०—और यदि घर में अन्न तैयार न हो तो उस समय केवल मधुर वाणी से भी अतिथि-सत्कार करने योग्य है।

तथा चोक्तम्—तृणानि भूमिरुदकं वाक् चतुर्थी च सूनृता ।
एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन ॥ ६० ॥

अ०—तृणानि भूमिः उदकं चतुर्थी सूनृता वाक् च एतानि अपि सतां गेहे कदाचन न उच्छिद्यन्ते। व्या०—तृणानि=कुशासनादिकम्, भूमिः=निषदनार्थं श्रेष्ठ स्थलम्, उदक=चरणप्रक्षालनार्थं जलम्, चतुर्थी=चतुर्णां पूरणी, सूनृता=प्रियसत्या, वाक्=वाणी च। एतानि अपि=उक्तानि तृणादीनि अपि, सतां=साधूनां गेहे निवासे, कदाचन=कदापि न उच्छिद्यन्ते=न अनुपस्थितानि भवन्ति।

भा०—तृणों का बनाया आसन, भूमि, जल और चौथी सुमधुर वाणी ये चार तो साधुजनों के घर में अवश्य होते हैं ॥ ६० ॥

अन्यच्च—बालो वा यदि वा वृद्धो युवा वा गृहमागतः ।
तस्य पूजा विधातव्या सर्वस्याऽभ्यागतो गुरुः ॥ ६१ ॥

अ०—बालो वा यदि वा वृद्धः युवा वा गृहम् आगतः, तस्य पूजा विधातव्या, अभ्यागतः सर्वस्य गुरुः । व्या०—बालो वा=शिशुर्वा, यदि वा वृद्धः=स्थवरः वृद्धावस्थ, युवा वा=यौवनावस्थो वा, (यः कोऽपि भवेत, किन्तु स्वस्य) गृहं=निवासम्, आगतः=प्राप्तः भवेत्, तर्हि तस्य=अतिथेः, पूजा=सत्कारादिकम्, विधातव्या=कर्तव्या । यतः सर्वस्य=जनस्य, अभ्यागतः=अतिथिः, गुरुः=पूज्यः ।

भा०—बालक, वृद्ध या जवान, जो कोई घर में आया हुआ अतिथि है, उसका सत्कार करना चाहिये । क्योंकि अतिथि सबके लिये गुरुवत् पूज्य है ॥ ६१ ॥

अपरञ्च—निर्गुणेष्वपि सत्त्वेषु दयां कुर्वन्ति साधवः ।
न हि संहरते ज्योत्स्नां चन्द्रश्चाण्डालवेश्मनः ॥ ६२ ॥

अ०—साधवः निर्गुणेषु अपि सत्त्वेषु दयां कुर्वन्ति, चन्द्रः, चाण्डालवेश्मनः ज्योत्स्नां न हि संहरते । व्या०—साधवः=सत्पुरुषाः, निर्गुणेषु अपि=गुणरहितेषु अपि, सत्त्वेषु=प्राणिषु, दयां=कृपाम्, कुर्वन्ति=विदधति । तत्र दृष्टान्तः—चन्द्रः=शशी, चाण्डालवेश्मनः=चाण्डालस्य वेश्म तस्मात्, श्वपचादिगृहात्, ज्योत्स्नां=कौमुदीम् न हि संहरते=आकर्षति । (चाण्डालवेश्मनि इति पा०)

भा०—साधुजन निर्गुण जीवों पर दया करते हैं, क्योंकि चन्द्रमा भी अपनी चांदनी को चाण्डाल के घर से लौटा नहीं लेता है ॥ ६२ ॥

अन्यच्च—अतिथिर्यस्य भग्नाशो गृहात् प्रतिनिवर्तते ।
स तस्मै दुष्कृतं दत्त्वा पुण्यमादाय गच्छति ॥ ६३ ॥

अ०—यस्य गृहात् अतिथिः भग्नाशः प्रतिनिवर्तते, सः दुष्कृतं दत्त्वा पुण्यम् आदाय गच्छति । व्या०—यस्य=गृहस्थस्य, गृहात्=भवनात्, अतिथिः=अभ्यागतः, भग्ना=हता अफला, आशा=अभिलाषा यस्येच्छा यस्य सः अपूर्णमनोरथः सन्नित्यर्थः । प्रतिनिवर्तते=प्रत्यावर्तते प्रत्यागच्छति । सः=अतिथिः, तस्मै=गृहिणे, दुष्कृतं=स्वीयपापम्, दत्त्वा=प्रदाय, पुण्यञ्च=गृहस्वामिनः धर्मञ्च आदाय=गृहीत्वा आपहृत्य । गच्छति=याति ।

भा० जिसके घर से अतिथि हताश होकर लौट आता है, वह अतिथि उस गृहस्थ को अपना पाप देकर और गृहस्वामी का पुण्य लेकर चला जाता है ॥ ६३ ॥

अन्यच्च—उत्तमस्यापि वर्णस्य नीचोऽपि गृहमागतः ।
पूजनीयो यथायोग्यं सर्वदेवमयोऽतिथिः ॥ ६४ ॥

अ०—उत्तमस्य वर्णस्य गृह, आगतः नीच अपि यथायोग्यं, पूजनीयः, (यतः) सर्वदेवमयः अतिथिः। व्या०—उत्तमस्य=उत्कृष्टस्याऽपि वर्णस्य = ब्राह्मणादे, अपि गृह=भवनम्, आगत =प्राप्त', नीच अपि=हीनजातिरपि आतिथ्यापेक्षया अतिथिः, यथायोग्यं = यथोचितम्, पूजनीय.=सम्भावनीय., (यत) अतिथि. = अभ्यागत., सर्वदेवमय.=सर्वेभ्य. अपृथक्स्वरूप, भवतीति।

भा०—उत्तम ब्राह्मणादि के घर पर आया हुआ कनिष्ठ वर्ण का भी अतिथि यथोचित सत्कार करने योग्य है। क्योंकि अतिथि सर्वदेवमय है ॥ ६४ ॥

गृध्रोऽवदत्—'मार्जारो हि मांसरुचि', पक्षिशावकाश्च अत्र निवसन्ति, तेनाऽहमेवं ब्रवीमि'। तच्छ्रुत्वा मार्जारो भूमिं स्पृष्ट्वा कर्णौ स्पृशति, ब्रूते च—मया धर्मशास्त्रं श्रुत्वा वीतरागेणेदं दुष्करं व्रतं चान्द्रायणम् अध्यवसितम्, यत. परस्परं विवदमानानामपि धर्मशास्त्राणाम्—'अहिंसा परमो धर्मः—' इत्यत्रैकमत्यम्'।

व्या०—गृध्र =जरद्गव., अवदत्=अभिहितवान् हि=निश्चये मार्जार =बिडाल: मांसरुचि'=मांसे मांसादने रुचि. आतुरता यस्य स =मांसाशी, भवति। अथ च अत्र एतस्मिन् पर्कटीवृक्षे, पक्षिशावका.=पक्षिणा पतत्रिणां शावका.=बालाः, निवसन्ति= वास कुर्वन्ति, तेन हेतुना, अहम् (गृध्र) एवम्='दूरमपसर' इति वचन, ब्रवीमि= अभिहितवान् अस्मि। मार्जार = विडाल, तत् गृध्रस्य वचनम् श्रुत्वा = आकर्ण्य, (हस्ताभ्याम्) भूमिं=मृत्तिकाम्, स्पृष्ट्वा=संस्पृश्य, कर्णौ=श्रवणद्वयम, स्पृशति= आच्छादयति। ('मांसरुचि' इत्येतद्गृध्रवाक्यश्रवणेन (बिडाल.) आत्मान पापसंस्पृष्टमाशङ्कमान. सन् तत्परिहाराय भूमिं स्पृष्ट्वा श्रवणे च स्पृष्टवानिति भाव) ब्रूते च=अभिधत्ते च, मया (बिडालेन) धर्मप्रतिपादक शास्त्र धर्मशास्त्रम्, श्रुत्वा= आकर्ण्य वीतरागेण (सता) वीत. नष्टः राग. मांसादिविषयतृष्णा यस्य स. तेन= रागरहितेन सता, इदम्=एतत्, दुष्करम्=दु.खेन क्रियते इति दुष्करम्=अतिप्रयाससाध्यम् चान्द्रायणम् = चन्द्रस्य अयनमिव अयन अन्नग्रासक्रमो यस्मिन् तत्, कृच्छ्रं, चान्द्रायणम् (एकैक ह्रासयेत् कृष्णे शुक्ले च परिवर्धयेत्) तादृश व्रतम्, अध्यवसितम् = अनुष्ठितम्, यत =यस्माद्धेतो, परस्परम् = परम् परम् इति परस्परम् = अन्योन्यम्, विवदमानानां = विरुद्धमतप्रतिपादकानामपि, धर्मशास्त्राणां=मन्वादिप्रणीतस्मृतीनाम्, अहिंसा=सर्वथा मनसा कर्मणा वाचा च हिंसाराहित्यमेव, परम श्रेष्ठतम', धर्मः=अस्ति, इति अत्र=अस्मिन् विषये, ऐकमत्यम्=एकम् अविरुद्ध मतम्= अभिप्राय तात्पर्यं येषान्तानि तेषा भाव, मतभेदा न सन्तीति भाव। सर्वेषु शास्त्रेषु प्राणिहिंसानुमतिर्न दृश्यते, अत' मयाऽपि नि स्पृहेन चान्द्रायणं चरितमिति नाहं पक्षिशावकान् हनिष्यामीति।

भा०—गीध बोला—'बिडाल मांस का प्रेमी होता है और इस वृक्ष पर पक्षियों के बच्चे रहते हैं इसलिये मैं यहाँ से चला जाने को कहता हूँ' ऐसा सुनकर बिडाल ने (दोनों हाथोंसे) पृथ्वी (मिट्टी) को छूकर दोनों कान छूए और कहने लगा—मैंने धर्मशास्त्र सुनकर मांसादि की तृष्णा छोड़कर अतिकठिन चान्द्रायण व्रत किया है, क्योंकि परस्पर भिन्न भिन्न निर्णय बताने वाले धर्मशास्त्रों का भी 'अहिंसा परम धर्म है' इस बात में तो एक ही मत है।

यत —सर्वहिंसानिवृत्ता ये नरा सर्वसहाश्च ये।
सर्वस्याऽऽश्रयभूताश्च ते नराः स्वर्गगामिनः॥ ६५॥

अ०—ये नरा सर्वहिंसानिवृत्ता ये च नरा सर्वसहा, सर्वस्य आश्रयभूताश्च ते नरा स्वर्गगामिन। व्या०—ये नरा=जना, सर्वहिंसानिवृत्ता=सर्वेषां भक्ष्याऽभक्ष्याणां प्राणिनां हिंसा=हननम्, तस्याः (पञ्चमी) निवृत्ता=पराङ्मुखा विरता भवन्ति, ये च नरा=जना सर्वं सहा=सर्वसुखदु खमानापमानादिकं सहन्ते इति सर्वसहा=सर्वसहिष्णव भवन्ति। अथ च सर्वस्य=सुखिन दु खिनो वा शरणागतस्य प्राणिनः, आश्रयभूता=आधारभूता, भवन्ति, ते नरा स्वर्गं गच्छन्तीति स्वर्गगामिनः=स्वर्गवासिनः भवन्ति।

भा०—जो लोग सब प्रकार की हिंसा से निवृत्त हो तथा सर्वद्वन्द्वों के सहनशील हो और सबके आश्रयदाता हों, वे लोग अवश्य स्वर्गगामी होते हैं॥ ६५॥

अन्यच्च—एक एव सुहृद्धर्मो निधनेऽप्यनुयाति य।
शरीरेण समं नाशं सर्वमन्यत्तु गच्छति॥ ६६॥

अ०—एक धर्म एव सुहृत्, य निधने अपि अनुयाति, अन्यत् सर्वं तु शरीरेण समं नाश गच्छति। व्या०—एक=केवल, धर्म एव=एवकार इतरव्यावर्तक, धर्म एव नान्य इत्यर्थ। सुहृत्=मित्र भवतीति कुत? इत्याह—य=धर्म, निधनेऽपि=मरणे सत्यपि, अनुयाति=अभीष्टफलदानार्थम् अनुगच्छति, अन्यत् सर्वं तु=धर्मातिरिक्त पुत्रकलत्रादिकं बाह्य वस्तुजात पुन, शरीरेण समं=कायेन सह, नाशं=ध्वसम्, गच्छति=प्राप्नोति।

भा०—एक धर्म ही मित्र है, क्योंकि वही मरने के समय साथ जाता है और सब पुत्र स्त्री आदि का सम्बन्ध शरीर के साथ ही नष्ट हो जाता है॥ ६६॥

किञ्च—योऽत्ति यस्य यदा मांसमुभयो पश्यताऽन्तरम्।
एकस्य क्षणिका प्रीतिरन्य प्राणैर्विमुच्यते॥ ६७॥

अ०—य यस्य मांस यदा अत्ति, (तदा) उभयो अन्तरं पश्यत। एकस्य क्षणिका प्रीति, अन्य प्राणै विमुच्यते। व्या०—य प्राणी, यस्य=प्राणिन, मांस=पिशितम्, यदा=यस्मिन् काले, अत्ति=भक्षयति, तदा उभयो=भक्षकभ

भक्ष्यभक्षकयोर्द्वयोः, अन्तर = प्रभेदम् , पश्यत = आलोकयत, यूयमिति शेषः। एकस्य = भक्षकस्य प्राणिनः क्षणिका=क्षणमात्रस्थायिनी, प्रीतिः=तृप्त्यनुभवो भवतीति। अन्य =भक्ष्यप्राणी तु, प्राणैः=असुभिः, विमुच्यते = वियुज्यते इति।

भा०—जो प्राणी जिस प्राणी का मांस खाता है, उन दोनों में भेद तो देखिये। खाने वाले को क्षणमात्र तृप्ति होती है और दूसरे के प्राण ही जाते हैं॥ ६७॥

अपि च—मर्त्तव्यमिति यद् दुःखं पुरुषस्योपजायते।
शक्यस्तेनाऽनुमानेन परोऽपि परिरक्षितुम्॥ ६८॥

अ०—पुरुषस्य मर्त्तव्यम् इति यद् दुःखम् उपजायते, तेन अनुमानेन परः अपि परिरक्षितु शक्य। व्या०—पुरुषस्य = पुरि शरीरे शेते इति पुरुषः तस्य जीवस्येत्यर्थः। 'मर्त्तव्यम्' इति=मम मरणं स्यादिति चिन्तया यद् दुःखं=यादृशं कष्टम्, उपजायते=उपस्थितं भवति, तेन=अनुमानेन स्वस्य यथा मरणेन कष्टं भवति, तथा अन्यस्याऽपि मरणम् अवश्य दुःसहकष्टदम् इति अनुमित्या परोऽपि आत्मभिन्नोऽपि प्राणी, परिरक्षितु = हिंसावृत्तितस्त्रातु जीवयितुम् शक्य' = योग्योऽस्तीति। 'शक्यते चाऽनुमानेन परेण परिवर्णितु' मिति पाठान्तरम्।

भा०—अपने को (बड़ी आपत्ति के समय) 'अब मेरा अवश्य मरण होगा' ऐसी चिन्ता से जितना दुःख होता है, उतना ही दुःख दूसरे को भी होता है, ऐसा समझकर कभी किसी की हिंसा नहीं करनी चाहिये॥ ६८॥

शृणु, पुनः—स्वच्छन्दवनजातेन शाकेनापि प्रपूर्यते।
अस्य दग्धोदरस्याऽर्थे कः कुर्यात् पातकं महत्॥ ६९॥

अ०—(यद् उदरम्) स्वच्छन्दवनजातेन शाकेन अपि प्रपूर्यते। अस्य दग्धोदरस्य अर्थे कः महत् पातकं कुर्यात्। व्या०—यद् उदरम् इति शेषः। स्वच्छन्दवनजातेन=स्वच्छन्दः अभिप्रायो यस्मिन् तेन=स्वेच्छन्देन स्वेच्छया स्वभावत इति यावत् वनात् जातः वनजातस्तेन = हलकर्षणादिकमन्तरेणाप्युत्पन्नेनेत्यर्थः। शाकेनाऽपि=(करणे तृतीया) शाकपत्रफलाद्यादिनाऽपि, प्रपूर्यते क्रियते, जनैः। अस्य=एतस्य, दग्धोदरस्य=दग्धं च तदुदरं च दग्धोदरं तस्य, दग्ध = दाहेन जाठरेण विशिष्ट यदुदरं तस्येत्यर्थः, अर्थे = निमित्ते कः = को जनः, महत् पातकं= जीवहिंसात्मकम् अत्युत्कट पापम् , कुर्यात्=आचरेत्? न कोऽपीत्यर्थः।

भा०—और भी सुनो, जब वन में स्वाभाविक उत्पन्न शाक, पत्र आदि से भी पेट भर सकते हैं, तब उदर के लिए हिंसात्मक बड़ा पाप क्यों किया जाय?॥ ६९॥

एवं विश्वास्य स मार्जारस्तरुकोटरे स्थितः। ततो दिनेषु गच्छत्सु असौ पक्षिशावकानाक्रम्य स्वकोटरमानीय प्रत्यहं खादति। अथ येषाम-

पत्यानि खादितानि; तैः शोकार्तैर्विलपद्भिरितस्ततो जिज्ञासा समारब्धा। तत्परिज्ञाय मार्जारः कोटरान्निःसृत्य बहिः पलायितः॥ पश्चात्पक्षिभिरितस्ततो निरूपयद्भिस्तत्र तरुकोटरे शावकास्थीनि प्राप्तानि। अनन्तरमनेनैव शावकाः खादिता इति (सर्वैः पक्षिभिः) निश्चित्य स गृध्रो व्यापादितः। अतोऽहं ब्रवीमि—'अज्ञातकुलशीलस्ये'त्यादि।

व्या०—स मार्जारः = दीर्घकर्णः, एवम् = इत्युक्तरूपेण, विश्वास्य = जरद्गवस्य मानसे विश्वासं जनयित्वा, तरुकोटरे=तरोः पर्कटवृक्षस्य कोटरे कुत्रचिद् गह्वरप्रदेशे, स्थितः=वासं करोति। ततः दिनेषु गच्छत्सु = कियति काले व्यतीते सतीत्यर्थः। असौ = बिडालः, पक्षिशावकान्=पक्षिणां शावकास्तान्, आक्रम्य = मारयित्वा, स्वकोटर=निजनिवासगह्वरम्, आनीय=प्रापय्य, प्रत्यहम्=अहनि अहनीति प्रत्यहम् (वीप्सार्थेऽव्ययीभावो व्याप्त्यर्थे द्वितीया), प्रतिदिवसमित्यर्थः। खादति=अत्ति। अथ येषां=पक्षिणाम्, अपत्यानि = शावकाः, खादितानि = भक्षितानि, तैः = पक्षिभिः, शोकार्तैः = शोकेन आर्ताः तैः, विलपद्भिः—विलपन्ति इति विलपन्तः, तैः विलपद्भिः = शोकदुःखितैः विलापं कुर्वद्भिश्च सद्भिः, इतस्ततः = अस्मिन् तस्मिन् प्रदेशे, जिज्ञासा=ज्ञातुम् इच्छा जिज्ञासा = नष्टशावकान्वेषणमित्यर्थः। समारब्धा। मार्जारः दीर्घकर्णः, तत् = पक्षिकृतं शावकान्वेषणम्, परिज्ञाय=ज्ञात्वा, कोटरात् = वासभूतगह्वरात्, निःसृत्य = निर्गत्य, बहिः पलायितः। पश्चात् = मार्जारपलायनोत्तरकाले, पक्षिभिः इतस्ततः, शावकानिति शेषः निरूपयद्भिः = अन्विष्यद्भिः, तत्र तरुकोटरे=वृक्षगह्वरे, शावकास्थीनि = शावकानाम् अस्थीनि, प्राप्तानि—अवलोकितानि। अनन्तरम् = अस्थिप्राप्त्यनन्तरम्, अनेनैव = जरद्गवेन गृध्रेण एव अस्माकं शावकाः खादिताः इत्येव विनिश्चित्य=अध्यवस्य, स गृध्रः व्यापादितः= मारितः। अतः उक्तकथाऽऽत्मकदृष्टान्तस्य पूर्वं सम्भावितत्वाद् हेतोः, अहं—लघुपतनकनामा ब्रवीमि 'अज्ञातकुलशीलस्ये'त्यादि (श्लोक)।

भा०—वह बिडाल इस प्रकार जरद्गव नामक गीध को विश्वास दिलाकर उस वृक्षके कोटर में रहने लगा और प्रत्येक दिन पक्षियों के बच्चों को पकड़ कर अपने कोटर में लाकर खाने लगा। अब जिन-जिन के बच्चों को वह खा गया था वे सब पक्षी शोकातुर हो विलाप करते हुए अपने बच्चों की खोजने लगे। वह बिडाल 'खोज होने लगी' इस बात को जानकर वृक्ष-कोटर से निकल कर अन्यत्र भाग गया। उसके बाद खोज करते हुए पक्षियों ने उस कोटर में अपने बच्चों की हड्डियाँ पायीं। तब सब पक्षियों ने 'इस जरद्गव नामक गीध ने ही हमारे बच्चों को खा लिया है' ऐसा निश्चय करके उस गीध को मार डाला। इसलिए मैं कहता हूँ कि—'अज्ञातकुलशील' इत्यादि।

इत्याकर्ण्य स जम्बुकः सकोपमाह—'मृगस्य प्रथमदर्शनदिने भवा-

नपि अज्ञातकुलशील एव आसात्। तत् कथं भवता सह एतस्य स्नेहाऽनुवृत्तिरुत्तरोत्तरं वर्द्धते ?' ॥

व्या०—सः शृगालः, इति=इत्येव रूपं काकवचनम्, आकर्ण्य=श्रुत्वा, सकोप=कोपेन सहितं यथा स्यात् तथा, आह=उवाच। मृगस्य प्रथमदर्शनदिने-प्रथमं च तद्दर्शनं च प्रथमदर्शनं प्रथमदर्शनस्य दिनं तस्मिन्, भवान् अपि, मृगस्य अज्ञात-कुलशीलः-कुलं च शीलं च कुलशीले न ज्ञाते कुलशीले यस्य सः तादृशः, सर्वथा परिचयरहित एव आसीदित्यर्थः। तत्-तथापि, भवता सह एतस्य मृगस्य, स्नेहा-नुवृत्तिः=स्नेहस्य अनुवृत्तिः बन्धनम्। उत्तरोत्तरम्=उत्तरस्माद् उत्तरमिति पञ्चमी-तत्पुरुषः, कथम्=केन हेतुना प्रकारेण वा, वर्द्धते ?।

भा०—वह शृगाल ऐसा सुनकर क्रोधपूर्वक बोला—'इस हरिण के मिलाप के प्रथम दिन तुम भी तो हरिण के लिये अपरिचित कुलशील वाले थे, तो भी तुम्हारे साथ इसे हरिण का स्नेहभाव उत्तरोत्तर क्यों बढ़ता जाता है ?'।

अथवा—यत्र विद्वज्जनो नास्ति श्लाघ्यस्तत्राऽल्पधीरपि।
निरस्तपादपे देशे एरण्डोऽपि द्रुमायते ॥ ७० ॥

अ०—यत्र विद्वज्जनो नास्ति तत्र अल्पधी अपि श्लाघ्यः, निरस्तपादपे देशे एरण्डोऽपि द्रुमायते। व्या०—यत्र यस्मिन् प्रदेशे, विद्वज्जन.=वेत्ति इति विद्वान् विद्वांश्चासौ जनः विद्वज्जनः पण्डितो लोकः, नास्ति=न वर्तते, तत्र=प्रदेशे, अल्पधीः=अल्पा मन्दा धीः बुद्धिर्यस्य सः विद्याहीनोऽपीत्यर्थः। श्लाघ्य=प्रशंसनीयः, समादरणीयो भवतीति। अस्मिन्नर्थे दृष्टान्तमाह=निरस्तेति। पद्भिः मूलैः पिबतीति पादपः वृक्ष, निरस्त नष्ट पादपो यस्मात स तस्मिन्=वृक्षशून्ये, देशे=प्रदेशे, एरण्ड एरण्डनामा द्रुमः कुत्सितोऽपि सन्, द्रुमायते=अद्रुमः द्रुमो भवतीति द्रुमायते वृक्षत्वेन गणनां विन्दति, यथा तथेत्यनुसन्धेयम्।

भा०—अथवा जहाँ विद्वान् जन नहीं हैं, वहाँ अल्प बुद्धि वाला भी श्लाघनीय होता है, जैसे कि—वृक्षशून्य प्रदेश में एरण्ड भी बड़ा वृक्ष कहा जाता है ॥ ७० ॥

अन्यच्च—अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम्।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम् ॥ ७१ ॥

अ०—लघुचेतसाम् 'अयं निजः परो वा' इति गणना, उदारचरितानां तु वसुधा एव कुटुम्बकम्। व्या०—लघुचेतसां=लघु क्षुद्रं चेतो मानसं येषान्तेषां=नीचाशया-नाम्, अयम्-अमुकव्यक्तिः, निजः-आत्मीयः परो वा=अथवा अनात्मीयः, इति गणना=विचारणा, भवतीति शेषः। उदारचरितानां तु-उदारम्=औदार्ययुक्त चरितं-विचारणाऽऽदिकं येषां तेषां=महानुभावानान्तु, वसुधैव-वसूनि दधाति सा=पृथ्वीमण्डलमेव, कुटुम्बकम्-आत्मीयवर्गात्मकम्, भवतीति शेषः।

भा०—हल्के चित्त वाले लोगों को—'यह अपना है-यह पराया है'-ऐसी बुद्धि होती है। उदार चित्तवाले तो समग्र पृथ्वी के जनों को ही कुटुम्बी मानते हैं ॥ ७१ ॥

यथा चाऽयं मृगो मम बन्धुस्तथा भवानपि। मृगोऽब्रवीत्—'किमनेन उत्तरोत्तरेण? सर्वैरेकत्र विश्रम्भाऽऽलापैः सुखमनुभवद्भिः स्थीयताम्।'

व्या०—अयं=मत्समीपवर्ती, मृगः—हरिणः यथा यादृक् मम बन्धुः—मित्रं भवति, तथा तादृक् भवान् अपि मम बन्धुः (ततः) मृगः अब्रवीत्=उक्तवान्, अनेन=एतादृशनिरर्थकेन उत्तरोत्तरेण=उत्तरादुत्तरेण वाक्प्रपञ्चेन, किम्=अलमित्यर्थः। सर्वैः=अस्माभिः समस्तैः, विश्रम्भालापैः=विश्रम्भेण विश्वासेन आलापाः, सम्भाषणैः सुखम्=आनन्दम्, अनुभवद्भिः, स्थीयताम्।

भा०—जैसे यह मृग मेरा मित्र है, वैसे तुम भी मित्र हो। मृग बोला-इन निरर्थक उत्तर प्रत्युत्तरों से क्या है? चलो, हम सब एक स्थान में सार्थक वार्तालाप का आनन्द लेते हुए बैठें।

यतः—न कश्चित् कस्यचिन्मित्रं न कश्चित् कस्यचिद् रिपुः।
व्यवहारेण मित्राणि जायन्ते रिपवस्तथा ॥ ७२ ॥

अ०—कश्चित् कस्यचिद् न मित्रम्, कश्चित् कस्यचिद् न रिपुः, व्यवहारेण मित्राणि तथा रिपवः जायन्ते। व्या०—कश्चिदपि जनः कस्यचिदपि जनस्य व्यक्तिविशेषस्य, मित्रं=बन्धुः, न भवतीति। एवं कश्चिदपि जनः कस्यचिदपि जनस्य, रिपुः=शत्रुरपि न भवतीति। किन्तु व्यवहारेण=अनुकूलेन प्रतिकूलेन वा आचरणेन कार्येण वा, (लोकाः परस्परं) मित्राणि—सुहृदः बान्धवाः तथा रिपवः=शत्रवश्च, जायन्ते इति।

भा०—स्वभाव से न कोई किसी का मित्र है और न कोई किसी का शत्रु। किन्तु अच्छा बुरा व्यवहार होने से ही परस्पर मित्र और शत्रु हो जाते हैं ॥ ७२ ॥

काकेन उक्तम्—'एवमस्तु'। अथ प्रातः सर्वे यथाऽभिमतदेशं गताः। एकदा निभृतं शृगालो ब्रूते-'सखे मृग! एतस्मिन्नेव वनैकदेशे सस्यपूर्णं क्षेत्रमस्ति, तदहं त्वां तत्र नीत्वा दर्शयामि'। तथा कृते सति मृगः प्रत्यहं तत्र गत्वा सस्यं खादति। ततो दिनकतिपयेन क्षेत्रपतिना तद् दृष्ट्वा पाशास्तत्र योजिताः। अनन्तरं पुनरागतो मृगः तत्र चरन् पाशैर्बद्धोऽचिन्तयत्-'को मामितः कालपाशादिव व्याधपाशात् त्रातुं मित्रादन्यः समर्थः?'। 'अत्रान्तरे जम्बुकस्तत्राऽऽगत्य उपस्थितोऽचिन्तयत्-'फलितस्तावदस्माकं कपटप्रबन्धः, मनोरथसिद्धिरपि बाहुल्या

ष्मे भविष्यति । यतः एतस्य उत्कृत्यमानस्य मांसाऽसृग्लिप्तानि अस्थीनि मया अवश्यं प्राप्तव्यानि । तानि च बाहुल्येन मम भोजनानि भविष्यन्ति' । स च मृगस्तं दृष्ट्वा उल्लासितो ब्रूते—'सखे ! छिन्धि तावन्मम बन्धनम् , सत्वरं त्रायस्व माम् ।'

व्या०—काकेन उक्तम्=अभिहितम्, एवम्=भवता यदभिधीयते तथाऽस्तु भवतु । अथ-पश्चात् , प्रातःसमये सर्वे काकप्रभृतयः यथाभिमतदेशं=स्वस्वाभिमतभूप्रदेशम्, गताः=प्रस्थिताः । एकदा=एकस्मिन् काले, स शृगालः, निभृतम्=एकान्तस्थले, ब्रूते, मृगमिति शेषः । सखे ! एतस्मिन् वनैकदेशे=अरण्याऽपरपार्श्वे सस्यपूर्णं=सस्येन परिपूर्णम्, क्षेत्रं=कृषिभूमिः, अस्ति=विद्यते । अहं तत्र=तदन्तिकम्, नीत्वा=प्रापय्य, त्वां तत् क्षेत्रं दर्शयामि । तथा कृते सति=क्षेत्रे दर्शिते सति, सः मृगः, प्रत्यहं=प्रतिदिवसम्, तत्र क्षेत्रे गत्वा सस्यं खादति=भक्षयति । ततः=तदनन्तरं, दिनकतिपयेन=कियद्दिनेषु गच्छत्सु सत्सु, क्षेत्रस्य पतिस्तेन क्षेत्रस्वामिना, तद् दृष्ट्वा=क्षेत्रे भक्षितसस्यानि ज्ञात्वा, तत्र=क्षेत्रे, पाशाः=मृगबन्धनजालाः, योजिताः । अनन्तरं पुनः आगतो मृगः तत्र क्षेत्रे चरन्, पाशैः=जाले, बद्धः सन् , अचिन्तयत्=मनसि ध्यातवान् , पाशबद्धं माम् इतः=अस्मात्, कालपाशादिव=कालस्य यमस्य पाशस्तस्मात् इव तत्सदृशादित्यर्थः, व्याधस्य पाशात् त्रातुं=रक्षितुम्, मित्रात्=स्वाभाविकसुहृदः अन्यः कः समर्थः भविष्यति ? न कोऽपीत्यर्थः । अत्रान्तरे=तस्मिन्नेव समये, सः जम्बुकः, तत्र क्षेत्रे आगत्य उपस्थितः सन् अचिन्तयत्=मनसि कृतवान् । तावत्=वाक्यालङ्कारे, अस्माकम्, कपटप्रबन्धः=कपटेन प्रबन्धः छलप्रयोगः फलितः=सफलो जातः । मे=मम मनोरथसिद्धिरपि=मनोऽभीष्टसम्पादनमपि, बाहुल्यात्=परिपूर्णतया, भविष्यति यतः=यस्माद्धेतोः, उत्कृत्यमानस्य=खण्डशः क्रियमाणस्य, व्यापाद्यमानस्येति यावत् । एतस्य=मृगस्य, मांसाऽसृग्लिप्तानि=मांसञ्च असृग् रुधिरं चेति मांसाऽसृक् (द्वन्द्वः, प्राण्यङ्गत्वादेकवद्भावः) तेन लिप्तानि=सम्पृक्तानि, अस्थीनि मया अवश्यं प्राप्तव्यानि । तानि च अस्थीनि, बाहुल्येन—भूम्ना मम भोजनानि भविष्यन्तीति । सः जालबद्धो मृगश्च तं शृगालं दृष्ट्वा, उल्लासितः=प्रहृष्टः सन्, तं जम्बुकं ब्रूते—हे सखे ! जम्बुक ! तावत्=यावद् न कश्चिदागच्छति तावत्, मम बन्धनं=पाशम्, छिन्धि=खण्डय, मां सत्वरं=झटिति त्रायस्व=रक्ष ।

भा०— काक ने कहा—'ऐसा ही हो ।' उसके बाद प्रातःकाल काक आदि सब यथेष्ट प्रदेशों को चले गये । एक बार एकान्त में शृगाल ने मृग से कहा—'सखे मृग ! इस वन के एक भाग में धान्यादि से परिपूर्ण एक खेत है, मैं तुमको उसके निकट ले जाकर बताता हूँ ।' बताने के बाद वह मृग रोज खेत में जाकर धान्यादि खाने लगा । कुछ दिन बाद खेत के

मालिक ने धान्य को खाया हुआ देखकर खेत में जाल लगा दिया। उसके बाद फिर आया हुआ मृग खेत में रखे हुए जाल में फँस गया और चिन्ता करने लगा कि—'यमपाश के समान इस व्याधपाश से मित्र को छोड़कर दूसरा कौन मेरी रक्षा कर सकता है?' उसी समय जम्बुक वहाँ आया और सोचने लगा कि—'मेरा कपट से किया हुआ प्रयोग सफल हुआ, मेरे मनोरथ की सिद्धि भी खूब पूर्ण होगी, क्योंकि इस मृग के टुकड़े करने पर मांस तथा रुधिर से भरपूर हड्डियाँ मुझे खूब मिलेंगी और मेरे बहुत से भोजन होंगे।' वह जाल में फँसा हुआ मृग इस शृगाल को देख खुश होकर बोला—हे सखे जम्बुक! जब तक कोई न आ पहुँचे उतने में मेरा बन्धन काट दो मेरी रक्षा करो।

यतः—आपत्सु मित्रं जानीयाद् युद्धे शूरमृणे शुचिम्।
भार्यां क्षीणेषु वित्तेषु व्यसनेषु च बान्धवान्॥ ७३॥

अ०—आपत्सु मित्रम्, युद्धे शूरम्, ऋणे शुचिम्, क्षीणेषु वित्तेषु भार्याम्, व्यसनेषु च बान्धवान्, जानीयात्। व्या०—आपत्सु=विपत्सु समुपस्थितासु मित्रं=सुहृदम्, जानीयात्=परीक्षेत। युद्धे=समरे उपस्थिते सति, शूरं=वीरम्, परीक्षेत। ऋणे=ऋणव्यवहारे उपस्थिते सति, शुचिम्=अकपट जन परीक्षेत। वित्तेषु=धनेषु, क्षीणेषु=नष्टेषु सत्सु, भार्यां=स्वपत्नीम्, परीक्षेत। व्यसनेषु=दुःखदिवसेषु सत्सु बान्धवान् परीक्षेत।

भा०—आपत्ति में मित्र की, युद्ध में शूरवीर की, ऋण में सत्यवादी की, गरीबी में स्त्री की और दुःख पड़ने पर बन्धुओं की परीक्षा होती है॥ ७३॥

अपरञ्च—उत्सवे व्यसने चैव दुर्भिक्षे राष्ट्रविप्लवे।
राजद्वारे श्मशाने च यस्तिष्ठति स बान्धवः॥ ७४॥

अ०—यः उत्सवे व्यसने चैव दुर्भिक्षे राष्ट्रविप्लवे च, राजद्वारे श्मशाने च तिष्ठति स बान्धवः। व्या०—यः=जनः अपरिचितः सन्नपि, उत्सवे=विवाहाद्युत्सवसमये, व्यसने=विपत्तिकाले, दुर्भिक्षे=दुष्प्रापा भिक्षा यस्मिन् तस्मिन् अन्नाऽभावकाले, राष्ट्रस्य स्वदेशस्य विप्लवे नृपान्तरादिकृताक्रमणात्मकोपद्रवे, राजद्वारे=प्रतिपक्षकृताऽभियोगे सति विचारालये, श्मशाने=शवदाहस्थाने च, तिष्ठति=तनुमनोधनादिना उपकरोति, स एव यथार्थं बान्धवः भवतीति बोध्यम्।

भा०—जो मनुष्य उत्सव के समय, दुःख के समय, अन्नाभाव के समय, देश पर आपत्ति आने के समय, राजविचार के समय तथा श्मशान में जाने पर यथाशक्ति तन, मन, धन से उपकार करते हैं, वे ही बन्धु कहाते हैं॥ ७४॥

जम्बुकः पाशं मुहुर्मुहुर्विलोक्याऽचिन्तयत् 'दृढस्तावदयं बन्धः', ब्रूते च—'सखे! स्नायुनिर्मिताः पाशाः, तदद्य भट्टारकवारे कथमेतान्

दन्तैः स्पृशामि ? मित्र ! यदि चित्ते न अन्यथा मन्यसे, तदा प्रभाते यत् त्वया वक्तव्यं तत् कर्तव्यम्' इति । अनन्तरं स काकः प्रदोषकाले मृगमनागतमवलोक्य इतस्ततोऽन्विष्यन् तथाविधं दृष्ट्वा उवाच— 'सखे ! किमेतत् ?' मृगेणोक्तम् 'अवधीरितसुहृद्वाक्यस्य फलमेतत् । तथा चोक्तम्

व्या०—जम्बुक.=शृगाल, पाश, मुहुर्मुहु'=वारं वारम्, विलोक्याऽचिन्त-यत्=मनसि कृतवान्, अयं पाशस्य बन्धः दृढ.=कठिनतम', अस्तीति शेष.। (तावदम स्वयं) ब्रूते च—सखे मृग ! स्नायुनिर्मिता.—स्नायुभि. देहान्तवर्तिरूपम नाडीविशेषै., निर्मिताः=रचिता. पाशाः=जालरज्जव सन्ति, तत्=तस्माद्धेतोः, रविवासरे मद्यमांसादिभक्षणनिषेधात् स्नायुनिर्मितपाशानामस्पृश्यत्वाच्चेति हेतो-रिति यावत् । अथ, भट्टारकवासरे, सूर्यो हि गृहस्वामित्वात् 'भट्टारक' इत्युच्यते, तस्य वासरे, एतान्=स्नायुपाशान्, कथ दन्तै.=दशनै., स्पृशामि ? मित्र ! मृग ! यदि (त्व स्वस्य) चित्ते, अन्यथा=मम जीवनाय मत गुरुतर मन्यते शृगाल.— इति कृत्वा विपरीत तु त्वमित्यर्थं । तादृशं तु त्व न मन्यसे चेत् । तदा प्रभाते त्वया यद् वक्तव्य पाशमोचनोपायरूपम्, तत् क्षेत्रस्वाम्यागमनात्पूर्वमेव मया कर्तव्य मिति । अनन्तरं=पश्चात्, सः काक., प्रदोषकाले=सायसमये मृगमनागतमवलोक्य, इतस्ततः=समन्तात्, अन्विष्यन्=अन्वेषणं कुर्वन् सन्, तथाविध=तादृशी विधा स्थितिर्यस्य तम, पाशबद्धमित्यर्थं । तं=मृगम्, दृष्ट्वा उवाच—सखे मृग ! एतत्=पाशबन्धनरूपम्, किं=कि निमित्त भवतीति ! मृगेण उक्तम्—एतत्= बन्धनम्, अवधीरितम्=अवज्ञातम् अश्रुत यत् सुहृद मित्रस्य वाक्य वचनं यस्य, फल=परिणाम. अस्ति ।

भा०—शृगाल ने हिरण के बन्धन को बार बार देख कर मन में सोचा कि 'यह बन्धन तो बड़ा मजबूत है' । और कहा कि—'मित्र हिरण ! स्नायु के बनाये हुए ये जाल हैं । आज रविवार के दिन मैं दाँतों से उनका स्पर्श कैसे करूँ ? क्योंकि रविवार को मांस खाना निषिद्ध है । मित्र मृग ! यदि तुम अपने चित्त में विपरीत न मानो तो सुबह क्षेत्र-स्वामी के आगमन से पूर्व ही जो तुम कहोगे वैसा मैं करूँगा ।' इसके बाद वह कौआ सायं काल के समय मृग को आया हुआ न देखकर इधर-उधर खोजते खोजते बन्धन में फँसे हुये मृग को देखकर बोला—'सखे मृग ? यह बन्धन कैसे हुआ ?, मृग बोला—'मित्र का वचन न मानने का यह फल है' कहा भी है —

सुहृदां हितकामानां यः शृणोति न भाषितम् ।
विपत् सन्निहिता तस्य स नरः शत्रुनन्दनः ॥ ७५ ॥

अ०—यः हितकामानां सुहृदां भाषितं न शृणोति, तस्य विपत् सन्निहिता, सः=

नरः शत्रुनन्दनः । व्या०—यः जनः, हितकामानां=हितम् अनुकूलम् इष्टं कामयन्ते इति हितकामाः तेषां=हितार्थिनाम्, सुहृदाम्—शोभनं हृदयं येषान्ते तेषां= बन्धूनाम्, भाषितम्=उपदेशवचनम्, न शृणोति—नाङ्गीकरोति, तस्य=जनस्य विपत्=विपत्तिः, सन्निहिता=उपस्थिता निकटवर्तिनी भवति, सः=तादृशः, नरः= जनः, शत्रुनन्दनः=नन्दयतीति नन्दनः, शत्रूणामानन्दकरो भवतीति ।

भा०—जो लोग हितकारक मित्रों के वचनों को नहीं मानते हैं उनको आपत्तियाँ शीघ्र आती हैं और वे शत्रुओं के आनन्ददाता बन जाते हैं, क्योंकि उनको आपत्तिमग्न देखकर शत्रु लोग खुश होते हैं ॥ ७५ ॥

काको ब्रूते—'स वञ्चकः क्वाऽऽस्ते ?' मृगेणोक्तम्—'मन्मांसार्थी तिष्ठत्यत्रैव' । काको ब्रूते—'मित्र ! उक्तमेव मया पूर्वम् ।'

व्या०—काकः ब्रूते=कथयति, सः वञ्चकः=प्रतारकः शृगालः, क्व=कस्मिन्प्रदेशे, आस्ते=तिष्ठति ? मृगेण उक्तम्—मन्मांसार्थी=मम मांसम् अर्थयते इति मन्मांसार्थी शृगालः, अत्रैव=प्रदेशे, तिष्ठति । काकः ब्रूते—मित्र मृग ! मया पूर्वं= प्रागेव, उक्तम्=अभिहितम् ।

भा०—काक बोला—'वह ठग शृगाल कहाँ है ?' मृग ने कहा—'मेरा मांस खाने की इच्छा वाला यहीं कहीं है' । काक ने कहा—'यह तो मैंने पहले ही कहा था' ।

अपराधो न मेऽस्तीति नैतद्विश्वासकारणम् ।
विद्यते हि नृशंसेभ्यो भयं गुणवतामपि ॥ ७६ ॥

अ०—मे अपराधः न अस्तीति एतद् विश्वासकारणं न, हि नृशंसेभ्यः गुणवतामपि भयं विद्यते । व्या०—मे=मम, अपराधः=दोषः, नास्ति=न विद्यते, इति एतत्= एतावच्चिन्तनम्, विश्वासकारणं—विश्वासस्य कारणं विश्वासकारणं=निसर्गक्रूरे प्रत्ययहेतुः, न भवतीति शेषः । हि निश्चयार्थे, नृशंसेभ्यः=नॄन् शंसन्ति हिंसन्ति ये ते नृशंसाः तेभ्यः, गुणवतामपि—गुणाः सन्ति येषामिति गुणवन्तः तेषां=निरपराधानामपीत्यर्थः । भयम्=अनिष्टाशङ्का, भवत्येव ।

भा०—मेरा कुछ भी अपराध नहीं है ? इसलिये यह मेरा कुछ भी अनिष्ट नहीं करेगा' ऐसा विश्वास कभी नहीं करना चाहिये । क्योंकि क्रूर पुरुष निरपराधियों का भी पूर्ण अनिष्ट करता है, अतः उससे डर रहता है ॥ ७६ ॥

दीपनिर्वाणगन्धञ्च सुहृद्वाक्यमरुन्धतीम् ।
न जिघ्रन्ति न शृण्वन्ति न पश्यन्ति गतायुषः ॥ ७७ ॥

अ०—गतायुषः दीपनिर्वाणगन्धं न जिघ्रन्ति, सुहृद्वाक्यं न शृण्वन्ति, अरुन्धतीं न पश्यन्ति । व्या०—गतम् आयुः येषान्ते गतायुषः=निकटनिधना जना दीप

निर्वाणगन्ध = दीपस्य निर्वाण विनाश. तेन यो गन्ध. कार्पासवर्तिनिर्गतधूमगन्धः तं न जिघ्रन्तीति । एवं सुहृदां=मित्राणाम् , वाक्यमपि न शृण्वन्तीति । एवम् अरुन्धतीम् = सप्तर्षिमंडलस्थम् अरुन्धतीनामकनक्षत्रमपि न पश्यन्तीति ।

भा० — जिनका मरण समय समीप आया होता है, उनको दीप बुझने पर धूप की गन्ध मालूम नहीं होती तथा वे मित्र का वाक्य नहीं मानते और उन्हें अरुन्धती तारा दिखाई नहीं पडती है ॥ ७७ ॥

परोक्षे कार्यहन्तारं प्रत्यक्षे प्रियवादिनम् ।
वर्जयेत् तादृशं मित्रं विषकुम्भं पयोमुखम् ॥ ७८ ॥

अ०—परोक्षे कार्यहन्तारं प्रत्यक्षे प्रियवादिनं तादृश मित्रं पयोमुख विषकुम्भमिव वर्जयेत् । व्या०—परोक्षे— अक्ष्णो' पर परोक्ष तस्मिन् परोक्षे=असमक्षे इत्यर्थं । कार्यहन्तारम्=कार्यस्य स्वेष्टकार्यस्य हन्ता व्याघातक. तम् , अथ च प्रत्यक्षे=समक्षे, तु प्रियवादिनम्=प्रियम् अनुकूल वदति इति प्रियवादी तम्=मधुरभाषिणमित्यर्थः । तादृशं—स इव दृश्यते इति तादृश. तम्=एतादृशम् , मित्र=सुहृदम् , वर्जयेदित्यन्वयः । तत्र दृष्टान्तमाह—विषकुम्भमिति । यथा पयोमुखम् = पय. दुग्ध जल वा मुखे मुखभागे यस्य स. पयोमुख., अथ च अन्तस्तु विष यस्य इत्येतादृश विषस्य गरलस्य कुम्भमिव वर्जयेदित्यर्थ. ।

भा०—परोक्ष में कार्य नष्ट करने वाले और समक्ष में मधुर २ बोलने वाले मित्र को अन्दर से जहर और ऊपर से दूध से पूर्ण घट की तरह त्याग देना चाहिये ॥ ७८ ॥

ततः काको दीर्घं निःश्वस्य उवाच—'अरे वञ्चक ! किं त्वया पापकर्मणा कृतम् !'

व्या०—तत. = अनन्तरम् , काकः दीर्घं निःश्वस्य = दीर्घश्वासं विमुच्य, उवाच= प्राह, अरे=रे वञ्चक != धूर्त ! शृगाल !, पापकर्मणा = पापम् अनिष्टजनक कर्म व्यापारो यस्य स तेन पापाचरणेन त्वया, किमिदम् अनिष्ट कृतमिति ?

भा०—उसके बाद काकने लम्बा नि श्वास छोडकर कहा—रे धूर्त शृगाल ! पापकर्म करनेवाले तूने यह क्या अनिष्ट किया ?

यतः—संलापितानां मधुरैर्वचोभिर्मिथ्योपचारैश्च वशीकृतानाम् ।
आशावतां श्रद्दधतां च लोके किमर्थिनां वञ्चयितव्यमस्ति ॥७९॥

अ०—लोके मधुरैर्वचोभिः संलापितानाम् , मिथ्योपचारैश्च वशीकृतानाम् , श्रद्दधताम् आशावतां च अर्थिनां किं वञ्चयितव्यमस्ति ? । व्या०—लोके = जगत्याम् , मधुरै=प्रियैः, वचोभि =वाक्यैः, संलापितानां=सम्भाषितानां प्रलोभितानामित्यर्थं । एव मिथ्योपचारैः=मिथ्या कापट्यपूर्णा उपचारा. व्यवहारा तै , वशीकृतानाम्=अव-

शिनः वशिनः कृताः तेषां = वशमानीतानामित्यर्थः । श्रद्दधतां = श्रद्धां विश्वासं च कुर्वताम् , आशावताम् = आशा स्वेष्टप्राप्तिविषयका मनोरथविशेषाः ताः सन्ति येषां तेषाम् = अर्थिनामित्यर्थः किं = किं कार्यम् , वञ्चयितव्यं = वञ्चनया साधितव्यम् , अस्ति ? न किमपीत्यर्थः । उपजातिः वृत्तम् ।

भा०—जगत् में मधुर वचनों से प्रलोभित किये हुये तथा कपट से वश में किये हुए एवं श्रद्धालु और आशावाले जनों को वञ्चित करना कोई अच्छा काम नहीं है, इसलिए तुमने यह काम अच्छा नहीं किया ॥ ७९ ॥

अन्यच्च—उपकारिणि विश्रब्धे शुद्धमतौ यः समाचरति पापम् ।
तं जनमसत्यसन्धं भगवति वसुधे ! कथं वहसि ॥ ८० ॥

अ०—यः उपकारिणि विश्रब्धे शुद्धमतौ पापं समाचरति, असत्यसन्धं तं जनं हे भगवति वसुधे ! (त्वं)कथं वहसि ? व्या०—यः = जनः , उपकारिणि-उपकरोतीति उपकारी तस्मिन् = उपकारतत्परे, विश्रब्धे = कृतविश्वासे, शुद्धमतौ = शुद्धा अकपटा विमला मतिर्यस्य सः तस्मिन् = कपटरहिते, एतादृशे जने, पापं = कपटव्यापारम् , समाचरति=सम्यक् ज्ञात्वा करोति । असत्यसन्धम्=असत्ये कापट्यव्यवहारे सन्धा= प्रतिज्ञा यस्य तं प्रतारणप्रधानम् , तं = तादृशम् , जनम् , हे भगवति ! = ऐश्वर्यशालिनि पूज्ये वसुधे ! = वसुन्धरे ! त्वं कथं=केन प्रकारेण वहसि ? । आर्या जातिः ।

भा०—हे भगवति पृथिवी ! तुम ऐसे लोगों को कैसे धारण करती हो ? जो उपकारी, शुद्ध विचार वाले एवं विश्वस्त जनों के साथ विश्वासघात का पाप करते हैं ॥ ८० ॥

दुर्जनेन समं सख्यं वैरञ्चाऽपि न कारयेत् ।
उष्णो दहति चाऽङ्गारः शीतः कृष्णायते करम् ॥ ८१ ॥

अ०—दुर्जनेन समं वैरं सख्यं चापि न कारयेत् । उष्णः अङ्गारः करं दहति शीतश्च करं कृष्णायते । व्या०—दुष्टः जनः दुर्जनः तेन = खलेन समं = सार्धं, वैरं = शत्रुता, तथा सख्यं = मित्रता चापि च कारयेत । उक्तमर्थं दृष्टान्तेन द्रढयति-उष्ण इति । उष्णः = प्रदीप्तः, अङ्गारः = अलातम् , करं=तत्स्पृष्टं हस्तं दहति, अथ च शीतः अनुष्णः सः 'कृष्णल' इत्यर्थः , करं कृष्णायते = कृष्णं करोति ।

भा०—दुर्जन से वैर अथवा मित्रता कुछ भी नहीं करनी चाहिये क्योंकि वह दोनों स्थिति में अनिष्ट करता है जैसे तप्त अङ्गार छूने से हाथ को जलाता है और ठण्डा होने पर छूने से काला करता है ॥ ८१ ॥

अथवा स्थितिरियं दुर्जनानाम्—

भा०—अथवा दुर्जन पुरुषों का यह स्वभाव ही है—

प्राक् पादयोः पतति खादति पृष्ठमांसं
कर्णे कलं किमपि रौति शनैर्विचित्रम् ।

छिद्रं निरूप्य सहसा प्रविशत्यशङ्कः
सर्वं खलस्य चरितं मशकः करोति ॥ ८२ ॥

अ०—मशकः खलस्य सर्वं चरितं करोति, प्राक् पादयोः पतति, पृष्ठमांसं खादति, कर्णे किमपि विचित्रं कलं शनैः रौति, छिद्रं निरूप्य अशङ्कः सहसा प्रविशति।

व्या०—मशकः=मशकजातीयः स्वेदजजीवविशेषः, खलस्य=दुष्टजनस्य सर्वं=बहुविधम्, चरितम्=आचरणं करोति। तदेव दर्शयति—प्रागिति। प्राक्=पूर्वम् अग्रे समीप इत्यर्थः। पादयोः=जनानां चरणयोः, पतति, ततः पृष्ठमांसं=पृष्ठे मांसं पृष्ठमांसं पृष्ठे उपविश्य मांसं खादति। कर्णे च गत्वा विचित्रं कलं मधुरं च किमपि कापट्यमयं शनैः रौति, छिद्रं=प्रवेशद्वारं, निरूप्य=उपलभ्य, अशङ्कः=अभीतः सन्, सहसा=झटिति, प्रविशति। वसन्ततिलकं वृत्तम्।

भा०—मशक में खल पुरुष के सभी चरित्र मिलते हैं—जैसे कि मशक प्रथम पैरों पर गिरता है, पीछे पीठ का मांस खाता है, कानों में आकर कापट्ययुक्त बोलता है और छिद्र देखकर अन्तः प्रवेश करता है ॥ ८२ ॥

तथा च—दुर्जनः प्रियवादी च नैतद्विश्वासकारणम्।
मधु तिष्ठति जिह्वाग्रे हृदि हालाहलं विषम् ॥ ८३ ॥

अ०—दुर्जनः प्रियवादी चेतत् विश्वासकारणं न, जिह्वाग्रे मधु तिष्ठति हृदि तु हालाहलं विषम्। व्या०—दुर्जनः=खलः, प्रियवादी—प्रियं वदतीति प्रियवादी=मधुरभाषी, एतत्=प्रियवादित्वं विश्वासकारणं=विश्वासस्य कारणं तु न भवति, मात्रं तिष्ठति, अथ च हृदि=अन्तःकरणे तु हालाहलं विषं तिष्ठतीति।

भा०—दुर्जन पुरुष प्रिय बोलता है, लेकिन प्रियवचन से ही उसका विश्वास नहीं करना, क्योंकि उसकी जीभ में ही मधुरता रहती है, अन्तःकरण में तो कापट्यरूपी जहर भरा रहता है ॥ ८३ ॥

अथ प्रभाते स क्षेत्रपतिर्लगुडहस्तस्तं प्रदेशम् आगच्छन् काकेनाऽवलोकितः। तमवलोक्य काकेन उक्तम्—'सखे मृग! त्वमात्मानं मृतवत्सन्दर्श्य वातेनोदरं पूरयित्वा पादान् स्तब्धीकृत्य तिष्ठ, अहं तव चक्षुषी चञ्च्वा किमपि विलिखामि, यदा अहं शब्दं करोमि तदा त्वमुत्थाय सत्वरं पलायिष्यसे'। मृगस्तथैव काकवचनेन स्थितः। ततः क्षेत्रपतिना हर्षोत्फुल्ललोचनेन तथाविधो मृग आलोकितः, अथाऽसौ—'आः स्वयं मृतोऽसि ?'—इत्युक्त्वा मृगं बन्धनात् मोचयित्वा पाशान् संवरीतु (संग्रहीतुं) सत्वरो (सयत्नो) बभूव। ततः

किमद्दूरे अन्तरिते क्षेत्रपतौ स मृगः काकस्य शब्दं श्रुत्वा सत्वरमुत्थाय पलायितः। तमुद्दिश्य तेन क्षेत्रपतिना प्रकोपात् क्षिप्तेन लगुडेन शृगालो व्यापादितः।

व्या०—अथ = अनन्तरम्, प्रभाते, लगुडहस्त लगुडो हस्ते यस्य स एतादृश', क्षेत्रस्य पति स्वामी, त प्रदेश प्रति आगच्छन् = आव्रजन्, काकेनावलोकित' = दृष्ट. काकेन त क्षेत्रपतिम् अवलोक्य उक्तम् = मृगाय अभिहितम्—सखे मृग! त्वम् आत्मान = स्वशरीर, मृतवत् = मृतमिव, सन्दर्श्य = दर्शयित्वा, उदर वातेन = पवनेन, पूरयित्वा, पादान् = चरणान् स्तब्धीकृत्य=अस्तब्धान् स्तब्धान् कृत्वा इति स्तब्धीकृत्य, स्थिरीकृत्येत्यर्थं। तिष्ठ = अवस्थान कुरु, अह चञ्च्वा = चञ्च्वग्रेण, चक्षुषी = लोचने, किमपि = शनै शनै, विलिखामि = विकर्षामि, यदा अह शब्द= निनाद, करोमि = करिष्यामि, तदा, त्व सत्वर = झटिति, उत्थाय, पलायिष्यस = धावित्वा अन्यप्रदेश गमिष्यसीति। स मृग काकस्य वचनेन = उपदेशानुसारेण, तथैव=यथाकथितं तदवस्थ एव, स्थित = अवतस्थे। तत तदुत्तर, क्षेत्रपतिना = क्षेत्रस्य पति' तेन, हर्षोत्फुल्ललोचनेन हर्षेण उत्फुल्ले लोचने यस्य स' तेन = पाशबद्धमृगदर्शनजन्यानन्दप्रयुक्तविस्फारितनेत्रेण तथाविध. = तादृशी विधा पाशबद्धाऽवस्था यस्य स तादृश, मृग = हरिण. आलोकित., अथ = आलोकनानन्तरम्, असौ = क्षेत्रपति, आ = आश्चर्य, हर्षं अव्ययम्। स्वय = स्वेनैव मत्प्रयत्नमन्तरेणैव, मृतोऽसि = निधन गतोऽसि त्वम्, इत्येतत् उक्त्वा मृगबन्धनात् = पाशात्, मोचयित्वा=मुक्तबन्ध कृत्वा, पाशान्=विस्तीर्णजालानि, सवरीतुं= सङ्क्षेप्तुम्, संहर्तुमिति यावत, सत्वर. = शीघ्र सयत्नो बभूव। तत = अनन्तर क्षेत्रपतौ, कियद्दूरे = किञ्चिद् दूरम्, अन्तरिते = व्यतिगते सति, स मृग' काकस्य शब्द पूर्वकृतसङ्केतानुसार श्रुत्वा सत्वरमुत्थाय पलायित: = प्रधावितवान्। त = पलायमान मृगम्, उद्दिश्य = लक्ष्यीकृत्य, तेन क्षेत्रपतिना प्रकोपात्—क्रोधात्, निक्षिप्तेन = बलात् क्षिप्तेन, लगुडेन = दण्डेन, शृगाल. = मध्ये स्थितो वञ्चको जम्बूक, व्यापादित = मारित मरण गत इति भाव।

भा०—उसके बाद प्रभात में काक ने उस खेत के मालिक को हाथ में डण्डा लेकर खेत में आते हुए देखा। उसे देख कर काक ने कहा—मित्र हरिण! तुम अपने को मृत के सदृश दिखाकर, श्वास से पेट को फुलाकर, पैरों को कड़ाई से फैलाकर पड़े रहो, मैं चोंच से तुम्हारी आंख को धीरे धीरे नोचता (छूता) हूँ, जब मैं बोलूँ, उसी समय तुम उठ कर एकदम भाग जाना'। वह मृग काक के कहने से वैसा ही मृतवत् हो गया। तदनन्तर खेत के मालिक ने (दूर से ही) जाल में फँसे हुए मृग को प्रसन्नतापूर्ण नेत्रों से देखा, और समीप आने पर कहा—'अहा! अपने से ही मर कर पड़े हो'—ऐसा कहकर मृग को

बन्धन से मुक्त करके काक को एकत्रित करते करते थोड़ा दूर हटा कि काक का शब्द हुआ और उसको सुनकर मृग चकदम उठकर भागा। तब क्षेत्रपति ने क्रोधित हो कर पीछे से भागते हुए मृग के ऊपर ऐसे जोर से लाठी फेंकी कि उस लाठी से बीच में छिपा हुआ शृगाल मार खाकर मर गया।

तथा चोक्तं—त्रिभिर्वर्षैस्त्रिभिर्मासैस्त्रिभिः पक्षैस्त्रिभिर्दिनैः।
अत्युत्कटैः पापपुण्यैरिहैव फलमश्नुते ॥ ८४ ॥

अ०—(जनः) अत्युत्कटैः पापपुण्यैः फलम् इहैव त्रिभिः वर्षैः त्रिभिः मासैः त्रिभिः पक्षैः त्रिभिः दिनैः अश्नुते। व्या०—अत्युत्कटैः=अतितीव्रैः, पापपुण्यैः—पापानि च पुण्यानि च, तैः=अधर्मधर्माचरणैः, जनिष्यमाणं, फलम्=दुःखसुखात्मकपरिणामम्, इहैव अस्मिन्नेव जन्मनि, त्रिभिः वर्षैः=वत्सरैः, वर्षत्रयेणेत्यर्थः। त्रिभिर्मासैः=मासत्रयेण, त्रिभिः पक्षैः=पक्षत्रयेण, त्रिभिर्दिनैः=दिनत्रयेण वा, अश्नुते=भुङ्क्ते।

भा०—अतितीव्र पाप या पुण्य के फल इसी जन्म में तीन वर्ष में अथवा तीन मास में, तीन पक्ष में, तीन दिन में भोगना पड़ता है ॥ ८४ ॥

अतोऽहं ब्रवीमि—'भक्ष्यभक्षकयोः प्रीतिः' इत्यादि।

भा०—इसलिये मैं कहता हूँ कि—'भक्ष्यभक्षकयोः प्रीतिः' इत्यादि।

(इति मृगकाकशृगालकथा)

काकः पुनराह—(काक ने फिर से कहा)—

भक्षितेनाऽपि भवता नाऽऽहारो मम पुष्कलः।
त्वयि जीवति जीवामि चित्रग्रीव इवाऽनघ ! ॥ ८५ ॥

अ०—हे अनघ ! भवता भक्षितेनाऽपि मम पुष्कलः आहारो न, त्वयि जीवति चित्रग्रीव इव जीवामि। व्या०—हे अनघ ! निष्पाप ! भवता=त्वया, भक्षितेनाऽपि खादितेनापि, त्वद्भक्षणेनाऽपीत्यर्थः। मम पुष्कलः=परिपूर्णतृप्तिदः आहारः=भोजनं न भवतीति। किन्तु त्वयि=भवति, जीवति=जीवति इति जीवन् तस्मिन् सति, चित्रग्रीवनामक कपोतराज इव जीवामि (भविष्यत्सामीप्ये लट्)।

भा०—हे निष्पाप ! हिरण्यक मूषिकराज ! तुमको खाने से मेरा भोजन भी पूर्णरूप से नहीं होगा और तुम्हारे जीवित रहने पर मैं भी चित्रग्रीव के समान बहुत आनन्द सुख का अनुभव करूँगा ॥ ८५ ॥

अन्यच्च—तिरश्चामपि विश्वासो दृष्टः पुण्यैककर्मणाम्।
सतां हि साधुशीलत्वात् स्वभावो न निवर्तते ॥ ८६ ॥

अ०—पुण्यैककर्मणां तिरश्चामपि विश्वासो दृष्टः, हि सतां साधुशीलत्वात् स्वभावो न निवर्तते। व्या०—पुण्यैककर्मणां=पुण्यं पुण्यप्रदं शुभमेव एकं कर्म येषां ते पुण्यैक-

कर्माणस्तेषाम् = धार्मिकाणामित्यर्थः। तिरश्चां = पश्वादीनामपि, विश्वासः=विश्रम्भः दृष्टः-दृश्यते बहुधा। तत्र हेतुमाह=सतामिति। हि = यस्माद्धेतोः, सतां=धार्मिकाणां सत्पुरुषाणाम्, साधुशीलत्वात्=साधु = सौम्यं हितकरं कापट्यरहितं शीलं येषान्ते साधुशीलाः, तेषां भावस्तस्मात्, स्वभावः = स्वेषां भावः हितकरत्वादिसद्गुणाऽनुरूपो निसर्गः, न निवर्तते = कदाचिदपि न विलीयते इति।

भा०—केवल पुण्यशील कार्यों को करनेवाले पशुओं का विश्वास करना चाहिये। क्योंकि जो साधु स्वभाव वाले होते हैं उनका सद् स्वभाव कभी नहीं बदलता है॥ ८६॥

किञ्च—साधोः प्रकोपितस्यापि मनो नायाति विक्रियाम्।
न हि तापयितुं शक्यं सागराऽम्भस्तृणोल्कया॥ ८७॥

अ०—प्रकोपितस्यापि साधोः मनः विक्रिया न आयाति हि तृणोल्कया सागराम्भ तापयितु न शक्यम्। व्या०—प्रकोपितस्य = प्रकर्षेण कोपितस्य कोपितस्यापि, साधोः = सज्जनपुरुषस्य, मनः = चित्तं, विक्रिया = विकारम् न आयाति = प्राप्नोति, हि, तथा हि तृणोल्कया = तृणस्य घासस्य उल्का अग्निज्वाला तया तृणवह्निशिखयेत्यर्थः। सागराम्भः = सागरस्य समुद्रस्य अम्भः जलम्, तापयितुं = उष्णं कर्तुं, न शक्यमिति।

भा०—क्रोध दिलाने पर भी सत्पुरुषों के हृदय में कुछ भी विकार नहीं होता हैं, जैसे घास की अग्नि समुद्र के जल को गरम नहीं कर सकती॥ ८७॥

हिरण्यको ब्रूते—'चपलस्त्वम्, चपलेन सह स्नेहः सर्वथा न कर्तव्यः'।

व्या०—हिरण्यकः स मूषिकराज ब्रूते-त्वं चपलः=चञ्चलप्रकृतिः असि, चपलेन= चपलस्वभावेन सह = सार्धम्, स्नेहः सर्वथा = सर्वप्रकारेणापि न कर्तव्य इति।

भा०—हिरण्य ने कहा—'तू चपल है, चपल स्वभाववालों के साथ किसी प्रकार से स्नेह नहीं करना चाहिये'।

तथा चोक्तं—मार्जारो महिषो मेषः काकः कापुरुषस्तथा।
विश्वासात् प्रभवन्त्येते विश्वासस्तत्र नो हितः॥ ८८॥

अ०—मार्जारः महिषः मेषः काकः तथा कापुरुषः एते विश्वासात् प्रभवन्ति, तत्र विश्वासः नो हितः। व्या०—मार्जारः=बिडालः, महिषः = लुलायः = उरभ्रः, काकः= वायसः, कापुरुषः =कुत्सितः पुरुषः, एते पञ्च विश्वासात् = तेषु विश्वासकरणात्, प्रभवन्ति = अनिष्टं कर्तुं प्रभवः समर्थाः भवन्ति। अत एव तत्र=तेषु पञ्चसु विश्वासः कदाऽपि हितः=हितकारकः, नो = न हि, भवति। (नोचित इति पाठान्तरम्)।

भा०—बिडाल, भैंसा, भेड़ा, काक तथा कापुरुष ये पांच विश्वास करने से ही अनिष्ट करने में समर्थ बनते हैं, उनका विश्वास कभी हितकारक नहीं होता है॥ ८८॥

किञ्चान्यत्—'शत्रुपक्षो भवानस्माकम्। शत्रुणा सन्धिर्न विधेयः'।

व्या०—किञ्च अन्यत्=अन्यदपि, अविश्वासकारणमस्तीति शेषः। तदेवं दर्शयति शत्रुपक्ष इति। भवान्=त्वं विडाल, अस्माकं=मूषिकाणाम्, शत्रुपक्षः भवतीति। शत्रुणा सह सन्धिः=मेलनं न विधेय इति।

भा०—और भी तुम (कौआ) हमारी मूषिक जाति के शत्रु हो, इसलिये शत्रु के साथ मेल नहीं रखना चाहिये।

उक्तञ्चैतत्—शत्रुणा न हि सन्दध्यात् संश्लिष्टेनाऽपि सन्धिना।
सुतप्तमपि पानीयं शमयत्येव पावकम्॥ ८९॥

अ०—सुश्लिष्टेनापि सन्धिना शत्रुणा न हि सन्दध्यात्। सुतप्तमपि पानीयं पावकं शमयत्येव। व्या०—सुश्लिष्टेनाऽपि=सुदृढेनापि, सन्धिना=साम्ना मेलनकरणेन, शत्रुणा सह, न हि सन्दध्यात्=नैव सम्मिलेत्। तदेव दृष्टान्तेन द्रढयति—सुतप्तमिति। अग्निना अतीव तप्तमपि पानीयं, पावकम्=अग्निं, शमयत्येवेति।

भा०—शत्रु के साथ दृढ सन्धि करने पर भी उसका पूर्ण विश्वास कभी नहीं करना चाहिये। क्योंकि खौला हुआ उष्ण जल अग्नि को नष्ट कर देता है॥ ८९॥

दुर्जनः परिहर्तव्यो विद्ययाऽलङ्कृतोऽपि सन्।
मणिना भूषितः सर्पः किमसौ न भयङ्करः॥ ९०॥

अ०—विद्ययालङ्कृतः सन् अपि दुर्जनः परिहर्तव्यः मणिना भूषितः असौ सर्पः किं भयङ्करः न (भवति)। व्या०—विद्यया=सद्विद्यया करणेन, अलङ्कृतः युक्तः सन् अपि, दुर्जनः=दुष्टजनश्चेत् भवेत्, तदा सः, परिहर्तव्यः=त्यक्तव्यः। तथाहि—मणिना भूषितः=शिरोरत्नेन अलङ्कृतः असौ=एतादृशः, सर्पः=फणी, किमिति प्रश्ने। भयङ्करः=भयावहो न भवति, अर्थात् भवत्येवेत्यर्थः।

भा०—दुर्जन पुरुष के विद्वान् होने पर भी उसका सर्वथा त्याग रखना उचित है। क्योंकि मणि से सुशोभित होने पर भी सर्प सदा मरणभय को देने वाला है॥ ९०॥

यदशक्यं न तच्छक्यं यच्छक्यं शक्यमेव तत्।
नोदके शकटं याति न च नौर्गच्छति स्थले॥ ९१॥

अ०—यत् अशक्यं तत् न शक्यम्, यत् शक्यं तत् शक्यमेव, उदके शकटं न याति, स्थले च नौर्न गच्छति। व्या०—यत्=यत्कार्यम्, अशक्यं=सर्वथा साधयितुं न पार्यम्, तत् न शक्यमेव=तत्कार्यं सर्वथा साध्यमेव न भवतीति। अथ च यत् कार्यं शक्यं=सुसाध्यम्, तत्=कार्यम् सर्वथा शक्यमेव भवति। तथा हि—उदके=जले, शकटं=स्थलयानविशेषः न याति=न गच्छति। स्थले च, नौः=नौका न गच्छतीति।

भा०—जो असम्भावित है वह कभी नहीं हो सकता और जो शक्य है वही सम्भव हो सकता है। जैसे जल में रथ नहीं चलता और स्थल में नौका नहीं चल सकती ॥ ९१ ॥

अपरञ्च—महताऽप्यर्थसारेण यो विश्वसिति शत्रुषु ।
भार्यासु च विरक्तासु तदन्तं तस्य जीवनम् ॥ ९२ ॥

अ०—य. महता अपि अर्थसारेण शत्रुषु विरक्तासु भार्यासु च विश्वसिति, तस्य जीवनं तदन्तं (भवति)। व्या०—य =जन, महता अपि=गुरुणाऽपि अर्थभारेण=श्रेष्ठप्रयोजनेन, शत्रुषु=अनिष्टकारिषु विरक्तासु=स्वस्मिन्ननुरक्तासु, भार्यासु=स्त्रीषु च, विश्वसिति =विश्वासं करोति, तस्य=विश्वस्तजनस्य, जीवनम्=आयु, तदन्तम् =स विश्वास एव अन्तो नाशो यस्य तत् तदन्त भवतीति ।

भा०—बड़े भारी प्रयोजन के लिए भी शत्रु में तथा अपने प्रति स्नेहशून्य स्त्री में जो लोग विश्वास रखते हैं, उस विश्वास में ही उनका प्राणनाश हो जाता है ॥ ९२ ॥

लघुपतनको ब्रूते—'श्रुतं मया सर्वं, तथाऽपि ममैतावानेव सङ्कल्पः यत् त्वया सह सौहृद्यम् अवश्यं करणीयमिति । अन्यथा अनाहारेणाऽऽत्मानं तव द्वारि व्यापादयिष्यामीति' ।

व्या०—लघुपतनकनामा काक ब्रूते–मया सर्वं=समस्त भवदुक्त, श्रुतम्=आकर्णितम् , तथाऽपि =सर्वस्मिन् श्रुतेऽपि, मम एतावान्=वक्ष्यमाणस्वरूप., सङ्कल्प = मनोरथः, अस्तीति शेष । तदेव दर्शयति—यदिति । त्वया मूषिकेण सह सौहृद्य= मैत्र्यम् , अवश्यं = निश्चयात् , करणीयं = कर्तव्यमिति । अन्यथा = यदि मैत्र न करिष्यसि, तदा तव द्वारि = अङ्गणे, अनाहारेण = अनशनेन, आत्मान = शरीरम्, व्यापादयिष्यामि = नाशयिष्यामीति ।

भा०—लघुपतनक काक ने कहा—'मैंने तुम्हारा कहना सब सुना, लेकिन मेरा तो यही सङ्कल्प है कि - तुम्हारे साथ मित्रता करना, अगर मित्रता नहीं करोगे तो तुम्हारे द्वार पर ही अनशन व्रत करके प्राण तज दूगा' ।

तथा हि—मृद्घटवत् सुखभेद्यो दुःसन्धानश्च दुर्जनो भवति ।
सुजनस्तु कनकघटवद् दुर्भेद्यश्चाशु सन्धेयः ॥ ९३ ॥

अ०—दुर्जन मृद्घटवत् सुखभेद्य दु सन्धानश्च भवति, सुजनस्तु कनकघटवत् दुर्भेद्य आशु सन्धेयश्च (भवति) व्या०—दुर्जन =दुष्टजन , मृदा निर्मित घट. मृद्घट. स इव, सुखभेद्य =सुखेन अनायासेन भेत्तु ध्वस्तु शक्य , दु'सन्धान = दुष्कर सन्धान पुन संयोगो यस्य स.एतादृशश्च भवतीति । सुजनस्तु=सज्जनस्तु, कनकघटवत् कनकेन निर्मित घट स इव, दुर्भेद्य. दुःखेन महताऽऽयासेन भेत्तु शक्य , अथ च आशु =झटिति, सन्धेय =सन्धातु योग्यो भवतीति ।

भा०—मिट्टी का घड़ा जैसे अल्प प्रहार से भी फूट जाता है और बहुत प्रयत्न करने पर भी फिर उन टुकड़ों की योजना नहीं हो सकती है वैसे ही दुर्जन का सङ्ग भी स्वल्प निमित्त से विनष्ट हो जाता है और अनेक उपाय करने पर भी अच्छी तरह से नहीं हो सकता है और सुवर्ण का घट जल्दी फूटता नहीं है, क्षत होने पर अल्प प्रयास से फिर जुड सकता है। वैसे सज्जन का सङ्ग भी अल्प हेतु से नष्ट नहीं होता है और थोड़ा न्यून हो जाने पर भी फिर अल्पप्रयास से सम्पूर्ण बन जाता है ॥ ९३ ॥

किञ्च—द्रवत्वात् सर्वलोहानां निमित्तात् मृगपक्षिणाम् ।
भयाल्लोभाच्च मूर्खाणां सङ्गतं दर्शनात् सताम् ॥ ९४ ॥

अ०—सर्वलोहाना द्रवत्वात्, मृगपक्षिणा निमित्तात्, मूर्खाणा भयाल्लोभाच्च सता दर्शनात् सङ्गत (भवति)। व्या०—सर्वलोहाना = सर्वेषां रजतकाञ्चनादीनां लोहानाम्, द्रवत्वात् = द्रवत्ववत्त्वात् (मेलनं भवतीति सम्बन्ध)। मृगपक्षिणाम् = मृगाश्च पक्षिणश्च तेषाम्, निमित्तात् = क्षेत्रे वृक्षे वा भोजननिवासादिनिमित्तात्, मूर्खा०। भयात् = कस्माच्चिदापतितत्रासात् लोभाच्च = किञ्चित्प्राप्त्यभिलाषेण च, सता = सत्पुरुषाणाम्, दर्शनादेव = परस्परावलोकनमात्रादेव, सङ्गतं = मेलनम्, एकता इति यावत्। भवतीति शेष।

भा०—सब प्रकार के धातुओं का मेल द्रवीभाव के कारण से होता है और पशु पक्षियों का मेल खेतो में भोजनादि निमित्त से तथा मूर्खों का मेल भय से वा लोभ से होता है और साधुजनों का मेल दर्शन मात्र से ही हो जाता है ॥ ९४ ॥

किञ्च—नारिकेलसमाकारा दृश्यन्ते हि सुहृज्जनाः ।
अन्ये बदरिकाऽऽकारा बहिरेव मनोहराः ॥ ९५ ॥

अ०—सुहृज्जना नारिकेलसमाकारा दृश्यन्ते, अन्ये बदरिकाकारा बहिरेवमनोहरा। व्या०—सुहृज्जना = सत्पुरुषा, नारिकेलसमाकारा—नारिकेलेन समः सदृशः आकारो येषान्ते = नारिकेलफलवत् बहिः कठिनाः, अन्तस्तु मधुरा इत्यर्थः। दृश्यन्ते जनैरिति शेष। अन्ये दुर्जनास्तु, बदरिकाकारा = बदरिकायाः कोलफलस्य आकार इव आकारो येषान्ते बदरिकाफलवत् अन्तः कषायकीटादिसदृशकापट्यादिदुष्टा इत्यर्थः बहिरेव = उपरित एव मनोहरा = मन. हरन्तीति मनोहरा = दूरतो रमणीया भवन्तीत्यर्थः।

भा०—सत्पुरुष नारियल फल की तरह ऊपर से कठोर और भीतर से अति मधुर रहते हैं। दुष्ट जन ऊपर से सुन्दर और भीतर भीतर से बेर के समान अन्दर में कोट-कषायादि के समान कापट्यादि दोष से युक्त होते हैं ॥ ९५ ॥

अत एव सतां सङ्गतिरिष्यते। (अतः सत्पुरुषों की सङ्गति चाहते हैं)।

अन्यच्च—स्नेहच्छेदेऽपि साधूनां गुणा नाऽऽयान्ति विक्रियाम्।
भङ्गेऽपि हि मृणालानामनुबध्नन्ति तन्तवः॥ ९६॥

अ०—साधूनां स्नेहच्छेदेऽपि गुणा विक्रियां न आयान्ति, हि मृणालानां भङ्गेऽपि तन्तवः अनुबध्नन्ति। व्या०—साधूनां=सज्जनानाम्, स्नेहच्छेदेऽपि=स्नेहस्य प्रणयस्य छेदेऽपि कदाचित् भङ्गेऽपि, गुणाः दयापरहितकरत्वादयः विक्रियाम्=अन्यथाभावं, न आयान्ति=न प्राप्नुवन्ति, हि=तथा हि, मृणालानां=कमलनालानाम्, भङ्गेऽपि=छेदे सत्यपि, तन्तवः=तदन्तःस्थसूक्ष्मसूत्राणि, अनुबध्नन्ति=सुसंश्लिष्टा एव तिष्ठन्ति।

भा०—साधुजनों का स्नेह टूटने पर भी उनके गुण सदा सद्गुण ही रहते हैं, दुर्गुण नहीं हो जाते। क्योंकि कमल का नाल टूट जाने पर भी उनके अन्तर्नाल में ग्रथित तन्तु अलग नहीं होते हैं॥ ९६॥

अन्यच्च—शुचित्वं त्यागिता शौर्यं सामान्यं सुखदुःखयोः।
दाक्षिण्यञ्चाऽनुरक्तिश्च सत्यता च सुहृद्गुणाः॥ ९७॥

अ०—शुचित्वं त्यागिता शौर्यं सुखदुःखयोः सामान्यं दाक्षिण्यम् अनुरक्तिः सत्यता च सुहृद्गुणाः। व्या०—शुचित्वं=पवित्रता अकृत्रिमत्वमित्यर्थः। त्यागिता=दानशीलता, शौर्यं=वीरता, सुखदुःखयोः=सुखञ्च दुःखञ्च सुखदुःखे, तयोः सुखदुःखयोः सुखे च दुःखे चेत्युभयत्र, सामान्यम्=समानभावः, दाक्षिण्यम्=औदार्यं सारल्यं च, अनुरक्तिः=सदाऽनुरागः, सत्यता=सत्यस्य भावः, एतानि, सर्वाणि, सुहृद्गुणाः=सुहृदः गुणाः, मित्रगुणा भवन्ति।

भा०—पवित्रता, दानशीलता, शूरता, सुख दुःख में समानता, उदारता, अनुराग, सत्यता ये सब मित्र के गुण हैं॥ ९७॥

'एतैर्गुणैरुपेतो भवदन्यो मया कः सुहृत् प्राप्तव्यः?' इत्यादि तद्वचनमाकर्ण्य हिरण्यको बहिः नि सृत्याऽऽह—'आप्यायितोऽहं भवतामेतेन वचनामृतेन'।

व्या०—एतैः=प्रदर्शितरूपैः, गुणैः=स्वधर्मैः, उपेतः=युक्तः, भवदन्यः=भवतः मूषिकात् अन्यः अपरः, कः सुहृत्=मित्रभूतः, प्राप्तव्य इति। हिरण्यकोऽपि इत्यादि तद्वचनं=तस्य काकस्य वचनं विश्वासपूर्णवाक्यम्, आकर्ण्य=श्रुत्वा, बहिः=विवरात् बहिर्भागे, निःसृत्य=निर्गत्य, आह—भवताम्=पूज्यानाम्, एतेन=पूर्वोक्तेन, वचनामृतेन=वचनम् अमृतमिव तेन अहम् आप्यायितः=द्रवीकृतः, सन्तोषित इत्यर्थः।

भा०—'इन सब गुणों से युक्त तुम्हारे बिना दूसरा कौन मित्र मिलेगा?' इत्यादि वचन को सुनकर हिरण्यक अपने विवर से बाहर निकल कर बोला—'आह! आपके अमृत वचनों से मैं बहुत प्रसन्नचित्त हुआ हूँ।

तथा चोक्तं—घर्मार्तं न तथा सुशीतलजलैः स्नानं न मुक्तावली
　　न श्रीखण्डविलेपनं सुखयति प्रत्यङ्गमप्यर्पितम् ।
प्रीत्यै सज्जनभाषितं प्रभवति प्रायो यथा चेतसः
　　सद्युक्त्या च परिष्कृतं सुकृतिनामाकृष्टिमन्त्रोपमम् ॥९८॥

अ०—सद्युक्त्या परिष्कृतं सुकृतिनामाकृष्टिमन्त्रोपम च सज्जनभाषितं यथा चेतस. प्रीत्यै प्रायः प्रभवति, तथा घर्मार्तं सुशीतलजलै. स्नानं न, मुक्तावली न, प्रत्यङ्गमर्पितं श्रीखण्डविलेपनम् अपि न सुखयति। व्या०—सद्युक्त्या = उत्तमदृष्टान्तादिना, परिष्कृतम् = स्फुटार्थकम्, सुकृतिनां = पुण्यवताम्, आकृष्टिमन्त्रोपमम् = आकृष्टि आकर्षण तदर्थं यो मन्त्र. स एव उपमा यस्य तत् वशीकरणमन्त्रसदृशं न सज्जनभाषित=महाजनवचनम्, यथा=यादृक्, चेतस. प्रीत्यै, प्राय =अधिकतया प्रभवति = समर्थं भवति तथा = तादृक, घर्मार्तं = घर्मेण ग्रीष्मोष्मणा आर्तं. तापितः तम्, तादृशं जनमित्यर्थः (कर्म)। सुशीतलजल =सुशीतलानि च तानि जलानि च तैः अतिशीतलजलैः, कृतं स्नान (कर्तृ) न सुखयति (शीतलयति) इत्यन्वय.। एवं मुक्तावली = मुक्तादाम अपि न सुखयति, एवं प्रत्यङ्गम् = अङ्ग अङ्गं इति प्रत्यङ्ग सर्वाङ्गे इत्यर्थः। अर्पित = चर्चितम्, श्रीखण्डविलेपनम् = श्रीखण्डस्य चन्दनस्य विलेपन च न सुखयतीति। (शार्दूलविक्रीडित वृत्तम्)।

भा०—सुन्दर नीतिमय युक्तियों से स्फुटार्थ युक्त, वशीकरण मन्त्र के समान तेजस्वी सुहृज्जन का वचन जितना चित्त को प्रसन्न करता है उतना ग्रीष्मतापतप्त जन को शीतल जलों से स्नान, मुक्ताहार तथा प्रत्यङ्ग में लिप्त चन्दन भी शान्ति नहीं देता है॥

अन्यच्च—रहस्यभेदो याच्ञा च नैष्ठुर्यं चलचित्तता।
　　क्रोधो निःसत्यता द्यूतमेतन्मित्रस्य दूषणम् ॥ ९९ ॥

अ०—रहस्यभेद. याच्ञा नैष्ठुर्यं चलचित्तता क्रोधः नि सत्यता द्यूतञ्च एतत् मित्रस्य दूषणम् अस्ति।

व्या०—रहस्यस्य =गुप्तमन्त्रस्य भेद = अन्यत्र प्रकाशम्, याच्ञा = धनादीनां प्रार्थना, नैष्ठुर्यं = क्रूरता निर्दयता, चलचित्तता=चलम् अव्यवस्थित चित्त मन. तस्य भावः, क्रोधः = कोपः, नि.सत्यता=असत्यता मिथ्यावादित्वम्, द्यूतम्=अक्षक्रीडा च, एतत् सर्वं मित्रस्य = सुहृद्भावस्य, दूषण = भङ्गकरत्वात् दूषणरूपमित्यर्थ।

भा०—गुप्तवार्ता को अन्यत्र प्रकट करना, धनादिक का माँगना, क्रूरता रखना, चित्त की अव्यवस्थितता, क्रोध रखना, असत्य बोलना, द्यूत खेलना ये सब मित्रता के दूषणरूप हैं॥ ९९॥

अनेन वचनक्रमेण तत् एकमपि दूषणं त्वयि न लक्ष्यते।

व्या०—अनेन=पूर्वोक्तेन, तव वचनक्रमेण = वचनानां क्रमः उत्तरोत्तरकथनम्,

तेन तत्=पूर्वोक्तम् असुहृदः, एकमपि=तदन्यतमगपि, दूषणं त्वयि = भवति, न लक्ष्यते = न प्रतीयते इति ।

भा०—इन सब पूर्वोक्त तुम्हारे वचनों से मालूम होता है कि उनमें से एक भी दूषण तुम्हारे में नहीं है ।

यतः—पटुत्वं सत्यवादित्वं कथायोगेन बुद्ध्यते ।
अस्तब्धत्वमचापल्यं प्रत्यक्षेणाऽवगम्यते ॥ १०० ॥

अ०—पटुत्वं सत्यवादित्वं कथायोगेन बुध्यते, अस्तब्धत्वम् अचापल्यं प्रत्यक्षेण अवगम्यते ॥

व्या०—पटुत्वं = दक्षता सत्यवादित्व = सत्य वदतीति सत्यवादी तस्य भावः, सत्यपरायणतेत्यर्थः । कथायोगेन, कथायाः वार्तायाः योगः प्रसङ्गस्तेन, बुध्यते=ज्ञायते अनुमीयते । अस्तब्धत्वम्=जाड्यराहित्यम् , उत्साहवत्त्वमिति यावत् । अचापल्यम् = चपलस्य भाव. चापल्य चञ्चलता तन्न भवतीति अचापल्य स्थिरता, धीरतेति यावत् । प्रत्यक्षेण = दर्शनेनैव, अवगम्यते = प्रतीयते इति ।

भा०—वाक्-चतुरता तथा सत्यवादिता ये दोनों वार्तालाप से मालूम होते हैं, और प्रत्यक्ष से तो उत्साह शक्ति तथा धीरता ये दोनों निश्चित होते हैं (अत तुम मित्रता के योग्य हो) ॥

अपरञ्च—अन्यथैव हि सौहार्दं भवेत् स्वच्छान्तरात्मनः ।
प्रवर्ततेऽन्यथा वाणी शाठ्योपहतचेतसः ॥

अ०—स्वच्छान्तरात्मन. सौहार्दम् अन्यथैव भवेत्, हि शाठ्योपहतचेतस· वाणी अन्यथा प्रवर्तते । व्या०—स्वच्छ.=कापट्यादिशून्य', निर्मल., अन्तरात्मा= अन्तःकरण मानसं यस्य स तस्य निर्दोषान्त करणस्येत्यर्थं । सौहार्दं=सुहृदो भावः मित्रता, अन्यथैव-अन्यप्रकारेणव, भवेत् , हि = निश्चयार्थं. । अथ च शाठ्योपहतचेतसः=शठस्य भाव शाठ्य धूर्तता तेन उपहत व्याप्तं चेतो यस्य तस्य धूर्तस्येत्यर्थः। वाणी=वार्तालाप., अन्या = अन्यप्रकारेण, प्रवर्तते = नि·सरतीति ।

भा०—स्वच्छान्त करण वाले की मैत्री दूसरी रीति से ही (उत्तम भाव से ही) होती है और शठात्मा पुरुष की तो वाणी दूसरे ढङ्ग से निकलती है ॥ १०१ ॥

मनस्यन्यद् वचस्यन्यत् कर्मण्यन्यद् दुरात्मनाम् ।
मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम् ॥ १०२ ॥

अ०—दुरात्मनाम् मनसि अन्यद् वचसि अन्यत् कर्मणि अन्यद् , महात्मनां मनसि एक वचसि एक कर्मणि एकम् । व्या०—दुरात्मनाम्=दुष्टान्त करणानां जनानाम् । मनसि=हृदये, अन्यत्=अन्यप्रकार वर्तते, वचसि=वाक्ये, अन्यत् तदन्यथा वर्तते, कर्मणि=कर्तव्य विषये तु, अन्यत्=वाङ्मनसयोर्विपरीतं वर्तते इति, महात्मनां

महापुरुषाणां तु, मनसि=एकम् एकप्रकारम्, वचसि तदेव एकम्, कर्मण्यपि तदेवैकम्, वाङ्मनःकर्मसु अविपरीतमेव वर्तते इति।

भा०—खल पुरुषों के अन्तःकरण में कुछ दूसरा ही और कुछ दूसरा ही वचन में रहता है और तीसरा ही कुछ करनी में रहता है। महात्मा पुरुष के हृदय में जो रहता है वही बोलते हैं और वैसा ही करते हैं ॥ १०२ ॥

'तद्भवतु भवतः अभिमतमेव' इत्युक्त्वा हिरण्यको मैत्र्यं विधाय भोजनविशेषैर्वायसं सन्तोष्य विवरं प्रविष्टः। वायसोऽपि स्वस्थानं गतः। ततः प्रभृति तयोः अन्योऽन्याहारप्रदानेन कुशलप्रश्नैः विस्रम्भालापैश्च कियत्कालोऽतिवर्तते। एकदा लघुपतनको हिरण्यकमाह—'सखे! वायसस्य कष्टतरलभ्याहारमिदं स्थानम्। तदेतत् परित्यज्य स्थानान्तरं गन्तुमिच्छामि'। हिरण्यको ब्रूते—

व्या०—तत्=तस्मात् पूर्वोक्तधार्मिकत्वादिहेतो, भवतः=काकस्य, अभिमतमेव=अभिलषितमेव, भवतु=अस्तु, इत्युक्त्वा हिरण्यकः=मूषिकराजः, मैत्र्यं=सख्यम्, विधाय=कृत्वा, भोजनविशेषैः=भोजनानां भक्ष्यभोज्यपदार्थानां विशेषाः नूतनप्रकाराः तैः, वायसं=काकम्, सन्तोष्य=तृप्तं कृत्वा, विवरं=बिलं प्रविष्टः। ततः वायसः=काकः अपि, स्वस्थानं प्रतिगतः। ततः=तस्मात् दिवसात्, प्रभृति=आरभ्य, तयोः=काकमूषिकयोः, अन्योन्याहारप्रदानेन=अन्योन्यस्मै आहारस्य प्रदानेन, कुशलस्य क्षेमस्य प्रश्नैः, विस्रम्भस्य विश्वासस्य आलापैः कथाभिः, कियत्कालः=कियान् समयः, अतिवर्तते निर्गच्छति। लघुपतनकः काकः एकदा हिरण्यकं मूषिकमाह—सखे! वायसस्य=काकस्य, कष्टेन लभ्यः आहारो यस्मिन् तत् तादृशम्, इदम्=एतत्, स्थानं=स्थलं, वर्तते। तदेतत्=तस्माद्धेतोः एतत् स्थानं परित्यज्य=विहाय, स्थानान्तरम्=अन्यत् स्थानं, गन्तुमिच्छामि। हिरण्यकः, ब्रूते—कथयति—

भा०—अच्छा 'तुम्हारी इच्छानुसार ही हो' ऐसा कह कर हिरण्यक मित्रता करके अनेकविशेष भोजन से काक को सन्तुष्ट करके अपने बिवर में घुस गया, काक भी अपने निवास स्थान पर चला गया। उस दिन से दोनों का परस्पर भोजन देना, कुशल समाचार पूछना, वार्तालाप करना इत्यादि से कुछ समय व्यतीत हो रहा है। एक दिन लघुपतनक ने हिरण्यक से कहा—'मित्र! काक का भोजन इस स्थान में अति कठिनाई से मिल रहा है। अतः इस स्थान को छोड़ कर अन्यत्र जाना चाहता हूँ'। हिरण्यक बोला—

स्थानभ्रष्टा न शोभन्ते दन्ताः केशा नखा नराः।
इति विज्ञाय मतिमान् स्वस्थानं न परित्यजेत् ॥ १०३ ॥

अ०—दन्ताः केशाः नखाः नराः स्थानभ्रष्टाः न शोभन्ते, इति विज्ञाय मतिमान् स्वस्थानं न परित्यजेत्। व्या०—दन्ताः=दशनाः, केशाः=कचाः, नखाः=कररुहाः,

नराः=मनुष्याः, स्थानभ्रष्टाः=स्थानात् स्वस्वोचितस्थानात् भ्रष्टाः प्रच्युताः सन्तः, न शोभन्ते, अतः इति विज्ञाय=इत्येवंसम्यग् विविच्य, मतिमान्=बुद्धिमान्, स्वस्थानं=स्वस्य आत्मनः स्थानं योग्यपदम्, न परित्यजेत्=विहाय नाऽन्यत्र गच्छेत्।

भा०—दाँत, केश, नख तथा मनुष्य ये चारों अपने स्थान से भ्रष्ट होने पर नहीं शोभा देते हैं, इसलिये बुद्धिमान् मनुष्य अपने स्थान को त्याग न करे॥ १०३॥

काको ब्रूते— मित्र! कापुरुषस्य वचनमेतत्।

भा०—काक ने कहा—'मित्र! निर्बल पुरुष का ऐसा बोलना होता है।

यतः—स्थानमुत्सृज्य गच्छन्ति सिंहाः सत्पुरुषा गजाः।
तत्रैव निधनं यान्ति काकाः कापुरुषा मृगाः॥ १०४॥

अ०—सिंहाः सत्पुरुषाः गजाः स्थानम् उत्सृज्य गच्छन्ति, काकाः कापुरुषाः मृगाः तत्रैव निधनं यान्ति। व्या०—सिंहाः=केसरिणः, सत्पुरुषाः=सज्जनाः गजाः=करिणः, स्थानं=स्वनिवासभूमिम्, उत्सृज्य-परित्यज्य, गच्छन्ति। किन्तु काकाः=वायसाः कापुरुषाः=कुत्सिताः पुरुषाः निर्बलपुरुषाः, मृगाः=हरिणादयः, तत्रैव स्वनिवासे एव, निधनं=मरणं, यान्ति=गच्छन्ति।

भा०—सिंह सत्पुरुष, हाथी, ये सब अपने स्थान को छोड़कर अन्यत्र जाकर जीविका प्राप्त करते हैं और काक, क्षुद्र पुरुष और मृग ये सब जीविका न मिलने पर भी अपने ही स्थान में मरते हैं॥ १०४॥

अन्यच्च—को वीरस्य मनस्विनः स्वविषयः को वा विदेशः स्मृतः
यं देशं श्रयते तमेव कुरुते बाहुप्रतापार्जितम्।
यद् दंष्ट्रानखलाङ्गुलप्रहरणः सिंहो वनं गाहते
तस्मिन्नेव हतद्विपेन्द्ररुधिरैस्तृष्णां छिनत्त्यात्मनः॥ १०५॥

अ०—मनस्विनः वीरस्य स्वविषयः कः? विदेशो वा कः स्मृतः, (सः) यं देशं श्रयते तमेव बाहुप्रतापार्जितं कुरुते। दंष्ट्रानखलाङ्गुलप्रहरणः सिंहः यद् वनं गाहते तस्मिन्नेव हतद्विपेन्द्ररुधिरैः आत्मनः तृष्णां छिनत्ति। व्या०—मनस्विनः=सवीर्यचेतसः, वीरस्य=शूरस्य स्वविषयः=स्वस्य विषयः देशः कः? विदेशः=परदेशः वा कः? स्मृतः=कथितः। (सः) वीरः, यं, देशं, श्रयते=अवलम्बते, तमेव देशं, बाहुप्रतापार्जितम्=बाह्वोः प्रतापेन अर्जितः आयत्तीकृतः तम् भुजबलेन स्वाधिकृतमित्यर्थः। कुरुते। यतः दंष्ट्रानखलाङ्गुलप्रहरणः=दंष्ट्राः प्रधानदन्ताः, लाङ्गुलं=बालधिः, (लाङ्गूलं इति दीर्घप्रयोगः साधु, ह्रस्वप्रयोगस्तु छन्दोऽनुरोधादनुसन्धेयः) तान्येव प्रहरणानि अस्त्रभूतानि यस्य सः, एतादृशः सिंहः—मृगेन्द्रः, यद् वनं (कर्म), गाहते-प्रविशति, तस्मिन्नेव वने हतद्विपेन्द्ररुधिरैः=हताः व्यापादिताः ये द्विपेन्द्राः, द्वाभ्यां मुखशुण्डाभ्यां पिबन्तीति द्विपाः गजाः, द्विपानाम् इन्द्राः श्रेष्ठाः तेषां रुधिरैः

महापुरुषाणां तु, मनसि=एकम् एकप्रकारम्, वचसि तदेव एकम्, कर्मण्यपि तदेवैकम्, वाङ्मनःकर्मसु अविपरीतमेव वर्तते इति।

भा०—खल पुरुषों के अन्तःकरण में कुछ दूसरा ही और कुछ दूसरा ही वचन में रहता है और तीसरा ही कुछ करनी में रहता है। महात्मा पुरुष के हृदय में जो रहता है वही बोलते हैं और वैसा ही करते हैं॥ १०२॥

'तद्भवतु भवत. अभिमतमेव' इत्युक्त्वा हिरण्यको मैत्र्यं विधाय भोजनविशेषैर्वायसं सन्तोष्य विवरं प्रविष्टः। वायसोऽपि स्वस्थानं गतः। ततः प्रभृति तयो' अन्योऽन्याहारप्रदानेन कुशलप्रश्नैः विस्रम्भालापैश्च कियत्कालोऽतिवर्तते। एकदा लघुपतनको हिरण्यकमाह—'सखे! वायसस्य कष्टतरलभ्याहारमिदं स्थानम्। तदेतत् परित्यज्य स्थानान्तरं गन्तुमिच्छामि'। हिरण्यको ब्रूते—

व्या०—तत्=तस्मात् पूर्वोक्तधार्मिकत्वादिहेतो, भवत'=काकस्य, अभिमतमेव=अभिलषितमेव, भवतु—अस्तु, इत्युक्त्वा हिरण्यकः=मूषिकराजः, मैत्र्यं=सख्यम्, विधाय=कृत्वा, भोजनविशेषैः=भोजनानां भक्ष्यभोज्यपदार्थानां विशेषा' नूतनप्रकारा' तैः, वायसं=काकम्, सन्तोष्य=तृप्तं कृत्वा, विवरं=बिलं प्रविष्टः। ततः वायसः=काक अपि, स्वस्थानं प्रतिगत'। ततः=तस्मात् दिवसात्, प्रभृति=आरभ्य, तयोः=काकमूषिकयोः, अन्योन्याहारप्रदानेन=अन्योन्यस्मै आहारस्य प्रदानेन, कुशलस्य क्षेमस्य प्रश्नैः, विस्रम्भस्य विश्वासस्य आलापैः कथाभिः, कियत्कालः=कियान् समय, अतिवर्तते निर्गच्छति। लघुपतनक' काकः एकदा हिरण्यकं मूषिकमाह—सखे! वायसस्य=काकस्य, कष्टेन लभ्य. आहारो यस्मिन् तत् तादृशम्, इदम्=एतत्, स्थानं=स्थलं, वर्तते। तदेतत्=तस्माद्धेतो एतत् स्थानं परित्यज्य=विहाय, स्थानान्तरम्=अन्यत् स्थानं, गन्तुमिच्छामि। हिरण्यकः, ब्रूते—कथयति—

भा०—अच्छा 'तुम्हारी इच्छानुसार ही हो' ऐसा कह कर हिरण्यक मित्रता करके अनेकविशेष भोजन से काक को सन्तुष्ट करके अपने विवर में घुस गया, काक भी अपने निवास स्थान पर चला गया। उस दिन से दोनों का परस्पर भोजन देना, कुशल समाचार पूछना, वार्तालाप करना इत्यादि से कुछ समय व्यतीत हो रहा है। एक दिन लघुपतनक ने हिरण्यक से कहा—'मित्र! काक का भोजन इस स्थान में अति कठिनाई से मिल रहा है। अत इस स्थान को छोड कर अन्यत्र जाना चाहता हूँ'। हिरण्यक बोला—

स्थानभ्रष्टा न शोभन्ते दन्ताः केशा नखा नराः।
इति विज्ञाय मतिमान् स्वस्थानं न परित्यजेत्॥ १०३॥

अ०—दन्ता' केशा' नखाः नरा' स्थानभ्रष्टाः न शोभन्ते, इति विज्ञाय मतिमान् स्वस्थानं न परित्यजेत्। व्या०—दन्ताः=दशनाः, केशाः=कचाः, नखाः=करजाः,

नराः=मनुष्याः, स्थानभ्रष्टाः=स्थानात् स्वस्वोचितस्थानात् भ्रष्टाः प्रच्युताः सन्तः, न शोभन्ते, अतः इति विज्ञाय=इत्येवसम्यग् विविच्य, मतिमान्=बुद्धिमान्, स्वस्थान=स्वस्य आत्मनः स्थानं योग्यपदम्, न परित्यजेत्=विहाय नाऽन्यत्र गच्छेत्।

भा०—दाँत, केश, नख तथा मनुष्य ये चारों अपने स्थान से भ्रष्ट होने पर नहीं शोभा देते हैं, इसलिये बुद्धिमान् मनुष्य अपने स्थान को त्याग न करे॥ १०३॥

काको ब्रूते— मित्र! कापुरुषस्य वचनमेतत्।

भा०—काक ने कहा—'मित्र! निर्बल पुरुष का ऐसा बोलना होता है।

यत.—स्थानमुत्सृज्य गच्छन्ति सिंहाः सत्पुरुषा गजाः।
तत्रैव निधनं यान्ति काकाः कापुरुषा मृगाः॥ १०४॥

अ०—सिंहाः सत्पुरुषाः गजाः स्थानम् उत्सृज्य गच्छन्ति, काकाः कापुरुषाः मृगाः तत्रैव निधनं यान्ति। व्या०—सिंहाः=केसरिणः, सत्पुरुषाः=सज्जनाः, गजाः=करिणः, स्थान=स्वनिवासभूमिम्, उत्सृज्य-परित्यज्य, गच्छन्ति। किन्तु काकाः=वायसाः कापुरुषाः=कुत्सिताः पुरुषाः निर्बलपुरुषाः, मृगाः=हरिणादयः, तत्रैव स्वनिवासे एव, निधनं=मरणं, यान्ति=गच्छन्ति।

भा०—सिंह सत्पुरुष, हाथी, ये सब अपने स्थान को छोड़कर अन्यत्र जाकर जीविका प्राप्त करते हैं और काक, क्षुद्र पुरुष और मृग ये सब जीविका न मिलने पर भी अपने ही स्थान में मरते हैं॥ १०४॥

अन्यच्च—को वीरस्य मनस्विनः स्वविषयः को वा विदेशः स्मृतः
यं देशं श्रयते तमेव कुरुते बाहुप्रतापार्जितम्।
यद् दंष्ट्रानखलाङ्गुलप्रहरणः सिंहो वनं गाहते
तस्मिन्नेव हतद्विपेन्द्ररुधिरैस्तृष्णां छिनत्त्यात्मनः॥ १०५॥

अ०—मनस्विनः वीरस्य स्वविषयः कः? विदेशो वा कः स्मृतः, (स) यं देशं श्रयते तमेव बाहुप्रतापार्जितं कुरुते। दंष्ट्रानखलाङ्गुलप्रहरणः सिंहः यद् वनं गाहते तस्मिन्नेव हतद्विपेन्द्ररुधिरैः आत्मनः तृष्णां छिनत्ति। व्या०—मनस्विनः=सवीर्यचेतसः, वीरस्य=शूरस्य स्वविषयः=स्वस्य विषयः देशः कः? विदेशः=परदेशः वा कः? स्मृतः=कथितः। (स) वीरः, यं, देशं, श्रयते=अवलम्बते, तमेव देशं, बाहुप्रतापार्जितम्=बाह्वोः प्रतापेन अर्जितम् आयत्तीकृतः तम् भुजबलेन स्वाधिकृतमित्यर्थः। कुरुते। यत् दंष्ट्रानखलाङ्गुलप्रहरणः=दंष्ट्राः प्रधानदन्ताः, लाङ्गुल=वालधिः, (लाङ्गूलं इति दीर्घप्रयोगः साधुः, ह्रस्वप्रयोगस्तु छन्दोऽनुरोधादनुसन्धेयः) तान्येव प्रहरणानि अस्त्रभूतानि यस्य सः, एतादृशः सिंहः—मृगेन्द्रः, यद् वनं (कर्म), गाहते-प्रविशति, तस्मिन्नेव वने हतद्विपेन्द्ररुधिरैः=हताः व्यापादिताः ये द्विपेन्द्राः, द्वाभ्यां मुखशुण्डाभ्यां पिबन्तीति द्विपाः गजाः, द्विपानाम् इन्द्राः श्रेष्ठाः तेषां रुधिरैः

महापुरुषाणां तु, मनसि=एकम् एकप्रकारम्, वचसि तदेव एकम्, कर्मण्यपि तदे-चैकम्, वाङ्मनःकर्मसु अविपरीतमेव वर्तते इति।

भा०—खल पुरुषों के अन्तःकरण में कुछ दूसरा ही और कुछ दूसरा ही वचन में रहता है और तीसरा ही कुछ करनी में रहता है। महात्मा पुरुष के हृदय में जो रहता है वही बोलते हैं और वैसा ही करते हैं॥ १०२॥

'तद्भवतु भवत. अभिमतमेव' इत्युक्त्वा हिरण्यको मैत्र्यं विधाय भोजनविशेषैर्वायसं सन्तोष्य विवरं प्रविष्टः। वायसोऽपि स्वस्थानं गतः। ततः प्रभृति तयो' अन्योऽन्याहारप्रदानेन कुशलप्रश्नैः विश्रम्भालापैश्च कियत्कालोऽतिवर्तते। एकदा लघुपतनको हिरण्यकमाह—'सखे! वायसस्य कष्टतरलभ्याहारमिदं स्थानम्। तदेतत् परित्यज्य स्थानान्तरं गन्तुमिच्छामि'। हिरण्यको ब्रूते—

व्या०—तत्=तस्मात् पूर्वोक्तधार्मिकत्वादिहेतो', भवत'=काकस्य, अभिमतमेव=अभिलषितमेव, भवतु=अस्तु, इत्युक्त्वा हिरण्यक. =मूषिकराजः, मैत्र्यं=सख्यम्, विधाय=कृत्वा, भोजनविशेषै =भोजनानां भक्ष्यभोज्यपदार्थाना विशेषाः नूतनप्रकाराः तैः, वायसं=काकम्, सन्तोष्य=तृप्त कृत्वा, विवरं=बिल प्रविष्ट। तत. वायसः=काकः अपि, स्वस्थान प्रतिगतः। ततः=तस्मात् दिवसात्, प्रभृति=आरभ्य, तयो =काकमूषिकयो., अन्योन्याहारप्रदानेन=अन्योन्यस्मै आहारस्य प्रदानेन, कुशलस्य क्षेमस्य प्रश्नै', विश्रम्भस्य विश्वासस्य आलापै' कथाभिः, कियत्कालः=कियान् समयः, अतिवर्तते निर्गच्छति। लघुपतनकः काक. एकदा हिरण्यक मूषिकमाह—सखे! वायसस्य=काकस्य, कष्टेन लभ्य. आहारो यस्मिन् तत् तादृशम्, इदम्=एतत्, स्थानं=स्थल, वर्तते। तदेतत्=तस्माद्धेतो' एतत् स्थान परित्यज्य=विहाय, स्थानान्तरम्=अन्यत् स्थानं, गन्तुमिच्छामि। हिरण्यक, ब्रूते—कथयति—

भा०—अच्छा 'तुम्हारी इच्छानुसार ही हो' ऐसा कह कर हिरण्यक मित्रता करके अनेकविशेष भोजन से काक को सन्तुष्ट करके अपने विवर में घुस गया, काक भी अपने निवास स्थान पर चला गया। उस दिन से दोनों का परस्पर भोजन देना, कुशल समाचार पूछना, वार्तालाप करना इत्यादि से कुछ समय व्यतीत हो रहा है। एक दिन लघुपतनक ने हिरण्यक से कहा—'मित्र! काक का भोजन इस स्थान में अति कठिनाई से मिल रहा है। अत इस स्थान को छोड कर अन्यत्र जाना चाहता हूँ'। हिरण्यक बोला—

स्थानभ्रष्टा न शोभन्ते दन्ताः केशा नखा नराः।
इति विज्ञाय मतिमान् स्वस्थानं न परित्यजेत्॥ १०३॥

अ०—दन्ता' केशा. नखा. नराः स्थानभ्रष्टा न शोभन्ते, इति विज्ञाय मतिमान् स्वस्थानं न परित्यजेत्। व्या०—दन्ता.=दशनाः, केशाः=कचा., नखा =कररुहा,

नराः=मनुष्याः, स्थानभ्रष्टाः=स्थानात् स्वस्वोचितस्थानात् भ्रष्टाः प्रच्युताः सन्त', न शोभन्ते, अतः इति विज्ञाय=इत्येवंसम्यग् विविच्य, मतिमान्=बुद्धिमान् , स्वस्थानं= स्वस्य आत्मन' स्थानं योग्यपदम् , न परित्यजेत् = विहाय नाऽन्यत्र गच्छेत्।

भा०—दाँत, केश, नख तथा मनुष्य ये चारों अपने स्थान से भ्रष्ट होने पर नहीं शोभा देते हैं, इसलिये बुद्धिमान् मनुष्य अपने स्थान को त्याग न करे॥ १०३॥

काको ब्रूते— मित्र! कापुरुषस्य वचनमेतत्'।

भा०—काक ने कहा—'मित्र! निर्बल पुरुष का ऐसा बोलना होता है।

यतः—स्थानमुत्सृज्य गच्छन्ति सिंहाः सत्पुरुषा गजाः।
तत्रैव निधनं यान्ति काकाः कापुरुषा मृगाः॥ १०४॥

अ०—सिंहाः सत्पुरुषाः गजाः स्थानम् उत्सृज्य गच्छन्ति, काका' कापुरुषाः मृगाः तत्रैव निधनं यान्ति। व्या०—सिंहाः=केसरिणः, सत्पुरुषाः=सज्जनाः गजाः= करिणः, स्थानं=स्वनिवासभूमिम्, उत्सृज्य-परित्यज्य, गच्छन्ति। किन्तु काकाः= वायसाः कापुरुषाः=कुत्सिता' पुरुषा' निर्बलपुरुषाः, मृगाः=हरिणादयः, तत्रैव स्वनिवासे एव, निधनं=मरणं, यान्ति=गच्छन्ति।

भा०—सिंह सत्पुरुष, हाथी, ये सब अपने स्थान को छोड़कर अन्यत्र जाकर जीविका प्राप्त करते हैं और काक, क्षुद्र पुरुष और मृग ये सब जीविका न मिलने पर भी अपने ही स्थान में मरते हैं॥ १०४॥

अन्यच्च—को वीरस्य मनस्विनः स्वविषयः को वा विदेशः स्मृतः
यं देशं श्रयते तमेव कुरुते बाहुप्रतापार्जितम्।
यद् दंष्ट्रानखलाङ्गूलप्रहरणः सिंहो वनं गाहते
तस्मिन्नेव हतद्विपेन्द्ररुधिरैस्तृष्णां छिनत्त्यात्मनः॥ १०५॥

अ०—मनस्विन' वीरस्य स्वविषयः कः? विदेशो वा कः स्मृतः, (स) यं देशं श्रयते तमेव बाहुप्रतापार्जितं कुरुते। दंष्ट्रानखलाङ्गूलप्रहरणः सिंहः यद् वनं गाहते तस्मिन्नेव हतद्विपेन्द्ररुधिरैः आत्मनः तृष्णां छिनत्ति। व्या०—मनस्विनः=सवीर्यचेतस, वीरस्य=शूरस्य स्वविषयः=स्वस्य विषयः देशः कः? विदेशः=परदेशः वा कः? स्मृतः=कथितः। (स) वीरः, यं, देशं, श्रयते=अवलम्बते, तमेव देशं, बाहुप्रतापार्जितम्=बाह्वोः प्रतापेन अर्जितः आयत्तीकृत' तम् भुजबलेन स्वाधिकृतमित्यर्थः। कुरुते। यत दंष्ट्रानखलाङ्गूलप्रहरणः=दंष्ट्राः प्रधानदन्ताः, लाङ्गूलं=बालधिः, (लाङ्गूल इति दीर्घप्रयोग साधु, ह्रस्वप्रयोगस्तु छन्दोनुरोधादनुसन्धेय) तान्येव प्रहरणानि अस्त्रभूतानि यस्य स, एतादृशः सिंहः—मृगेन्द्रः, यद् वनं (कर्म), गाहते-प्रविशति, तस्मिन्नेव वने हतद्विपेन्द्ररुधिरैः=हताः व्यापादिताः ये द्विपेन्द्राः, द्वाभ्यां मुखशुण्डाभ्यां पिबन्तीति द्विपाः गजाः, द्विपानाम् इन्द्राः श्रेष्ठाः तेषां रुधिरैः

मांसादिभिः, आत्मनः=स्वस्य, तृष्णां जाठरतृप्तिवाञ्छां, छिनत्ति=निवारयति पूरयतीति यावत्। (शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम्)।

भा०—सामर्थ्ययुक्त वीर पुरुष को कौन सा अपना देश और कौन सा पर देश है। अर्थात् कोई नहीं। वह जिस में है वहाँ अपने भुजबल से ही जीवनादि वृत्तियों को प्राप्त करके ही रहता है, क्योंकि दन्त नख, पूछ ये सब शस्त्र हैं जिनके ऐसा सिंह जिस वन में जाता है। वहाँ अपने बल से हाथियों को मारकर अपनी जीवनवृत्ति चलाता है॥

हिरण्यको ब्रूते—मित्र क्व गन्तव्यम्?

भा०—हिरण्यक ने कहा—'मित्र, कहाँ जाओगे?

तथा चोक्तम्—चलत्येकेन पादेन तिष्ठत्येकेन बुद्धिमान्।

नाऽसमीक्ष्य परं स्थानं पूर्वमायतनं त्यजेत्॥ १०६॥

अ०—बुद्धिमान् एकेन पादेन चलति, एकेन तिष्ठति, परं स्थानम् असमीक्ष्य पूर्वम् आयतनं न त्यजेत्। व्या०—बुद्धिमान्=बुद्धिर्विद्यतेऽस्यासौ बुद्धिमान् जनः, एकेन पादेन=चरणेन, चलति=गच्छति, एकेन अपरेण च पादेन, तिष्ठति=आधारमवलम्बते, ततः परम्=अग्रिमम्, आगामिस्थानं लक्ष्यम्, असमीक्ष्य=सम्यग् अपरीक्ष्य अनवलोक्य, पूर्वम्=उपलब्ध स्थानं न त्यजेत्।

भा०—बुद्धिमान् मनुष्य एक पैर में चलता है और एक पैर से स्थित रहता है, अर्थात् आगे देख देखकर चलता है। इसलिये प्राप्त करने योग्य स्थान को ठीक ठीक परीक्षा किये बिना प्रथम स्थान नहीं छोड़ना चाहिये॥ १०६॥

वायसो ब्रूते—'मित्र! अस्ति सुनिरूपितं स्थानम्।' हिरण्यकोऽवदत्—'किं तत्?' वायसः कथयति—अस्ति दण्डकारण्ये कर्पूरगौराभिधानं सरः। तत्र चिरकालोपार्जितः प्रियसुहृन्मे मन्थराऽभिधानः कूर्मः सहजधार्मिकः प्रतिवसति। पश्य मित्र!—

व्या०—वायसः=काक, ब्रूते मित्र! हिरण्यक! सुनिरूपितं=सम्यक् परीक्षित स्थानं=स्थलम् अस्ति। हिरण्यकः=मूषिकराज, अवदत्-किं तत्=किमभिधानं तत्स्थानमिति। वायसः कथयति-दण्डकारण्ये=दण्डकं च तदारण्यं च अरण्य तस्मिन् दण्डकारण्येऽरण्ये। कर्पूरवत् गौरम् इति (पुरा दण्डो नाम इक्ष्वाकुवंशीयो राजा शुक्राचार्यस्य कन्यां बलाद्धृतवान्, ततः संकुपितवशिष्ठशापेन भृत्यकलत्रवाहनादिसहितः तत्र विनष्टः, राज्यं च अरण्यं जातम्, तत आरभ्य 'दण्डकारण्य' मिति नाम इति रामायणी कथा)। कर्पूरगौराभिधान—कर्पूरवत् गौरम् इति कर्पूरगौरम्=शुभ्रजलम्, तदेव गुणानुरूपम् अभिधानं यस्य तदिति। सरः=सरोवरम्, अस्ति=विद्यते। तत्र सरोवरे। चिरकालोपार्जित=बहुकालेन उपार्जितः मित्रत्वेन प्राप्तः, मे=मम, सुहृत्=मित्रम्, सहजधार्मिकः सहजः धार्मिकः स्वभावात् धर्मप्रियः 'मन्थराभिधानः' मन्थर

इति नाम यस्य तथोक्तः, कूर्मः=कच्छपः, प्रतिवसति=वासं करोति, मित्र !=सखे !, पश्य अवधानं कुरु, शृणु इति यावत्—

भा०—काक ने कहा–'मित्र हिरण्यक ! एक सुपरिचित स्थान है।' हिरण्यक ने कहा–'कौन सा ?' काक ने कहा–दण्डक वन में कर्पूरगौर नामक सरोवर है, वहाँ पर बहुत काल से परिचित स्वभाव से धार्मिक मेरा प्रिय मित्र 'मन्थर' नाम का कच्छप रहता है। क्योंकि हे मित्र !—

परोपदेशे पाण्डित्यं सर्वेषां सुकरं नृणाम् ।
धर्मे स्वीयमनुष्ठानं कस्यचित्तु महात्मनः ॥ १०७ ॥

अ०—सर्वेषां नृणां परोपदेशे पाण्डित्यं सुकरं, तु कस्यचिन्महात्मनः धर्मे स्वीयं अनुष्ठानं (सुकरम्)। व्या०—सर्वेषां=यावताम्, नृणां=मनुष्याणाम्, परोपदेशे=परस्मै परस्य वा उपदेशवचनं तस्मिन्, पाण्डित्यम्=पण्डितस्य भावः नैपुण्यम्, सुकरम्=सुखेन क्रियते तत् सुकरम् अकठिनं भवति, तु=किन्तु, कस्यचित्, महात्मनः=सत्पुरुषस्य, धर्मे, स्वीयम्=स्वकीयम्, अनुष्ठानम्=वचनानुरूपयतनं भवतीति ।

भा०—परोपदेश करने में पाण्डित्य दिखाना सब मनुष्यों को सहज है। परन्तु—अपने धार्मिक अनुष्ठान का आचरण कोई एक महात्मा ही करता है ॥ १०७ ॥

स च भोजनविशेषैर्मां संवर्धयिष्यति । हिरण्यकोऽप्याह–तत्किमत्राऽवस्थाय मया कर्तव्यम् ?

व्या०—स च कूर्मः, भोजनविशेषैः=भोजनानां विशेषाः बहुविधत्वं तैः, अनेकविधपक्वान्नैरित्यर्थः । माम्=मां काकं, संवर्धयिष्यति=ससम्मानं पालयिष्यति, पुष्टिं प्रापयिष्यतीत्यर्थः । हिरण्यकः=मूषिकः अपि आह–तत्=तस्मात् एतादृशभोजनदातुः मित्रस्य सत्त्वादिति हेतोः, मया=मूषिकेण, अत्र=एतास्थले शुष्कभूते प्रदेशे, अवस्थाय=स्थित्वा, किं कर्तव्यम् ? किन्तु गन्तव्यमेवेति भावः ।

भा०—वह कच्छप अच्छे भोजनों से मुझको पुष्ट करेगा। हिरण्यक ने भी कहा—तब तो मैं भी यहाँ रह कर क्या करूंगा ?

यतः—यस्मिन् देशे न सम्मानो न वृत्तिर्न च बान्धवः ।
न च विद्यागमः कश्चित् तं देशं परिवर्जयेत् ॥ १०८ ॥

अ०—यस्मिन् देशे सम्मानः न, वृत्तिः न, बान्धवश्च न, कश्चित् विद्यागमश्च न, तं देशं परिवर्जयेत् । व्या०—यस्मिन् देशे=स्थलविशेषे, सम्मानः=सम्यक् मानः सत्कारः नास्ति, वृत्तिः=जीवनसाधनम्, नास्ति, बान्धवश्च=बन्धुरेव बान्धवः सुहृज्जनः, नास्ति, कश्चिदपि, विद्यागमः=विद्यायाः शिक्षायाः आगमः प्राप्तिः नास्ति, तं देशं, विज्ञः पुरुषः अवश्यम्, परिवर्जयेत्=परित्यजेत् ।

भा०—जिस देश में सम्मान, जीविका, बन्धुजन तथा किसी प्रकार की विद्याप्राप्ति न हो उस देश का त्याग करना चाहिये ॥ १०८ ॥

अपरञ्च—धनिकः श्रोत्रियो राजा नदी वैद्यस्तु पञ्चमः ।
पञ्च यत्र न विद्यन्ते तत्र वासं न कारयेत् ॥ १०९ ॥

अ०—यत्र धनिक श्रोत्रियः राजा नदी पञ्चमस्तु वैद्य, पञ्च न विद्यन्ते तत्र वास न कारयेत् । व्या०—यत्र = यस्मिन् देशे, धनिक' = धनम् अस्याऽस्तीति धनी स एव धनिकः, श्रेष्ठी जन इत्यर्थः । श्रोत्रिय = 'जन्मना ब्राह्मणो ज्ञेय' संस्काराद् द्विज उच्यते । विद्यया याति विप्रत्व त्रिभि' श्रोत्रिय उच्यते ॥' इत्येतादृश. श्रोत्रियः, राजा = प्रजारक्षको नृपतिः, नदी = अखण्डजला सरित् , पञ्चमस्तु वद्य श्रेष्ठचिकित्सकः, एते पञ्च यत्र देशे नगरे वा न विद्यन्ते = न सदा निवसन्ति, तत्र तस्मिन् देशे नगरे वा, वासं = निश्चितवसतिम् , न कारयेत = न कुर्यात , स्वार्थेऽत्र णिच् ।

भा०—जिस देश में या नगर में धनवान् , वैदिक ब्राह्मण तथा प्रजापालक राजा, जलपूर्ण नदी और पाँचवाँ वैद्य, ये पाँच न रहते हो, उस देश या नगर में वास नहीं करना चाहिये ॥ १०९ ॥

अपरञ्च—लोकयात्रा भयं लज्जा दाक्षिण्यं त्यागशीलता ।
पञ्च यत्र न विद्यन्ते न कुर्यात् तत्र संस्थितिम् ॥ ११० ॥

अ०—यत्र लोकयात्रा, भयं, लज्जा, दाक्षिण्यं, त्यागशीलता, पञ्च न विद्यन्ते तत्र संस्थितिं न कुर्यात् । व्या०- यत्र = यस्मिन् स्थाने, लोकयात्रा = लोकानां जनानां यात्रा जीवनयापनोपायः, भयं = राजादिशासनभयम्, लज्जा = निकृष्टकर्माचरणे त्रपा, दाक्षिण्यम् = औदार्यम् अनुकूलता च, त्यागशीलता = त्यागस्य वितरणस्य शीलं स्वभावो येषान्ते तेषां भाव', दातृत्वमित्यर्थः । एते पञ्च यत्र स्थाने, न विद्यन्ते तत्र स्थाने संस्थितिं = सदा वासम्, न कुर्यात् ।

भा०—जिस स्थान में लोकयात्रा (जीविका), राज्यशासन, लज्जा, उदारता और दातृत्व, ये पाँच न हों उस स्थान में वास नहीं करना चाहिये ॥ ११० ॥

अन्यच्च—तत्र मित्र ! न वस्तव्यं यत्र नास्ति चतुष्टयम् ।
ऋणदाता च वैद्यश्च श्रोत्रिय. सजला नदी ॥ १११ ॥

अ०—मित्र ! यत्र ऋणदाता वैद्यश्च श्रोत्रियः सजला नदी च, चतुष्टय नास्ति तत्र न वस्तव्यम् । व्या०—हे मित्र ! काक ! यत्र = यस्मिन् प्रदेशे, ऋणदाता = ऋणस्य दाता उत्तमर्णः नास्ति, वैद्य. = विद्या अस्यास्तीति वैद्य. (अण्) सुचिकित्सकः, श्रोत्रिय' = श्रुतिमधीते वेत्ति वेति श्रोत्रिय. वैदिकब्राह्मण. नास्ति, सजला = जलेन सहिता, यदि सरित् च नास्ति एतच्चतुष्टयं (चावार. अवयवा इति चतुष्टय तयप्) यत्र यद्देशे न विद्यते, तत्र स्थाने कदाऽपि न वस्तव्यम् ।

भा०—हे मित्र काक ! जिस देश में ऋण देने वाला तथा वैद्य और वैदिक ब्राह्मण एवं जलपूर्ण नदी ये चार न हों उस प्रदेश में नहीं रहना चाहिये ॥ १११ ॥

अतो मामपि तत्र नय । वायसोऽवदत्—'एवमस्तु' । अथ वायस स्तेन मित्रेण सह विचित्रालापसुखेन तस्य सरसः समीपं ययौ । ततो मन्थरो दूरादेव लघुपतनकम् अवलोक्य उत्थाय यथोचितमातिथ्यं विधाय मूषिकस्याऽप्यतिथिसत्कारं चकार ।

व्या०—अत. अस्मात् स्थानात्, माम् (मूषिकम्) अपि, तत्र=कूर्मस्थले, नय= प्रापय, त्वमिति शेष. । वायसः=काक', अवदत् एवम्=तथा, अस्तु=भवतु इति । अथ= पश्चात्, वायस =काक , तेन=मूषिकेण मित्रेण सह, विचित्रालापसुखेन विचित्राश्च ते आलापाः तेभ्य. सुखं तेन, विविधवार्ताजन्याऽऽनन्देनेत्यर्थ । तस्य=पूर्वोक्तस्य कर्पूर- गौराख्यस्य सरस , समीपम्=अन्तिक, ययौ=जगाम । तत =सरोनिकटे गमनानन्तरं, मन्थर. तन्नामा कूर्म , दूरादेव, लघुपतनकं नाम वायसम्, अवलोक्य=दृष्ट्वा, उत्थाय= जलादुत्थाय, यथोचितम्=यथायोग्यम्, आतिथ्य काकस्य सत्कारम्, विधाय=कृत्वा, मूषिकस्य अपि=हिरण्यकस्यापि, अतिथिसत्कारम्=आतिथ्यविधानम्, चकारेति ।

भा०—इसलिये मुझे भी वहाँ ले चलो । काक बोला—'अच्छा ऐसा ही सही' । इसके बाद काक मित्र हिरण्यक के साथ अनेक वार्तायें करता हुआ उस सरोवर के समीप में गया । और—'मन्थर' नामक कच्छप ने दूर से ही 'लघुपतनक' मित्र काक को देखकर उठकर यथायोग्य अतिथि सत्कार करके मूषिक का भी आतिथ्य सत्कार किया ।

यतः—बालो वा यदि वा वृद्धो युवा वा गृहमागतः ।
तस्य पूजा विधातव्या सर्वत्राऽभ्यागतो गुरु. ॥ ११२ ॥

अ०—गृहम् आगत' बालो वा यदि वा वृद्ध युवा वा, तस्य पूजा विधातव्या, सर्वत्र अभ्यागतो गुरुः । व्या०—गृहम्=स्वनिवासभूमिम्, आगत. अकस्मादुपस्थि- तः, बालः यदि वा वृद्धः, युवा वा य'—कश्चिद्भवति, तस्य सर्वविधस्य अतिथे., पूजा=अभ्युत्थानादिना सत्कारपूजा, विधातव्या=कर्तव्या, यत अभ्यागत = अतिथि , सर्वत्र=आश्रमचतुष्टयेऽपि, गुरु. =गुरुवत् सेव्य इति ॥ १२ ॥

भा०—घर आये हुए बालक अथवा युवा अथवा वृद्ध चाहे कोई भी अतिथि हो, उसकी पूजा तथा सत्कार अवश्य करना चाहिये, क्योंकि सब आश्रमियों के लिये अतिथि गुरुतुल्य है ॥ ११२ ॥

तथा—गुरुरग्निर्द्विजातीनां वर्णानां ब्राह्मणो गुरुः ।
पतिरेको गुरुः स्त्रीणां सर्वत्राऽभ्यागतो गुरुः ॥ ११३ ॥

अ०—अग्नि. द्विजातीनां गुरु, ब्राह्मण वर्णानां गुरु, पति एक स्त्रीणां गुरुः, अभ्यागत सर्वत्र गुरु । व्या०—अग्नि=वह्नि, द्विजातीनां=ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यानां त्रिवर्णानां, गुरु=पूजनीय', पतिः-भर्ता एकः=पुरुष एव, स्त्रीणां=नारीणाम्, गुरुः=

पूजनीयः, सेवनीयश्च भवति, अभ्यागतस्तु=अतिथिस्तु, सर्वत्र=सर्वेषु उक्तस्थानेषु=गुरुः सत्करणीय इति ॥ ११३ ॥

भा०—ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन तीन वर्णोंका गुरु अग्नि है, ब्राह्मण चारों वर्णों का गुरु है, स्त्री का पति ही गुरु है और अतिथि सर्वत्र गुरुतुल्य पूजनीय है ॥ ११३ ॥

अपरञ्च—उत्तमस्याऽपि वर्णस्य नीचोऽपि गृहमागतः ।
पूजनीयो यथायोग्यं सर्वदेवमयोऽतिथिः ॥ ११४ ॥

अ०—उत्तमस्यापि वर्णस्य गृहम् आगतः नीचः अपि यथायोग्यं पूजनीयः, अतिथिः सर्वदेवमयः । व्या०—उत्तमस्य=सर्वश्रेष्ठस्यापि, वर्णस्य ब्राह्मणादीनां चतुर्णामेकतमस्य, गृहं=निवासम्, आगतः अतिथित्वेन समुपस्थितः । नीचः जात्या कर्मणा वाऽपकृष्टोऽपि, चाण्डालोऽपि, यथायोग्यं=यथोचितम्, पूजनीयः=सत्करणीयः, यतः, अतिथिः सर्वदेवमयः=सर्वे च ते देवाः तन्मयः तत्स्वरूप इति ।

वायसोऽवदत्-'सखे ! मन्थर ! सविशेषपूजामस्मै विधेहि यतोऽयं पुण्यकर्मणां धुरीणः कारुण्यरत्नाकरो हिरण्यकनामा मूषिकराजः, एतस्य गुणस्तुतिं जिह्वासहस्रद्वयेनाऽपि यदि सर्पराजः कदाचित् कर्तुं समर्थः स्यात्' इत्युक्त्वा चित्रग्रीवोपाख्यानं वर्णितवान् । ततो मन्थरः सादरं हिरण्यकं सम्पूज्याऽऽह—'भद्र ! आत्मनो निर्जनवनागमनकारणम् आख्यातुमर्हसि ?' हिरण्यकोऽवदत्—'कथयामि श्रूयताम्-

व्या०—वायसः अवदत् सखे मन्थर ! कच्छप ! अस्मै हिरण्यकाय=मूषिकराजाय सविशेषपूजां=विशेषेण सह वर्तमानां यथा स्यात् तथा पूजां सत्कारम्, त्वं विधेहि । यतः अयं मूषिकराजः, पुण्यकर्मणाम्=पुण्यं कर्म येषान्ते पुण्यकर्माणः, तेषां सुकृतशालिनामित्यर्थः । धुरीणः=धुरि अग्रे स्थितः, अथ च कारुण्यरत्नाकरः कारुण्यस्य=दयायाः रत्नाकरः समुद्रभूतः, अस्तीति । सर्पराजः=सहस्रमुखः शेषनागः, अपि जिह्वासहस्रद्वयेन—लिहन्ति आभिः इति जिह्वाः, जिह्वानां सहस्रं तस्य द्वयं तेन, द्विसहस्ररसनाभिरपीत्यर्थः । एतस्य=मूषिकराजस्य गुणस्तुतिं गुणानां स्तुतिं वर्णनं कर्तुम् कदाचित्=कस्मिंश्चित् अनिर्धारितकाले, समर्थः=शक्तिमान्=पारगश्च स्यात् । इत्युक्त्वा चित्रग्रीवस्य=कपोतराजस्य, उपाख्यानं=वृत्तान्तम्, वर्णितवान्=कथितवान् । ततः=तच्छ्रुत्वा, मन्थरः=तन्नामा कच्छपः, हिरण्यकं=मूषिकराजं, सादरम्=आदरसहितं सम्पूज्य=सम्यक् पादप्रक्षालनाऽऽसनदानादिना सत्कृत्य आह—भद्र !, साधो ! मूषिकराज ! आत्मनः स्वस्य, तवेति यावत् । निर्जनवनागमनकारणम्=निर्जनं च तत् वनं तस्मिन् आगमनं तस्य कारणं हेतुः तत्, आख्यातुम् आमूलतः वर्णयितुम्,

अर्हसि=योग्योऽसि, हिरण्यकः=मूषिकराजः, अवदत्, कथयामि, श्रूयताम्=आकर्ण्यताम् ।

भा०—काकने कहा—सखे मन्थर ! इन मूषिकराजकी पूजा विशेष रूपसे करो, क्योंकि धार्मिकों में अग्रगण्य, करुणा के समुद्र हिरण्यक नामके ये मूषिकराज हैं, शेषनाग भी दो हजार जीभों से इनके गुणों का वर्णन करने में कदाचित् (कल्पान्तरमें) पार पा सकते हैं ऐसा कहकर चित्रग्रीव नामक कपोतराज का आख्यान सुनाया । उसके बाद मन्थर नामक कच्छप आदरपूर्वक हिरण्यक की पूजा करके बोला—'सौम्य ! भद्र ! आपका निर्जन वन में आने का क्या कारण हुआ सो बताइये ?' हिरण्यक नामक चूहे ने कहा—कहता हूँ सुनो—

कथा ४

अस्ति चम्पकाऽभिधानायां नगर्यां परिव्राजकाऽऽवसथः । तत्र चूडाकर्णो नाम परिव्राजकः प्रतिवसति । स च भोजनाऽवशिष्टभिक्षान्नसहितं भिक्षापात्रं नागदन्तकेऽवस्थाप्य स्वपिति, अहं च तदन्नम् उत्प्लुत्य उत्प्लुत्य प्रत्यहं भक्षयामि । अनन्तरं तस्य प्रियसुहृद् वीणाकर्णो नाम परिव्राजकः समायातः, तेन सह नानाकथाप्रसङ्गाऽवस्थितो मम त्रासार्थं जर्जरवंशखण्डेन चूडाकर्णो भूमिमताडयत् । तं तथाविधं दृष्ट्वा वीणाकर्ण उवाच—'सखे किमिति मम कथाविरक्तोऽन्यासक्तो भवान् ?'

व्या०—चम्पकाभिधानायां='चम्पका' इत्यभिधानं यस्याः सा तस्याम्, नगर्यां=पुर्याम्, परिव्राजकाऽऽवसथः—सर्वं परित्यज्य व्रजन्ति इति परिव्राजकाः सन्यासिनः, तेषाम् आवसथः आश्रमः अस्ति । तत्र = आश्रमे, 'चूडाकर्णो' नाम='चूडाकर्ण' इति नाम्ना प्रसिद्धः, परिव्राजकः=सन्यासी, प्रतिवसति । स च चूडाकर्णः, भोजनाऽवशिष्टभिक्षान्नसहित=भिक्षया प्राप्तम् अन्नं भिक्षान्नं (मध्यमपदलोपी समास) ओदनादिकं भोजनात् अदनात् अवशिष्टं च तत् भिक्षान्नं तेन सहितं युक्तं, भिक्षापात्रम्=काष्ठकपालात्मकं भाजनम्, नागदन्तकः=नागस्य करिणः दन्त इव दन्तोऽग्रे यस्य सः नागदन्तः स एव नागदन्तकस्तत्र नागदन्तसदृशे गृहभित्तौ प्रोथिते दारुमयकीलके इत्यर्थः । अवस्थाप्य=निधाय, स्वपिति=निद्रां करोति । अहञ्च उत्प्लुत्य उत्प्लुत्य प्रत्यहं प्रतिदिनं, तदन्नम् अवशिष्टान्नं भक्षयामि । अनन्तरं=कियति समये गच्छति सति चूडाकर्णस्य प्रियसुहृद्, 'वीणाकर्णो' नाम परिव्राजकः=संन्यासी, समायातः=उपस्थितः, चूडाकर्णः सन्यासी तेन वीणाकर्णेन सन्यासिना सह नानाकथाप्रसङ्गावस्थितः नाना बहुविधाः याः कथाः तासां प्रसङ्गः अवतारणं तस्मिन् अवस्थितः समासक्तः अपि, मम त्रासार्थं त्रासाय इदमिति त्रासार्थम्, मम भयप्रदर्शनार्थम्, जर्जरवंशखण्डेन वंशस्य खण्डः वंशखण्डः, जर्जरः जीर्णः वंशखण्डः यष्टिकारूपस्तेन

भूमिम्=आश्रयभूमिम् , अताडयत्=ताडितवान् । तं चूडाकर्णं, तथाविधं अन्यमनस्कं दृष्ट्वा वीणाकर्णं उवाच—सखे ! चूडाकर्ण ! किमिति किमर्थम् , मम कथाविरक्त कथाया विरक्तः निरनुरागः, अन्यासक्तः अन्यमनस्कः, भवान् भवतीति शेषः ।

भा०—चम्पका नाम की नगरी में सन्यासी का आश्रम है, उसमें 'चूडाकर्ण' नाम का एक संन्यासी रहता है, वह भिक्षान्न को-भोजन करके अवशिष्टान्न को पात्र में रखकर खूंटी पर लटकाकर सो जाता था। तब मैं प्रतिदिन कूद कूद कर उस अन्न को खाता था। एक बार उस चूडाकर्णका प्रियमित्र 'वीणाकर्ण' नामक संन्यासी वहाँ आया और चूडाकर्ण वीणा कर्ण के साथ विविध कथाओं में लग्नचित्त होने पर मुझे डराने के लिये पुराने जर्जर बाँस के टुकडे से जमीन में ताडन करता था। तब ताडन करते हुए उसको देखकर वीणा कर्ण ने कहा 'मित्र तुम मेरी कथा को छोडकर अन्यत्र मन क्यों करते हो ?'

यत—मुखं प्रसन्नं विमला च दृष्टिः कथाऽनुरागो मधुरा च वाणी ।
स्नेहोऽधिकः संभ्रमदर्शनञ्च सदाऽनुरक्तस्य जनस्य लक्ष्म ॥११५॥

अ०—मुखं प्रसन्नम् , दृष्टिश्च विमला, कथाऽनुरागः, वाणी च मधुरा, स्नेहः अधिकः संभ्रमदर्शनञ्च सदा अनुरक्तस्य जनस्य लक्ष्म । व्या० – मुखं = वदनम् प्रसन्नं=सहर्षं शोकशून्यमित्यर्थः । दृष्टिः = अवलोकनम् , विमला=भ्रूभङ्गादिकुटिलता शून्येत्यर्थः, कथाऽनुरागः = कथायां वचने अनुरागः उत्साहः प्रवचनोत्साह इत्यर्थः वाणी = वाक् च मधुरा = कटुशून्या मनोरञ्जनीत्यर्थः । स्नेहः = प्रीतिः अधिकः = परिपूर्णः । सम्भ्रमदर्शनम् = सम्भ्रमेण तृष्णया दर्शनम् अवलोकनम् , पुनः पुन र्दर्शनमित्यर्थः, एतत् सदा = सर्वदा, अनुरक्तस्य—स्नेहपराकाष्ठा गतस्य जनस्य = मित्रस्य, लक्ष्म = चिह्नं भवतीति । (उपजातिवृत्तम्)

भाव—मुख पर प्रसन्नता, प्रेमवर्षिणी दृष्टि, बातों में प्रीति, वाणी में मधुरता अत्यन्त स्नेह, बारम्बार देखना, ये छ चिह्न सदा प्रेमी पुरुष में होते हैं ॥ ११५ ॥

अदृष्टिदानं कृतपूर्वनाशनममाननं दुश्चरिताऽनुकीर्तनम् ।
कथाप्रसङ्गेन च नामविस्मृतिर्विरक्तभावस्य जनस्य लक्षणम् ॥११६॥

अ०—अदृष्टिदानं कृतपूर्वनाशनम् अमाननं दुश्चरितानुकीर्तनम् , कथाप्रसङ्गेन च नामविस्मृतिः, जनस्य विरक्तभावस्य लक्षणम् । व्या०—दृष्टिः दर्शनं तस्या दानं दृष्टिदानं तन्न भवतीति अदृष्टिदानम् = अवीक्षणम् । कृतपूर्वनाशनम् = पूर्वं कृत मिति कृतपूर्वम् , तस्य नाशनम् = प्राक्कृतोपकारस्याऽनङ्गीकरणम् , अमाननम्= माननम् अमाननम्=सत्काराऽभाव इत्यर्थः , दुश्चरितानुकीर्तनम्=दु दुष्टानि गर्हाणि च तानि चरितानि तेषां केवलम् अनुकीर्तनम् इत्यर्थः कथाप्रसङ्गेन=कथानां वार्ता नां प्रसङ्गेन प्रासङ्गिकवार्तायामपीत्यर्थः । नामविस्मृतिः नाम्नः विस्मृतिः एतत् जनस्य मनुष्यस्य, विरक्तभावस्य = उदासीनतायाः लक्षणं चिह्नं भवतीति ।

भा०—दृष्टि न देना किये हुए उपकार का अनङ्गीकार करना, सत्कार नहीं करना, दुराचरण को प्रकाशित करना, वार्ता-प्रसङ्ग में याद भी नहीं करना, ये पाँच चिह्न मनुष्यों के विरक्त भाव को बताने वाले हैं ॥ ११६ ॥

चूडाकर्णेन उक्तम्—'भद्र! नाहं विरक्तः, किन्तु पश्य अयं मूषिको ममाऽपकारी सदा पात्रस्थं भिक्षान्नमुत्प्लुत्य भक्षयति'। वीणाकर्णो नागदन्तमवलोक्याह—'कथमयं मूषिकः स्वल्पबलोऽप्येतावद् दूर-मुत्पतति? तदत्र केनाऽपि कारणेन भवितव्यम्।'

व्या०—चूडाकर्णेन सन्यासिना उक्तम्, भद्र सौम्य! अहं न विरक्तः त्वया सह कथायाम् किन्तु पश्य अवलोकय, अयम् अग्रवर्ती मूषिकः, मम अपकारी अपकरोति तादृशः, भिक्षान्नम्, भक्षयति खादति इति तद्भयार्थं भूमिं ताडयामि, न तु तव कथायामपि विरक्तो भवामीति भावः। वीणाकर्णः सन्यासी, नागदन्तं=भित्तिप्रोथितम् अत्युच्चप्रदेशस्थं कीलकम्, अवलोक्य आह—'अयं मूषिकः, स्वल्पबलः अपि= स्वल्पं कीलकप्राप्त्यर्थमपरिपूर्णं बलम् उत्पतनसामर्थ्यं यस्य सः तादृशः सन्नपीत्यथः, एतावत् दूरम् अत्युच्चैः उत्पतति, तत् तस्माद् हेतोः, अत्र = उत्पतने, केनाऽपि कारणेन हेतुना भवितव्यम् स्यातव्यमिति।

भा०—चूडाकर्ण ने कहा—भद्र! मैं तुम्हारी बातों में विरक्त नहीं हूँ, किन्तु देखो यह चूहा मेरा अपकार करने वाला है। यह रोजाना कूद कर पात्र में से भिक्षान्न को खा जाता है। तब वीणाकर्ण- ऊँची खूँटी को देखकर बोला—यह चूहा थोडा बलवाला होने पर भी इतना ऊँचा कैसे कूद सकता है, इसमें कुछ कारण होना चाहिए।

क्षणं विचिन्त्य परिव्राजकेनोक्तम्—'कारणञ्चात्र धनबाहुल्यमेव प्रतिभाति।'

व्या०—क्षणं=किञ्चित्कालं, विचिन्त्य = विचार्य्य, उक्तम् = अत्र उन्दुरो कूदने, कारणञ्च—हेतुस्तु, धनबाहुल्यमेव=धनस्य भूमिनिक्षिप्तद्रव्यस्य बाहुल्यं विपुलत्वम् एव, प्रतिभाति = विज्ञायते इति।

भा०—सन्यासी ने थोडी देर तक विचार करके कहा—खूब धन ही इसके कूदने का कारण मालूम होता है।

यतः—धनवान् बलवाँल्लोके सर्वः सर्वत्र सर्वदा।
प्रभुत्वं धनमूलं हि राज्ञामप्युपजायते ॥ ११७ ॥

अ०—सर्वः धनवान् लोके सर्वदा बलवान्, हि राज्ञामपि प्रभुत्वं धनमूलम् उपजायते। व्या०—सर्वः=समस्तः, धनवान्=धनमस्याऽस्तीति धनवान् सुव-

णादिद्रव्यविभवशाली जनः, लोके=संसारे, सर्वत्र=सर्वस्मिन् प्रदेशे, परदेशे चेत्यर्थः। सर्वदा=सर्वस्मिन् काले, सुभिक्षे च समये बलवान्=बलं सर्वविधा शक्तिः तदस्याऽस्तीति बलवान् यावच्छक्तिमान् भवतीति। हि=यत., राज्ञामपि=नृपतीनामपि, (यत) प्रभुत्व नृपत्विमाधिपत्यमिति यावत् (अस्तीति शेषः) (तदपि) धनमूलम्=धनमेव मूल यस्य तत् द्रव्यकारणमेव, उपजायते=सम्पद्यते इति ॥ ११७ ॥

भा०—समस्त धनवान् लोग इस ससार में सर्वत्र सदा ही बलवान् होते हैं, क्योंकि राजा को भी प्रभुता धन के प्रताप से ही प्राप्त होती है ॥ ११७ ॥

ततः खनित्रमादाय तेन परिव्राजकेन विवरं खनित्वा चिरसञ्चितं मम धनं गृहीतम्। ततः प्रभृति प्रत्यहं निजशक्तिहीन. सत्त्वोत्साहरहितः स्वाहारमप्युत्पादयितुमक्षम. सत्रासं मन्दम् उपसर्पन् चूडाकर्णे-नाऽवलोकितः। ततस्तेनोक्तम्—

व्या०—ततः=तदनन्तरम्, तेन परिव्राजकेन सन्यासिना, खनित्रम्=खन्यते अनेनेति खनित्र कुद्दालम्, आदाय=गृहीत्वा, विवर=मम वासबिलम्, खनित्वा=विदार्य, चिरसञ्चित=दीर्घसमयेन सङ्गृहीतम् मम धनं=अर्थजातम्, गृहीतम्=अपहृतम्। ततः प्रभृति=तस्मात्कालादारभ्य—प्रत्यह=प्रतिदिवसम् निजशक्तिहीनः=(अह, निजस्य शक्ति. शारीरबलम् तया हीन. शून्य', सत्त्वोत्साहरहित.=सत्त्व मन. धन वा तस्य उत्साह धैर्यम् उद्योगो वा तेन रहित. शून्य सन्। स्वाहारमपि स्वस्य आहारम् उदरपूर्णाक्षम् अपि, उत्पादयितुम्=उपार्जयितुम्। अक्षमः=असमर्थः सन्, सत्रास=त्रासेन सहितं यथा स्यात् तथा, मन्द मन्द=शनैः शनै, उपसर्पन्=अटव्या गच्छन् सन्नह चूडाकर्णेन=सन्यासिना, अवलोकित., सः सन्यासी मा दृष्टवानित्यर्थ.। तत.=दृष्ट्वा, तेन सन्यासिना, उक्त=कथितम्—

भा०—इसके बाद खोदने का हथियार (फावड़ा) लेकर वह सन्यासी बिल को खोदकर बहुत काल से सुरक्षित एकत्रित रखे हुए मेरे धन को ले गया। उस दिन से प्रतिदिन शरीर बल से हीन, मन के उत्साह से शून्य और उदार-पूर्त्यर्थ आहार को भी प्राप्त करने में असमर्थ होता हुआ मैं डरता-डरता और धीरे धीरे जा रहा था कि चूडाकर्ण नामके उस सन्यासीने मुझे देखा और देखकर बोला—

धनेन बलवांल्लोको धनाद्भवति पण्डित.।
पश्यैनं मूषिकं पापं स्वजातिसमतां गतम् ॥ ११८ ॥

अ०—लोक धनेन बलवान्, धनात् पण्डित. भवति, एन पापं स्वजातिसमता गत मूषिकं पश्य। व्या०—लोकः=जन, धनेन=द्रव्येण, बलवान्=सर्वविधसामर्थ्य

वान् भवति, धनात् च पण्डितः=बहुविधकलाकौशलवेत्ता भवति, एवम्=एत गच्छन्त पाप=सत्यपि द्रव्ये पराज्ञादिहरणात्मकपापकर्तारम्, स्वजातिसमना गतम् = स्वस्य उन्दुरोः, जातीया दरिद्रा मूषिका तत्समतां धनशून्यतया तत्सदृशतां गत, मूषिक पश्य=अवलोकय। त्वमिति शेष. ॥ ११८ ॥

भा०—लोग धन से ही बलवान् तथा धन से ही पण्डित होते हैं, इस पापाचारी अपनी जाति के धर्म (दरिद्रता) को प्राप्त हुए मूषिकको तुम देखो ॥ ११८ ॥

किञ्च—अर्थेन तु विहीनस्य पुरुषस्याऽल्पमेधसः ।

क्रियाः सर्वा विनश्यन्ति ग्रीष्मे कुसरितो यथा ॥ ११९ ॥

अ०—अर्थेन तु विहीनस्य अल्पमेधस. पुरुषस्य सर्वा क्रिया ग्रीष्मे कुसरितो यथा (तथा) विनश्यन्ति । व्या०—अर्थेन तु=द्रव्येण च, विहीनस्य=विशेषेण रहितस्य, दरिद्रस्येत्यर्थं । अथ च अल्पमेधस=अल्पा क्षुद्रा मेधा बुद्धिर्यस्य सः तस्य, पुरुषस्य, सर्वा =समस्ता, क्रिया =कार्याणि, ग्रीष्मे=ग्रीष्मसमये, कुस रितः=कुत्सिताः स्वल्पजला' सरितः नद्यः, यथा नश्यन्ति, तथा विनश्यन्तीति ।

भा०—द्रव्यरहित तथा बुद्धिहीन मनुष्य की सब क्रियायें ग्रीष्म काल में छोटी नदियों की तरह सूख जाती हैं ॥ ११९ ॥

अपरञ्च—यस्याऽर्थास्तस्य मित्राणि यस्यार्थास्तस्य बान्धवाः ।

यस्यार्थाः स पुमांल्लोके यस्यार्थाः स हि पण्डितः ॥ १२० ॥

अ०—लोके यस्य अर्थाः तस्य मित्राणि, यस्य अर्थाः तस्य बान्धवा, यस्यार्था स पुमान्, यस्यार्था स हि पण्डितः । व्या०—लोके=ससारे, यस्य यज्जनस्य, अर्था= द्रव्याणि, विद्यन्ते, तस्य=पुरुषस्य, सर्वे मित्राणि=असुहृदोऽपि सुहृदो भवन्ति । यस्य च जनस्य, अर्थाः भवन्ति, तस्य पुरुषस्य, सर्वे बान्धवा'=अबान्धवा अपि बान्धवा भवन्ति। यस्याऽर्था सन्ति स एव पुमान्, श्रेष्ठपुरुषत्वेन=प्रतिष्ठितव्यक्तित्वेन, ख्याप्यते, यस्य च जनस्य अर्था सन्ति, स एव पण्डितवन्मानितो भवतीति ।

भा०—ससार में जिसके पास द्रव्य हो उसके सब मित्र बन जाते हैं, जिसके पास द्रव्य हो उसीके सब बान्धव भी बन जाते हैं, जिसके पास द्रव्य हो वह मनुष्य बड़ा गिना जाता है जिसके पास द्रव्य हो वही पण्डित गिना जाता है ॥ १२० ॥

अपरञ्च—अपुत्रस्य गृहं शून्यं सन्मित्ररहितस्य च ।

मूर्खस्य च दिशः शून्याः सर्वशून्या दरिद्रता ॥ १२१ ॥

अ०—अपुत्रस्य गृह शून्यम् सन्मित्ररहितस्य मूर्खस्य च दिशः शून्या, दरिद्रता सर्वशून्या । व्या०—अपुत्रस्य=नास्ति पुत्रो यस्य स तस्य पुत्ररहितस्य मनुष्यस्य, गृह=निवासभवनम्, शून्यम्=अप्रकाशितम्, निरर्थकमिव भवतीति । सन्मित्र-

रहितस्य=सत् साधु मित्रं सुहृत् तेन रहितः शून्यः तस्य, चतुर्मित्रहीनस्येत्यर्थः। एतादृशस्य, मूर्खस्य च=स्वथ मूढस्य जडस्य च, दिशः=प्राच्यादिदिङ्मण्डलानि, शून्याः=अप्रकाशिता भवन्ति। दृश्यन्ते इति शेषः। दरिद्रता द्रव्यहीनता सर्वशून्या=सर्वविधशून्यतायुक्तेत्यर्थः॥ १२१॥

भा०—पुत्ररहित का गृह शून्य सा मालूम पड़ता है, सन्मित्ररहित मूर्ख पुरुष को सब दिशायें शून्य मालूम पड़ती हैं और दरिद्रको तो सब प्रकार शून्यता दिखाई पड़ती है॥ १२१॥

अपरञ्च—दारिद्र्यान्मरणाद्वाऽपि दारिद्र्यमवरं स्मृतम्।

अल्पक्लेशेन मरणं दारिद्र्यमतिदुःसहम्॥ १२२॥

अ०—यथावच्छेद्यः। व्या०—दारिद्र्यात्=धनशून्यत्वात्, वाऽपि मरणात् मृत्योर्वा, (ल्यब्लोपे पञ्चमी) दारिद्र्यमपेक्ष्य मरणञ्चाऽपेक्ष्येत्यर्थः। दारिद्र्यं=दरिद्रता, अवरं=न वरम् अवरं हीनं कष्टदम्, स्मृतं=गणितम् (जनैः) दारिद्र्यमरणयोर्मध्ये, मरणं=निधनं तु अल्पक्लेशेन=अल्पश्चासौ क्लेशः कष्टम् तेन भवतीति। दारिद्र्यं तु अतिदुःसहम्=अति अत्यन्त दुःखेन सह्यते यत् तत् अतिदुःसहम् आजीवनकष्टकरमित्यर्थः॥ १२२॥

भा०—दरिद्रता और मरण इन दोनों में दरिद्रता ही अतिहीन वस्तु है, क्योंकि मरण का तो थोड़ा सा ही दुःख होता है, दारिद्र्य तो जीवन भर दुःख देता है॥ १२२॥

अन्यच्च—तानीन्द्रियाण्यविकलानि तदेव नाम

सा बुद्धिरप्रतिहता वचनं तदेव।

अर्थोष्मणा विरहितः पुरुषः स एव

शून्यः क्षणेन भवतीति विचित्रमेतत्॥ १२३॥

अ०—तानि अविकलानि इन्द्रियाणि, तदेव नाम, सा अप्रतिहता बुद्धिः, तदेव वचनम्, स एव पुरुषः, अर्थोष्मणा विरहितः क्षणेन हि अन्यः भवतीति एतद्विचित्रम्।

व्या०—द्रव्यहीनस्येति अध्याहार्यम्। तानि=धनवद्दशायां पुरुषस्य यानि सन्ति तान्येवेत्यर्थः। अविकलानि=विकलानि काणत्वबधिरत्वसहितानि न भवन्ति इत्यविकलानि, इन्द्रियाणि=चक्षुरादीनि सन्ति। तदेव=नाम धनाढ्यावस्थस्य यदेव नाम तदेव नाम अस्तीति। सा=धनवदवस्थायां यादृशी बुद्धिः आसीत् सा तादृशी एव अप्रतिहता तीक्ष्णा, बुद्धिः अपि अस्तीति। तदेव=धनावस्थायां यद्वचनमासीत् तदेव तादृशमेव, वचनं=वाक् अस्ति। स एव=धनाढ्यावस्थः दारिद्र्यावस्थश्च एकः एव अभिन्नः पुरुषः अस्ति। तथाऽपि, अर्थोष्मणा=अर्थस्य द्रव्यस्य ऊष्मणा गर्वेण, विरहितः=शून्यः सन् क्षणेन=क्षणमात्रसमयेन, हि=निश्चयेन, अन्यः=सतेजा अपि निस्तेजा भवतीति एतत् परं विचित्रं=विस्मयकरं कौतुकम्।

भा०—धनावस्था में पुरुष की जो सतेज इन्द्रियाँ थीं, वे ही इन्द्रियाँ, वही नाम, वही तीक्ष्ण बुद्धि, वही वाणी और वही पुरुष है, लेकिन धन की गरमी उतर जाने से क्षणमात्र में वह निस्तेज हो जाता है ॥ १२३ ॥

एतत्सर्वमाकर्ण्य मयाऽऽलोचितं- 'ममाऽत्रावस्थानमयुक्तमिदानीम्'।

भा०—इस प्रकार चूडाकर्ण का सब कथन सुनकर मैंने सोचा कि इस दरिद्रावस्था में मेरा यहाँ रहना उचित नहीं है।

तथा चोक्तम्—अत्यन्तविमुखे दैवे व्यर्थे यत्ने च पौरुषे।
मनस्विनो दरिद्रस्य वनादन्यत् कुतः सुखम् ॥ १२४ ॥

अ०—दैवे अत्यन्तविमुखे, पौरुषे यत्ने च व्यर्थे, मनस्विनः दरिद्रस्य वनाद् अन्यत् कुतः सुखम्। व्या०—दैवे = दिष्टे अत्यन्तविमुखे (सति) = अत्यन्तं विपरीते सति, पौरुषे=पुरुषस्य अयं पौरुषः तस्मिन् पुरुषसम्बन्धिनि, यत्ने = प्रयत्ने च, व्यर्थे = विफले सति। मनस्विनः = अभिमानधनस्य सगर्वस्य, दरिद्रस्य = धनशून्यस्य जनस्य, वनात् अन्यत् = वनमन्तरेण, कुतः = कस्मात् स्थानात्, सुखं भवति ? कस्मादपि नेत्यर्थः।

भा०—भाग्य के अत्यन्त विपरीत होने पर और पुरुष-प्रयत्न के निष्फल हो जाने पर धनशून्य मनस्वी पुरुष को अरण्य से अतिरिक्त स्थान में कहीं भी सुख नहीं है ॥ १२४ ॥

अन्यच्च—मनस्वी म्रियते कामं कार्पण्यं न तु गच्छति।
अपि निर्वाणमायाति नाऽनलो याति शीतताम् ॥ १२५ ॥

अ०—मनस्वी कामं म्रियते, तु कार्पण्यं न गच्छति, अनलः निर्वाणम् अपि आयाति, शीततां न याति। व्या०—मनस्वी = तेजस्वी अभिमानी जनः, कामं = यथेष्टम्, म्रियते = प्राणान् विजहाति, तु = किन्तु, कार्पण्यं = दीनताम्, न गच्छति = न अङ्गीकरोति। यथा अनलः = अग्निः, (जलेन) निर्वाणं=विध्वंसम्, अपि कामम् आयाति = प्राप्नोति, किन्तु, शीतताम् = अनुष्णतां तु, न याति = न स्वीकरोति।

भा०—तेजस्वी पुरुष मरण को स्वीकार कर लेते हैं, लेकिन दीनता की इच्छा नहीं करते। क्योंकि अग्नि जल से नष्ट तक हो जाता है, किन्तु शीतता कभी ग्रहण नहीं करता ॥ १२५ ॥

किञ्च—कुसुमस्तबकस्येव द्वे वृत्ती तु मनस्विनः।
सर्वेषां मूर्ध्नि वा तिष्ठेद्विशीर्येत वनेऽथवा ॥ १२६ ॥

अ०—मनस्विनः कुसुमस्तबकस्येव द्वे तु वृत्ती, सर्वेषां मूर्ध्नि तिष्ठेत् वा, अथवा वने विशीर्येत। व्या०—मनस्विनः = तेजस्विनः जनस्य, कुसुमस्तबकस्य इव=कुसु-

मानां पुष्पाणां स्तवकः गुच्छः तस्य इव, द्वे तु=द्विविधे एव, वृत्ती=व्यापारौ=भवतः, तत्र एका सर्वेषां=समस्तानाम्, मूर्ध्नि=शिरःस्थाने, श्रेष्ठत्वे इत्यर्थः। तिष्ठेत्=वर्तेत वा=अथवा, वने=अरण्ये, विशीर्येत=विनाशं गच्छेदिति।

भा०—पुष्पों के गुच्छे के कार्य की तरह तेजस्वी के भी दो व्यापार होते हैं। एक तो सबके शिर पर बने रहना अथवा वन में ही गिरकर विनाश प्राप्त करना॥ १२६॥

यच्चान्यस्मै एतद्वृत्तान्तकथनं तदप्यनुचितम्।

भा०—दूसरे को यह धनक्षय वृत्तान्त कहना उचित नहीं है।

यतः—अर्थनाशं मनस्तापं गृहे दुश्चरितानि च।
वञ्चनञ्चापमानञ्च मतिमान्न प्रकाशयेत्॥ १२७॥

अ०—मतिमान् अर्थनाशं, मनस्तापं, गृहे दुश्चरितानि च, वञ्चनं च, अपमानं च न प्रकाशयेत्। व्या०—मतिमान्=मतिः बुद्धिः अस्य अस्तीति मतिमान् धीमान् पुरुषः, अर्थनाशम्=अर्थस्य द्रव्यस्य नाशः क्षयः तम्, मनस्तापं=मनसः अन्तःकरणस्य तापः दुःखं तम्, गृहे=स्वगृहस्थजनानां, दुश्चरितानि च=प्रकाशनाऽनर्हाचरणानि च, वञ्चनञ्च=परकृतं स्वप्रतारणं च, अपमानञ्च=परकृता स्वावज्ञा च इत्येतानि, न प्रकाशयेत्=अन्यस्मै न कथयेत्।

भा०—धीमान् मनुष्य को द्रव्यनाश, मनोदुःख, गृहजनों के दुश्चरित्र, परकृतवञ्चन तथा अपमान, इन पाँचों को प्रकाशित नहीं करना चाहिये॥ १२७॥

यच्चाऽत्रैव याच्ञया जीवनं तदप्यतीव गर्हितम्।

भा०—और प्रतिकूल स्थान में भिक्षा माँग के जीवन चलाना सो भी अतिनिन्दित है।

यतः—वरं विभवहीनेन प्राणैः सन्तर्पितोऽनलः।
नोपचारपरिभ्रष्टः कृपणः प्रार्थ्यते जनः॥ १२८॥

अ०—विभवहीनेन प्राणैः सन्तर्पितः अनलः वरम्, उपचारपरिभ्रष्टः कृपणः जनः न प्रार्थ्यते। व्या०—विभवहीनेन=विभवेन श्रेष्ठसम्पदा हीनः रहितः तेन पुरुषेण, प्राणैः=असुभिः, सन्तर्पितः=सम्यक्तृप्ततां नीतः, अनलः=वह्निः, स्यात्, तदपि वरं=श्रेयस्करं भवेत्। उपचारपरिभ्रष्टः=उपचारात् याचकं प्रति शिष्टाचारात् परिभ्रष्टः च्युतः, कृपणः=बद्धमुष्टिः जनः, न प्रार्थ्यते (मनस्विना) न याच्यते।

भा०—सम्पत्तिरहित मनुष्य का अग्नि में प्रवेश करना उत्तम है, किन्तु स्वधर्महीन लोभी आदमी से द्रव्य की याचना करना उचित नहीं है॥ १२८॥

अन्यच्च—दारिद्र्याद्ध्रियमेति ह्रीपरिगतः सत्त्वात् परिभ्रश्यते
निस्सत्त्वः परिभूयते परिभवान्निर्वेदमापद्यते।

निर्विण्णः शुचमेति शोकपिहितो बुद्ध्या परित्यज्यते
निर्बुद्धिः क्षयमेत्यहो ! निधनता सर्वापदामास्पदम् ॥ १२९ ॥

अ०—यथावद्बोध्य.। व्या०—जन इति अध्याहार्यम्। दारिद्र्यात्=निर्धनत्वात्, ह्रियमेति=लज्जाम् आप्नोतीत्यर्थः। ह्रीपरिगत—ह्रिया परिगत=लज्जाव्याप्त, जन, सत्त्वात्=पराक्रमात्, परिभ्रश्यते=परिहीयते, निःसत्त्व=पराक्रमशून्य. जनः, परिभूयते=पराभवमाप्नोति, परिभवात्=तिरस्कारात्, निर्वेद=स्वस्य धिक्कारम्, आपद्यते=अनुभवति, निर्विण्ण=चेखिद्यमान, शुच=शोकम्, एति=प्राप्नोति, शोकपिहित=शोकेन पिहित आवृत, बुद्ध्या परित्यज्यते=तस्य बुद्धिर्नश्यति, इत्यर्थः ! निर्बुद्धि=बुद्धिहीन, क्षय=नाशम्, एति, अहो ! =आश्चर्यम्। निधनता=दरिद्रता, सर्वापदां=यावता दुःखानाम्, आस्पदं=स्थान कारण भवतीत्यर्थः। (शार्दूलविक्रीडित वृत्तम्)।

भा०—दरिद्रता के कारण लज्जा आती है, लज्जा के मारे पराक्रमी कार्य नहीं कर सकते, अपराक्रमी का पराभव होता है, पराभव से दुःख होता है, उसको शोक रहता है, शोक से बुद्धि नष्ट हो जाती है, बुद्धिहीन का नाश होता है, अहो! दरिद्रता सभी आपत्तियों का स्थान है ॥ १२९ ॥

किञ्च—वरं मौनं कार्यं न च वचनमुक्तं यदनृतं
वरं क्लैब्यं पुंसां न च परकलत्राऽभिगमनम्।
वरं प्राणत्यागो न च पिशुनवाक्येष्वभिरुचि
वरं भिक्षाशित्वं न च परधनाऽऽस्वादनसुखम् ॥ १३० ॥

अ०—मौनं कार्यम् इत्यपि वरं, यत् अनृतं वचनमुक्तं न च (तत् वरं), पुंसां क्लैब्यं वरं परकलत्राऽभिगमनं च न (वरं), प्राणत्यागः वरं, पिशुनवाक्येषु अभिरुचिश्च न (वरं), भिक्षाशित्वं वरं, परधनास्वादनसुखं च न (वरम्)। व्या०—मौनं=अभाषणम्, वरं=मनाक् प्रियम्, श्रेष्ठमित्यर्थः। किन्तु—यत् अनृतम्=असत्य वचन=वाक्यम्, उक्त=कथितं भवति तत्र च वरमिति। एवम्, पुंसां=पुरुषाणाम् क्लैब्य=नपुंसकत्वम्, वरं=मनाक्प्रियम्, किन्तु—परकलत्राऽभिगमन=कलत्र स्त्री तदभिगमन तत्सम्भोग न च वरमिति। एवम्, प्राणत्याग=प्राणानां जीवनस्य त्याग विनाश, वरं=मनाक्प्रिय, किन्तु पिशुनवाक्येषु=खलोक्तिषु, अभिरुचि=अभिलाष, न च वरम्, एवं भिक्षाशित्व=भिक्षाभोजित्वम्, वरम्, किन्तु परधनास्वादनसुखम्=परस्य धन द्रव्यं तस्य आस्वादनम् उपभोग तदात्मक यत् सुख तच्च वर (शिखरिणीवृत्तम्)।

भा०—मौन रहना उत्तम है किन्तु असत्य बोलना अच्छा नहीं, नपुंसक होना

अच्छा है किन्तु परस्त्री गमन अच्छा नहीं, मरना अच्छा है किन्तु खलोक्ति अच्छी नहीं, भिक्षा खाना अच्छा है पर पराम्न अच्छा नहीं ॥ १२० ॥

वरं शून्या शाला न च खलु वरो दुष्टवृषभो
वरं वेश्या पत्नी न पुनरविनीता कुलवधूः ।
वरं वासोऽरण्ये न पुनरविवेकाऽधिपपुरे
वरं प्राणत्यागो न पुनरधमानामुपगमः ॥ १२१ ॥

अ०—शून्या शाला वरम्, दुष्टः वृषभ न च वरं खलु । वेश्या पत्नी वरम्, पुनः अविनीता कुलवधूः न । अरण्ये वास. वरम्, पुन. अविवेकाऽधिपपुरे न । प्राणत्यागः वरम्, पुनः अधमानामुपगम न वरम् । व्या०—शून्या=गवाविरहिता, शाला=गोशाला, अपि वरं=श्रेष्ठम्, दुष्टवृषभ.=दुष्टश्चासौ वृषभ., वर.=श्रेष्ठः, न च खलु भवतीति । वेश्या=गणिका, पत्नीत्वेन स्वीकृता पत्नी वरम् पुन.=किन्तु, अविनीता=न विनीता अनुकूलाचारशिक्षिता इत्यविनीता पत्यनुकूलाचार-रहिता, कुलवधूः=कुलाङ्गना, न वरम् । अरण्ये=निर्जनवने, वास.=वसति. वरम्, पुन.=किन्तु अविवेकाऽधिपपुरे=नास्ति विवेक विज्ञानं यस्य स. अविवेकः तादृश. अधिप राजा तस्य यत् पुरं नगर तस्मिन् वासो न वरमिति । प्राणत्यागः=मरणम्, वरम्, पुन.=किन्तु, अधमाना=दुष्टानां खलानाम्, समागमः न वर-मिति । (शिखरिणीवृत्तम्) ।

भा०—गोशाला का शून्य रहना उत्तम है, किन्तु उसमें दुष्ट बैल का रहना उत्तम नहीं । वेश्या को पत्नी बनाना अच्छा है, किन्तु क्रूरा कुलवधू अच्छी नहीं । अरण्यवास अच्छा है, किन्तु अविवेकी राजा के नगर में रहना उत्तम नहीं । मरना अच्छा है, किन्तु अधम जनों का समागम अच्छा नहीं ॥ १२१ ॥

अपि च—सेवेव मानमखिलं ज्योत्स्नेव तमो जरेव लावण्यम् ।
हरिहरकथेव दुरितं गुणशतमप्यर्थिता हरति ॥१२२॥

अ०—सेवा अखिलं मानम् इव, ज्योत्स्ना तम इव, जरा लावण्यम् इव, हरि-हरकथा दुरितम् इव, अर्थिता गुणशतमपि हरति । व्या०—सेवा=शुश्रूषा, अखिल=समस्तम्, मानमिव=गौरवं यथा हरति । ज्योत्स्ना=कौमुदी, तम. इव=अन्धकारं यथा हरति । जरा=वार्धक्यम्, लावण्यमिव=सौन्दर्यादिक यथा हरति । हरि हरकथा=हरि. विष्णु. हर शङ्करः तयो. कथा गुणानुवाद., दुरितमिव=यथा दुरितं पातकं हरति तथा अर्थिता=याच्ञावृत्तिरपि, गुणशतमपि=गुणानां शतमपि हरति ।

भा०—सेवा (नोकरी) जैसे गौरव का नाश करती है, चाँदनी जैसे अन्धकार का

नाश करती है, वृद्धावस्था जैसे सौन्दर्य का नाश करती है, हरि हर-कथा जैसे पापों का नाश करती है, वैसे ही याच्ञावृत्ति सैकड़ों गुणों का नाश कर देती है ॥ १३२ ॥

तत् किमहं परपिण्डेन आत्मानं पोषयामि ? कष्टं भोः। तदपि द्वितीयं मृत्युद्वारम्।

भा०—तब फिर क्या मैं पराक्ष से शरीर का पोषण करूँ ? वह भी बड़ा कष्ट है, क्योंकि पराक्ष भोजन भी एक यमालय जाने का स्वतन्त्र कारण है।

अन्यच्च—रोगी चिरप्रवासी परान्नभोजी परावसथशायी।
यज्जीवति तन्मरणं यन्मरणं सोऽस्य विश्रामः ॥ १३३ ॥

अ०—यथावद्बोध्य। व्या०—रोगी = दीर्घव्याधिग्रस्तः, चिरप्रवासी = चिर प्रवसति दूरदेशे वास करोति, अथवा चिरं प्रवसति प्रवासगमन करोतीति। तादृशः जनः, परान्नभोजी = परस्य अन्न भुङ्क्ते इति, परान्नाद, परावसथशायी = परस्य आवसथः निवासभवन तस्मिन् शेते इति परगृहशयनशील इत्यर्थः। तादृशः जनः यत् किमपि जीवति, तत् जीवन = मरणमेव मरणसमानमित्यर्थः। यच्च तस्य मरणं स च, अस्य = तादृशस्य जनस्य विश्रामः शान्तिरिति। (आर्यावृत्तम्)।

भा०—रोगी, बहुतकाल परदेशवासी, पराक्षभोजी, परगृहनिवासी इन चारों का जीवन मरणतुल्य है और मरण विश्राम के तुल्य है ॥ १३३ ॥

इत्यालोक्याऽपि लोभात् पुनरपि तदीयमन्न ग्रहीतु ग्रहमकरवम्।

भा०—ऐसा सोचते हुये भी लोभ से पुनः उस सन्यासी के अन्न को खाने का (ग्रह = हठ) विचार मैंने किया।

तथा चोक्तं—लोभेन बुद्धिश्चलति लोभो जनयते तृषाम्।
तृषार्तो दुःखमाप्नोति परत्रेह च मानवः ॥ १३४ ॥

अ०—लोभेन बुद्धि चलति, लोभ तृषा जनयते, तृषार्त मानव परत्र इह च दुःखम् आप्नोति। व्या०—लोभेन=धनलिप्सया, बुद्धिः, चलति=विचलिता भवतीति, लोभः=धनलोभ, तृषाम् = उत्कटेच्छाम्, जनयते = उत्पादयति, तृषार्तः = तृषया आर्त्त तृषार्त =धनतृष्णापीडित, मानव =मनो अपत्य पुमान् मानवः जनः, परत्र = परस्मिन् लोके, इह च=अस्मिन् लोके च, दु ख=विविध कष्टम् आप्नोतीति।

भा०—लोभ से बुद्धि चलायमान होती है, लोभ से धनकी उत्कटेच्छा होती है, धनेच्छावान् मनुष्य इस लोक में तथा परलोक में बड़ा दु ख पाता है ॥ १३४ ॥

ततोऽहं मन्दं मन्दमुपसर्पंस्तेन वीणाकर्णेन जर्जरवंशखण्डेन ताडितश्चाऽचिन्तयम्—'लुब्धो ह्यसन्तुष्टो नियतम् आत्मद्रोही भवति'।

व्या०—ततः=तदनन्तरम्, तेन=वीणाकर्णेन संन्यासिना, जर्जरवंशखण्डेन=जर्जरो यः वंशस्य खण्डः तेन, ताडितः=आहतः, मन्द मन्दं=शनैः शनैः, उपसर्पन्=गच्छन्, अहम् अचिन्तयम्=विचारं कृतवान्—लुब्धः=द्रव्यलोलुपः असन्तुष्टः=सन्तोषशून्यश्च जनः, नियतं=निःसंशयम् आत्मद्रोही=आत्मने द्रुह्यतीति आत्मद्रोही स्वानिष्टकारी भवतीति।

भा०—उसके बाद उस वीणाकर्ण नामक सन्यासी द्वारा जीर्ण वंश-दण्ड से ताडन किया हुआ मैं धीरे-धीरे चलते चलते सोचने लगा कि—'लोभी और असन्तोषी होना नि सन्देह आत्मद्रोही बनना है।'

तथा च—धनलुब्धो ह्यसन्तुष्टोऽनियतात्माऽजितेन्द्रियः।

सर्वा एवापदस्तस्य यस्य तुष्टं न मानसम्॥ १३५॥

अ०—यस्य मानसं न तुष्टम्, (तादृशो यः) धनलुब्धः, असन्तुष्टः, अनियतात्मा अजितेन्द्रियः, तस्य सर्वा एव आपदः (भवन्ति)। व्या०—यस्य=जनस्य, मानसम्=अन्तःकरणम्, न तुष्टं=सन्तोषशून्यं भवति, तादृशो यः, धनलुब्धः=धने लुब्धः अर्थलोलुपः, असन्तुष्टः=सतृष्णः, अनियतात्मा=नास्ति नियतः संयतः आत्मा स्वभावो यस्य सः, संयमहीन इत्यर्थः। अजितेन्द्रियः=न जितानि निगृहीतानि इन्द्रियाणि येन सः अजितेन्द्रियः, इत्येतादृशस्य तस्य=जनस्य सर्वा एव=समस्ता एव, आपदः=विपत्तयः, समापतन्तीति।

भा०—जिसका मन सन्तुष्ट नहीं है ऐसा जो धनलोभी, तृष्णावाला, संयमशून्य और इन्द्रियाधीन पुरुष है उसको सभी आपत्तियाँ आती हैं॥ १३५॥

सर्वाः सम्पत्तयस्तस्य सन्तुष्टं यस्य मानसम्।

उपानद्गूढपादस्य ननु चर्मावृतेव भूः॥ १३६॥

अ०—यस्य मानसं सन्तुष्टं तस्य सर्वाः सम्पत्तयः, ननु उपानद्गूढपादस्य भूः चर्मावृता इव। व्या०—यस्य=जनस्य, मानसम्=अन्तःकरणम्, सन्तुष्टं=तृष्णाशून्यं भवति, तस्य=जनस्य, सर्वाः=अशेषाः, सम्पत्तयः=सम्पदः, भवन्तीति। अत्र दृष्टान्तमाह—उपानदिति। उपानत्=चर्मपादुका तया गूढौ आवृतौ पादौ चरणौ यस्य सः तस्य जनस्य, भूः=समग्रा पृथिवी, चर्मावृता इव=चर्मणा आवृता आच्छादिता इव, भवतीति। ननु इति निश्चयार्थकमव्ययपदम्।

जिसका मन सन्तुष्ट है उसीको सब प्रकार की सुख-सम्पत्ति मिलती है, जैसे पैर में जूते पहिनकर चलनेवाले मनुष्य को समग्र भूतल चर्म से ही मढा हुआ प्रतीत होता है॥ १३६॥

अपरञ्च—सन्तोषामृततृप्तानां यत् सुखं शान्तचेतसाम्।

कुतस्तद्धनलुब्धानामितश्चेतश्च धावताम्॥ १३७॥

अ०—सन्तोषामृततृप्तानां शान्तचेतसां यत् सुखं तद् धनलुब्धानाम् इतश्च इतश्च धावतां कुतः ? व्या०—सन्तोषामृततृप्तानां=सन्तोषः तृष्णाऽभावः स एव अमृतं तेन तृप्तानां तृप्तिमताम्, शान्तचेतसाम्=शान्तं क्षोभरहितं चेतः मनो येषां ते तेषां स्थिरान्तःकरणानां जनानां, यत्=यादृशं सुखं भवति । तत्=तादृशं सुखम्, धनलुब्धानाम्=धने द्रव्ये लुब्धा लोलुपा तेषाम्, इतश्च इतश्च धावतां= समन्तात् प्रदेशान्तरे परिभ्रमतां जनानाम्, कुतः=कस्माद्धेतो स्यादिति ।

भा०—सन्तोषरूप अमृतसे तृप्त शान्तचित्तवाले जनों को जो सुख मिलता है, वह सुख धन के लोभी इधर-उधर दौड़नेवाले को कहाँ से मिले ॥ १३७ ॥

किञ्च—तेनाऽधीतं श्रुतं तेन तेन सर्वमनुष्ठितम् ।

येनाऽऽशाः पृष्ठतः कृत्वा नैराश्यमवलम्बितम् ॥ १३८ ॥

अ०—येन आशाः पृष्ठतः कृत्वा नैराश्यम् अवलम्बितम्, तेन सर्वम् अधीतम् तेन सर्वं श्रुतम्, तेन सर्वम् अनुष्ठितम् । व्या०—येन=पुरुषेण, आशा=विविधाः तृष्णा, पृष्ठतः=पश्चात्, कृत्वा विहायेत्यर्थः । नैराश्यम्=आशाशून्यत्वम्, अवलम्बितम्=आश्रितम्, तेन=पुरुषेण, सर्वम् अधीतम्=सर्ववेदादिकं पठितम्, तेन सर्वं श्रुतं=नीतिशास्त्रादिकमाकर्णितम् । तेन च सर्वम् अनुष्ठितं=तपश्चरणादिकमाचरितमिति ।

भा०—जिसने आशाओं को पीछे रखकर निराशा का अवलम्बन किया है उसने सब पढ़ लिया, सब श्रवण कर लिया तथा सब अनुष्ठान भी कर लिया ॥ १३८ ॥

अपि च—असेवितेश्वरद्वारमदृष्टविरहव्यथम् ।

अनुक्तक्लीबवचनं धन्यं कस्यापि जीवनम् ॥ १३९ ॥

अ०—असेवितेश्वरद्वारम् अदृष्टविरहव्यथम् अनुक्तक्लीबवचनं कस्यापि जीवनं धन्यम् । व्या०—असेवितेश्वरद्वारम्=न सेवितम् अनाश्रितम् ईश्वरस्य धनवज्जनस्य द्वारं गृहाऽङ्गणं यस्मिन् तत्, धनिकाऽधीनतानपेक्षमित्यर्थः । अदृष्टविरहव्यथम्= न दृष्टा विरहस्य इष्टजनवियोगस्य व्यथा कष्टं यस्मिन् तत्, इष्टवियोगजदुःखानुभवरहितमित्यर्थः । अनुक्तक्लीबवचनम्—न उक्तं क्लीबस्य दीनतायाः वचनं यस्मिन् तत् 'मां रक्ष' इति वचनाऽवसराऽप्राप्तमित्यर्थः । एतादृशं जीवनं तु कस्यापि जनस्य धन्यमिति प्रशस्यतरं भवतीति ।

भा०—जिसको अपने जीवन में धनी के घर नहीं जाना पड़ा है और न तो स्वजनों के विरह का दुःख देखना पड़ा है तथा 'मैं असहाय हूँ, मेरा रक्षण करो' ऐसा दीन वचन नहीं बोलना पड़ा है ऐसे पुरुष का जीवन धन्य है ॥ १३९ ॥

यतः—न योजनशतं दूरं वाह्यमानस्य तृष्णया ।

सन्तुष्टस्य करप्राप्तेऽप्यर्थे भवति नादरः ॥ १४० ॥

अ०—तृष्णया वाह्यमानस्य योजनशतं दूरं न, सन्तुष्टस्य करप्राप्तेऽपि अर्थे आदरः न भवति। व्या०—तृष्णया=धनगर्धया, वाह्यमानस्य=आकृष्यमाणस्य जनस्य योजनशतमपि=योजनानां शतमपि, शतयोजनदूरप्रदेशोऽपीत्यर्थः। न दूरं=विप्रकृष्टो न भातीति। 'अथ च' सन्तुष्टस्य=अतृष्णस्य जनस्य तु करप्राप्तेऽपि=करौ प्राप्तः यस्मिन्, हस्ततलयोर्मध्ये आपतितेऽपीत्यर्थः। अर्थे=द्रव्याद्यात्मके पदार्थे, आदरः=आस्था न भवति।

भा०—तृष्णा से आर्त मनुष्य सौ योजन को भी दूर नहीं मानते हैं और सन्तोषी मनुष्य को हाथ में प्राप्त हुये भी पदार्थ में आदर नहीं होता॥ १४०॥

तदत्र अवस्थोचितकार्यपरिच्छेदः श्रेयान्।

भा०—इसलिये अब अपनी स्थिति के अनुकूल कार्य करने का निर्णय करना ही उचित है।

को धर्मो? भूतदया, किं सौख्यं? नित्यमरोगिता जगति।
कः स्नेहः? सद्भावः, किं पाण्डित्यं? परिच्छेदः॥ १४१॥

अ०—जगति कः धर्मः भूतदया, किं सौख्यं, नित्यमरोगिता, कः स्नेहः, सद्भावः किं पाण्डित्यं, परिच्छेदः। व्या०—जगति=संसारे, कः धर्मः=धर्मस्य किं स्वरूपम्? (इति प्रश्नः) भूतदयेति। भूतदया=भूतानां प्राणिनाम् उपरि दया करुणा स धर्मः भवतीति। (इत्युत्तरम्)—किं सौख्यं=सुखस्य किं स्वरूपम्? (इति प्रश्नः) नित्यं=सर्वदा, अरोगिता=नीरोगिता सुखम्, (इत्युत्तरम्)। कः स्नेहः=स्नेहः किंस्वरूपः? (इति प्रश्नः) सद्भावः=संश्चासौ भावः, सर्वभूतेषु सुखदुःखसमभाव एव स्नेहः (इत्युत्तरम्)। किं पाण्डित्यं=पाण्डित्यस्य किं स्वरूपम्? (इति प्रश्नः) परिच्छेदः=कर्तव्याऽकर्तव्यनिर्णय एव पाण्डित्यमित्युत्तरम्। (आर्यावृत्तम्)।

भा०—संसार में धर्म क्या वस्तु है? प्राणि-मात्र पर दया करना धर्म है। सुख का क्या स्वरूप है? सदा नीरोगी रहना सुख है। स्नेह का क्या स्वरूप है? सद्भावना ही स्नेह है। पाण्डित्य किस को कहते हैं? कर्तव्याकर्तव्य का निर्णय करना ही पाण्डित्य है॥ १४१॥

तथा च—परिच्छेदो हि पाण्डित्यं यदापन्ना विपत्तयः।
अपरिच्छेदकर्तॄणां विपदः स्युः पदे पदे॥ १४२॥

अ०—परिच्छेदो हि पाण्डित्यं (भवति) विपत्तयः यदापन्ना अपरिच्छेदकर्तॄणां विपदः पदे पदे स्युः। व्या०—परिच्छेदः हि=कर्तव्याऽकर्तव्यनिर्णय एव पाण्डित्यमिति भवति, यतः विपत्तयः=विपदोऽपि, यदापन्ना=यस्मात् पाण्डित्यात् आपन्नाः, आपन्नाः=प्राप्ताः, विनष्टा इत्यर्थः। भवन्तीति शेषः। अपरिच्छेदकर्तॄणाम्=परिच्छेदस्य निर्णयस्य कर्तारः परिच्छेदकर्तारः ते न भवन्तीति अपरिच्छेदकर्तारस्तेषाम् अपरि

च्छेदकर्तॄणाम्, निश्चयरहितानामित्यर्थः। विपदः = आपत्तय, पदे पदे=कार्ये कार्ये भवन्तीति।

भा०—पाण्डित्य को ही परिच्छेद कहते हैं, क्योंकि विपत्तियों का अन्त पाण्डित्य से होता है। परिच्छेद (कर्त्तव्याकर्तव्य निर्णय) नहीं करने वाले को आपत्तियाँ क्षण क्षण में आती रहती हैं॥ १४२॥

तथा हि—त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्॥ १४३॥

अ०—कुलस्यार्थे एकं त्यजेत्, ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्, जनपदस्यार्थे ग्राम- (त्यजेत्) आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्। व्या०—कुलस्यार्थे—कुलस्य अर्थे कुलमर्यादाया. रक्षणार्थम्, एक=कमपि आत्मीय पुत्रदारादिकम्, त्यजेत्=परिहरेत्। ग्राम-स्यार्थे=ग्रामस्य अर्थे स्वग्रामजनानाम् उपकाररक्षणाद्यर्थं तु, कुल=कुटुम्बादिकम् त्यजेत्=परिहरेत्, जनपदस्यार्थ=जनपदस्य=देशस्य अर्थं उपकाररक्षणाद्यर्थं च ग्रामस्वजन्मभूमिम् त्यजेत्=परिहरेत्, आत्मार्थे=निजहिताद्यर्थं तु, प्रतिकूला पृथिवीमपि=जनपदात्मिका भूमिमपि, त्यजेदिति।

भा०—कुल की मर्यादा के रक्षण के लिये घर के एक व्यक्ति का त्याग करना पड़े तो कर देना चाहिये और ग्राम की रक्षा के लिये कुलत्याग करना पड़े तो कर देना चाहिये। देश की रक्षा के लिये ग्रामत्याग करना पड़े तो वह भी करना और देश का भी त्याग करने से आत्मरक्षा होती हो तो देश भी त्याग देना चाहिये॥ १४३॥

अपर च—पानीयं वा निरायासं स्वाद्वन्नं वा भयोत्तरम्।
विचार्य खलु पश्यामि तत् सुखं यत्र निर्वृतिः॥ १४४॥

अ०—निरायासं पानीयं वा, भयोत्तरं स्वादु अन्नं वा, विचार्य, खलु, यत्र निर्वृति तत् सुखम् इति पश्यामि। व्या०—निरायासम्=नि नास्ति आयास' प्रयास. यस्मिन् तत् पानीय=जल वा, भयोत्तरं=भयं भीति. उत्तरमुत्तरकाले यस्य तत्, भीतिसङ्कुलमित्यर्थः। स्वादु=सुमिष्टम्, अन्नं भोजनं वा, एतयोर्मध्ये विचार्य= सुचिन्त्य, खलु यत्र निर्वृति.=यत्रानन्द. निश्चयेन भवति, तत्सुख=सुखकरमिति, पश्यामि=निर्धारयामीति।

भा०—बिना प्रयास से मिला हुआ जल पीछे से विकारप्रयुक्त दुःख का भय कराने वाला मिष्टान्न भोजन, इन दोनों में विचार करके जिससे शान्ति होती है वही सुखकर है—ऐसा निर्धारण करता हूँ॥ १४४॥

इत्यालोच्याऽहं निर्जनवनमागतः।
ऐसा विचारकर मैं निर्जन वन में आया हूँ।

यतः—वरं वनं व्याघ्रगजेन्द्रसेवितं द्रुमालयः पत्रफलाम्बुभक्षणम्।
तृणानि शय्या वसनं च वल्कलं न बन्धुमध्ये धनहीनजीवनम्॥

अ०—(यत्र) द्रुमालय पत्रफलाम्बुभक्षणं तृणानि शय्या वसनं च वल्कलं (तादृश) व्याघ्रगजेन्द्रसेवित वन वरम्, तु बन्धुमध्ये धनहीनजीवनं न (वरम्)।

व्या०—(तत्र वने) द्रुमालय=द्रुम वृक्ष एव आलय' गृहरूपो भवति। पत्रफलाम्बुभक्षणम्=पत्राणि हरित्पर्णानि फलानि अकृत्रिमसस्वादीनि अम्बूनि जलानि च तेषां भक्षण भोजन पानं च, भवति। तृणानि शय्या=शयनास्तरणं भवति। वसनं च=वस्त्रन्तु, वल्कल=वृक्षत्वग् भवति। तादृशं व्याघ्रगजेन्द्रसेवित=व्याघ्राश्च गजेन्द्राश्च तै सेवितं सङ्कुलं यद्वनम अरण्य तदेव वरम्=श्रेयस्करमिति मन्ये। किन्तु बन्धुमध्ये=बन्धूना सम्बन्धिजनाना मध्ये, धनहीनजीवन=धनेन द्रव्येण हीनं शून्यं यत् जीवन तत्त्व वर भवतीति मन्ये। (वंशस्थविल वृत्तम्)।

भा०—जिस वन में वृक्ष ही घर है, पत्र फल का भोजन तथा नदी का जल पीना है, घास की शय्या है, वल्कल के वस्त्र हैं, ऐसे व्याघ्र-गजों से सेवित वन में रहना अच्छा है, किन्तु कुटुम्ब के बीच में धनहीन जीवन अच्छा नहीं है॥ १४५॥

तत. अस्मत्पुण्योदयादनेन मित्रेणाहं स्नेहानुवृत्त्याऽनुगृहीतः।
अधुना च पुण्यपरंपरया भवदाश्रयः स्वर्ग एव मया प्राप्त.।

व्या०—तत.=वनागमनाऽनन्तरम्, अस्मत्पुण्योदयात्=अस्माक पुण्यस्य पूर्व' सञ्चितसुकृतस्य उदय परिपाक' तस्मात्, अनेन=पार्श्वस्थेन, मित्रेण=लघुपतनक नाम्ना काकेन सुहृदा, स्नेहानुवृत्त्या=स्नेहस्य अनुवृत्ति. तया उत्तरोत्तर प्रीत्यतिशयनेत्यर्थः। अनुगृहीत=अहं कृतार्थ. कृत। अधुना च=इदानीं च, पुण्यपरम्परया=पुण्यस्य सुकृतस्य परम्परया पङ्क्तितया, पुण्योदयेनेत्यर्थ.। भवदाश्रय=भवत. कूर्मस्य आश्रय आवासालय स्वर्ग एव=स्वर्गतुल्य, मया प्राप्त.=लब्ध इति।

भा०—वन में आने के बाद हमारे पुण्योदय से इस मित्र काक ने स्नेहातिशय से मुझको अनुगृहीत किया। और अब भी पुण्यप्रताप से आप (कूर्म) का आवासस्थान स्वर्ग ही मैंने पाया।

अत.—संसारविषवृक्षस्य द्वे एव रसवत्फले।
काव्यामृतरसास्वादः सङ्गमः सज्जनै. सह॥ १४६॥

अ०—ससारविषवृक्षस्य काव्यामृतरसास्वाद, सज्जनै. सह सङ्गम (इति) द्वे एव रसवत्फले। व्या०—ससारविषवृक्षस्य विषस्य वृक्ष' विषवृक्षः, ससार एव विष वृक्ष तस्य, काव्यामृतरसास्वाद=काव्यम् अमृतमिव इति काव्यामृतम् तस्य रसः शृङ्गारादि तस्य आस्वाद अनुभव, सज्जनै.=सन्तश्च ते जनाश्च तै., सह सङ्गम.

सदा समागम इत्यर्थः । इत्येव द्वे एव रसवत्फले-रसाः सन्ति अनयोः इति रसवती रसवती च ते फले च भवत इति ।

व्या०—संसार रूप विषवृक्षके काव्यरूप अमृत का रसास्वादन और सत्पुरुष का समागम ये दो ही मधुर रसवाले फल हैं ॥ १४६ ॥

अपरञ्च—सत्सङ्गः केशवे भक्तिर्गङ्गाऽम्भसि निमज्जनम् ।
असारे खलु संसारे त्रीणि साराणि भावयेत् ॥ १४७ ॥

अ०—असारे खलु संसारे सत्सङ्गः, केशवे भक्तिः, गङ्गाऽम्भसि निमज्जनम् इति त्रीणि साराणि भावयेत् । व्या०—असारे = सारशून्ये तुच्छे, संसारे=जगच्चक्रे, सत्सङ्गः=सतां साधुजनानां सङ्गः समागमः, केशवे = परमेश्वरे, भक्तिः = प्रेमातिशयः, गङ्गाऽम्भसि=गङ्गाया अम्भः जलं तस्मिन्, निमज्जनं=स्नानम्, इत्येतानि त्रीणि साराणि = स्थिरफलानि सन्तीति, भावयेत् = चिन्तयेत् ।

भा०—असार संसार में सत्सङ्ग, भगवद्भक्ति, गङ्गास्नान, ये तीन ही सार हैं, उनका सेवन करना चाहिये ॥ १४७ ॥

मन्थर उवाच—

अर्थाः पादरजोपमा गिरिनदीवेगोपमं यौवन-
मायुष्यं जलबिन्दुलोलचपलं फेनोपमं जीवनम् ।
धर्मं यो न करोति निश्चलमतिः स्वर्गार्गलोद्घाटनं
पश्चात्तापहतो जरापरिणतः शोकाग्निना दह्यते ॥ १४८ ॥

अ०—(जगति) अर्थाः पादरजोपमाः, यौवनं गिरिनदीवेगोपमम्, आयुष्यं जलबिन्दुलोलचपलं, जीवनं फेनोपमं यः निश्चलमतिः स्वर्गार्गलोद्घाटनं धर्मं न करोति, स जरापरिणतः पश्चात्तापहतः शोकाग्निना दह्यते । व्या०—(जगति) अर्थाः = द्रव्याणि पादरजोपमाः=पादस्य चरणतलस्य रजः धूलिः उपमा क्षणवियोगित्वेन, उपमानं येषान्ते तादृशा भवन्ति । यौवनं=तारुण्यम्, गिरिनदीवेगोपमं= गिरेः शिखरिणः या नदी निर्झरिणी तस्या वेगः उपमा क्षणस्थायित्वेन उपमानं यस्य तत् तादृशं भवतीति । आयुष्यं=मनुष्यशरीरमपि जलबिन्दुलोलचपलं= जलस्य बिन्दवः कणाः त इव लोलं च तत् चपलं चेति भवति, क्षणभङ्गुरं भवतीत्यर्थः । जीवनम् = आयुः फेनोपमं=फेनस्य उपमा अकस्मान्नश्वरस्वभावत्वेन सादृश्यं यस्य तत् तादृशं भवतीति । (एतावताऽपि) यः निश्चलमतिः=निश्चला स्थिरा मतिर्यस्य, दीर्घदर्शीत्यर्थः । स्वर्गार्गलोद्घाटनं=स्वर्गस्य यः अर्गलः प्रतिबन्धः तस्य उद्घाटनं विनाशकं इत्यर्थः । तादृशं धर्मं=सुकृतं न करोति=नार्जयति सः जरा-

परिणत=जरया पक्व शिथिलगात्रः, अथ च पश्चात्तापहत=पश्चात् मरणसमये ताप वेदना तेन हतः व्याप्तः सन्, शोकाग्निना=शोक एव अग्नि. तेन दह्यते=अन्तर्भस्मीभवतीति ।

भा०—मन्थर ने कहा—ससार में धन चरणतल की धूलि के समान नाशशील हैं, यौवन पर्वत की नदी के वेग के समान अस्थिर है, मनुष्य की आयु जलबिन्दु के समान क्षण में क्षणभंगुरशील है, जीवन गाज के समान नाशशील है, तो भी जो बुद्धिमान जन स्वर्ग के दरवाजे खोलनेवाले धर्म को नहीं कर सकता है, वह जरा से पीड़ित होकर पश्चात्ताप करता हुआ शोकाग्नि से जलता रहता है ॥ १४८ ॥

युष्माभिः अतिसञ्चयः कृतः, तस्यायं दोषः ।

भा०—आपने भी खूब द्रव्य सञ्चय किया, उसका यह फल है ।

शृणु—उपार्जितानां वित्तानां त्याग एव हि रक्षणम् ।
तडागोदरसंस्थानां परीवाह इवाऽम्भसाम् ॥ १४९ ॥

अ०—तडागोदरसंस्थानाम् अम्भसां परीवाह इव उपार्जितानां वित्तानां त्याग एव हि रक्षणम् । व्या०—तडागोदरसंस्थानाम्=तडागस्य जलाशयस्य उदरं गर्भः तस्मिन् संस्था स्थितिर्येषान्तानि तेषाम्, अम्भसां=जलानाम्, परीवाह =परिस्रवः बहिर्गतिः स इव यथा रक्षणरूपो भवति तथा उपार्जितानां=चिरसञ्चितानाम्, वित्तानां=द्रव्याणाम्, त्याग=पात्रे वितरणमेव, हि रक्षणं=पोषणरूपः सञ्चयो भवतीति ।

भा०—जैसे तालाब के नाप से अधिक जलों का बाहर निकलना ही स्थायी जल का रक्षणरूप है । वैसे ही जीविका-साधन से ज्यादा कमाया हुआ द्रव्य का दान देना ही रक्षण है ॥ १४९ ॥

अन्यच्च—यदधोऽधः क्षितौ वित्तं निचखान मितम्पच. ।
तदधो निलयं गन्तुं चक्रे पन्थानमग्रतः ॥ १५० ॥

अ०—मितम्पचः क्षितौ अधोऽधः वित्त यत् निचखान, तत् अग्रतः अधोनिलयं गन्तुं पन्थानं चक्रे । व्या०—मितम्पच. = मितम् अल्प स्वोदरमात्रपूरणार्थं पचतीति मितम्पचः कृपण., क्षितौ = पृथ्वीतले गर्ते, अधोऽध =गर्भभागेऽधस्तात्, वित्त = धनम्, यत् निचखान = खानितवान्, तत् = खननम्, अग्रत. = प्रथमत एव मरणपूर्वमेव, अधोनिलयं गन्तु = खनकस्य अधोगतिं कर्तुम्, अधोगमनमार्गमिति यावत् । चक्रे = करोतीति ।

भा०—धनवान् होने पर भी जो कृपण पृथ्वी में जो धन गाड़ता है, वह (पृथ्वी खोदना) प्रथम से ही उस कृपण को नरकरूप अधोगति में जाने का मार्ग बनाता है ॥ १५० ॥

यतः—निजसौख्यं निरुन्धानो यो धनार्जनमिच्छति ।
　　परार्थभारवाहीव स क्लेशस्यैव भाजनम् ॥ १५१ ॥

अ०—यः निजसौख्य निरुन्धान. धनार्जनम् इच्छति, सः परार्थभारवाही इव क्लेशस्यैव भाजनम् । व्या०—य.=जन , निजसौख्य=निजस्य स्वमात्रस्य सौख्यं तृप्तिं शान्तिमयजीवनम्, निरुन्धान.=निरुन्धन् सन् आत्मान क्लेशयित्वेत्यर्थ. । धनार्जन=धनस्य द्रव्यस्य अर्जनम् सकलनम् इच्छति=अभिलषति । स.=जन., परार्थभारवाही इव=परार्थं परनिमित्त भारस्य काष्ठपाषाणादेः गुरुपदार्थस्य वाही वहनकर्ता रासभ इव यथा क्लेशभाजन भवति तथा क्लेशस्य द्रव्योपार्जन प्रयासस्य भाजन भवति, न तु तत्फल भुङ्क्ते ।

भा०—जो मनुष्य अपने को आराम न देकर केवल द्रव्योपार्जन ही करता है, वह मनुष्य दूसरे के लिये भार ढोने वाले गदहे की तरह केवल क्लेश का ही पात्र बनता है ॥

तथा चोक्त—दानोपभोगहीनेन धनेन धनिनो यदि ।
　　भवामः किं न तेनैव धनेन धनिना वयम् ॥ १५२ ॥

अ०—यदि दानोपभोगहीनेन धनेन धनिन· (भवन्ति) तदा तेनैव धनेन वय किं धनिनो न भवाम· ? व्या०—यदि पक्षे दानोपभोगहीनेन=दानं च उपभोगश्च ताभ्या हीनेन उपभोगेन च शून्येन=विपुलेनाऽपि द्रव्येण जनाः धनिनो धनवन्तो भवन्ति । तदा=तस्मिन् पक्षे तेनैव धनेन=तस्य धनिन· द्रव्येणैव, वय· मपि=द्रव्यशून्या. वयमपि किं=कथम्, धनिनो न भवामः ? तस्मिन् द्रव्ये दानो पभोगशून्यताया द्वयो समानत्वादिति भाव· ।

भा०—अगर दान तथा उपभोग से शून्य जो द्रव्य है उससे यदि लोग धनी कहाते हैं तो हम भी उस (दूसरों के) धन से धनी क्यों न कहावें ? ॥ १५२ ॥

यत.—धनेन किं ? यो न ददाति नाऽश्नुते
　　बलेन किं ? यश्च रिपून् न बाधते ।
श्रुतेन किं ? यो न च धर्ममाचरेत्
　　किमात्मना ? यो न जितेन्द्रियो भवेत् ॥ १५३ ॥

अ०—य न ददाति न अश्नुते (तस्य) धनेन किम् ? यश्च रिपून् न बाधते (तस्य) बलेन किम् ? यश्च धर्मं न आचरेत् (तस्य) श्रुतेन किम् ? । य जितेन्द्रियो न भवेत (तस्य) आत्मना किम् ? व्या०—य =धनाढ्यो जन , न ददाति= सत्पात्रे दान न करोति, न च अश्नुते=न स्वयं भुङ्क्ते, तस्य=धनाढ्यस्य, धनेन, किं ?=किं साधित ? किं च फल ?, न किमपीत्यर्थ । यश्च=बली जन , रिपून्= शत्रून्, न बाधते=न पीडयति, तस्य बलवत· बलेनापि किम् ? बलस्य=

किं फलम् ? न किञ्चिदपीत्यर्थः। यश्च=शास्त्राध्ययनशीलो जनः, धर्मः=सदाचारादिकं, न आचरेत् = न पालयेत्, तस्य अधीतशास्त्रस्य जनस्य, श्रुतेन=शास्त्रज्ञानेनापि, किम् = शास्त्रज्ञानस्य किं फलं, न किञ्चिदित्यर्थः। यश्च=जनः जितेन्द्रियः= जितानि संयमितानि इन्द्रियाणि येन सः तादृशो न भवेत्, तस्य=मनुष्यजन्मनोऽपि किम् ? मोक्षसाधनसमर्थस्य मनुष्यजन्मनः अपि किं फलं न किञ्चिदित्यर्थः।

भा०—जो धनी न दान देता है न खाता है उसके धन का कोई फल नहीं है, जो बली पुरुष शत्रु को कष्ट नहीं देता है उसका बल निष्फल है, जो पण्डितजन धर्म नहीं पालते हैं उनका पाण्डित्य निष्फल है, वैसे ही जो जितेन्द्रिय नहीं है उसका जीवन भी निष्फल है ॥ १५३ ॥

अन्यच्च—असम्भोगेन सामान्यं कृपणस्य धनं परैः।
अस्येदमिति सम्बन्धो हानौ दुःखेन गम्यते ॥ १५४ ॥

अ०—कृपणस्य धनम् असम्भोगेन परैः सामान्यम्, हानौ—'दुःखेन अस्य इदम्' इति सम्बन्धो गम्यते। व्या०—कृपणस्य=व्ययकातरस्य, धनं=द्रव्यम्, असम्भोगेन=उपभोगराहित्येन, अनुपभुक्तत्वादित्यर्थः। परैः=धनरहितैः जनैः, सामान्यम्= समानम्, तुल्यमित्यर्थः। परन्तु हानौ=चौरादिना धननाशे सति, दुःखेन=तन्नाशजन्यपरमदुःखेन, 'अस्य दुःखितस्य कृपणस्य इदं द्रव्यम्' इति सम्बन्धः=स्वस्वामित्वरूपः गम्यते=ज्ञायते, नान्यथेति।

भा०—कृपण पुरुष का धन—भोगरहित होने से धन-स्वामी के प्रति तथा अस्वामी के प्रति समान है, केवल द्रव्य का अकस्मात् नाश होने से जिसको दुःख होता है उससे ही उसका मालिकपन मालूम हो जाता है ॥ १५४ ॥

अपि च—न देवाय न विप्राय न बन्धुभ्यो न चात्मने।
कृपणस्य धनं याति वह्नितस्करपार्थिवैः ॥ १५५ ॥

अ०—कृपणस्य, धनं देवाय न, विप्राय न, बन्धुभ्यो न, आत्मने च न याति, (अपि तु) वह्नितस्करपार्थिवैः ह्रियते। व्या०—कृपणस्य=व्ययकुण्ठस्य जनस्य धनं=द्रव्यम्, देवाय न=देवसेवार्थं न याति, विप्राय न=विप्रसेवार्थं न याति, बन्धुभ्यो न=बन्धूनाम् उपयोगाय च न याति, किन्तु—वह्नितस्करपार्थिवैः=वह्निः अग्निः तस्कराः चौराः पार्थिवाः राजानः तैः ह्रियते=बलात् नीयत इत्यर्थः।

भा०—कृपण पुरुष का द्रव्य देवता के लिये, ब्राह्मण के लिये, बन्धुजनों के लिये और अपने कार्य के लिये उपयोग में नहीं आता है, किन्तु अग्नि, चोर या राजा इनसे लूटा जाता है ॥ १५५ ॥

तथा चोक्तं—दानं प्रियवाक्सहितं ज्ञानमगर्वं क्षमान्वितं शौर्यम्।
त्यागसहितञ्च वित्तं [illegible]

अ०—प्रियवाक्सहितं दानम्, अगर्वं ज्ञानम्, क्षमाऽन्वितं शौर्यम्, त्यागसहितञ्च वित्तम्, एतच्चतुर्भद्रं दुर्लभम् । व्या०—प्रियवाक्सहितं = प्रिया मधुरा या वाग् वाणी तया सहितं दानं सत्पात्रे वितरणम्, अगर्वं = नास्ति गर्वो यस्य तत् अगर्वम् अभिमानरहितं ज्ञानं=शास्त्रजन्यदिव्यविद्या, क्षमाऽन्वितं=क्षमया तितिक्षया अन्वितं युक्तम्, शौर्यं = शूरत्वम्, त्यागसहितञ्च=त्यागः दानं तेन सहितञ्च वित्तं द्रव्यम्, एतच्चतुर्भद्रं=चतुर्णां भद्राणां समाहारः चतुर्भद्रं कल्याणचतुष्टयम्, दुर्लभं=दुष्प्रापं भवतीति ।

भा०—प्रियवचन-पूर्वक दान, गर्वरहित पाण्डित्य, क्षमायुक्त शूरता, दानयुक्त द्रव्य, ये चारों श्रेष्ठ पदार्थ दुर्लभ हैं ॥ १५६ ॥

उक्तञ्च—कर्तव्यः सञ्चयो नित्यं कर्तव्यो नातिसञ्चयः ।
पश्य सञ्चयशीलोऽसौ धनुषा जम्बुको हतः ॥ १५७ ॥

अ०—नित्यं सञ्चयः कर्तव्यः, अतिसञ्चयः न कर्तव्यः, सञ्चयशीलः असौ जम्बुकः धनुषा हतः पश्य । व्या०—नित्यं सर्वदा, सञ्चयः = द्रव्यसङ्कलनम्, कर्तव्यः= विधेयः, अतिसञ्चयः =अत्यन्तं निरवधिः सञ्चयस्तु, न कर्तव्यः, सञ्चयशीलः = सङ्ग्रहकर्ता, धनुषा = कार्मुकेण, हतः = नाशितः इति ।

भा०—सदा सञ्चय करना चाहिये, लेकिन उचित का त्यागकर अतिसञ्चय नहीं करना चाहिये । क्योंकि अतिसञ्चय करने वाला यह शृगाल धनुष से मारा गया ॥ १५७ ॥

तावाहतुः—'कथमेतत् ?' मन्थरः कथयति—

भा०—मूषिक तथा काक दोनों बोले—'यह जम्बुक का वृत्तान्त कैसा है ?' तब मन्थर कहने लगा—

कथा ५

आसीत् कल्याणकटकवास्तव्यो भैरवो नाम व्याधः । स चैकदा मांसलुब्धो धनुरादाय मृगमन्विष्यन् विन्ध्याटवीमध्यं गतः । तत्र तेन मृग एको व्यापादितः । ततो मृगमादाय गच्छता तेन घोराकृतिः शूकरो दृष्टः । ततस्तेन मृगं निधाय शूकरः शरेणाहतः । शूकरेणाप्यागत्य प्रलयघनघोरगर्जनं कुर्वाणेन स व्याधो मुष्कदेशे हतः छिन्नद्रुम इव पपात ।

व्या०—कल्याणकटकवास्तव्यः=कल्याणकटकनाम्नि देशे वास्तव्यः ... भैरवो नाम व्याधः = मृगयुः, आसीत् । स च व्याधः, एकदा = एकस्मिन् ... मांसलुब्धः=मांसे लुब्धः सतृष्णः सन्, धनुः=कार्मुकम्, आदाय=गृहीत्वा,

किं फलम्? न किञ्चिदपीत्यर्थः। यश्च = शास्त्राध्ययनशीलो जनः, धर्मः = सदाचारादिकं, न आचरेद् = न पालयेत्, तस्य अधीतशास्त्रस्य जनस्य, श्रुतेन=शास्त्रज्ञानेनापि, किम् = शास्त्रज्ञानस्य किं फलं, न किञ्चिदित्यर्थः। यश्च = जनः जितेन्द्रियः = जितानि संयमितानि इन्द्रियाणि येन स तादृशो न भवेत्, तस्य=मनुष्यजन्मनोऽपि किम्? मोक्षसाधनसमर्थस्य मनुष्यजन्मन अपि किं फलं न किञ्चिदित्यर्थः।

भा०—जो धनी न दान देता है न खाता है उसके धन का कोई फल नहीं है, जो बली पुरुष शत्रु को कष्ट नहीं देता है उसका बल निष्फल है, जो पण्डितजन धर्म नहीं पालते हैं उनका पाण्डित्य निष्फल है, वैसे ही जो जितेन्द्रिय नहीं है उसका जीवन ही निष्फल है॥ १५३॥

अन्यच्च—असम्भोगेन सामान्यं कृपणस्य धनं परैः।
अस्येदमिति सम्बन्धो हानौ दुःखेन गम्यते॥ १५४॥

अ०—कृपणस्य धनम् असम्भोगेन परैः सामान्यम्, हानौ—'दुःखेन अस्य इदम्' इति सम्बन्धो गम्यते। व्या०—कृपणस्य = व्ययकातरस्य, धनं=द्रव्यम्, असम्भोगेन = उपभोगराहित्येन, अनुपभुक्तत्वादित्यर्थः। परैः = धनरहितैः जनैः, सामान्यं= समानम्, तुल्यमित्यर्थः। परन्तु हानौ = चौरादिना धननाशे सति, दुःखेन=तन्नाशजन्यपरमदुःखेन, 'अस्य दुःखितस्य कृपणस्य इदं द्रव्यम्' इति सम्बन्धः = स्वस्वामित्वरूपः गम्यते = ज्ञायते, नान्यथेति।

भा०—कृपण पुरुष का धन—भोगरहित होने से धन-स्वामी के प्रति तथा अस्वामी के प्रति समान है, केवल द्रव्य का अकस्मात् नाश होने से जिसको दुःख होता है उससे ही उसका मालिकपन मालूम हो जाता है॥ १५४॥

अपि च—न देवाय न विप्राय न बन्धुभ्यो न चात्मने।
कृपणस्य धनं याति वह्नितस्करपार्थिवैः॥ १५५॥

अ०—कृपणस्य, धनं देवाय न, विप्राय न, बन्धुभ्यो न, आत्मने च न याति, (अपि तु) वह्नितस्करपार्थिवैः ह्रियते। व्या०—कृपणस्य = व्ययकुण्ठस्य जनस्य धनं=द्रव्यम्, देवाय न=देवसेवार्थं न याति, विप्राय न = विप्रसेवार्थं न याति, बन्धुभ्यो न = बन्धूनाम् उपयोगाय च न याति, किन्तु—वह्नितस्करपार्थिवैः = वह्निः अग्निः तस्कराः चौराः पार्थिवाः राजानः तैः ह्रियते = बलात् नीयत इत्यर्थः।

भा०—कृपण पुरुष का द्रव्य देवता के लिये, ब्राह्मण के लिये, बन्धुजनों के लिये और अपने कार्य के लिये उपयोग में नहीं आता है, किन्तु अग्नि, चोर या राजा इनसे लूटा जाता है॥ १५५॥

तथा चोक्तं—दानं प्रियवाक्सहितं ज्ञानमगर्वं क्षमाऽन्वितं शौर्यम्।
त्यागसहितञ्च वित्तं दुर्लभमेतच्चतुर्भद्रम्॥ १५६॥

अ०—प्रियवाक्सहितं दानम्, अगर्वं ज्ञानम्, क्षमाऽन्वित शौर्यम्, त्यागसहितञ्च वित्तम्, एतच्चतुर्भद्रं दुर्लभम् । व्या०—प्रियवाक्सहित= प्रिया मधुरा या वाग् वाणी तया सहित दान सत्पात्रे वितरणम्, अगर्वं=नास्ति गर्वो यस्य तत् अगर्वम् अभिमानरहित ज्ञान=शास्त्रजन्यदिव्यविद्या, क्षमाऽन्वित=क्षमया तितिक्षया अन्वित युक्तम्, शौर्यं=शूरत्वम्, त्यागसहितञ्च=त्याग दान तेन सहितञ्च वित्त द्रव्यम्, एतच्चतुर्भद्र=चतुर्णां भद्राणा समाहार चतुर्भद्र कल्याणचतुष्टयम्, दुर्लभ=दुष्प्राप भवतीति ।

भा०—प्रियवचन-पूर्वक दान, गर्वरहित पाण्डित्य, क्षमायुक्त शूरता, दानयुक्त द्रव्य, ये चारों श्रेष्ठ-पदार्थ दुर्लभ हैं ॥ १५६ ॥

उक्तञ्च—कर्तव्यः सञ्चयो नित्यं कर्तव्यो नातिसञ्चयः ।
पश्य सञ्चयशीलोऽसौ धनुषा जम्बुको हतः ॥ १५७ ॥

अ०—नित्य सञ्चय कर्तव्य, अतिसञ्चय न कर्तव्य, सञ्चयशील असौ जम्बुकः धनुषा हत पश्य । व्या०—नित्य सर्वदा, सञ्चय=द्रव्यसङ्कलनम्, कर्तव्यः=विधेय, अतिसञ्चयः=अत्यन्तं निरवधि सञ्चयस्तु, न कर्तव्य, सञ्चयशील=सग्रहकर्त्ता, धनुषा=कार्मुकेण, हत=नाशित इति ।

भा०—सदा सञ्चय करना चाहिये, लेकिन उचित का त्यागकर अतिसञ्चय नहीं करना चाहिये । क्योंकि अतिसञ्चय करने वाला यह शृगाल धनुष से मारा गया ॥ १५७ ॥

तावाहतुः—कथमेतत् ? मन्थर कथयति—

भा०—मूषिक तथा काक दोनों बोले—'यह जम्बुक का वृत्तान्त कैसा है ?' तब मन्थर कहने लगा—

कथा ५

आसीत् कल्याणकटकवास्तव्यो भैरवो नाम व्याधः । स चैकदा मांसलुब्धो धनुरादाय मृगमन्विष्यन् विन्ध्याटवीमध्यं गतः । तत्र तेन मृग एको व्यापादितः । ततो मृगमादाय गच्छता तेन घोराकृतिः शूकरो दृष्टः । ततस्तेन मृगं निधाय शूकरः शरेणाहतः । शूकरेणाप्यागत्य प्रलयघनघोरगर्जनं कुर्वाणेन स व्याधो मुष्कदेशे हतः छिन्नद्रुम इव पपात ।

व्या०—कल्याणकटकवास्तव्यः=कल्याणकटकनाम्नि देशे वास्तव्यः वासकारी भैरवो नाम व्याध=मृगयु, आसीत् । स च व्याध, एकदा=एकस्मिन् समये मांसलुब्धः=मांसे लुब्ध सतृष्ण सन्, धनुः=कार्मुकम्, आदाय=गृहीत्वा, मृगं

हरिणम्, अन्विष्यन्=मार्गयन्, सन् विन्ध्याटवीमध्यं विन्ध्यस्य विन्ध्याचलपर्वतस्य अटव्याः अरण्यस्य मध्यं गतः, तत्र=अटव्याम्, तेन = व्याधेन, एकः मृग = हरिणः व्यापादितः=मारितः, ततः तदनन्तरम्, मृगमादाय हरिणं गृहीत्वा, गच्छता तेन=व्याधेन, घोरा महती भयङ्करा आकृतिः स्वरूपं यस्य स तादृशः पुष्टः, शूकर = वराहः, दृष्टः। ततः=तदनन्तरम्, तेन = व्याधेन, मृग=हरिणम्, भूमौ = भुवस्तले, निधाय = संस्थाप्य, शरेण = बाणेन, शूकरः = वराहः, हतः = ताडितः, शूकरेणापि बाणाघातक्रोधव्याप्तेन शूकरेणापि आगत्य = व्याधसन्निधौ, समुत्पत्य, प्रलयघनघोरगर्जनं=प्रलयस्य प्रलयकालस्य यः घनः मेघः तस्य गर्जनमिव घोरं भयङ्करं गर्जनम् आक्रन्दनं कुर्वाणेन सता मुष्कदेशे = गुह्यांगे, हतः=ताडितः, स व्याधः छिन्नद्रुम इव=छिन्नः भग्नः द्रुमः तरुवर इव, पपात=भूमौ पतितः।

भा०—'कल्याणकटक' नामक देश में भैरव नाम का व्याध रहता था, वह एक बार मांस में तृष्णायुक्त होकर धनुष लेकर मृग को खोजता हुआ विन्ध्याचल पर्वत पर गया। वहाँ उसने एक मृग मारा, मृग लेकर चलते हुये उस व्याधने एक पुष्ट शूकर को देखा, तब मृगको जमीन पर रखकर शूकरको बाणसे मारा। बाण लगते ही गुस्से से भरे हुये उस शूकर ने चिल्लाकर व्याध के गुह्याङ्ग में प्रहार किया जिससे व्याध कटे हुये वृक्ष की तरह गिर पड़ा।

तथा चोक्तम्—जलमग्निर्विषं शस्त्रं क्षुद्व्याधिः पतनं गिरेः।
निमित्तं किञ्चिदासाद्य देही प्राणैर्विमुच्यते॥ १५८॥

अ०—जलम् अग्निः विषं शस्त्रं क्षुद् व्याधिः गिरेः पतनं किञ्चिन्निमितम् आसाद्य देही प्राणैः विमुच्यते। व्या०—जलं=सलिलम्, अग्निः =वह्निः, विष=गरलम्, शस्त्र=खड्गादिकम्, क्षुद्=अन्नाभावे प्राणशोषणम्, व्याधिः=ज्वरादिकम्, गिरेः पतनं=पर्वताद्युच्चस्थानात्पतनमित्यर्थं, इत्येवरूपं किञ्चिन्निमित्तमासाद्य = प्राप्य, देही = शरीरी, प्राणैः=असुभिः, विमुच्यते=म्रियते।

भा०—जल, अग्नि, विष, शस्त्र, क्षुधा, व्याधि, पहाड़ से पतन, इत्यादि किसी भी निमित्त से जीवधारी प्राणों से अलग हो जाता है॥ १५८॥

अथ तयोः पादास्फालनेन एकः सर्पोऽपि मृतः। अत्रान्तरे 'दीर्घरावो' नाम जम्बुकः परिभ्रमन्नाहारार्थी मृतान् तान् मृगव्याधसर्पशूकरानपश्यत् आलोक्याचिन्तयच्च- अहो! भाग्यम्! अद्य महद्भोज्यं समुपस्थितम्'।

व्या०—अथ तयोः = व्याधशूकरयोः, पादास्फालनेन पादानामास्फालनं ताडनं तेन, एकः=कश्चिद्, सर्पः अपि मृतः=मरणं गतः। अत्रान्तरे=तस्मिन्नेव समये आहारार्थी=आहारम् अर्थयते इति आहारार्थी, दीर्घरावो नाम = दीर्घः महान् रवः

शब्दो यस्य स तादृशनाम्ना ख्यात इति, जम्बुक = शृगालः परिभ्रमन् = परिभ्रमतीति पर्यटति इति परिभ्रमन् पर्यटन् सन्। तान् मृतान् मृगश्च व्याधश्च सर्पश्च शूकरश्चेति तान्, अपश्यत्। आलोक्य = दृष्ट्वा च,अचिन्तयत् = विचार कृतवान्— अहो इति हर्षे, भाग्य = दैवम्, अद्य = अस्मिन्दिने, मे = मम, महद्भाग्यं समुपस्थित = फलितम्।

भा०—और उस व्याध तथा शूकर के तडफडाने से उसके पैरों से एक साँप मर गया। उस समय आहार के लिये घूमते हुए दीर्घराव नामक जम्बुक ने मरे हुए मृग, व्याध, सर्प, शूकर इन चारों को देखा। देख कर सोचा भी—ओह! भाग्य है आज मुझे बड़ा भोजन मिल गया है।

अथवा—अचिन्तितानि दुःखानि यथैवायान्ति देहिनाम्।
सुखान्यपि तथा मन्ये दैवमत्रातिरिच्यते॥ १५९॥

अ०—यथैव देहिनाम् अचिन्तितानि दुःखानि आयान्ति, तथा सुखान्यपि (आयान्ति) इति मन्ये। अत्र दैवम् अतिरिच्यते। व्या०—यथैव यद्वत्, देहिना = शरीरिणाम्, अचिन्तितानि = न चिन्तितानि आकस्मिकानि, दुःखानि = आपत्तय., आयान्ति, तथा सुखानि अपि आकस्मिकानि, आयान्ति। इति = अहं मन्ये, अत्र = अस्मिन् सुखदुःखागमने, दैव = भाग्यमेव, अतिरिच्यते = सर्वमुख्यतया तिष्ठति।

भा०—जिस प्रकार शरीरधारियों को आकस्मिक दुःख आते हैं वैसे ही आकस्मिक सुख भी आते हैं, इनमें दैव ही प्रधान है॥ १५९॥

भवतु, एषां मांसैः मासत्रय मर्माधिकं भोजनं मे भविष्यति।

अच्छा,हुआ, इन सबके मांस से तीन महीने तक मेरा भोजन खूब चलता रहेगा।

मासमेकं नरो याति द्वौ मासौ मृगशूकरौ।
अहिरेकं दिनं याति अद्य भक्ष्यो धनुर्गुणः॥ १६०॥

अ०—नर एकं मास याति, मृगशूकरौ द्वौ मासौ, (यात) अहिः एकं दिनं याति, अद्य धनुर्गुण भक्ष्य। व्या०—नर. = व्याधशरीरमांसम्, एक मासम् = एकमास व्याप्य, याति = भक्ष्यता गच्छति, मृगश्च शूकरश्च तौ, मृगस्य मांसं शूकरस्य च मांसम्, द्वौ मासौ = मासद्वय व्याप्य, याति इति। अहि = सर्पमांसम्, एकं दिन व्याप्य, याति = भक्ष्यत्व गच्छति, अद्य अस्मिन्दिने तु धनुर्गुण = धनुष. कार्मुकस्य गुण मौर्वी चर्ममौर्वीत्यर्थ, भक्ष्य = भक्षणीय इति।

भा०—मनुष्यमांस एक दिन चलेगा, दो मास तक मृग तथा शूकर का मांस चलेगा, एक दिन साँप के मांस से गुजरेगा। आज तो यह धनुष की सूखी स्नायुमय रस्सी ही खा लेनी चाहिए॥ १६०॥

ततः प्रथमबुभुक्षायामिदं निःस्वादु कोदण्डलग्नं स्नायुबन्धनं खादामि, इत्युक्त्वा तथाऽकरोत्। ततश्छिन्ने स्नायुबन्धने द्रुतम् उत्पतितेन धनुषा हृदि निर्भिन्नः स दीर्घरावः पञ्चत्वं गतः। अतोऽहं ब्रवीमि 'कर्तव्यः सञ्चयो नित्यम्' (१५७) इत्यादि।

व्या०—ततः=तस्मात्, अग्रे श्रेष्ठ भोजनमस्त्वस्त्येवेति हेतुनेत्यर्थः। प्रथमबुभुक्षायां=प्रथमा चासौ बुभुक्षा भोक्तुमिच्छा तस्या सत्याम्, इदं=पुरःस्थितम् निःस्वादु=निःस्वादम्, कोदण्डलग्न=कोदण्डे कार्मुके लग्नं बद्धम्, स्नायुबन्धन= स्नायु आन्त्रनाडी तस्या बन्धन बन्धनभूनम्, आन्त्रमित्यर्थः। खादामि=अद्मि। इत्युक्त्वा, तथा=अन्त्रभोजनार्थप्रवृत्तिम्, अकरोत्। तत खादने सति, स्नायुबन्धने=आन्त्रस्य बन्धने, छिन्ने=त्रुटिते सति, द्रुतम् उत्पतितेन=आकर्षणवशात् सवेगम् उत्सर्पता, धनुषा=कार्मुकदण्डेन, हृदि=हृदयप्रदेशे, निर्भिन्न=आहत., स=दीर्घरावनामा श्रृगाल., पञ्चत्व=मरण गत'। अत=अस्माद्धेतोः. ब्रवीमि=' कथयामि 'कर्तव्य' इत्यादि।

भा०—इस हेतु से प्रथम क्षुधा में यह स्वादशून्य धनुष में बधी हुई स्नायु का रस्सी खा लू, ऐसा कहकर खाने लगा, तब तानकर बधे हुये उस स्नायु के टूटने पर वेग से उछा हुआ धनुष श्रृगाल के हृदय में लगा और श्रृगाल मर गया, इसलिये मैं कहता हूँ कि—'कर्तव्य'—इत्यादि।

तथा च—यद्ददाति यदश्नाति तदेव धनिनो धनम्।
अन्ये मृतस्य क्रीडन्ति दारैरपि धनैरपि॥ १६१॥

अ०—यद् धन ददाति यद् अश्नाति, धनिन. तदेव धनम्, अन्ये मृतस्य दारैरपि धनैरपि क्रीडन्ति। व्या०—यद् धन ददाति=सत्पात्रे वितरण करोति, यत् च धनम् अश्नाति=स्वय भुङ्क्ते, धनिन=धनिपुरुषस्य, तदेव धनम् इति सार्थकं भवति। अथ अन्ये जना, मृतस्य=धनिन, दारै' कलत्रैस्सह अपि धनै अपि च क्रीडन्ति=आनन्दमनुभवन्तीति।

भा०—जो धन दान मे दिया जाता है और अपने उपभोग में भी आता है वही धनवानों का धन कहलाता है, दूसरा नहीं। क्योंकि मरने के बाद तो धनवान् के धन तथा स्त्री से भी दूसरे ही लोग क्रीडा करते हैं॥ १६१॥

किञ्च—यद्ददासि विशिष्टेभ्यो यच्चाश्नासि दिने दिने।
तत्ते वित्तमहं मन्ये शेषं कस्यापि रक्षसि॥ १६२॥

अ०—दिने दिने यद् विशिष्टेभ्यो ददासि, यच्च अश्नासि, तत् ते वित्तम् (इति) अहं मन्ये, शेषं कस्यापि रक्षसि। व्या०—दिने दिने=अहनि अहनि, यत्=यद्

द्रव्यम्, विशिष्टेभ्य = श्रेष्ठसत्पात्रेभ्य, ददासि = अर्पयसि, यच्च = धनम्, स्वयम् अश्नासि = स्वोपभोगार्थं व्यय नयसि, तत् = वित्तम, ते = तवास्ति इति अहं मन्ये = स्वीकरोमि। तथा च शेष = दानाऽशनाऽतिरिक्त द्रव्यन्तु, कस्यापि = कस्य-चिदन्यस्योपभोगार्थम्, रक्षसि = स्थापयसि इति।

भा०—जिस द्रव्य का दान सत्पात्रों को देते,हो और अपने भी उपयोग में खर्च करते हो वही तुम्हारा है और बाकी सब दूसरे के लिये ही रखते हो–ऐसा मैं समझता हूँ ॥१६२॥

यातु, किमिदानीमतिक्रान्तोपवर्णनेन।

भा० जाने दो, इस समय गई बातों के विवेचन से क्या काम है ?

उक्त—नाप्राप्यमभिवाञ्छन्ति नष्टं नेच्छन्ति शोचितुम्।
आपत्स्वपि न मुह्यन्ति नराः पण्डितबुद्धय.॥ १६३ ॥

अ०—पण्डितबुद्धय नरा अप्राप्यं न अभिवाञ्छन्ति, नष्ट शोचितु नेच्छन्ति, आपत्सु अपि न मुह्यन्ति। व्या०—पण्डितबुद्धय = पण्डिताना बुद्धिरिव बुद्धिर्येषान्ते स्थिरमतय', नरा = जना., अप्राप्यं प्राप्तु योग्यं प्राप्य न प्राप्यम् अप्राप्यम् = अलभ्यम् नाभिवाञ्छन्ति = प्राप्तु नेच्छन्ति, नष्ट = नाश गतं वस्तु च, शोचितु = शोकविषयं कर्तुम्, नेच्छन्ति = नाभिलषन्ति। आपत्सु = दुःखदविपत्तिषु प्राप्तासु सतीषु, अपि न मुह्यन्ति = मोह न कुर्वन्ति इति।

भा०—पाण्डित्ययुक्त बुद्धिवाले मनुष्य अप्राप्य वस्तु की इच्छा नहीं करते हैं, नष्ट वस्तु का शोक नहीं करते हैं, आपत्ति में अधीर नहीं होते हैं ॥१६३।

तत् सखे! सर्वदा त्वया सोत्साहेन भवितव्यम्। यतः—

भा०—इसलिये सखे! मूषिक! तुमको सदा उत्साह–सहित रहना चाहिये। क्योंकि—

शास्त्राण्यधीत्यापि भवन्ति मूर्खा
यस्तु क्रियावान् पुरुषः स विद्वान्।
सुचिन्तितञ्चौषधमातुराणां
न नाममात्रेण करोत्यरोगम्॥ १६४ ॥

अ०—(जना) शास्त्राणि अधीत्य अपि मूर्खा भवन्ति, य पुरुष क्रियावान् स विद्वान्, औषध नाममात्रेण सुचिन्तितम् आतुराणाम् अरोग न करोति। व्या०—(जना) शास्त्राणि = वेदादीनि, अधीत्य = पठित्वा अपि, मूर्खा = कुण्ठिताचरणा' भवन्ति = अवतिष्ठन्ते। यस्तु पुरुष = जन, क्रियावान् = अधीतिबोधाचरणप्रचारणवान्, स एव विद्वान् = यथार्थपण्डित। यथा औषधं = भेषजम्। नाममात्रेण = तन्नाम्ना, सुचि-न्तितमपि = बहु स्मृतमपि, आतुराणां = रोगिणाम्, अरोग = रोगध्वसम्, न करोति (उपजातिवृत्तम्)।

भा०—शास्त्रों को पढकर भी लोग मूर्ख बने रहते हैं, जो मनुष्य शास्त्र पढकर तद नुसार चारित्र्य पालते हैं वे ही यथार्थ विद्वान् हैं। खूब याद करने पर भी औषध का नाम रोगी के रोग का नाश नहीं करता है ॥ १६४ ॥

अन्यच्च—न स्वल्पमप्यध्यवसायभीरोः करोति विज्ञानविधिर्गुणं हि।
अन्धस्य किं हस्ततलस्थितोऽपि प्रकाशयत्यर्थमिह प्रदीपः ॥

अ०—विज्ञानविधि अध्यवसायभीरो. स्वल्पमपि गुण न करोति। हि इह हस्ततलस्थित अपि प्रदीप अन्धस्य अर्थं प्रकाशयति किम्? व्या० विज्ञानविधि.= विशेषेण ज्ञायते इति विज्ञान शास्त्रम्, तस्य विधि विधानम्, उपदेश इति यावत्। अध्यवसायभीरो =अध्यवसायात् अनुष्ठानात् भीरु पराङ्मुख तस्य आचरणशून्य-जनस्येत्यर्थ । स्वल्पमपि=स्तोकमपि, गुणम्=उपकार लाभ न करोति। हि=तथाहि, इह=भुवि, हस्ततलस्थित =हस्तस्य स्वकरस्य यत् तल·तत्र स्थित =गृहीत अपि, प्रदीप., अन्धस्य=चक्षुर्विहीनस्य जनस्य, अर्थं=पदार्थं वस्तुजात, प्रकाशयति किम् ?= प्रकटीकरोति किम्? अर्थात् न प्रकाशयति (उपजातिवृत्तम्)।

भा०—आचरणहीन पुरुष को शास्त्रोपदेश कुछ भी नहीं करता है, जैसे इस लोक में हाथ में रखा हुआ भी प्रदीप अन्ध को प्रकाश नहीं करता है ॥ १६५ ॥

तदत्र सखे दशाऽतिशेषेण शान्तिः करणीया, एतदप्यतिकष्टं त्वया न मन्तव्यम्।

व्या०—तत् तस्माद्धेतो, सखे! मित्र! अत्र=मम गृहे दशाऽतिशेषेण दशा·या अवस्थाया अतिशेष अतिक्रमण तेन, शान्ति =सुखस्थिति, करणीया=अवलम्ब-नीया, त्वया एतदपि=एषा स्थिनिर्मम गृहावस्थानरूपा, अतिकष्टम्=अतिदु खदा, न मन्तव्य=नाऽनुसन्धेयमिति।

भा०—इसलिए मित्र मूषक! तुम शेष अवस्था मेरे ही घर में व्यतीत करो, यह मेरे घर में निवास करना भी कष्टरूप मत मानना।

सुखमापतितं सेव्यं दुःखमापतितं तथा।
चक्रवत्परिवर्तन्ते दुःखानि च सुखानि च ॥ १६६ ॥

अ०—आपतित सुख तथा आपतित दु ख सेव्यम्, सुखानि च दु.खानि च चक्रवत् परिवर्तन्ते। व्या०—आपतित=समुपस्थितम्, सुख सेव्यम्=अनुभव-नीयम्। तथा=तेन प्रकारेण, आपतित दु खमपि सेव्यम्=अनुभवनीयम्, सुखानि च दु.खानि च, चक्रवत्=चक्रं यथा भ्रमति तथा, परिवर्तन्ते=क्रमश आगच्छन्ति।

भा०—आया हुआ सुख और दु.ख दोनों को सहन करना चाहिये। क्योंकि जगत में सुख और दु ख चक्र की तरह घूमते (आते जाते) रहते हैं ॥ १६६ ॥

अपरञ्च—निपानमिव मण्डूकाः सरः पूर्णमिवाण्डजाः ।
सोद्योगं नरमायान्ति विवशाः सर्वसम्पदः ॥ १६७ ॥

अ०—मण्डूका निपानमिव, अण्डजा पूर्णं सर इव, सर्वसम्पद विवशा' सोद्योग नरमायान्ति । व्या०—मण्डूका =भेका , निपानं=क्षुद्रजलाशयम्, इव, अण्डजा.=अण्डेभ्यो जाता अण्डजा =पक्षिण. पूर्णं प्रभूतजलयुक्तम्, सर.=तडागमिव, सर्वसम्पद =सर्वाश्च ता सम्पद सर्वसम्पद्य विवशा =सोद्योगजनाधीना सत्य , सोद्योगम्=उद्योगेन सहित' तम्, नर=जनम्, आयान्ति=समुपतिष्ठन्ते इति ।

भा०—मण्डूक जैसे जलाशय के प्रति जाते हैं, पक्षिगण जैसे पूर्ण सरोवर के प्रति जाते हैं वैसे ही उद्योगपूर्ण जन के प्रति सर्वसम्पत्तियां विवश होकर आ पड़ती हैं ॥ १६७ ।

अपि च—उत्साहसम्पन्नमदीर्घसूत्रं क्रियाविधिज्ञं व्यसनेष्वसक्तम् ।
शूरं कृतज्ञं दृढसौहृदञ्च लक्ष्मीः स्वयं याति निवासहेतोः॥१६८॥

अ०—लक्ष्मी निवासहेतो· स्वयम् उत्साहसम्पन्नम् अदीर्घसूत्रं क्रियाविधिज्ञं व्यसनेषु असक्त शूर कृतज्ञ दृढसौहृदञ्च (जनम्) याति । व्या० —लक्ष्मी.=सम्पद्देवी, निवासहेतो =निवास अवस्थानम् एव हेतु निमित्तं तस्माद् निवासार्थम्, स्वयम्=आत्मनैव, उत्साहसम्पन्नम्=उत्साहेन उद्योगेन सम्पन्न युक्त· तम् अदीर्घसूत्रम् =दीर्घं चिरेण सूत्रयति सम्पादयति इति दीर्घसूत्र , स न भवति इति अदीर्घसूत्र· तम्, शीघ्रकार्यकारिणमित्यर्थं । क्रियाविधिज्ञम्=क्रियाणां कर्तव्यविषयाणा विधय· विनियोगा तान् जानाति विवेचयतीति क्रियाविधिज्ञ तम् यथायोग्यकार्यानुष्ठानवेत्तारमित्यर्थं । व्यसनेषु=मद्यद्यूतमृगयादिषु, असक्तम्=न सक्त असक्त तम्, अनिहितमानसमित्यर्थं । शूर=वीर्यवन्तम्, कृतज्ञम्=कृतम् उपकृतं जानाति इति तम् कृतज्ञम्, उपकारवेत्तारमित्यर्थं । दृढसौहृदम्=दृढम् अन्तरायशून्य सौहृदं मैत्री यस्य स तादृश जनम्, याति=अभिगच्छति । (उपजातिवृत्तम्) ।

भा०—लक्ष्मी निर्विघ्न निवासस्थान के लिये शीघ्रकार्यकारी कर्तव्याकर्तव्यविवेकशाली, व्यसनशून्य, शूर वीर, कृतज्ञ और दृढमित्र ऐसे जो पुरुष हैं उनके यहाँ स्वयं जाकर रहती है ॥ १६८ ॥

विशेषतश्च—विनाऽप्यर्थैर्वीरः स्पृशति बहुमानोन्नतिपदं
समायुक्तोऽप्यर्थैः परिभवपदं याति कृपणः ।
स्वभावादुद्भूतां गुणसमुदयावाप्तिविषयां
द्युतिं सैंहीं श्वा किं धृतकनकमालोऽपि लभते ॥१६९॥

अ०—धीरः अर्थैः विनाऽपि बहुमानोन्नतिपदं स्पृशति, कृपणः अर्थैः समायुक्तोऽपि परिभवपदं याति, श्वा धृतकनकमालः अपि स्वभावाद् उद्भूतां गुणसमुदयाऽवाप्तिविषयां सैंही द्युतिं लभते किम् ? व्या०—धीरः = सुदैवो विबुधो जनः, अर्थैः विनाऽपि = द्रव्याणि विनाऽपि, बहुमानोन्नतिपदं = बहुमानं बहुलोकादरः उन्नतिः अभ्युदयः तयोः पदं स्थानं तादृशीं स्थितिमित्यर्थः, स्पृशति = विन्दति लभते इति। कृपणः = दैवहीनः जनः, अर्थैः = द्रव्यैः समायुक्तः सन्नपि, परिभवपदं = परिभवस्य अपमानस्य अपकृष्टताया वा पदं स्थानं याति। तथा हि—श्वा = कुक्कुरः, धृतकनकमालः अपि = धृता कनकस्य सुवर्णस्य माला येन सः तथाविधः सन्नपि, स्वभावात् = निसर्गात्, उद्भूताम् उत्पन्नां, प्रकाशमानाम्, गुणसमुदयाऽवाप्तिविषयाम् = गुणानां शौर्यादीनां समुदयः समुदायः तस्य अवाप्तिः प्राप्तिः तस्याः विषया सूचिका ताम्, बहुगुणयोगतोधिकामित्यर्थः। एतादृशीं सैंहीम् = सिंहस्य इयं सैंही तां, द्युतिं = कान्तिम्, लभते = विन्दति, किम् ? अर्थात् नैव विन्दति इति (शिखरिणीवृत्तम्)।

भा०—धीरपुरुष द्रव्यहीन होने पर भी बहुसम्मान तथा अभ्युदय को पाते हैं और बहुद्रव्ययुक्त भी कृपण जन पराभव ही पाते हैं। यह बात यथार्थ है। क्योंकि कुत्ता सुवर्ण की माला धारण करने पर भी स्वाभाविक उत्पन्न होने वाली तथा शौर्यादिगुणसमूह को सूचित करने वाली सिंह की कान्ति (ऐश्वर्यशालिता) को कभी नहीं पा सकता ॥ १६९ ॥

किञ्च—धनवानिति हि मदस्ते किं गतविभवो विषादमुपयासि।

करनिहतकन्दुकसमाः पातोत्पाता मनुष्याणाम् ॥ १७० ॥

अ०—धनवान् इति ते मदः, किं गतविभवः विषादम् उपयासि हि मनुष्याणां पातोत्पाताः करनिहतकन्दुकसमाः। व्या०—यदि धनवान् = धनाढ्यः अस्मि, इति इत्येवंविधः, ते = तव, मदः = अभिमानः, अस्ति तर्हि किं = कथम् ? गतविभवः = गता, विनष्टा विभवाः सम्पत्तयो यस्य सः एतादृशः सन्, विषादं = खेदम्, उपयासि = प्राप्नोषि। हि = यतः, मनुष्याणां = जनानाम्, पातोत्पाताः = पाताश्च उत्पाताश्चेति पातोत्पाताः अवनत्युन्नतयः, करनिहतकन्दुकसमाः = करेण हस्तेन निहतः ताडितः यः कन्दुकः गेन्दुकः तेन समाः सदृशाः भवन्ति। (आर्यावृत्तम्)।

भा०—'मैं धनवान् हूँ' ऐसा यदि तुमको मद है क्या ? तो फिर नहीं रहने पर क्यों शोक करते हो ? क्योंकि मनुष्यों की अवनति तथा उन्नति हाथ से मारे हुए गेंद की तरह होती रहती है ॥ १७० ॥

अन्यच्च—वृत्त्यर्थं नातिचेष्टेत सा हि धात्रैव निर्मिता।

गर्भादुत्पतिते जन्तौ मातुः प्रस्रवतः स्तनौ ॥ १७१ ॥

अ०—वृत्त्यर्थं न अतिचेष्टेत, हि सा धात्रैव निर्मिता, जन्तौ गर्भात् उत्पतिते,

मातु स्तनौ प्रस्रवतः। व्या०—वृत्त्यर्थं=जीविकार्थम्, न अतिचेष्टेत=अतिप्रयासं न कुर्यात्। हि=यत, सा=वृत्ति, धात्रैव=विधात्रा एव, निर्मिता=प्रथमत निर्धारिता भवति। यथा हि जन्तौ=बाले, गर्भात्=उदराशयात्, उत्पतिते=ऊर्ध्वं बहि नि सृते सति, मातु=जनन्या, स्तनौ=पयोधरौ, निसर्गत एव प्रस्रवत.=पय मुञ्चत।

भा०—जीविका के लिये अधिक चेष्टा नहीं करना, क्योंकि विधाता ने ही जीविका का निर्माण किया है। बालक के गर्भ के बाहर आते ही उसके लिये ही माता के स्तनों से दूध बहता है॥ १७१॥

अपि च सखे! शृणु (और भी सुनो मित्र!)

येन शुक्लीकृता हंसाः शुकाश्च हरितीकृताः।
मयूराश्चित्रिता येन स ते वृत्तिं विधास्यति॥ १७२॥

अ०—येन हंसा शुक्लीकृता, शुकाश्च हरितीकृता, येन मयूराश्च चित्रिता, स ते वृत्तिं विधास्यति। व्या०—येन=विधात्रा, हंसा=हंसपक्षिण, शुक्लीकृता=शुभ्रवर्णा कृता, शुकाश्च=कीराश्च, हरितीकृता=हरिद्वर्णा कृता, येन च विधात्रा मयूरा=शिखिन, चित्रिता=विचित्रवर्णा कृता=उत्पादिता, स=स एव विधाता ते=तव, वृत्तिं=जीविकाम्, विधास्यति=समुपस्थापयिष्यतीति।

भा०—जिस विधाता ने हंसों को सफेद बनाया, सुग्गों को हरा बनाया और जिसने मयूरों को रङ्गबिरङ्गा बनाया वही विधाता तुम्हारी भी जीविका चलायेगा॥ १७२॥

अपरञ्च सतां रहस्यं शृणु, मित्र! (और भी बड़े लोगों का रहस्य सुनो, मित्र!)

जनयन्त्यर्जने दुःखं तापयन्ति विपत्तिषु।
मोहयन्ति च सम्पत्तौ कथमर्थाः सुखावहाः॥ १७३॥

अ०—अर्था अर्जने दुःखं जनयन्ति, विपत्तिषु तापयन्ति, सम्पत्तौ च मोहयन्ति (अतस्ते) कथं सुखावहा? व्या०—अर्था=द्रव्याणि, अर्जने=उपार्जने सकलीकरणे, दुःख=बहुप्रयास क्लेश, जनयन्ति=उत्पादयन्ति, विपत्तिषु=चौरादिकृतहरणादिषु, तापयन्ति=परितापम् उत्पादयन्ति। सम्पत्तौ=बहुविधे ऐश्वर्ये सति, तु, मोहयन्ति=मद जनयन्ति। (इत्यस्माद्धेतो अर्था) कथं=केन प्रकारेण, सुखावहा=सुखम् आवहन्तीति सुखावहा सुखसम्पादका भवन्ति, न कथमपीत्यर्थः।

भा०—धन को प्राप्त करने में भी कष्ट होता है, चोरादि के ले जाने से क्लेश होता है, खूब सम्पत्ति हो जाने से मदोन्मत्तता आती है। अब कहो द्रव्य किस स्थिति में सुखदायी है?॥

अपरञ्च—धर्मार्थं यस्य वित्तेहा वरं तस्य निरीहता ।
प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम् ॥ १७४ ॥

अ०—यस्य धर्मार्थं वित्तेहा, तस्य निरीहता वरम् । पङ्कस्य प्रक्षालनात्, दूरात् अस्पर्शनं वरम् । व्या०—यस्य = जनस्य (अधर्मं कृत्वा पश्चात्तन्नाशाय) धर्मार्थं यागदानादिधर्माचरणार्थम्, वित्तेहा = वित्तस्य धनस्य ईहा धनार्जनचेष्टा भवति, तस्य = तज्जनस्य, निरीहता = निः नास्ति ईहा चेष्टा यस्य तस्य भावस्तत्ता अर्जनविराम एव वरं = श्रेष्ठा मनाक्प्रिया भवति इति । तथा हि—पङ्कस्य = कर्दमस्य प्रक्षालनात् = कर्दमप्रक्षालनापेक्षया दूरात् = प्रथमत एव, अस्पर्शनं = न स्पर्शनं, वरं भवति ।

भा०—(अधर्म करके उसके नाश के लिये) धर्मकार्य करने में साधनभूत द्रव्यप्राप्ति की चेष्टा करना, उससे धन प्राप्ति की चेष्टा ही नहीं करना श्रेयस्कर है, जैसे कीचड में पैर डुबाकर फिर कीचड के धोने की अपेक्षा प्रथम से कीचड का स्पर्श ही नहीं करना श्रेष्ठ है ॥

यतः—यथा ह्यामिषमाकाशे पक्षिभिः श्वापदैर्भुवि ।
भक्ष्यते सलिले मत्स्यैस्तथा सर्वत्र वित्तवान् ॥ १७५ ॥

अ०—आमिषं यथा आकाशे पक्षिभिः, भुवि श्वापदैः, सलिले मत्स्यैः भक्ष्यते तथा वित्तवान् सर्वत्र (भक्ष्यते)। व्या०—आमिषं = मांसम् (कर्मपदम्) यथा आकाशे = गगने, पक्षिभिः = खगैः भक्ष्यते, भुवि = भुवस्तले, श्वापदैः = हिंस्रप्राणिभिः भक्ष्यते, सलिले = जले तु, मत्स्यैः = मत्स्यादिभिः, भक्ष्यते = ग्रस्यते, तथा वित्तवान् = वित्तं धनम् अस्याऽस्तीति वित्तवान् धनाढ्यजनः, सर्वत्र = सर्वेषु स्थलेषु, भक्ष्यते = सर्वैः दस्युप्रतारकैः प्रतार्यते इति ।

भा०—मांस को जैसे आकाश में पक्षी खा जाते हैं, पृथिवी में हिंस्रप्राणी खा जाते हैं, जल में मत्स्य आदि खा जाते हैं, वैसे ही धनाढ्य का भी सभी स्थलों में धूर्त-चोरादि धन ले लेते हैं ॥ १७५ ॥

अन्यच्च—राजतः सलिलादग्नेश्चोरतः स्वजनादपि ।
भयमर्थवतां नित्यं मृत्योः प्राणभृतामिव ॥ १७६ ॥

अ०—प्राणभृतां मृत्योरिव अर्थवतां राजतः सलिलात् अग्नेः चोरतः स्वजनादपि नित्यं भयम् (भवति)। व्या०—प्राणभृताम् = प्राणान् बिभ्रति इति प्राणभृतः तेषाम्, शरीरिणामित्यर्थः । मृत्योरिव मरणात् यथा भयं भवति, तथा अर्थवतां = धनवतां जनानाम्, राजतः = (पञ्चम्यास्तस्) राज्ञः नृपतेः, सलिलात् = जलात्, अग्नेः = वह्नेः, चोरतः = तस्करात् स्वजनादपि = स्वो जनः बन्धुप्रभृतिः तस्मात् अपि नित्यं = सर्वदा, भयं = भीतिः, भवति = वर्तते ।

भा०—प्राणी को जैसे मृत्यु से भय रहता है, वैसे ही धनाढ्य को राजा से जल से अग्नि से चोरों और स्वजनों से भी निरन्तर भय रहता है ॥ १७६ ॥

यथा हि—जन्मनि क्लेशबहुले किन्तु दुःखमतः परम्।
इच्छासम्पद् यतो नास्ति यच्चेच्छा न निवर्तते ॥ १७७ ॥

अ०—यतः क्लेशबहुले जन्मनि इच्छासम्पत् नास्ति, यच्च इच्छा न निवर्तते, अतः परं दुःखं किं नु ? व्या०—यतः=यस्माद्धेतोः, क्लेशबहुले=कष्टप्रधाने, जन्मनि=जीवने, इच्छासम्पत्=इच्छानुरूपा सम्पत् इच्छासम्पत् (मध्यमपद-लोपी समासः) स्वेच्छानुसारं सम्पत् नास्ति=न मिलति। अथ च यत्, इच्छाऽपि= सम्पत्तृष्णाऽपि, न निवर्तते=न शाम्यति। (वद भो) अतः परम्=अस्मादन्यत् दुःखं=कष्टम्, किं नु ? (नु–वितर्के) किं=कीदृशं भवति ?

भा०—(क्या कारण है कि) क्लेशमय संसार में इच्छाऽनुसार सम्पत्ति नहीं मिलती है और इच्छा की निवृत्ति भी नहीं है। इससे ज्यादा और कौन सा दुःख है ॥ १७७ ॥

अन्यच्च भ्रातः शृणु—

धनं तावदसुलभं लब्धं कृच्छ्रेण पाल्यते।
लब्धनाशो यथा मृत्युस्तस्मादेतन्न चिन्तयेत् ॥ १७८ ॥

अ०—धनं तावत् असुलभं, लब्धं कृच्छ्रेण पाल्यते, लब्धनाशः यथा मृत्युः, तस्मादेतत् न चिन्तयेत्। व्या०—धनं=द्रव्यम्, तावत्=आदौ, असुलभं=न सुखेन लभ्यते। लब्धम्=अर्जितं सत्, अपि, कृच्छ्रेण=महता कष्टेन, पाल्यते=रक्ष्यते, लब्धनाशः लब्धस्य नाशः क्षयः, यथा=यद्वत्, मृत्युः=तद्वत् मृत्युसमदुःखदो भवति। तस्मात् एतत्=द्रव्योपार्जनादिकं, न चिन्तयेत्=न समीहेतेति।

भा०—धन प्रथमतः कष्ट से मिलता है, मिलने पर दुःख से उसका रक्षण करना पड़ता है और प्राप्त करने के बाद उसका नाश होना मृत्युसमान कष्टदायी होता है। इसलिये द्रव्य का चिन्तन ही नहीं करना चाहिये ॥ १७८ ॥

सा तृष्णा चेत् परित्यक्ता को दरिद्रः क ईश्वरः।
तस्याश्चेत् प्रसरो दत्तो दास्यञ्च शिरसि स्थितम् ॥ १७९ ॥

अ०—सा तृष्णा परित्यक्ता चेत् कः दरिद्रः ? कः ईश्वरः ? तस्याः प्रसरः दत्तश्चेत्, दास्यञ्च शिरसि स्थितम्। व्या०—सा=पूर्वोक्ता, तृष्णा=धनस्पृहा (जनेन) परित्यक्ता=विलीनीकृता चेत्! (तदा तस्य जनस्य दृष्टया) कः दरिद्रः=धनशून्यः, कश्च ईश्वरः=धनी, तृष्णारहितस्य विरक्तस्य दारिद्र्यम् ऐश्वर्यञ्चेत्युभयमपि सममित्यर्थः। तस्याः=धनतृष्णायाः प्रसरः=अवसरः, दत्तः चेत्! (तदा अवश्यं) दास्यं=दासत्वम्, शिरसि=मस्तके, स्थितं भवति आरोहतीत्यर्थः।

भा०—यह तृष्णा अगर त्याग कर दी जाय तो (उस विरक्त पुरुष की दृष्टि में) कौन दरिद्र है ? और कौन धनी है ! (कोई नहीं है) और यदि तृष्णा को अवसर दिया गया तो अवश्य ही पुरुष के शिर पर दासत्व आरूढ हो जाता है ॥ १७९ ॥

अपरञ्च—यद् यदेव हि वाञ्छेत ततो वाञ्छा प्रवर्तते ।
प्राप्त एवाऽर्थतः सोऽर्थो यतो वाञ्छा निवर्तते ॥ १८० ॥

अ०—यद् यदेव हि वाञ्छेत, ततो वाञ्छा प्रवर्तते, यत वाञ्छा निवर्तते स. अर्थं अर्थत एव प्राप्त । व्या०—यद् यद् एव = यद्यद्वस्तु, वाञ्छेत = अभिलषत् तत = तदुत्तर वाञ्छा = इच्छा, तृष्णा, प्रवर्तते = अधिका भवति । यत = यस्माद् वस्तुन, वाञ्छा = प्राप्त्यभिलाप, निवर्तते = विलीना भवति, स अर्थ = तद्वस्तु, अर्थत = वस्तुन प्राप्त एव = लब्ध एवेति ।

भा०—जिस जिस वस्तु की इच्छा करते हैं, उससे इच्छा बढती ही जाती है, जिस वस्तु मे इच्छा निवृत्त हो जाती है वही वस्तु वास्तविक में मिली है ॥ १८० ॥

किं बहुना, विश्रम्भालापैः मयैव सहाऽत्र कालो नीयताम् ।

भा०—अब ज्यादा क्या कहना है ? विश्रामपूर्वक बातचीत करते हुए मेरे साथ यहीं जीवन व्यतीत करो ।

यत—आमरणान्ताः प्रणयाः कोपास्तत्क्षणभङ्गुराः ।
परित्यागाश्च निःसङ्गा भवन्ति हि महात्मनाम् ॥ १८१ ॥

अ०—महात्मना प्रणया आमरणान्ता, कोपा तत्क्षणभङ्गुरा परित्यागाश्च नि-सङ्गा भवन्ति हि । व्या०—महात्मनाम् = उदारचरिताना जनानाम्, प्रणया = प्रेम-भावा आमरणान्ता = मरणात् आ इति आमरणम्, आमरण समय अन्तो येषान्ते, मरणाऽवधिका भवन्तीति । एव कोपा = क्रोधादयस्तु, तत्क्षणभङ्गुरा = स चासौ क्षण तत्क्षण तत्क्षणे भङ्गुरा उत्पत्त्युत्तरद्वितीये क्षणे एव विलयशीला भवन्तीति । एव परित्यागा = दानादयस्तु, नि सङ्गा = नि नास्ति सङ्ग आसक्ति येषु ते तथाविधा भवन्तीति । हि = निश्चये ।

भा०—महापुरुषों का स्नेह आमरणान्त स्थिर होता है, कोप क्षणभङ्गुर होता है, दानादि स्वार्थरहित होते हैं ॥ १८१ ॥

इति श्रुत्वा लघुपतनको ब्रूते—धन्योऽसि मन्थर ! सर्वथा आश्र-यणीयोऽसि ।

भा०—ऐसा मन्थर का वचन सुनकर लघुपतनक बोला—धन्य हो मन्थर ! तुम सब प्रकार से आश्रय करने योग्य हो ।

यत—सत एव सतां नित्यमापदुद्धरणक्षमाः ।
गजानां पङ्कमग्नानां गजा एव धुरन्धराः ॥ १८२ ॥

अ०—सन्त एव नित्य सताम आपदुद्धरणक्षमा, पङ्कमग्नाना गजाना गजा एव धुरन्धरा (भवन्ति)। व्या०—सन्त =साधुजना एव, सता=साधुजनानाम् आपदुद्धरणक्षमा =आपदा विपत्तीनाम् उद्धरणम् अपनयन तस्मिन् क्षमा समर्था (भवन्तीति)। यथा हि–पङ्कनिमग्नानाम् =पङ्के कर्दमे निमग्न तेषा गजाना= हस्तिनाम्, (उद्धरणे=बहि निष्कासने इति शेष) गजा =वरिण एव धुरन्धरा= धुर भार धरन्तीति धुरन्धरा भवन्तीति।

भा०—क्योंकि सत्पुरुष ही सत्पुरुषों की आपत्तियाँ दूर करने में समर्थ होते हैं। जैसे कीचड में फँसे हाथी को बाहर निकालने मे हाथी ही समर्थ होते है ॥ १८२ ॥

अपरञ्च—श्लाघ्य. स एको भुवि मानवाना
स उत्तम. सत्पुरुषः स धन्य.।
यस्यार्थिनो वा शरणागता वा
नाशाविभङ्गा विमुखा प्रयान्ति ॥ १८३ ॥

अ०—भुवि यस्य (सकाशात्) अर्थिनो वा शरणागता वा आशाविभङ्गा (सन्त) विमुखा न प्रयान्ति, स एक मानवाना श्लाघ्य, स उत्तम सत्पुरुष स धन्य। व्या०—भुवि=जगति, यस्य=ऐश्वर्यशालिन जनस्य सकाशात्, अर्थिन =याचका वा,शरणागता वा=शरणम् आगता गृहागता वा केऽपि जना., आशाविभङ्गा =आशाया प्राप्त्यभिलाषस्य विभङ्ग विफलता येषान्ते तथाविधा सन्त, विमुखा =पराङ्मुखा, न प्रयान्ति=न गच्छन्ति स एक =अद्वितीय मानवाना=मनुष्याणा मध्ये, श्लाघ्य =प्रशसास्पदम्, स एव च उत्तम.=श्रेष्ठ सत्पुरुष =सश्चासौ पुरुष। स एव च धन्य सफलमनुजजन्मा भवतीति।

भा०—जगत में जिस ऐश्वर्यशाली श्रेष्ठ मनुष्य के याचक तथा शरणागत जन आशा भङ्ग हो जाने से लौट नहीं जाते वही ऐश्वर्यशाली जन मनुष्यों में श्लाघनीय है, वही उत्तम सत्पुरुष है, और वही धन्य है ॥ १८३ ।

तदेवं ते स्वेच्छाहारविहारं कुर्वाणाः सन्तुष्टा. सुखं निवसन्तिस्म। अथ कदाचित् चित्राङ्गनामा मृग केनाऽपि त्रासितस्तत्राऽऽगत्य मिलित। तत्पश्चादायान्तं भयहेतु सम्भाव्य मन्थरो जलं प्रविष्ट., मूषिकश्च विवरं गत, काकोऽपि उड्डीय वृक्षाग्रमारूढ। ततो लघुपतनकेन सुदूरं निरूप्य भयहेतुर्न कोऽप्यवलम्बित, पश्चात् तद्वचनादागत्य पुनः सर्वे मिलित्वा तत्रैवापविष्टाः। मन्थरेणोक्तम्–भद्र मृग! कुशलं ते? स्वेच्छया उदकाद्याहारोऽनुभूयताम्। अत्रावस्थानेन वनमिदं सनाथीक्रियताम्।

चित्राङ्गो ब्रूते—लुब्धकत्रासितोऽहं भवतां शरणमागतः। ततश्च भवद्भिः सह मित्रत्वमिच्छामि, भवन्तश्च अनुकम्पयन्तु मैत्र्येण।

व्या०—तदेव प्रकारेण, ते=हिरण्यकादय, आहारविहारम्=आहारेण सहित विहार आहारविहार' स्वेच्छया आहारविहारस्तम्, कुर्वाणा=आचरन्त सन्त', सन्तुष्टा=सन्तोषान्विताश्च, सुखम्=आनन्द यथा स्यात् तथा, निवसन्ति स्म। अथ=अनन्तरम्, कदाचित्=कस्मिंश्चित्काले, केनापि=केनचिद्व्याधेन, त्रासित=भय भीत, चित्राङ्गनामा मृग=हरिण, तत्र=मन्थरनिवासे, आगत्य मिलित=सङ्गत। तत्पश्चात्=तस्य मृगस्य पश्चात पृष्ठोत्तरम्, आयान्तम्=आगच्छन्तम्, भयहेतुम्=भयस्य हेतुं कारण व्याधरूपम्, सम्भाव्य=निर्धार्य मन्थर'=तन्नामा कूर्म, जल प्रविष्ट। मूषिकश्च, विवर=बिलम् गतः=प्रविष्ट। काकोऽपि=वायसोऽपि, उड्डीय=उत्प्लुत्य, वृक्षाग्रम्=वृक्षस्य अग्रं शाखाग्रम्, आरूढ=अधिष्ठित, तत लघुपतनकेन, काकेन सुदूरम्=अतिदूर, निरूप्य=निरीक्ष्य, कोऽपि कश्चिदपि, भयहेतु=भीतिकारण, न अवलम्बित=न अवलोकित। पश्चात् तद्वचनात्=लघुपतनककाकस्य वचनात् भयाभावसूचकवाक्यात्, आगत्य पुन' सर्वे=कूर्मादय, मिलित्वा=सङ्गम्य, तत्रैव स्थले उपविष्टा'=उपनिषेदुः। मन्थरेण=कच्छपेन उक्तम्—भद्र मृग!=प्रिय सज्जनहरिण! कुशल ते?=भवान् सकुशलोऽसि? स्वेच्छया=यथेच्छम्, उदकाद्याहार=उदकम् आदिर्यस्य स उदकादि' एतादृशः आहार'=घासादिखाद्यम्, अनुभूयता=गृह्यताम्। अत्र=मम गृहे, अवस्थानेन=निवासेन, वनमिद=एतद्वनम्, सनाथीक्रियताम्=असनाथ नाथेन प्रियेण सहित सनाथ क्रियताम् विधीयताम्। चित्राङ्गो ब्रूते=लुब्धकत्रासित.=लुब्धकेन व्याधेन त्रासित भय गमित सन्नहम्, भवता=कूर्मकाकमूषिकाणा शरणमागत। ततश्च=तस्माद्धेतो भवद्भि=सर्वै सह, मित्रत्व=सख्यम्, इच्छामि। भवन्तश्च=यूय सर्वे, मैत्र्येण=मैत्रीकरणेन, अनुकम्पयन्तु=अनुगृह्णन्तु।

भा०—इस प्रकार वे कूर्मादि सब इच्छानुकूल आहार-विहार आदि करते हुए सन्तोषपूर्वक सुख से निवास करते थे। एक बार चित्राङ्गनामक मृग किसी व्याध से भयभीत किया हुआ वहाँ आया। उस मृग के पीछे आते हुए भय के हेतु को समझकर मन्थर जल में घुस गया, मूषिक बिल में घुस गया, काक उड़कर पेड़ पर बैठ गया। उसके बाद लघुपतनक काक ने दूर तक देखा, लेकिन भय का हेतु कोई दिखाई नहीं पड़ा, तब काक के कहने से वे सब फिर से मिलकर बैठे। मन्थर ने कहा—भद्र मृग! तुम कुशल से हो? अपनी इच्छा के अनुसार जल भोजनादि ग्रहण करो और यहाँ रहकर इस वन को सनाथ करो। चित्राङ्ग ने कहा—व्याध से भयभीत होकर मैं आपकी शरण में आया हूँ और आपके साथ मित्रता करना चाहता हूँ। आप सब मित्रता स्वीकार का अनुग्रह कीजिए।

यत —लोभाद्वाऽथ भयाद्वाऽपि यस्त्यजेच्छरणागतम्।
ब्रह्महत्यासमं तस्य पापमाहुर्मनीषिणः ॥ १८४ ॥

अ०—य लोभाद्वा अथ भयाद् वा अपि शरणागत त्यजेत्, मनीषिण तस्य ब्रह्महत्यासम पापम् आहु। व्या०—य ऐश्वर्यशाली जन, लोभाद्वा=द्रव्यादि-प्रलोभनेन, अथवा भयाद्=महत्कृतभीतिहेतोर्वा, अपि, शरणागतम्=शरणम् आगत तम्, स्वाश्रयविश्वस्त जनम्, त्यजेत्=जह्यात्, तादृशजनरक्षण न कुर्या-दित्यर्थं। मनीषिण=मनस्विन बुद्धिमन्त जना, तस्य=अरक्षकस्य जनस्य, ब्रह्महत्यासम—ब्रह्मण=ब्राह्मणस्य हत्या वध हनन तेन सम, पाप=दुष्कृत दुरितम्, आहु=कथयन्ति।

भा०—जो पुरुष (समर्थ होने पर भी) लोभ से अथवा भय से शरणागत का रक्षण नहीं करता है विद्वान् लोगों ने उसको ब्रह्महत्या के समान पाप कहा है ॥ १८४ ॥

हिरण्यकोऽप्यवदत्—मित्रत्वं तावदस्माभि सह, अयत्नेन निष्पन्नं भवत।

भा०—हिरण्यक ने कहा—अनायास ही हमारे साथ तुम्हारी मित्रता हुई।

यत —औरसं कृतसम्बन्धं तथा वंशक्रमाऽऽगतम्।
रक्षकं व्यसनेभ्यश्च मित्रं ज्ञेयं चतुर्विधम् ॥ १८५ ॥

अ०—औरस कृतसम्बन्ध तथा वशक्रमागत व्यसनेभ्यश्च रक्षकम् (इति) चतुर्विध मित्र ज्ञेयम्। व्या०—औरसम्=उरस जात शरीरसम्बन्धादुत्पन्नम् अपत्यादिकम्, कृतसम्बन्ध=कृत नूतनो विहित सम्बन्ध विवाहादिरूप आभाषणपूर्वकत्वरूपो वा येन तत् तादृशम्, तथा वशक्रमागत=वशस्य कुलस्य य क्रम परम्परा, तेन सह आगतम्, व्यसनेभ्यश्च=आकस्मिकाऽऽपद्भ्यश्च रक्षक=रक्षणकारि इत्येव चतुर्विध=चतुष्प्रकार, मित्र=सुहृद् ज्ञेय=बोध्यमिति।

भा०—मित्र चार प्रकार के होते हैं—एक अपना पुत्र-प्रपौत्रादि, दूसरा विवाहादि सम्बन्धवाले सम्बन्धी जन, तीसरा वश परम्पराओं से चले आते पडोसी आदि, चौथा आकस्मिक आपत्तियों से बचाने वाले, ये चार मित्र हैं ॥ १८५ ॥

तदत्र भवता स्वगृहनिर्विशेषेण स्थीयताम्। तच्छ्रुत्वा मृग सानन्दो भूत्वा कृतस्वेच्छाऽऽहार पानीयं पीत्वा जलासन्नवटतरुच्छायायामुपविष्ट।

व्या०—तत्=तस्मात् मित्रत्वरूपहेतो, स्वगृहनिर्विशेषेण=स्वस्य निजस्य तव गृहात् नि नास्ति विशेष भेदो यस्य स तेन स्वगृहभेदभावशून्येनेत्यर्थ। भवता=त्वया, अत्र स्थीयता=स्थिति निवास क्रियतामित्यर्थं। तत्=हिरण्यकस्य वचनम्,

श्रुत्वा, मृग = चित्राङ्गनामा हरिण, सानन्द:=आनन्दपूर्णं भूत्वा, कृतस्वेच्छाहार:= कृत अनुष्ठित स्वस्य इच्छया आहार भोजन येन स यथेच्छ भोजन कृत्वेत्यर्थः। पानीय= जलम्, पीत्वा, जलासन्नवटतरुच्छायायाम् = जलस्य आसन्न· समीपवर्ती य· वटतरु न्यग्रोधवृक्षस्तस्य छायायाम्, उपविष्ट· = निषसाद।

भा०—इसलिये अपना घर मानकर तुम यहाँ ही रहो। हिरण्यक के इस वचन को सुनकर वह मृग आनन्दित हुआ, और यथेष्ट भोजन करके पानी पी के जल के समीपस्थ वटवृक्ष की छाया में बैठ गया।

अथ मन्थरो ब्रूते—सखे मृग ! केन त्रासितोऽसि ? अस्मिन्निर्जने वने कदाचित् किं व्याधा· सञ्चरन्ति ? मृगेण उक्तम्—'अस्ति कलिङ्गविषये रुक्माङ्गदो नाम नृपतिः, स च दिग्विजयव्यापारक्रमेण आगत्य चन्द्रभागानदीतीरे समावेशितकटको वर्तते, प्रातश्च तेनाऽत्रागत्य कर्पूरसरःसमीपे भवितव्यम्' इति व्याधानां मुखात् किंवदन्ती श्रूयते, तदत्रापि प्रातरवस्थानं भयहेतुकमित्यालोच्य यथा कार्यं तथा आरभ्यताम्। तच्छ्रुत्वा कूर्मः सभयमाह—'मित्र ! जलाशयाऽन्तरं गच्छामि'। काकमृगावपि उक्तवन्तौ—'मित्र ! 'एवमस्तु' हिरण्यको विमृश्याऽब्रवीत्—पुनर्जलाशये प्राप्ते मन्थरस्य कुशलम्, स्थले गच्छतोऽस्य का विधा ?

व्या०—मन्थर = मन्थरनामा कूर्म, ब्रूते = कथयति। सखे मृग ! केन = व्याधादिना, त्रासित = त्रास प्रापित, असि = भवसि ? अस्मिन्निर्जने = मनुष्यरहिते, वने = अरण्ये, व्याधा = लुब्धका, कदाचित् = कस्मिन्नपि काले, सञ्चरन्ति = परिभ्रमन्ति, किम् = प्रश्ने। मृगेण = चित्राङ्गेण उक्तम्—कलिङ्गविषये=कलिङ्ग इति नाम्ना ख्यात विषय· देश तस्मिन्, रुक्माङ्गदनामा भूपति = राजा, अस्ति = विद्यते, स च राजा, दिग्विजयव्यापारक्रमेण = दिशा प्राच्यादिस्थदेशाना विजयस्य स्वायत्तीकरणस्य व्यापार अनुष्ठान तस्य क्रम परम्परा तेन, आगत्य = समेत्य चन्द्रभागानदीतीरे = 'चन्द्रभागा' नामनद्या तीरे = तटप्रदेशे, समावेशितकटक = समावेशित सन्निवेशित कटक शिबिरो येन स तथाविध सन्, वर्तते, प्रातश्च = आगामिनि प्रात काले तेन = राज्ञा, अत्र = अस्मिन् वने, आगत्य=समेत्य, कर्पूरसर· समीपे = कर्पूरसरस समीपे निकटे, भवितव्यम् इति = इत्येवरूपो, व्याधाना = लुब्धकानाम्, मुखात्, किंवदन्ती = गाथा, श्रूयते = मया आकर्ण्यते। तत् = तस्माद्धेतो प्रात = आगामिनि प्रात समये, अत्राऽपि एतस्मिन्नावासेऽपि, अवस्थान = स्थिति· भयहेतुकम = भय हेतुर्यस्य तत् भयफलकमित्यर्थः। इत्यालोच्य, यथा =

येन प्रकारेण, कार्यं=कर्तुं योग्यं तथा आरभ्यताम्=विधीयताम्, तच्छ्रुत्वा, कूर्मः=मन्थरः भभयः=भयभीतः सन् आह—मित्र हरिण ! जलाशयान्तरम्=अन्यः जलाशय इति जलाशयान्तरम् अपरं जलह्रदं, गच्छामि=अपसरामि । ततः काकमृगौ अपि=काकश्च मृगश्च तौ अपि, उक्तवन्तौ=अभिहितवन्तौ मित्र ! कूर्म ! एवमस्तु=यथा कथयसि तथाऽन्यत्र गमनं कुरु, हिरण्यकः=मूषिकः, विमृश्य=दीर्घं विचार्य्य, अब्रवीत्—पुनः जलाशये=तडागे, प्राप्ते=अधिगते सति एव, मन्थरस्य=कूर्मस्य, कुशलं=क्षेमम् भविष्यति । स्थले=स्थलमार्गेण जलाशयान्तरं गच्छतः अस्य=कूर्मस्य, का विधा ?=मध्ये का दशा भविष्यतीति ? (अर्थात् स्थले कथं गन्तुं पारयिष्यति)

भा०—मन्थर ने कहा–सखे मृग ! किससे भयभीत हुए हो ? क्या इस निर्जन वन में व्याध लोग आते हैं ? मृग ने कहा—'कलिङ्गदेश में रुक्माङ्गदनाम का राजा है, वह दिग्विजय करता हुआ चन्द्रभागा नदी के किनारे पर शिविर डालकर टिका है । प्रातःकाल इस वन में कर्पूरसरोवर के समीप में आवेगा' ऐसा व्याधों की किंवदन्ती सुनी है, इसलिये सुबह यहाँ पर भी रहना भयजनक है । सो आप विचार करके जैसा करना हो वैसा कीजिये । यह सुनकर कूर्म भयभीत होकर बोला—मित्र मृग ! मैं तो दूसरे जलाशय में जाता हूँ । काक और मृग दोनों ने कहा—मित्र कूर्म ! 'जैसे हो करो ।' पर हिरण्यकने विचारपूर्वक कहा—मन्थर जलाशय में पहुँचने पर सुखी होगा । लेकिन पृथिवी पर जाते हुए इसका क्या हाल होगा ?

यतः—अम्भांसि जलजन्तूनां दुर्गं दुर्गनिवासिनाम् ।
स्वभूमिः श्वापदादीनां राज्ञां सैन्यं परं बलम् ॥ १८६ ॥

अ०—जलजन्तूनाम् अम्भांसि, दुर्गनिवासिनां दुर्गम्, श्वापदादीनां स्वभूमिः, राज्ञां सैन्यं, च परं बलं भवति । व्या०—जलजन्तूनाम्=जलस्य जन्तवः प्राणिनः तेषाम्, जलचराणामित्यर्थः । अम्भांसि=जलानि एव परं बलं भवति । दुर्गनिवासिनां=दुर्गं कोट्टं कोट्टमध्ये निवसन्ति दुर्गनिवासिनस्तेषाम्, दुर्गं=कोट्टः एव परं बलं भवति । श्वापदादीनां=शुनः पदमिव पदं येषान्ते श्वापदाः व्याघ्रादयः ते आदयो येषान्ते इति श्वापदादयः व्याघ्रादयो वनवासिनः मूषिकादयश्च बिलवासिनस्तेषामित्यर्थः । स्वभूमिः=स्वेषां भूमिः निवासस्थलम्, तदेव परं बलं भवति, राज्ञां=नृपाणां, सैन्यं बलं भवतीति ।

भा०—जलजन्तुओं का परम बल जल ही है, किला के निवासियों का बल किला ही होता है, हिंस्र प्राणियों का बल अपना निवास स्थान ही है, और राजाओं का बल सैन्य ही होता है ॥ १८६ ॥

अथाप्युपायश्चिन्त्यताम् । तथा चोक्तम—

फिर भी उपाय ढूँढना चाहिए । कहा भी है—

उपायेन हि यच्छक्यं न तच्छक्यं पराक्रमैः ।
शृगालेन हतो हस्ती गच्छता पङ्कवर्त्मना ॥ १८७ ॥

अ०—उपायेन हि यच्छक्यं तत् पराक्रमैं न शक्यम्, शृगालेन पङ्कवर्त्मना गच्छता (सता) हस्ती हत । व्या०—उपायेन = साम-दान-भेद-दण्ड-मायेन्द्रजालादिप्रयोगेण, हि = निश्चये यत् = यत् कर्तुं शक्य = लब्धु योग्य भवति, तत् पराक्रमैं शौर्यादिकरणेनाऽपि, न शक्य = साधितु लब्धु न योग्य न भवतीति । तथा हि—शृगालेन = केनचित् जम्बुकेन पङ्कवर्त्मना = पङ्कस्य कर्दमस्य वर्त्मना मार्गेण कर्दमप्रचुरमार्गमाश्रित्येत्यर्थं । गच्छता = व्रजता, (सता महाबलोऽपि) हस्ती = करी, हत = विनाशित इति ।

भा०—उपाय से जो साध्य होता है वह पराक्रम से नहीं होता । शृगाल ने कीचड वाले मार्ग में चल कर हाथी को भी मारा था ॥ १८७ ॥

तद्यथा—

कथा ६

अस्ति ब्रह्मारण्ये कर्पूरतिलको नाम हस्ती । तमवलोक्य सर्वे शृगालाश्चिन्तयन्ति स्म 'यद्ययं केनाऽप्युपायेन म्रियते, तदाऽस्माकम् एतेन देहेन मासचतुष्टयस्य स्वेच्छाभोजनं भवेत्' । ततस्तन्मध्यादेकेन वृद्धशृगालेन प्रतिज्ञा कृता—'मया बुद्धिप्रभावादस्य मरणं साधयितव्यम्' अनन्तरं स वञ्चकः कर्पूरतिलकसमीपं गत्वा साष्टाङ्गपातं प्रणम्योवाच—'देव ! दृष्टिप्रसादं कुरु । हस्ती ब्रूते—'कस्त्वम् ? कुत. समायात ?' । सोऽवदत् 'जम्बुकोऽहं सर्वैर्वनवासिभि. पशुभिर्मिलित्वा भवत्सकाशं प्रस्थापित., यद्विना राज्ञा स्थातुं न युक्तम् , तदत्राऽटवीराज्येऽभिषेक्तुं भवान् सर्वस्वामिगुणोपेतो निरूपितः ।

व्या०—ब्रह्मारण्ये = 'ब्रह्म' नाम्नि वने, कर्पूरतिलक इति नाम्ना ख्यात , हस्ती = करी, अस्ति = वर्तते । सर्वे शृगाला = तद्वनस्था जम्बुका , चिन्तयन्ति स्म = मन्त्रणा कुर्वन्ति स्म—यदि अय = हस्ती, केनाऽपि उपायेन, म्रियते = मरण यास्यति, तदा अस्माक = वनवासिनाम्, एतेन हस्तिन देहेन, मासचतुष्टयस्य = मासाना चतुष्टय तस्य, मासचतुष्टयपर्यन्तमित्यर्थं । स्वेच्छाभोजनम् = स्वेषाम् इच्छास्तासाम् अनुरूप भोजनमिति स्वेच्छाभोजनम्, भवेत् = स्यात् । तत = इत्येव मन्त्रणाऽनन्तरम्, तन्मध्यात् = तेषां शृगालाना मध्यात् , एकेन वृद्धशृगालेन = वृद्धश्चासौ शृगालस्तेन, प्रतिज्ञा कृता, मया बुद्धिप्रभावात् = बुद्धे. प्रभाव चातुर्यं

तस्मात्, अस्य=हस्तिनः, मरण=निधनम्, साधयितव्यं=घटयितव्यम्, अनन्तरम्=प्रतिज्ञा कृत्वेत्यर्थः। स वञ्चकः=धूर्तः वृद्धश्शृगालः कर्पूरतिलकनाम्नः हस्तिनः समीपं=पुरः प्रदेशं गत्वा, साष्टाङ्गपातम्=अष्टाङ्गैः करद्वयपादद्वयहृदयहस्तद्वयललाटात्मकैः सहितः भूमिस्पर्शपूर्वकः पातो यस्मिन् कर्मणि यथा स्यात् तथा, प्रणम्य=दण्डवन्नमस्कारं विधाय, उवाच—देव!=स्वामिन्! दृष्टिप्रसादं=दृष्ट्या अवलोकनेन, प्रसादं=पवित्रं प्रसन्नता वा, कुरु=विधेहि। हस्ती ब्रूते—कस्त्वम्=त्वं जात्यादिना कुलपरिचयेन च कः असि? कुतः?=कस्मात् स्थानात् कस्माच्च हेतोः समायातः आगतोऽसि?। स वृद्धश्शृगालः अवदत्—जम्बुकः=शृगालः, अस्मीति शेषः, अथ च सर्वैः=समस्तैः वनवासिभिः=वने वसन्ति इति वनवासिनः तैः, पशुभिः=श्वापदैः, मिलित्वा=सम्भूय, भवत्सकाशं=भवतः सन्निधौ, प्रस्थापितः=प्रेषितः, अस्मीति शेषः। यद् यस्माद्धेतोः, राज्ञा विना=नृपतिमन्तरेण, अनृपतिना राज्येन स्थातुं=व्यवस्थातुं, न युक्तं भवतीति। तत्=तस्माद्धेतोः, अत्र=एतस्मिन्, अटवीराज्ये=अटव्याः=वनस्थल्याः राज्ये=राज्यसिंहासने, अभिषेक्तुम्=राजत्वेन स्वीकर्तुम्, सर्वस्वामिगुणोपेतः=सर्वे, च ते स्वामिनः राज्ञः गुणाः शौर्यदयादयस्तैरुपेतः, अत एव भवान्=त्वमेव, निरूपितः=निर्धारितः।

भा०—'ब्रह्म' वन में 'कर्पूरतिलक' नाम का हाथी रहता था, उसको देखकर सब शृगालों ने विचार किया—'किसी उपाय से इस हाथी का मरण हो जाय तो इसके शरीर से अपने सब का चार मास पर्यन्त यथेष्ट भोजन चलेगा'। यह सुनकर उस शृगाल में से एक वृद्ध शृगाल ने प्रतिज्ञा की कि 'मैं बुद्धि की चतुरता से इसकी हत्या करा दूँगा।' उसके बाद वह धूर्त शृगाल 'कर्पूरतिलक' हस्ती के पास जाकर साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम करके बोला—'देव! दृष्टिपात करने से मुझे अनुगृहीत करिए।' हस्तीने कहा—'तुम कौन और क्यों आये हो?' शृगाल बोला—'मैं जम्बुक हूँ, और सभी वनवासी पशुओंने मिलकर आपके पास मुझे भेजा है, क्योंकि राजा बिना राज्य नहीं चल सकता है। इसलिये इस वनस्थली के राजसिंहासन पर अभिषेक करने योग्य सर्वराजगुणों से युक्त आप ही निर्धारित किये गये हैं।

यतः—कुलाचारजनाऽऽचारैरतिशुद्धः प्रतापवान्।
धार्मिको नीतिकुशलः स स्वामी युज्यते भुवि॥ १८८॥

अ०—(यः) कुलाचारजनाचारैः अतिशुद्धः प्रतापवान्, धार्मिकः नीतिकुशलः, (भवति) स भुवि स्वामी युज्यते। व्या०—यः=पुरुषः कुलाचारजनाचारैः=कुलस्य आचाराः वंशागतरीतयः जनस्य आचाराः लोकव्यवहारगतरीतयः तैः, अतिशुद्धः=कलङ्करहितः, प्रतापवान्=ऐश्वर्यशाली प्रभावशाली चेत्यर्थः। धार्मिकः धर्मनिष्ठः, नीतिकुशलः=नीतिशास्त्रनिपुणश्च भवति। स=तादृशः, पुरुषः, भुवि=जगत्याम्, स्वामी=राजा नरपतिः, युज्यते=(जनैः) नियुज्यते।

अथाप्युपायश्चिन्त्यताम् । तथा चोक्तम—

फिर भी उपाय ढूँढना चाहिए । कहा भी है—

उपायेन हि यच्छक्यं न तच्छक्यं पराक्रमैः ।
शृगालेन हतो हस्ती गच्छता पङ्कवर्त्मना ॥ १८७ ॥

अ०—उपायेन हि यच्छक्यं तत् पराक्रमै न शक्यम्, शृगालेन पङ्कवर्त्मना गच्छता (सता) हस्ती हत । व्या०—उपायेन = साम-दान-भेद-दण्ड-मायेन्द्रजालादिप्रयोगेण, हि = निश्चये यत् = यत् कर्तुं शक्य = लब्धु योग्य भवति, तत् पराक्रमै शौर्यादिकरणेनाऽपि, न शक्य = साधितु लब्धु न योग्य न भवतीति । तथा हि-शृगालेन = केनचित् जम्बुकेन पङ्कवर्त्मना = पङ्कस्य कर्दमस्य वर्त्मना मार्गेण कर्दमप्रचुरमार्गमाश्रित्येत्यर्थ । गच्छता = व्रजता, (सता महाबलोऽपि) हस्ती = करी, हत. = विनाशित इति ।

भा०—उपाय से जो साध्य होता है वह पराक्रम से नहीं होता । शृगाल ने कीचड़ वाले मार्ग में चल कर हाथी को भी मारा था ॥ १८७ ॥

तद्यथा—

कथा ६

अस्ति ब्रह्मारण्ये कर्पूरतिलको नाम हस्ती । तमवलोक्य सर्वे शृगालाश्चिन्तयन्ति स्म 'यद्ययं केनाऽप्युपायेन म्रियते, तदाऽस्माकम् एतेन देहेन मासचतुष्टयस्य स्वेच्छाभोजनं भवेत्' । ततस्तन्मध्यादेकेन वृद्धशृगालेन प्रतिज्ञा कृता—'मया बुद्धिप्रभावादस्य मरणं साधयितव्यम्' अनन्तरं स वञ्चकः कर्पूरतिलकसमीपं गत्वा साष्टाङ्गपातं प्रणम्योवाच—'देव ! दृष्टिप्रसादं कुरु । हस्ती ब्रूते—'कस्त्वम् ? कुतः समायातः ?' । सोऽवदत् 'जम्बुकोऽहं सर्वैर्वनवासिभिः पशुभिर्मिलित्वा भवत्सकाशं प्रस्थापित., यद्विना राज्ञा स्थातुं न युक्तम्, तदत्राऽटवीराज्येऽभिषेक्तुं भवान् सर्वस्वामिगुणोपेतो निरूपितः ।

व्या०—ब्रह्मारण्ये = 'ब्रह्म' नाम्नि वने, कर्पूरतिलक इति नाम्ना ख्यात , हस्ती = करी, अस्ति = वर्तते । सर्वे शृगाला = तद्वनस्था जम्बुका , चिन्तयन्ति स्म = मन्त्रणा कुर्वन्ति स्म—यदि अय = हस्ती, केनाऽपि उपायेन, म्रियते = मरणं यास्यति, तदा अस्माक = वनवासिनाम्, एतेन हस्तिन देहेन, मासचतुष्टयस्य = मासाना चतुष्टय तस्य, मासचतुष्टयपर्यन्तमित्यर्थ । स्वेच्छाभोजनम् = स्वेषाम् इच्छास्तासाम् अनुरूप भोजनमिति स्वेच्छाभोजनम्, भवेत् = स्यात् । तत = इत्येव मन्त्रणाऽनन्तरम्, तन्मध्यात् = तेषां शृगालानां मध्यात् , एकेन वृद्धशृगालेन = वृद्धश्चासौ शृगालस्तेन प्रतिज्ञा कृता, मया बुद्धिप्रभावात् = बुद्धे प्रभाव. चातुर्यं

तस्मात्, अस्य=हस्तिन, मरण=निधनम्, साधयितव्यं=घटयितव्यम्, अनन्तरम्=प्रतिज्ञा कृत्वेत्यर्थं। स वञ्चक=धूर्त वृद्धश्रृगाल कर्पूरतिलकनाम्न हस्तिन समीपं=पुर प्रदेश गत्वा, साष्टाङ्गपातम्=अष्टाङ्गै करद्वयपादद्वयहृदयहस्त-द्वयललाटात्मकै सहित भूमिस्पर्शपूर्वक पातो यस्मिन् कर्मणि यथा स्यात् तथा, प्रणम्य=दण्डवन्नमस्कारं विधाय, उवाच—देव!=स्वामिन्! दृष्टिप्रसाद=दृष्ट्या अवलोकनेन, प्रसाद=पवित्र प्रसन्नता वा, कुरु=विधेहि। हस्ती ब्रूते—कस्त्वम्=त्व जात्यादिना कुलपरिचयेन च क असि? कुत?=कस्मात् स्थानात् कस्माच्च हेतो समायात आगतोऽसि?। स वृद्धश्रृगाल अवदत्—जम्बुक=श्रृगाल, अस्मीति शेष, अथ च सर्वै=समस्तै वनवासिभि=वने वसन्ति इति वनवासिन तै, पशुभि=श्वापदै, मिलित्वा=सम्भूय, भवत्सकाश=भवत सन्निधौ, प्रस्थापित=प्रेषित, अस्मीति शेष। यद् यस्माद्धेतो, राज्ञा विना=नृपतिमन्तरेण, अनृपतिना राज्येन स्थातु=व्यवस्थातु, न युक्त भवतीति। तत्=तस्माद्धेतो, अत्र=एतस्मिन्, अटवीराज्ये=अटव्या=वनस्थल्या राज्ये=राज्यसिंहासने, अभिषेक्तुम्=राजत्वेन स्वीकर्तुम्, सर्वस्वामिगुणोपेत=सर्वे, च ते स्वामिन राज्ञ गुणा शौर्यदयादयस्तैरुपेत, अत एव भवान्=त्वमेव, निरूपित=निर्धारित।

भा०—'ब्रह्म' वन में 'कर्पूरतिलक' नाम का हाथी रहता था, उसको देखकर सब श्रृगालों ने विचार किया—'किसी उपाय से इस हाथी का मरण हो जाय तो इसके शरीर से अपने सब का चार मास पर्यन्त यथेष्ट भोजन चलेगा'। यह सुनकर उस श्रृगाल में से एक वृद्ध श्रृगाल ने प्रतिज्ञा की कि 'मैं बुद्धि का चतुरता से इसकी हत्या करा दूँगा।' उसके बाद वह धूर्त श्रृगाल 'कर्पूरतिलक' हस्ती के पास जाकर साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम करके बोला—'देव! दृष्टिपात करने से मुझे अनुगृहीत करिए।' हस्तीने कहा—'तुम कौन और क्यों आये हो?' श्रृगाल बोला—'मैं जम्बुक हूँ, और सभी वनवासी पशुओंने मिलकर आपके पास मुझे भेजा है, क्योंकि राजा बिना राज्य नहीं चल सकता है। इसलिये इस वनस्थली के राजसिंहासन पर अभिषेक करने योग्य सर्वराजगुणों से युक्त आप ही निर्धारित किये गये हैं।

यत —कुलाचारजनाऽऽचारैरतिशुद्धः प्रतापवान्।
धार्मिको नीतिकुशल' स स्वामी युज्यते भुवि॥ १८८॥

अ०—(य) कुलाचारजनाचार अतिशुद्ध प्रतापवान्, धार्मिक नीतिकुशल, (भवति) स भुवि स्वामी युज्यते। व्या०—य=पुरुष कुलाचारजनाचारै=कुलस्य आचारा वंशागतरीतय जनस्य आचारा लोकव्यवहारगतरीतय तै अतिशुद्ध=कलङ्करहित', प्रतापवान्=ऐश्वर्यशाली प्रभावशाली चेत्यर्थं। धार्मिक धर्मनिष्ठ, नीतिकुशल=नीतिशास्त्रनिपुणश्च भवति। स=तादृश, पुरुष, भुवि=जगत्याम्, स्वामी=राजा नरपति, युज्यते=(जन) नियुज्यते।

भा—कुलाचार से तथा लोकाचार से अतिशुद्ध, प्रतापी, धार्मिक, नीतिकुशल जो हों वे ही पृथिवी में राजा के योग्य हैं ॥ १८८ ॥

अपरञ्चपश्य—

राजानं प्रथमं विन्देत् ततो भार्यां ततो धनम्।
राजन्यसति लोकेऽस्मिन् कुतो भार्या कुतो धनम् ? ॥ १८९ ॥

अ०—प्रथमं राजानं विन्देत्, ततः भार्याम्, ततः धनम्, अस्मिन् लोके राजनि असति, भार्या कुतः ? धनं च कुतः ?। व्या०—प्रथमम् = आदौ, राजानं=नरपतिम्, विन्देत् = आश्रयेत्, ततः भार्यां = पत्नीम्, विन्देत् = गृह्णीयात्, ततः धनं, विन्देत्= उपार्जयेत्, अस्मिन् लोके = संसारे, राजनि = नृपतौ, असति = अविद्यमाने सती-त्यर्थः, राजानुशासनमन्तरेणेति यावत्। भार्या = पत्नी, कुतः = कुत्र रक्षिता स्यात्, धनं च कुतः ? द्रव्यमपि कथं रक्षितं भवेत् ? उभयरक्षा राजाधीना इति भावः।

भा०—प्रथम राजा का आश्रय होना चाहिये, उसके बाद स्त्री का ग्रहण करना चाहिये और तब धन कमाना चाहिये। राज्य में राजा का अनुशासन यदि न हो, तो स्त्री तथा द्रव्य सब शत्रुओं से सुरक्षित कैसे रह सकते हैं ? ॥ १८९ ॥

अन्यच्च—पर्जन्य इव भूतानामाधारः पृथिवीपतिः।
विकलेऽपि हि पर्जन्ये जीव्यते न तु भूपतौ ॥ १९० ॥

अ०—पृथिवीपतिः पर्जन्य इव भूतानाम् आधारः, हि पर्जन्ये विकलेऽपि जीव्यते, न तु भूपतौ। व्या०—पृथिवीपतिः = पृथिव्याः पतिः, राजा, पर्जन्य इव = मेघ इव, भूतानां = प्राणिनाम्, आधारः =जीवन रक्षको वा भवतीति। हि=यतः, तत्र पर्जन्ये= मेघे, विकलेऽपि कदाचित् अवर्षत्यपि, लोकैः जीव्यते। तु = किन्तु, भूपतौ = राजनि, विकले = विनष्टे सति, न जीव्यते।

भा०—राजा मेघ की तरह प्राणिमात्र का आधार है, उसमें भी मेघ के बिना कथञ्चित् जीवन सुरक्षित चला सकते हैं, किन्तु राजा के बिना नहीं ॥ १९० ॥

किञ्च—नियतविषयवर्ती प्रायशो दण्डयोगा-
जगति परवशेऽस्मिन् दुर्लभः साधुवृत्तः।
कृशमपि विकलं वा व्याधितं वाऽधनं वा
पतिमपि कुलनारी दण्डभीत्याऽभ्युपैति ॥ १९१ ॥

अ०—अस्मिन् परवशे जगति (सत्येव) प्रायशः दण्डयोगात् नियतविषयवर्ती (भवति) साधुवृत्तस्तु दुर्लभः (भवति) कुलनारी दण्डभीत्या कृशमपि विकलं वा व्याधितं वा अधनं वा पतिम् अभ्युपैति। व्या०—अस्मिन् = रागद्वेषप्रयुक्ते, जगति= संसारे, परवशे = कामलोभाद्यधीने, प्रायशः=प्रायेण, दण्डयोगात्=दण्डस्य शासनस्य योगः सम्यागमनं तस्मात्, नियतविषयवर्ती= नियते नीतियुक्ते विषये व्यवहारे

वर्तते यः स नियतविषयवर्ती, (जनसमुदाय इति शेषः) भवति। यत लोके साधुवृत्तस्तु=साधु समीचीनम् वृत्तम् आचरण यस्य स एतादृशस्तु जन दुर्लभ = न लभ्यते। कुलनारी=कुलोत्पन्ना रूपगुणादिमती अपि नारी, दण्डभीत्या=राजशासनभयेन, कृश=निर्बलम् अपुष्टशरीरम्, विकल=केनचित् इन्द्रियेण शून्यं काण वा वधिर वा कुरूप वेति, व्याधित=कफादिरोगग्रस्तं वा, अधन=निर्धन वा पतिम् अभ्युपैति=स्वभर्तारं स्वीकुरुते।

भा०—यह काम लोभादि दोष के अधीन ससार प्रायश दण्डके भय से ही अपने-अपने पदार्थों में सतोष मान कर चलता है, क्योंकि साधु आचरणवाले दुर्लभ होते हैं। कुलनारी भी दण्ड के भय से कृश, विकलाङ्ग, रोगी, निर्धन, ऐसे पति की सेवा करती है॥ १९१॥

तद् यथा लग्नवेला न चलति तथा कृत्वा सत्वरमागम्यतां देवेन। इत्युक्त्वा उत्थाय चलित । ततोऽसौ राज्यलोभाऽऽकृष्ट. कर्पूरतिलकः शृगालदर्शितवर्त्मना धावन् महापङ्के निमग्न । हस्तिना उक्तम्—'सखे शृगाल! किमधुना विधेयम्? महापङ्क पतितोऽहं म्रिये, परावृत्य पश्य? शृगालेन विहस्य उक्तम्—'देव! मम पुच्छाग्रे हस्तं दत्त्वा उत्तिष्ठ' यस्मात् मद्विधस्य वचसि त्वया विश्वास' कृतः तस्य फलमेतत्। तदनुभूयताम् अशरणं दु.खम्।

व्या०—तत्=तस्मात्, यथा यावत्, लग्नवेला=लग्नस्य राज्याभिषेकमुहूर्तस्य समय, न चलति=न अतिवर्तते. तथा=तेन प्रकारेण कृत्वा, सत्वर=शीघ्रम्, आगम्यता देवेन, इत्युक्त्वा, उत्थाय (वृद्धशृगाल) चलित =गन्तु प्रवृत्त । तत राज्यलोभाऽऽकृष्ट =राज्यस्य लोभेन आकृष्ट आहृतबुद्धि असौ कर्पूरतिलकनामा हस्ती, शृगालदर्शितवर्त्मना=शृगालेन प्रदर्शित यत् वर्त्म कपटमार्ग तेन, धावन्-सवेग गच्छन् सन्, महापङ्के=गम्भीरकर्दमे, निमग्न =पतित । तत. हस्तिना उक्तम्=सखे शृगाल! अधुना=इदानीम्, किं विधेय=निष्कासनोपाय क अनुष्ठेय? परावृत्य पश्य=प्रत्यावृत्य अवलोकय, अहं महापङ्के पतित सन् म्रिये=मरणनिकटो भवामि। तत शृगालेन विहस्य उक्तम्=देव! मम पुच्छस्य अग्रे वालधिप्रान्ते, हस्तं=शुण्डा, दत्त्वा, उत्तिष्ठ=उत्थितो भव। यस्माद्धेतो. मद्विधस्य=मादृशस्य धूर्तस्य, वचसि=वाक्ये, त्वया विश्वास =विश्रम्भ कृत, तस्य=विश्वासस्य, एतत् पङ्कनिमग्नतारूप=फलम् अवगच्छ। तदेतत् अशरणं=न विद्यते शरणम् उद्धारक कश्चिदपि यस्य, एतादृशम्, दु खम्, अनुभूयताम्=भुज्यताम्।

भा०—इसलिये जब तक मुहूर्त का समय न चला जाय आपको वहाँ पहुँचना चाहिए ऐसा कहकर वह शृगाल उठकर चला और राज्य के लोभवाला 'कर्पूरतिलक' हाथी भी शृगाल के बताये हुए मार्ग से दौड़ते दौड़ते गहरे कीचड़ में फस गया! हाथी ने कहा—

मित्र शृगाल ! अब क्या करूँ, मैं गहरे कीचड में फँसकर मरता हूँ। शृगाल ने हँस कर कहा—देव ! मेरी पूँछ को सूँड से पकड कर निकल आओ। मेरे जैसे धूर्त के वचन में तुमने विश्वास किया इसका यह फल है, अब अनिवार्य दु ख का भोग करो।

तथा चोक्त—यदाऽसत्सङ्गरहितो भविष्यसि भविष्यसि।
यदाऽसज्जनगोष्ठीषु पतिष्यसि पतिष्यसि ॥ १९२ ॥

व्या०—(अन्वयो यथाश्रुत) यदा = यस्मिन् काले, असत्सङ्गरहित = असतां दुष्टानां सङ्ग असङ्ग तेन रहित शून्य, भविष्यसि, तदा भविष्यसि = जीवनं धारयिष्यसीत्यर्थ। यदा तु—असज्जनगोष्ठीषु = असज्जनानां धूर्तानां गोष्ठीषु = वार्तासु, पतिष्यसि = विश्वास करिष्यसि, तदा पतिष्यसि = महादु खगर्ते पतिष्यसीति।

भा०—जब तक दुष्टों के संग से बचते हो तब तक जीवन श्रेष्ठता से चलता है, जब दुष्ट के सङ्ग में पड जाते हो तब फिर एक रीति से अधोगति होती है ॥ १९२ ॥

ततो महापङ्के निमग्नो हस्ती शृगालैर्भक्षितः। अतोऽहं ब्रवीमि—'उपायेन हि यच्छक्यम्' (१८७) इत्यादि।

भा०—उसके बाद गहरे कीचड में फँसकर मरे हुए हाथी को शृगालों ने खूब खाया। इसलिये मैं कहता हूँ कि—'उपाय से जो शक्य है' इत्यादि।

ततस्तद्धितवचनमवधीर्य महता भयेन विमुग्ध इव मन्थरस्तज्जलाशयमुत्सृज्य प्रचलितः। तेऽपि हिरण्यकादय स्नेहादनिष्टं शङ्कमाना स्तमनुजग्मु। ततः स्थले गच्छन् केनाऽपि व्याधेन वने पर्यटता स मन्थरः प्राप्त, स च तं गृहीत्वा उत्थाय धनुषि बद्ध्वा 'धन्योऽस्मि' इत्यभिधाय भ्रमणक्लेशात् क्षुत्पिपासाकुलः स्वगृहाभिमुखं प्रयातः। अथ ते मृगवायसमूषिकाः परं विषादमुपगता तमनुगच्छन्ति स्म। ततः हिरण्यको विलपति—

व्या०—तत = तदनन्तरम्, तद्धितवचनम् = तस्य हिरण्यकस्य हित हितकरं वचनम्, अवधीर्य = अवज्ञाय, महता भयेन, विमुग्ध मोहङ्गत इव, मन्थर = कूर्म, तज्जलाशयमुत्सृज्य = तत्प्राचीनं जलस्य आशय तडागम्, उत्सृज्य = विहाय प्रचलित प्रस्थित। ते हिरण्यककाकमृगा अपि अनिष्ट = भाविविपत्तिम्, आशङ्कमाना — सन्दिहाना सन्त स्नेहात् = मित्रप्रेम्णा, तं = कूर्मम्, अनुजग्मु। तत स्थले = पृथिव्याम्, गच्छन् स मन्थर = कूर्म, केनाऽपि वने पर्यटता व्याधेन, प्राप्त = दृष्ट, स च व्याध तं = मन्थरं, गृहीत्वा = उत्थाय, धनुषि = धनुरग्रान्ते बद्ध्वा, 'धन्योऽस्मि' 'सभाग्योऽस्मि' इति अभिधाय = उच्चार्य, भ्रमणक्लेशात् = वनाटनपरिश्रमात्, क्षुत्पिपासाऽऽकुल—क्षुच्च पिपासा च क्षुत्पिपासे ताभ्याम् आकुल=

व्याप्तः सन्, स्वगृहाभिमुख=स्वस्य निजस्य यद् गृह निवासपुर, तस्य अभिमुख, प्रयात.=प्रस्थित । अथ=अनन्तरम्, मृगवायसमूषिका, परम्=अत्यन्त, विषादं=शोकम्, उपगता (सन्त), त=कूर्महर्तारं व्याधम्, अनुगच्छन्ति स्म=अनुजग्मु'। तत हिरण्यक मूषिकराज, विलपति=विलाप साऽऽक्रन्दन-विलपन करोति—

भा०—हिरण्यक के हितकारी वचन को न मानकर बडे भय से मुग्ध होकर मन्थर उस जलाशय को छोडकर चल दिया, तब हिरण्यक काक तथा मृग भी 'कूर्म अवश्य दुखी होगा' ऐसा समझकर स्नेह के वश में होकर पीछे पीछे चले। अनन्तर पृथिवी में चलते हुए मन्थर को जङ्गल में घूमने वाले किसी व्याध ने देखकर पकड लिया और धनुष में बांध कर 'वाह खूब अच्छा हुआ' ऐसा बोलकर भ्रमण करने से क्षुधा-पिपासा से व्याकुल होने के कारण जल्दी से घर को चल दिया। यह देखकर मृग, काक, मूषिक तीनों बडे शोकातुर होकर व्याध के पीछे पीछे जाने लगे और हिरण्यक विलाप करने लगा—

एकस्य दुःखस्य न यावदन्तं गच्छाम्यहं पारमिवार्णवस्य ।
तावद् द्वितीयं समुपस्थितं मे छिद्रेष्वनर्था बहुलीभवन्ति ॥१९३॥

अ०—अहम् अर्णवस्य पारमिव यावत् एकस्य दु खस्य अन्त न गच्छामि, तावद् मे द्वितीय समुपस्थितम्। छिद्रेषु अनर्था• बहुलीभवन्ति। व्या०—अहम् अर्णवस्य=समुद्रस्य, पारम्=अपरतीरम् इव=यथा, न गम्यते, तद्वत् एकस्य दु खस्य=कूर्ममित्रवियोगस्य वा स्वधननाशात्मकस्य वा चित्रग्रीवबन्धनजनितस्य कष्टस्य वा अन्तम्=अवसान विस्मरणमिति यावत्। न गच्छामि=न प्राप्तोऽस्मि, तावत्=तन्मध्ये एव, मे द्वितीय=कूर्मबन्धनात्मक दु खम्, उपस्थितम्। यत छिद्रेषु=रन्ध्रेषु सत्सु, अनर्था =आपत्तय, बहुलीभवन्ति=बहुप्रकारका भवन्ति इति।

भा०—समुद्र के अन्त के समान एक दु ख (धननाश अथवा चित्रग्रीव का बन्धन अथवा कूर्म का वियोग) का अन्त नहीं हुआ उतने में मुझे दूसरा दु ख (कूर्म-बन्धन) भी उपस्थित हुआ क्योंकि छिद्र, अवसर वा मौका मिलने पर बहुत से अनर्थ (दु ख) होते हैं ॥ १९३ ॥

स्वभावजं तु यन्मित्रं भाग्येनैवाभिजायते ।
तदकृत्रिमसौहार्दमापत्स्वपि न मुञ्चति ॥ १९४ ॥

अ०—यत्, स्वभावज मित्र भाग्येनैव अभिजायते, तत् तु अकृत्रिमसौहार्दम् (मित्रम्) आपत्सु अपि न मुञ्चति। व्या०—यत् स्वभावज=स्वभावेन निसर्गेण, एव निष्पन्न, मित्र=सुहृत्, भाग्येन=प्राक्सञ्चितपुण्येन एव, अभिजायते=स्वयोग गत भवति। तत् तु=तादृशस्वाभाविकमित्रन्तु, अकृत्रिमसौहार्दं=न कृत्रि-

मम्र अकृत्रिम तादृश यत् सौहार्दं प्रेमभाव तत्, (कर्म) आपत्सु अपि—महतीषु आपत्सु प्राप्तासु अपि, न मुञ्चति = न परित्यजति।

भा०—जो स्वाभाविक मित्र है वह भाग्य से मिलता है। वह मित्र अकृत्रिम (स्वाभाविक) मित्रता को बडी आपत्तियों में भी नहीं छोडता ॥ १९४ ॥

अपि च—न मातरि न दारेषु न सोदर्ये न चाऽऽत्मजे।
विश्वासस्तादृशः पुंसां यादृङ्मित्रे स्वभावजे ॥ १९५ ॥

अ०—पुंसा स्वभावजे मित्रे यादृक् विश्वास (भवति) तादृश न मातरि न दारेषु न सोदर्ये न च आत्मजे (भवति)। व्या०—पुंसा = पुरुषाणाम् स्वभावजे स्वभावेन जायते इति स्वभावजम् = अकृत्रिमम् तस्मिन्, मित्रे = सुहृदि, यादृक् = यादृश, विश्वास भवति, तादृश = तादृक्, विश्वास, न मातरि = विशेषेण मान्यते या सा माता तस्या जनन्याम्, न भवति। न दारेषु = पत्न्यामपि न भवति। न सोदर्ये = समाने एकस्मिन् उदरे शयित, सोदर्य भ्राता तस्मिन्, न भवति। न आत्मजे = आत्मन स्वस्मात् जायते स आत्मज = स्वतनयः तस्मिन्नपि न भवति।

भा०—पुरुषों का स्वाभाविक मित्र मे जैसा विश्वास होता है, वैसा न माता में, न स्त्री में, न भाई मे और न तो पुत्र में ही होता है ॥ १९५ ॥

इति मुहुः विचिन्त्य प्राह—'अहो मे दुर्दैवम्'।

भा०—इस प्रकार बारबार कहके हिरण्यक बोला—'अरे! मेरा दुर्भाग्य है'।

अतः—स्वकर्मसन्तानविचेष्टितानि कालान्तराऽऽवर्तिशुभाऽशुभानि।
इहैव दृष्टानि मयैव तानि जन्मान्तराणीव दशान्तराणि ॥१९६॥

अ०—जन्मान्तराणि दशान्तराणि इव, यानि स्वकर्मसन्तानविचेष्टितानि कालान्तराऽऽवर्तिशुभाऽशुभानि, तानि मया इहैव दृष्टानि। व्या०—जन्मान्तराणि = एतत् जन्म एव अन्तर व्यवधान प्राप्तौ येषा तानि इति जन्मान्तराणि=आगामीनि जन्मानि, प्राप्याणि इत्यर्थ। तादृशानि यानि, दशान्तराणि = अन्या परस्पर विभिन्ना दशाः अवस्था इति दशान्तराणि, बाल्ययौवनाद्यवस्थाभेदा इत्यर्थ। तानि इव = जन्मान्तरोपात्ते शरीरे एव तदीयबाल्याद्यवस्थाभेदा यथा भोग्या भवन्ति, तथा जन्मान्तरे एव भोक्तु योग्यानि यानीति समुदितसादृश्यार्थ। स्वकर्मसन्तानविचेष्टितानि = स्वस्य कर्माणि शुभाऽशुभाचर[illegible] धाराक्रमा, तेषा विचेष्टितानि = विलसितानि, स्वकृतकर्मणा [illegible]त्यर्थ। कालान्तराऽऽवर्तिशु[illegible]नि = अन्य [illegible] तस्मिन् [illegible] आवर्तीनि भावीनि [illegible] च [illegible] = अस्मिन्नेव जन्मनि, [illegible]नि इति।

भा०—जैसे [illegible] की बाल्य-[illegible] ही

भोग्य होती है, वैसे ही अपने किये हुए कर्म समूहों से उत्पन्न होनेवाले शुभ-अशुभफल भी दूसरे जन्ममें भोग्य होते हैं । लेकिन मुझे तो दुर्भाग्यसे इस जन्ममें ही भोग करना पड़ा ॥

अथवा इत्थमेवैतत् (अथवा यह सब ऐसे ही होते हैं)—

कायः सन्निहिताऽपायः सम्पदः पदमापदम् ।
समागमाः साऽपगमाः सर्वमुत्पादि भङ्गुरम् ॥ १९७ ॥

अ०—कायः सन्निहिताऽपायः, सम्पदः आपदां पदम्, समागमाः साऽपगमाः, उत्पादि सर्वं भङ्गुरम् । व्या०—कायः = पाञ्चभौतिको देहः, सन्निहिताऽपायः = सन्निहितः समीपवर्ती अपायः नाशः मरणं यस्य सः विनश्वरो भवतीत्यर्थः । सम्पदः = सम्पत्तयः, आपदाम् = नृपति-चौराद्युपद्रवाणाम्, पदं = स्थानं भवन्ति । समागमाः = इष्टजनसंयोगाः साऽपगमाः = अपगमेन वियोगेन नाशेन सहिताः सन्तः भवन्तीत्यर्थः । उत्पादि = उत्पत्तिशीलम्, सर्वं = यावद्वस्तुजातम्, भङ्गुरं = ध्वंसस्वभावमिति भवति ।

भा०—शरीर विनाशस्वभाववाला है । सम्पत्ति सब दुःख का स्थान रूप है । मित्रादि-समागम सब वियोगान्त होते हैं, और उत्पत्तिशील सब नष्ट होते हैं । (इसलिये शोक क्यों करना) ॥ १९७ ॥

पुनर्विमृश्याऽऽह—(फिर से विचार कर बोला)—

शोकारातिभयत्राणं प्रीतिविश्रम्भभाजनम् ।
केन रत्नमिदं सृष्टं मित्रमित्यक्षरद्वयम् ॥ १९८ ॥

अ०—शोकारातिभयत्राणं प्रीतिविश्रम्भभाजनं मित्रम् इति इदम् अक्षरद्वयं रत्नं केन सृष्टम् ? व्या०—शोकारातिभयत्राणं = शोकः विषादः एव अरातिः शत्रुः तस्मात् यद् भयं तस्मात् त्राणं यस्मात् तत्, अथवा शोकश्च अरातिश्च भयं चेति तेभ्यः त्राणं यस्मात् तत् तादृशम्, प्रीतिविश्रम्भभाजनम् = प्रीतिश्च विश्रम्भश्च तयोः भाजनम्, स्नेहविश्वासयोः पात्रमित्यर्थः । 'मित्रम्' इति इदम् अक्षरद्वयम् = अक्षरयोः द्वयं यस्मिन् तत्, इत्यक्षरद्वयम् रत्नम् = अमूल्यं ललाम केन = विधात्रा, सृष्टम् = उत्पादितम् ।

भा०—शोक से, शत्रु से और भय से रक्षण करनेवाला, स्नेह तथा विश्वास का स्थान 'मित्र' ये दो अक्षर का नामवाला रत्न किस महापुरुष ने उत्पन्न किया है ? ॥ १९८ ॥

किञ्च—मित्रं प्रीतिरसायनं नयनयोरानन्दनं चेतसः
पात्रं यत् सुखदुःखयोः सममिदं पुण्यात्मना लभ्यते ।
ये चाऽन्ये सुहृदः समृद्धिसमये द्रव्याऽभिलाषाकुला-
स्ते सर्वत्र मिलन्ति तत्त्वनिकषग्रावा तु तेषां विपत् ॥१९९॥

मम अकृत्रिम तादृश यत् सौहार्दं प्रेमभाव तत्, (कर्म) आपत्सु अपि—महतीषु आपत्सु प्राप्तासु अपि, न मुञ्चति = न परित्यजति।

भा०—जो स्वाभाविक मित्र है वह भाग्य से मिलता है। वह मित्र अकृत्रिम (स्वाभाविक) मित्रता को बड़ी आपत्तियों में भी नहीं छोड़ता ॥ १९४ ॥

अपि च—न मातरि न दारेषु न सोदर्ये न चाऽऽत्मजे।
विश्वासस्तादृशः पुंसां यादृङ्मित्रे स्वभावजे ॥ १९५ ॥

अ०—पुंसां स्वभावजे मित्रे यादृक् विश्वासः (भवति) तादृशः न मातरि न दारेषु न सोदर्ये न च आत्मजे (भवति)। व्या०—पुंसां = पुरुषाणाम् स्वभावजे स्वभावेन जायते इति स्वभावजम् = अकृत्रिमम् तस्मिन्, मित्रे = सुहृदि, यादृक् = यादृशः, विश्वासः भवति, तादृशः = तादृक्, विश्वासः, न मातरि = विशेषेण मान्यते या सा माता तस्याः जनन्याम्, न भवति। न दारेषु = पत्न्यामपि न भवति। न सोदर्ये = समाने एकस्मिन् उदरे शयितः, सोदर्यः भ्राता तस्मिन्, न भवति। न आत्मजे = आत्मनः स्वस्मात् जायते सः आत्मजः = स्वतनयः तस्मिन्नपि न भवति।

भा०—पुरुषों का स्वाभाविक मित्र में जैसा विश्वास होता है, वैसा न माता में, न स्त्री में, न भाई में और न तो पुत्र में ही होता है ॥ १९५ ॥

इति मुहुः विचिन्त्य प्राह—'अहो मे दुर्दैवम्'।

भा०—इस प्रकार बारबार कहके हिरण्यक बोला—'अरे! मेरा दुर्भाग्य है'।

अतः—स्वकर्मसन्तानविचेष्टितानि कालान्तराऽऽवर्तिशुभाऽशुभानि।
इहैव दृष्टानि मयैव तानि जन्मान्तराणीव दशान्तराणि ॥ १९६ ॥

अ०—जन्मान्तराणि दशान्तराणि इव, यानि स्वकर्मसन्तानविचेष्टितानि कालान्तराऽऽवर्तिशुभाऽशुभानि, तानि मया इहैव दृष्टानि। व्या०—जन्मान्तराणि = एतत् जन्म एव अन्तरं व्यवधानं प्राप्तौ येषां तानि इति जन्मान्तराणि = आगामीनि जन्मानि, प्राप्याणि इत्यर्थः। तादृशानि यानि, दशान्तराणि = अन्या परस्परं विभिन्ना दशाः अवस्था इति दशान्तराणि, बाल्ययौवनाद्यवस्थाभेदा इत्यर्थः। तानि इव = जन्मान्तरोपात्ते शरीरे एव तदीयबाल्याद्यवस्थाभेदा यथा भोग्या भवन्ति, तथा जन्मान्तरे एव भोक्तुं योग्यानि यानीति समुदितसादृश्यार्थः। स्वकर्मसन्तानविचेष्टितानि = स्वस्य कर्माणि शुभाऽशुभाचरणानि तेषां सन्तानाः धाराक्रमाः, तेषां विचेष्टितानि = विलसितानि, स्वकृतकर्मणा क्रमेण क्रमशः आगम्यमानानीत्यर्थः। कालान्तराऽऽवर्तिशुभाऽशुभानि = अन्यः कालः कालान्तरं जन्मान्तरम् तस्मिन् आवर्तीनि भावीनि शुभानि अशुभानि च फलानि। तानि = सर्वाणि, मयैव इहैव = अस्मिन्नेव जन्मनि, दृष्टानि = भुक्तानि इति।

भा०—जैसे जन्मान्तरीय शरीर की बाल्य-यौवनादि अवस्थायें जन्मान्तरीय शरीरमें ही

भोग्य होती है, वैसे ही अपने किये हुए कर्म समूहों से उत्पन्न होनेवाले शुभ-अशुभफल भी दूसरे जन्ममें भोग्य होते हैं। लेकिन मुझे तो दुर्भाग्यसे इस जन्ममें ही भोग करना पड़ा ॥

अथवा इत्थमेवैतत् (अथवा यह सब ऐसे ही होते हैं)—

कायः सन्निहिताऽपायः सम्पदः पदमापदम्।
समागमाः साऽपगमाः सर्वमुत्पादि भङ्गुरम् ॥ १९७ ॥

अ०—काय सन्निहिताऽपाय, सम्पद आपदां पदम्, समागमाः साऽपगमाः, उत्पादि सर्वं भङ्गुरम्। व्या०—कायः=पाञ्चभौतिको देहः, सन्निहिताऽपायः=सन्निहित समीपवर्ती अपाय नाश मरणं यस्य स विनश्वरो भवतीत्यर्थः। सम्पदः= सम्पत्तय, आपदाम्=नृपति-चौराद्युपद्रवाणाम्, पद=स्थानं भवन्ति। समागमाः= इष्टजनसयोगा साऽपगमाः=अपगमेन वियोगेन नाशेन सहिता सन्त भवन्तीत्यर्थं। उत्पादि=उत्पत्तिशीलम्, सर्वं=यावद्वस्तुजातम्, भङ्गुर=ध्वंसस्वभावमिति भवति।

भा०—शरीर विनाशस्वभाववाला है। सम्पत्ति सब दुःख का स्थान रूप है। मित्रादिसमागम सब वियोगान्त होते हैं, और उत्पत्तिशील सब नष्ट होते हैं। (इसलिये शोक क्यों करना) ॥ १९७ ॥

पुनर्विमृश्याऽऽह—(फिर से विचार कर बोला)—

शोकारातिभयत्राणं प्रीतिविश्रम्भभाजनम्।
केन रत्नमिदं सृष्टं मित्रमित्यक्षरद्वयम् ॥ १९८ ॥

अ०—शोकारातिभयत्राणं प्रीतिविश्रम्भभाजन मित्रम् इति इदम् अक्षरद्वयं रत्न केन सृष्टम्? व्या०—शोकारातिभयत्राण=शोक विषाद एव अराति शत्रुः तस्मात् यद् भय तस्मात् त्राण यस्मात् तत्, अथवा शोकश्च अरातिश्च भय चेति तेभ्य त्राण यस्मात् तत् तादृशम्, प्रीतिविश्रम्भभाजनम्=प्रीतिश्च विश्रम्भश्च तयो भाजनम्, स्नेहविश्वासयो पात्रमित्यर्थं। 'मित्रम्' इति इदम् अक्षरद्वयम्=अक्षरयो द्वय यस्मिन् तत्, इत्यक्षरद्वयम् रत्नम्=अमूल्य ललाम केन=विधात्रा, सृष्टम्=उत्पादितम्।

भा०—शोक से, शत्रु से और भय से रक्षण करनेवाला, स्नेह तथा विश्वास का स्थान-'मित्र' ये दो अक्षर का नामवाला रत्न किस महापुरुष ने उत्पन्न किया है? ॥ १९८ ॥

किञ्च—मित्रं प्रीतिरसायनं नयनयोरानन्दनं चेतसः
पात्रं यत् सुखदुःखयोः सममिदं पुण्यात्मना लभ्यते।
ये चाऽन्ये सुहृदः समृद्धिसमये द्रव्याऽभिलाषाकुला-
स्ते सर्वत्र मिलन्ति तत्त्वनिकषग्रावा तु तेषां विपत् ॥१९९॥

अ०—यत् मित्रं नयनयोः प्रीतिरसायनं, चेतस आनन्दनं, सुखदुःखयोः सम पात्रम्, इदं पुण्यात्मना लभ्यते। ये च समृद्धिसमये द्रव्याऽभिलाषाऽऽकुला अन्ये सुहृदः, ते सर्वत्र मिलन्ति, तेषान्तु विपत् तत्त्वनिकषग्रावा (भवति)। व्या—यत् मित्र=सुहृत्, नयनयोः=नेत्रयोः, प्रीतिरसायनम्=प्रीत्यात्मकस्य रसस्य अयनं स्थानम् स्नेहाख्यरसस्यौषधमित्यर्थः, भवतीति शेषः। चेतसः=अन्तःकरणस्य, आनन्दनम्=आनन्दयतीति आनन्दनम् आह्लादकरं भवति। सुखदुःखयोः=सुखं च दुःखं च तयोः, समं पात्रम्, दुःखे सति समसुखभाजनम्, दुःखे सति च सम-दुःखभाजनं भवतीत्यर्थः। इदम्=एतादृशं मित्रं, पुण्यात्मना=पुण्यवता, लभ्यते=आसाद्यते। ये च, समृद्धिसमये=सम्पत्समये द्रव्याऽभिलाषाकुलाः=द्रव्यस्य धनस्य अभिलाषेण लालसया आकुलाः, अन्ये=स्वार्थपरायणाः, सुहृदः=मित्राणि, भवन्ति, ते तु=स्वार्थपरायणास्तादृशाः सुहृदस्तु, सर्वत्र=स्थले, मिलन्ति। तेषान्तु=स्वार्थपरायणमित्राणान्तु, विपत्=आपत्तिः, तत्त्वनिकषग्रावा=तत्त्वस्य मित्रत्वस्य निकषः परीक्षकः ग्रावा प्रस्तरः भवतीति।

भा०—जो मित्र नेत्रों की प्रीति का औषधिरूप है, तथा चित्त को आनन्ददायक है, एवं सुख दुःख का समानभागी है, ऐसे मित्र किसी पुण्यात्मा को मिलते हैं, और जो सम्पत्ति के समय में धन की आशा रखनेवाले हों वैसे मित्र तो सब जगह सुलभ हैं, ऐसे स्वार्थी मित्रों की विपत्ति समय में परीक्षा हो जाती है॥ १९९॥

इति बहु विलप्य हिरण्यकश्चित्राङ्गलघुपतनकावाह—'यावदयं व्याधो वनान्न निःसरति, तावन्मन्थरं मोचयितुं यत्नः क्रियताम्'। तौ ऊचतुः—'सत्वरं यथाकार्यमुपदिश'। हिरण्यको ब्रूते—'चित्राङ्गो जलसमीपं गत्वा मृतमिवाऽऽत्मानं निश्चेष्टं दर्शयतु, काकश्च तस्योपरि स्थित्वा चञ्च्वा किमपि विलिखतु, नूनमनेन लुब्धकेन मृगमांसार्थिना तत्र कच्छपं परित्यज्य सत्वरं गन्तव्यम्, ततोऽहं मन्थरस्य बन्धनं छेत्स्यामि, सन्निहिते लुब्धके भवद्भ्यां पलायितव्यम्'।

व्या०—इति=इत्येव प्रकारेण, बहु विलप्य=अतिविलापं कृत्वा, हिरण्यकः=मूषिकराजः, चित्राङ्गलघुपतनकौ=मृगकाकौ आह—अयं व्याधः=लुब्धकः, वनात्=अरण्यात्, यावत्=यावता समयेन, निःसरति=न बहिर्गच्छति, तावत्=तावता, कालेन, मन्थरं मोचयितुं=व्याधबन्धनात् मुक्तं कर्तुं, (युष्माभिः) यत्नः=चेष्टा, क्रियतां=विधीयताम्। तौ=काकहरिणौ ऊचतुः। यथा=येन प्रकारेण, कार्यं=कर्तुं योग्यं भवति तत् सत्वरं शीघ्रम्, उपदिश=त्वमेव आदिश। हिरण्यको मूषिको ब्रूते चित्राङ्गः=अयं हरिणः, जलसमीपं=जलस्य समीपं गत्वा, आत्मानं=स्वम्, मृतमिव, निश्चेष्टं=न विद्यते चेष्टा यस्य तत् तथाविधम्, दर्शयतु। काकश्च, तस्य=

मृगस्य उदरि, स्थित्वा=अवस्थाय, किमपि=कीटादिभिराऽऽमामम् चञ्च्वा विलि-खतु=चञ्च्वग्रेण विकर्षतु, (तदवलोकस्य) मृगमांसार्थिना=मृगस्य मांसम् अर्थयते इति मृगमांसार्थी तेन, तथाविधेन, अनेन=लुब्धकेन, नूनम्=अवश्यम्, तत्र=मृगसमीपे स्थाने, कच्छप=मन्थरं, परित्यज्य, सत्वरं=शीघ्र, (मृग प्रति) गन्तव्य गतः=पश्चात , अहं मन्थरस्य बन्धन कृन्त्यामि । लुब्धके च (युवयो) सन्निहिते=समीपे आगते सति, भवद्भ्यां=युवाभ्यामपि, शीघ्रं पलायितव्यम् ।

भा०—इस प्रकार बहुत विलाप करके हिरण्यक ने हरिण तथा काकसे कहा कि—'जब तक यह व्याध वन से बाहर न जाय तब तक ही मन्थर को छुडाने का प्रयत्न करना चाहिए ।' मृग और काक बोले—'जैसा करना उचित हो वह जल्दी कहो' । हिरण्यक ने कहा—'चित्राङ्ग जल के समीप जाकर अपने को मृतवत् निश्चेष्ट बनावे और काक उसके ऊपर बैठकर चञ्चु से नोचे । यह देखकर मृगमास का लोभी वह लुब्धक जरूर मन्थर को वहीं ही छोड़कर हरिण के पास जायगा और पीछे मैं मन्थर के बन्धन को काट डालूँगा, जब तुम लोगों के समीप में व्याध आ जाय तब तुम दोनों भाग जाना ।

ततश्चित्राङ्गलघुपतनकाभ्यां शीघ्रं गत्वा तथाऽनुष्ठिते सति स व्याधः परिश्रान्तः पानीयं पीत्वा तरोरधस्तादुपविष्टः सन् तथाविधं मृगमपश्यत् । ततः कच्छपं जलसमीपे निधाय कर्तरिकामादाय प्रहृष्टमना मृगान्तिकं चलितः । अत्राऽन्तरे हिरण्यकेन आगत्य मन्थरस्य बन्धनं छिन्नम् । छिन्नबन्धनः कूर्मः सत्वरं जलाशयं प्रविष्टः, स च मृग आसन्नं तं व्याधं विलोक्योत्थाय द्रुतं पलायितः, प्रत्यावृत्य लुब्धको यावत् तरुतलमायाति तावत् कूर्ममपश्यन्नचिन्तयत्—'उचितमेवैतत् ममाऽसमीक्ष्यकारिणः' ।

व्या०—तत =तादृश विचार्य, चित्राङ्गलघुपतनकाभ्याम्, शीघ्र, गत्वा व्याधस्य पुरः जलाशयसमीपं गत्वा, तथा अनुष्ठिते सति=मृतवदाचरिते सति परिश्रान्त स व्याध, पानीय=जल, पीत्वा, तरो =वृक्षस्य, अधस्तात्=छायायाम्, उपविष्ट स , तथाविध=मृतमिव मृगम्, अपश्यत् । तत कच्छप=मन्थरम्, जलसमीपे=जलस्य समीपे, निधाय=स्थापयित्वा, कर्तरिका=छुरिकाम् , आदाय= गृहीत्वा, प्रहृष्ट प्रसन्न मनो यस्य तथाविध सन् , मृगान्तिक=मृगस्य अन्तिकम् चलित = प्रचलित । अत्रान्तरे=एतस्मिन् अवसरे, हिरण्यकेन, आगत्य, मन्थरस्य बन्धन छिन्नं=कर्तितम् । स कूर्म छिन्नबन्धन =मुक्तबन्धन सन् , सत्वर=त्वरया, जलाशय—ह्रदं प्रविष्ट । स च मृग =चित्राङ्ग त=व्याधम्, आसन्न=निकटवर्ति-नम् , विलोक्य=दृष्ट्वा, उत्थाय=उत्प्लुत्य, द्रुत=सत्वरम्, पलायित =धा—

अ०—यत् मित्रं नयनयोः प्रीतिरसायनं, चेतस आनन्दनं, सुखदुःखयोः समं पात्रम्, इदं पुण्यात्मना लभ्यते। ये च समृद्धिसमये द्रव्याऽभिलाषाऽऽकुला अन्ये सुहृदः, ते सर्वत्र मिलन्ति, तेषान्तु विपत् तत्त्वनिकषग्रावा (भवति)। व्या—यत् मित्र=सुहृत्, नयनयोः=नेत्रयोः, प्रीतिरसायनम्=प्रीत्यात्मकस्य रसस्य अयनं स्थानम् स्नेहाख्यरसस्यौषधमित्यर्थं, भवतीति शेषः। चेतसः=अन्तःकरणस्य, आनन्दनम्=आनन्दयतीति आनन्दनम् आह्लादकरं भवति। सुखदुःखयोः=सुखं च दुःखं च तयोः, समं पात्रम्, दुःखे सति समसुखभाजनम्, दुःखे सति च समदुःखभाजनं भवतीत्यर्थः। इदम्=एतादृशं मित्रं, पुण्यात्मना=पुण्यवता, लभ्यते=आसाद्यते। ये च, समृद्धिसमये=सम्पत्समये द्रव्याऽभिलाषाकुलाः=द्रव्यस्य धनस्य अभिलाषेण लालसया आकुलाः, अन्ये=स्वार्थपरायणाः, सुहृदः=मित्राणि, भवन्ति, ते तु=स्वार्थपरायणास्तादृशाः सुहृदस्तु, सर्वत्र=स्थले, मिलन्ति। तेषान्तु=स्वार्थपरायणमित्राणान्तु, विपत्=आपत्तिः, तत्त्वनिकषग्रावा=तत्त्वस्य मित्रत्वस्य निकषः परीक्षकः ग्रावा प्रस्तरः भवतीति।

भा०—जो मित्र नेत्रों की प्रीति का औषधिरूप है, तथा चित्त को आनन्ददायक है, एवं सुख दुःख का समानभागी है, ऐसे मित्र किसी पुण्यात्मा को मिलते हैं, और जो सम्पत्ति के समय में धन की आशा रखनेवाले हों वैसे मित्र तो सब जगह सुलभ हैं, ऐसे स्वार्थी मित्रों की विपत्ति समय में परीक्षा हो जाती है ॥ १९९ ॥

इति बहु विलप्य हिरण्यकश्चित्राङ्गलघुपतनकावाह—'यावदयं व्याधो वनान्न निःसरति, तावन्मन्थरं मोचयितुं यत्नः क्रियताम्'। तौ ऊचतुः—'सत्वरं यथाकार्यमुपदिश'। हिरण्यको ब्रूते—'चित्राङ्गो जलसमीपं गत्वा मृतमिवाऽऽत्मानं निश्चेष्टं दर्शयतु, काकश्च तस्योपरि स्थित्वा चञ्च्वा किमपि विलिखतु, नूनमनेन लुब्धकेन मृगमांसार्थिना तत्र कच्छपं परित्यज्य सत्वरं गन्तव्यम्, ततोऽहं मन्थरस्य बन्धनं छेत्स्यामि, सन्निहिते लुब्धके भवद्भ्यां पलायितव्यम्'।

व्या०—इति=इत्येवं प्रकारेण, बहु विलप्य=अतिविलापं कृत्वा, हिरण्यकः=मूषिकराजः, चित्राङ्गलघुपतनकौ=मृगकाकौ आह—अयं व्याधः=लुब्धकः, वनात्=अरण्यात्, यावत्=यावता समयेन, निःसरति=न बहिर्गच्छति, तावत्=तावता, कालेन, मन्थरं मोचयितुं=व्याधबन्धनात् मुक्तं कर्तुं, (युष्माभिः) यत्नः=चेष्टा, क्रियतां=विधीयताम्। तौ=काकहरिणौ ऊचतुः। यथा=येन प्रकारेण, कार्यं=कर्तुं योग्यं भवति तत् सत्वरं शीघ्रम्, उपदिश=त्वमेव आदिश। हिरण्यको मूषिको ब्रूते चित्राङ्गः=अयं हरिणः, जलसमीपं=जलस्य समीपं गत्वा, आत्मानं=स्वम्, मृतमिव, निश्चेष्टं=न विद्यते चेष्टा यस्य तत् तथाविधम्, दर्शयतु। काकश्च, तस्य=

मृगस्य उपरि, स्थित्वा=अवस्थाय, किमपि=क्रीडादिमिषाऽऽभासम् चञ्च्वा विलिखतु=चञ्चुपुटेन विकर्षतु, (तदवलोक्य) मृगमांसार्थिना=मृगस्य मांसम् अर्थयते इति मृगमांसार्थी तेन, तथाविधेन, अनेन=लुब्धकेन, नूनम्=अवश्यम्, तत्र=तस्मिन्नेव स्थले, कच्छपं=मन्थरं, परित्यज्य, सत्वरं=शीघ्रं, (मृगं प्रति) गन्तव्य तत=पश्चात्, अहं मन्थरस्य बन्धनं छेत्स्यामि। लुब्धके च (युवयो) सन्निहिते=समीपे आगते सति, भवद्भ्यां=युवाभ्यामपि, शीघ्र पलायितव्यम्।

भा०—इस प्रकार बहुत विलाप करके हिरण्यक ने हरिण तथा काकसे कहा कि—'जब तक यह व्याध वन से बाहर न जाय तब तक ही मन्थर को छुड़ाने का प्रयत्न करना चाहिए।' मृग और काक बोले—'जैसा करना उचित हो वह जल्दी कहो'। हिरण्यक ने कहा—'चित्राङ्ग जल के समीप जाकर अपने को मृतवत् निश्चेष्ट बनावे और काक उसके ऊपर बैठकर चञ्चु से नोचे। यह देखकर मृगमास का लोभी वह लुब्धक जरूर मन्थर को वहाँ ही छोड़कर हरिण के पास जायगा और पीछे मैं मन्थर के बन्धन को काट डालूगा, जब तुम लोगों के समीप में व्याध आ जाय तब तुम दोनों भाग जाना।

ततश्चित्राङ्गलघुपतनकाभ्यां शीघ्रं गत्वा तथाऽनुष्ठिते सति स व्याधः परिश्रान्तः पानीयं पीत्वा तरोरधस्तादुपविष्टः सन् तथाविधं मृगमपश्यत्। ततः कच्छपं जलसमीपे निधाय कर्तरिकामादाय प्रहृष्टमना मृगान्तिकं चलितः। अत्राऽन्तरे हिरण्यकेन आगत्य मन्थरस्य बन्धनं छिन्नम्। छिन्नबन्धनः कूर्मः सत्वरं जलाशयं प्रविष्टः, स च मृग आसन्नं तं व्याधं विलोक्योत्थाय द्रुतं पलायितः, प्रत्यावृत्य लुब्धको यावत् तरुतलमायाति तावत् कूर्ममपश्यन्नचिन्तयत्—'उचितमेवैतत् ममाऽसमीक्ष्यकारिणः'।

व्या०—तत=तादृश विचार्य, चित्राङ्गलघुपतनकाभ्याम्, शीघ्र, गत्वा व्याधस्य पुर जलाशयसमीप गत्वा, तथा अनुष्ठिते सति=मृतवदाचरिते सति परिश्रान्त स व्याध, पानीय=जल, पीत्वा, तरो=वृक्षस्य, अधस्तात्=छायायाम्, उपविष्ट सन्, तथाविध=मृतमिव मृगम्, अपश्यत्। तत कच्छप=मन्थरम्, जलसमीपे=जलस्य समीपे, निधाय=स्थापयित्वा, कर्तरिका=छुरिकाम्, आदाय=गृहीत्वा, प्रहृष्ट प्रसन्न मनो यस्य तथाविध सन्, मृगान्तिकं=मृगस्य अन्तिकम् चलित=प्रस्थित। अत्रान्तरे=एतस्मिन् अवसरे, हिरण्यकेन, आगत्य, मन्थरस्य बन्धन छिन्न=कर्तितम्। स कूर्म छिन्नबन्धन=मुक्तबन्धन सन्, सत्वर=त्वरया, जलाशय=ह्रद प्रविष्ट। स च मृग=चित्राङ्ग त=व्याधम्, आसन्न=निकटवर्तिनम्, विलोक्य=दृष्ट्वा, उत्थाय=उत्प्लुत्य, द्रुत=सत्वरम्, पलायित=धावित,

लुब्धकः प्रत्यावृत्य=प्रत्यागत्य, यावत् तरुतलम्=तरोः तलम्, आयाति=आगच्छति, तावत् कूर्मं=कच्छपम्, अपश्यन्=अविलोकयन् सन् अचिन्तयत्, असमीक्ष्यकारिणः सम्यग् ईक्षित्वा करोतीति समीक्ष्यकारी स्तथाविधो न भवतीति असमीक्ष्यकारी अविमृश्यकार्यकारीत्यर्थः। तस्य=तादृशस्य, मम=मत्कृते एतत्=कूर्महानिर्मृगाऽप्राप्तिश्चेति, उचितमेव जातमिति।

भा०—ऐसी विचार करने के बाद मृग और काक दोनों ने आकर तत्काल मृतवत् आचरण किया। थका हुआ व्याध भी पानी पीकर वृक्ष के नीचे बैठते ही मृतवत् मृग को देखकर कच्छप को जल के समीप रखकर छुरी लेकर प्रसन्नतापूर्वक मृग की ओर गया, इसी अवसर में हिरण्यक ने आकर मन्थर का बन्धन काट डाला, वह मन्थर भी जल्दी से पानी में चला गया और उधर वह मृग भी व्याध को समीप में आया देखकर अकस्मात् उठकर भाग गया। व्याध लौटकर जब वृक्ष के नीचे आया तो वहाँ कच्छप को भी न देखकर चिन्ता करने लगा कि—अनिवार्य कार्य करने वाले मेरे लिये यह ठीक ही हुआ।

यतः—यो ध्रुवाणि परित्यज्य अध्रुवाणि निषेवते।
ध्रुवाणि तस्य नश्यन्ति अध्रुवं नष्टमेव हि॥ २००॥

अ०—यः ध्रुवाणि, परित्यज्य अध्रुवाणि निषेवते, तस्य ध्रुवाणि नश्यन्ति अध्रुवं नष्टमेव हि। व्या०—यः जनः, ध्रुवाणि=निश्चितानि निश्चलानि वा, परित्यज्य=विहाय, अध्रुवाणि=अनिश्चितानि अचिरचलानि वा निषेवते=अवलम्बते। तस्य=जनस्य, ध्रुवाणि=निश्चलानि=स्वेनैव परित्यक्तत्वात् नश्यन्तीति, अध्रुवम्=अनिश्चितन्तु प्रथममेव स्वायत्तं न भवति अतस्तन्नष्टमेव वर्तते इति।

भा०—जो मनुष्य ध्रुव (स्थिर) वस्तु को त्याग कर अध्रुव वस्तु का अवलम्बन करता है उसकी ध्रुव वस्तु त्याग से नष्ट हो चुकी और अध्रुव तो नष्ट ही है। (इसलिये दोनों प्रकार से हानि होती है)॥ २००॥

ततोऽसौ स्वकर्मवशान्निराशः कटकं प्रविष्टः, मन्थरादयश्च सर्वे मुक्ताऽऽपदः स्वस्थानं गत्वा यथासुखमास्थिताः।

व्या०—ततः=तत्पश्चात्, असौ=व्याधः, स्वकर्मवशात्=स्वस्य यत् अविमृश्यकारित्वरूपं कर्म तस्य वशात्, निराशः=हता आशा यस्य स तथाविधः सन्, कटकं=शिविरं स्वस्थानं, प्रविष्टः=गतः। मन्थरादयश्च सर्वे=मन्थरकाककूर्महरिणाः, मुक्तापदः=मुक्ता नष्टा आपद् येषान्ते आपत्तिरहिताः सन्तः, स्वस्थानं=स्वेषां स्थानम्, गत्वा, यथासुखं=सुखम् अनतिक्रम्य वर्तते इति यथासुखं शान्तिपूर्वकम्, आस्थिताः=वसन्ति स्म।

भा०—उसके बाद वह व्याध अपने कर्मवशसे निराश होकर अपने स्थानको चला गया, और मन्थर चित्राङ्ग-लघुपतनक तथा हिरण्यक ये सब आपत्ति से मुक्त होकर अपने स्थान में जाकर आरामपूर्वक रहने लग गये।

अथ राजपुत्रैः सानन्दमुक्तम्—'सर्वं श्रुतवन्त'। सुखिनो वयम्. सिद्धं नः समीहितम्'। विष्णुशर्मोवाच—'एतद्भवतामभिलषितमपि सम्पन्नम्, अपरमपि इदमस्तु—

व्या०—अथ = काकादिकथासमाप्त्यनन्तरम्, राजपुत्रै = राज्ञ पुत्रा तनया तै सानन्दम् = आनन्देन सहित यथा स्यात् तथा, उक्तम् = अभिहितम् = सर्वं वयं = वय सर्वं राजपुत्रा (भवदुक्त मित्रलाभाख्यं प्रबन्धम्) श्रुतवन्त = आकर्णितवन्त अथ च सुखिन = अतिहृष्टा भवाम, किञ्च न = अस्माकम्, समीहितम् अभिलषितम्, यदासीत, तत् सिद्ध = सम्पन्नमिति। तदा विष्णुशर्मोवाच—एतावत् = मित्रलाभाख्यनिबन्धमात्रम्, भवता = राजपुत्राणाम्, अभिलषित सम्पन्नम्, अपि च, अपरमपि = मित्रलाभकथाऽतिरिक्तम् इदम् = वक्ष्यमाणपि, अस्तु = भवतु—

भा०—कौवे आदि की कथा समाप्त होने पर राजपुत्रों ने आनन्द के साथ कहा—'हम सब मित्रलाभाख्य नीति को श्रवण करके खूब सुखी हुए हैं, हमारी इच्छा पूर्ण हुई। तब विष्णुशर्मा पण्डित ने कहा—यह मित्रलाभ रूप नीतिविचार आपके अभिलाषानुसार सुसम्पन्न हुआ और यह भी हो—

मित्रं यान्तु च सज्जना जनपदैर्लक्ष्मीः समालभ्यतां
भूपालाः परिपालयन्तु वसुधां शश्वत् स्वधर्मे स्थिता ।
आस्तां मानसतुष्टये सुकृतिनां नीतिर्नवोढेव व.
कल्याणं कुरुतां जनस्य भगवांश्चन्द्रार्धचूडामणिः ॥ २०१ ॥

अ०—सज्जना मित्र यान्तु, जनपदै लक्ष्मी समालभ्यताम्, भूपाला शश्वत स्वधर्मे स्थिता वसुधा परिपालयन्तु, व नीति नवोढा इव सुकृतिना मानसतुष्टये आस्ताम्, भगवान् चन्द्रार्धचूडामणि जनस्य कल्याण कुरुताम्। व्या०—सज्जना = सन्तश्च ते जना सज्जना, मित्र = सुहृदम्। यान्तु = लभन्ताम्, जनपदै = जनपदवासिजनैरित्यर्थं। लक्ष्मी = विविधा सम्पत्, समालभ्यता = समासाद्यताम्। भूपाला = भुव पृथ्वीं पालयन्ति इति भूपाला, शश्वत् = सर्वदा, स्वधर्मे = स्वेषा राज्ञा धर्मे प्रजारक्षनादिरूपो धर्मस्तस्मिन्, स्थिता वर्तमाना सन्त, वसुधा = वसुन्धरा पृथ्वीम्, परिपालयन्तु = संरक्षन्तु, सम्यग् अवन्तु इति। व = युष्माक

(राजपुत्राणाम्) नीतिः = नीतिशास्त्रविज्ञानम्, नवोढा इव नवविवाहिता तरुणीव सुकृतिना = पण्डितानाम् मानसतुष्टये = मानसस्य अन्तःकरणस्य तुष्टिः सन्तोषः तस्यै, आस्ताम् = भूयात्। भगवान् = भगपदवाच्यषडैश्वर्यशाली, चन्द्रार्धचूडामणिः = चद्रस्य अर्धम् इति चन्द्रार्धम्, चन्द्रार्धम् एव चूडामणिर्यस्य सः अर्धचन्द्रमौलिः शङ्करः, जनस्य = लोकजातस्य, कल्याणम् = अभ्युदयात्मकं निःश्रेयसात्मकं चेत्युभयविधं श्रेयः, कुरुताम् = सम्पादयतु आविर्भावयत्विति। (अत्र श्लोके 'नीतिर्नवोढेव वः' इत्यस्य स्थले 'नीतिः प्रणीता मया' इति पाठान्तरम्।) शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम्।

भा०—सज्जन पुरुषों का मित्रों के साथ समागम हो, देश तथा देशवासी लोग सम्पत्तियों से परिपूर्ण हों राजा लोग निरन्तर स्वधर्म में रहते हुए पृथिवी का पालन करें आपका नीति विज्ञान नूतन विवाहिता तरुणी के समान पुण्यशाली पण्डितजनों के अन्तःकरण की तुष्टि के लिए हो (भगवान्) अर्धचन्द्र को ललाट में धारण करने वाले शङ्करजी जीव (प्राणिमात्र) का कल्याण करें ॥ २०१ ॥

॥ इति शम् ॥

स्वामिनारायणो यत्र यत्र महाविद्वो जनाः। तत्र श्रीविजयश्चैव ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥ १ ॥
भारते पश्चिमे प्रान्ते पुण्ये सागरसङ्गमे। रैवताऽद्रिसमाधारे कच्छसौराष्ट्रविश्रुते ॥ २ ॥
वीरविद्वद्गणाऽऽपूर्णं 'जीर्णदुर्गं' निवासिभिः। श्रीकृष्णवल्लभाचार्यैः स्वामिनारायणाऽऽश्रितैः ॥३॥
विक्रमाऽर्कनृपस्याब्दे भूनन्दनिधिभू (१९९१) दिते। चैत्रमासे शुक्लपक्षे भृगावेकादशीतिथौ ॥४॥
हितोपदेशग्रन्थस्य मित्रलाभोऽभिधो नयः। विशेषतोऽन्वयव्याख्याभावार्थादिप्रभूषितः ॥ ५ ॥
कृत्वा मयाऽर्पितो देवे सच्चिदानन्दविग्रहे। स्वामिनारायणे साक्षाद् भगवान् स प्रसीदतु ॥६॥

इति श्रीमद्दार्शनिकपञ्चानन–षड्दर्शनाचार्य–साङ्ख्ययोगतीर्थ–नव्यन्यायाचार्य–पण्डित–'श्रीकृष्णवल्लभाऽऽचार्य'–स्वामिनारायणविरचिता हितोपदेशीय–मित्रलाभव्याख्या समाप्ता।

श्लोकानुक्रमणिका

पृष्ठ	श्लो०
२२१	अचिन्तितानि
२	अजराऽमरवत्
८	अजातमृतमूर्खा
६३	अज्ञातकुलशील
६९	अतिथिर्यस्य
१०५	अत्यन्तविमुखे
१०६	अर्थनाश मन
११	अर्थाऽऽगमो
११५	अर्था पादरजो
१०३	अर्थेन तु विही
१००	अदृष्टिदान कृत
३१	अनिष्टादिष्टला
६	अनेकसंशयो
९१	अन्यथैव हि
७८	अपराधो न
१०३	अपुत्रस्य गृह
१२५	अम्भांसि जल
७४	अय निज परो
६८	अरावप्युचित
४७	अल्पानामपि
३९	अवशेन्द्रियचि
१७	अवश्यम्भाविनो
४४	असम्भव हेम
११८	असम्भोगेन
२६	असाधना वित्त
१११	असेवितेश्वरद्वा
२२	अस्मिंस्तु निर्गुण

पृष्ठ	श्लो०
७७	आपत्सु मित्र
५३	आपदर्थे धन
४५	आपदामापन
१३०	आमरणान्ता
१४	आयु कर्म च
१४	आहारनिद्राभय
१३३	औरस कृतस
३३	इज्याध्ययन
४३	ईर्ष्यी घृणी त्व
६९	उत्तमस्यापि-
१२५	उत्साहसम्पन्न
७७	उत्सवे व्यसने
२८	उत्थायोत्थाय
१८	उद्यमेन हि सि
१७	उद्योगिन पुरुष
८१	उपकारिणि विश्रब्धे
११६	उपार्जितानां वि
१३६	उपायेन हि यच्छ
१२	ऋणकर्ता पिता
७१	एक एव सुहृद्धर्म-
१४१	एकस्य दु खस्य न
३०	कङ्कणस्य तु
११९	कर्त्तव्य सञ्चयो
१८	काकतालीयवद
२०	काच काञ्चनस
१४३	काय सन्निहिता
२५	काव्यशास्त्रविनो

पृष्ठ	श्लो०
२३	कीटोऽपि सुमन
१०५	कुसुमस्तवकस्येव
१३७	कुलाचारजना
१२	को धन्यो बहुभि
११२	को धर्मो भूत
७	कोऽर्थ पुत्रेण
९३	को वीरस्य मन
३४	गताऽनुगतिको
२४	गुणा गुणज्ञेषु गुणा
९	गुणिगणगणना
९७	गुरुरग्निर्द्विजातीना
९०	घर्मार्त न तथा
९४	चलत्येकेन पादेन
१२७	जनयन्त्यर्जने
१२९	जन्मनि क्लेश
१२०	जलमग्निर्विष
५५	जातिद्रव्यबला
६६	जातिमात्रेण कि
३४	तत्र पूर्वश्चतुर्वर्गो
९६	तत्र मित्र ! न
१०४	तानीन्द्रियाणि
६५	तावद्भयस्य भेत
८४	तिरश्चामपि
६८	तृणानि भूमिरुदक
१११	तेनाऽधीत श्रुत
८४	त्रिभिर्वर्षैस्त्रिभि-
११३	त्यजेदेकं कुलस्यार्थे

पृष्ठ	श्लो०
३७	दरिद्रान् भर कौन्तेय
,,	दातव्यमिति यद्
११८	दानं प्रियवाक्स
१०	दाने तपसि शौर्ये च
११७	दानोपभोगहीनेन
१०६	दारिद्र्याद् ह्रियमेति
१४०	दारिद्र्यान्मरणाद्वा
७९	दीपनिर्वाणगन्धञ्च
८६	दुर्जनः परिहर्तव्य
८२	दुर्जनः प्रियवादी च
८१	दुर्जनेन समं सख्यं
८८	द्रवत्वात् सर्वलोहा
११०	धनलुब्धो ह्यसन्तुष्टो
१२६	धनवानिति हि मदो
५५	धनानि जीवितञ्चैव
१०१	धनवान् बलवान् लो
९६	धनिकः श्रोत्रियो रा
११७	धनेन किं ? यो न
१०२	धनेन बलवान् लोको
१२९	धनं तावदसुलभम्
१४	धर्मार्थं यस्यैको
५४	धर्मार्थं काममोक्षा
१२८	धर्मार्थं यस्य वित्तेहा
७५	न कश्चित् कस्यचिद्
४५	न गणस्याग्रतो गच्छे
४०	नदीनां शस्त्रपाणीनां
११८	न देवाय न विप्राय
१७	न दैवमपि सञ्चिन्त्य
२८	न धर्मशास्त्रं पठतीति
१४२	न मातरि न दारेषु
१११	न योजनशतं दूर
३१	न संशयमनारुह्य
१२४	न स्वल्पमप्यध्यव

पृष्ठ	श्लो०
१२३	नाप्राप्यमभिवाञ्छ
२२	नाऽद्रव्ये निहिता
८८	नारिकेलसमाकारा
११०	निजसौख्यं निरु
१२५	निपानमिव मण्डूका
१३८	नियतविषयवर्ती प्रा
६९	निर्गुणेष्वपि सत्त्वेषु
९१	पटुत्वं सत्यवादित्व
११२	परिच्छेदो हि पाण्डि
८०	परोक्षे कार्यहन्तारं
९५	परोपदेशे पाण्डित्यं
१३८	पर्जन्य इव भूतानां
११२	पानीयं वा निरायास
११	पुण्यतीर्थे कृतं येन
१६	पूर्वजन्मकृतं कर्म
१९	पुस्तकेषु च नाऽधीतं
३६	प्रत्याख्याने च दाने च
८१	प्राक्पादयोः पतति
३५	प्राणा यथाऽऽत्मनो
६९	बालो वा यदि वा
८४	भक्षितेनाऽपि भवता
६१	भक्ष्यभक्षकयोः प्री
९१	मनस्यन्यद् वचस्य
१०५	मनस्वी म्रियते काम
७२	मर्त्तव्यमिति यद्दु
३५	मरुस्थल्यां यथा वृष्टि
८७	महताऽप्यर्थसारेण
४९	माता मित्रं पिता चेति
१८	माता शत्रुः पिता वैरी
३६	मातृवत्परदारेषु
८५	मार्जारो महिषो मेषः
१२१	मासमेकं नरो याति
५६	मांसमूत्रपुरीषाऽस्थि

पृष्ठ	श्लो०
१४३	मित्रं प्रीतिरसायनं
१४७	मित्रं यान्तु च मज्ज
५	मित्रलाभः सुहृद्भेद
१००	मुखं प्रसन्नं विमल।
८७	मृद्घटवत्सुखभेद्य
७४	यत्र विद्वज्जनो ना
१७	यथा मृत्पिण्डतः
१२८	यथा ह्यामिषमाकाशे
१६	यथा ह्येकेन चक्रेण
२३	यथोदयगिरेर्द्रव्य
११३	यदधोऽधः क्षितौ
११२	यद् ददाति यदश्नाति
,,	यद्ददासि विशिष्टेभ्य
१३०	यद् यदेव हि वा
६०	यद् येन युज्यते
१५	यदभावि न तद्भावि
१४०	यदाऽसत्सङ्गरहितो
८६	यदशक्यं न तच्छक्यम्
८५	यदि नित्यमनित्येन
४	यन्नवे भाजने लग्न
५१	यस्माच्च येन च यथा
९५	यस्मिन् देशे न स
१३	यस्य कस्य प्रसूतोऽपि
१०३	यस्याऽर्थास्तस्य
५१	यस्य मित्रेण स
५८	यानि कानि च मि
१२७	येन शुक्लीकृता हंसा
७१	योऽस्ति यस्य यदा
५७	योऽधिकाद् योजन
१४६	यो ध्रुवाणि परि
६	यौवनं धनसम्पत्ति
९०	रहस्यभेदो याच्ञा च
१२८	राजतं सलिला

पृष्ठ	श्लो०
१३८	राजान प्रथम
१९	रूपयौवनसम्पन्ना
५२	रोगशोकपरीताप
१०९	रोगी चिरप्रवासी
९६	लोकयात्रा भय
४४	लोभात् क्रोध
१३३	लोभाद्धाऽथ मथा
१०९	लोभेन बुद्धिश्चलति
१०	वरमेको गुणी पुत्र
८	वर गर्भस्रावो वर
१०७	वर मौन कार्यम्
११४	वर वन व्याघ्रग
१०६	वर विभवहीनेन
१०८	वरं शून्या शाला
४६	विपदि धैर्यमथाभ्युद
३	विद्या ददाति विनयम्
४	विद्या शस्त्रञ्च शास्त्रञ्च
१२५	विनाऽप्यर्थैर्वीर
५५	विना वर्तनमेवैते
१२६	वृत्त्यर्थं नातिचेष्टेत
४२	वृद्धस्य वचन ग्राह्यं
५८	व्योमैकान्तविहा

पृष्ठ	श्लो०
४२	शङ्काभि सर्वमा
५६	शरीरस्य गुणाना
५८	शशिदिवाकरयो.
८६	शत्रुणा न हि स
१२३	शास्त्राण्यधीत्यापि
८९	शुचित्व त्यागिता
२८	शोकस्थानसहस्रा
१४३	शोकारातिभय
१	श्रुतो हितोपदेशो
१२१	श्लाघ्य स एको
४७	षड् दोषा. पुरुषेणेह
३	सयोजयति विद्यैव
११४	ससारविषवृक्षस्य
४८	सहतास्तु हरन्तीमे
,,	सहति. श्रेयसी
८०	सलापिताना मधुरै
९	स जातो येन जातेन
४५	स बन्धुर्यो विपन्नानां
११५	सत्सङ्ग. केशवे
१३०	सन्त एव सतां
११०	सन्तोषामृततृप्तानाम्
४७	सम्पदि यस्य न

पृष्ठ	श्लो०
२	सर्वद्रव्येषु विद्यैव
४०	सर्वस्य हि परीक्ष्यन्ते
७१	सर्वहिंसानिवृत्ता ये
११०	सर्वाः सम्पत्तय
४०	स हि गगनविहारी
१२९	सा तृष्णा चेत्
८५	साधो प्रकोपित
१	सिद्धि साध्ये सता
१२४	सुखमापतित से
४१	सुजीर्णमन्नम्
४३	सुमहान्त्यपि
७८	सुहृदां हितकामानां
१०८	सेवेव मानमखिल
९३	स्थानमुत्सृज्य गच्छ
९२	स्थानभ्रष्टा न
८९	स्नेहच्छेदेऽपि
१४२	स्वकर्मसन्तान
१४१	स्वभावजन्तु
७२	स्वच्छन्दवनजातेन
१३	हा हा पुत्रक !
२१	हीयते हि मति

॥ श्री ॥

हरिदास संस्कृत ग्रन्थमाला

७७

श्रीनारायणपण्डितसंगृहीतः

हितोपदेश-सुहृद्भेदः

'किरणावली' संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेतः

संस्कृतव्याख्याकार —

पं० हरगोविन्द शास्त्री

हिन्दीव्याख्याकार —

पं० प्रद्युम्न पाण्डेयः
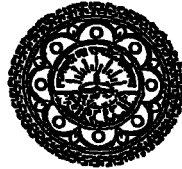
चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी-

१९७६

प्रकाशक चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी

मुद्रक चौखम्बा प्रेस, वाराणसी

संस्करण चतुर्थ, संवत् २०३३

मूल्य : ३-५०

K 37/99, Gopal Mandir Lane

Post Box 8, Varanasi–221001 (India)

1976

Phone . 63145

अपरं च प्राप्तिस्थानम्

चौखम्बा अमरभारती प्रकाशन

के० ३७/११८, गोपाल मन्दिर लेन

पो० बा० १३८, वाराणसी—२२१००१ (भारत)

फोन . ६३१४५

संपादकीय

हितोपदेश व्यावहारिक, लौकिक, नैतिक, सामान्य नैतिक एव राजनीतिक ज्ञान से पूर्ण छोटी छोटी कथाओ का एक अत्यत हृदयग्राही सग्रह है, जो सुकुमार बुद्धिवाले बालको मे उक्त सस्कारो का बीजारोपण करने मे अत्यत ही सशक्त एव समर्थ है। इसका रचनाकाल १४ वी शताब्दी है। इसके सग्रहकर्ता नारायण पडित हैं जिनके आश्रयदाता बगाल के राजा धवलचद्र थे। कुछ लोग इसे विष्णुशर्मा प्रणीत मानते है किन्तु यह भ्रम उन्हे इसलिए हुआ है कि इसमे भी पञ्चतत्र के समान कथा-वाचक विष्णुशर्मा ही है।

इसके रचयिता ने इसे 'सस्कृतोक्तिषु पाटवम्' (सस्कृत बोलने मे पटुता) 'सर्वत्र वाचाम् वैचित्र्यम्' (वाणी मे विचित्रता) तथा 'नीतिविद्या' देने वाला बताया है और है भी यह पूर्ण रूपेण अनुभूत सत्य। सस्कृत भाषा के परिज्ञान का सचमुच इतना सुलभ एव सरल साधन कोई नही है। गहन से गहन विषयो की इतनी सरल तथा आकर्षक व्याख्या अन्यत्र दुर्लभ है। अपनी इन्ही विशेषताओ के कारण यह ग्रन्थ सस्कृत पाठ्य-क्रमो मे प्रारम्भिक कथाओ के लिए प्राय सर्वत्र स्वीकृत है।

'सुहृद्भेद' इसी हितोपदेश का एक अश है, जिसमें राज्यकर्मचारियो के कर्तव्यो, राजाओ की नीतिरीतियो, प्रजा, कर्मचारियो एव राजा के बीच के सम्बन्धो आदि प्रासगिक व्यवहारो की मीमासा के साथ ही स्थान-स्थान पर सामान्य जीवनविधियो का निरूपण करते हुए 'मित्रो मे फूट पैदा करके अपने कार्य की सिद्धि' के उपाय बताए गये है। नित्यजीवन मे इसका जितना मूल्य है उससे कही अधिक राजनीति मे इसकी आवश्यकता है। राजा राष्ट्ररक्षा के लिए जहाँ एक ओर अन्य राज्यों से मैत्री (मित्रलाभ) करता है। वहाँ अपने शत्रु, दो मित्र राजाओ मे फूट पैदा करके (सुहृद्भेद) उनकी सगठित शक्ति क्षीण कर देता है। 'सुहृद्भेद' मे अन्य अवान्तर कथाओके साथ एक ऐसी ही कथा का उल्लेख है, जिसमे दमनक और करकट ने पिंगलक और सजीवक मे फूट पैदा करके अपना अधिकार पुन प्राप्त किया था।

कथासार

मूलकथा

दक्षिण देश की सुवर्णवती नाम की नगरी में वर्धमान नाम का एक बनियां रहता था। वह व्यापार द्वारा अधिक धन प्राप्त करने की कामना से कश्मीर की ओर चला किन्तु सुदुर्ग नाम के जगल मे उसकी गाडी का सजीवक नामक बैल घुटना टूट जाने से, गिर पडा। वर्धमान उसे वहीं छोड कर आगे चला गया। सजीवक किसी प्रकार उठा और बहुत दिनो तक वहाँ स्वच्छन्द आहार-विहार के कारण महाबलिष्ठ बन गया।

उसी जगल मे पिंगलक नाम का एक सिंह भी रहता था। वह वहाँ का राजा था। एक दिन वह पानी पीने के लिए यमुना के किनारे गया, किन्तु वहाँ सजीवक के अपूर्व शब्द को सुनकर बिना पानी पीए ही लौट आया और बैठ कर उस शब्द के बारे मे विचार करने लगा। उसके प्रधान मन्त्री के लडके दमनक और करटक ने उसे इस स्थिति मे देखा। दमनक ने उसकी इस स्थिति से लाभ उठाने का सकल्प किया और करटक से विमर्श करने के बाद उसके पास पहुँचा। बातचीत के प्रसग मे सिंह ने अपने भयभीत होने का कारण बता दिया। दमनक उसके सामने भय का कारण दूर करने की प्रतिज्ञा करके करटक के पास लौट आया।

दोनो साथ साथ सजीवक के पास पहुँचे। दमनक ने उसे साम, दाम, दण्ड, भयादि से अपने वश मे कर लिया और सिंह के सामने उपस्थित किया। सिंह ने उसे अभयदान देकर अपने पास रख लिया और दमनक तथा करटक को इस उपकार के बदले विशेष अधिकार दे दिया, किन्तु अधिकार के मद मे दोनो अत्यन्त स्वच्छन्द हो गए और मनमानी करने लगे।

एक दिन पिंगलक का भाई स्तब्धकर्ण आया। पिंगलक उसके भोजन की व्यवस्था मे शिकार के लिये जा रहा था कि सजीवक ने पहले के किए गए शिकार के बारे मे उससे पूछा। वार्तालाप के प्रसग मे सिंह ने दमनक और करटक की मनमानी का उल्लेख किया जिसे सुनकर स्तब्धकर्ण ने कर्मचारियो के अधिकार की व्याख्या करते हुए पिंगलक से कहा कि 'अर्थाधिकार' इस तृणभोजी सजीवक को देना चाहिए। पिंगलक ने उसकी बात मान ली और सजीवक को अर्थाधिकारी बना दिया। उसने व्यय को सयमित कर दिया जिससे दमनक और करटक दोनो को बडा बुरा लगा और दोनो ने सजीवक तथा पिंगलक की मैत्री मे फूट डालने का निश्चय कर लिया।

दमनक एक दिन पिंगलक के पास पहुँचा और उसे समझाया कि आप ने सजीवक को जो इतना अधिकार दे दिया है, उसका बडा बुरा फल होने वाला

है। सेवकधर्म के नाते मैं आप को आगाह कर दे रहा हूँ। वह आप पर बलप्रयोग करके आप के राज-पद को छीनना चाहता है अत आप अनर्थ होने के पहिले सावधान हो जायँ। सिंह ने यह सुन कर कहा—'तो क्या उसे निकाल दिया जाय ?' इस 'मन्त्रभेद' का भय दिखाते हुए दमनक ने कहा—'अभी नही। वह स्वय आप से युद्ध करने आएगा उस समय आप मुँह खोले पजो का प्रहार करने के लिए उद्यत बैठे रहियेगा।' ऐसा कहकर वह सजीवक के पास पहुँचा और उससे कहा कि स्वामी तुम्हें मारना चाहते है अत सीग टेढो किए गरजते हुए तुम भी उनके सामने जाओ और अपने बल का प्रदर्शन करो। सजीवक उसके बताए हुए ढग से पिंगलक के पास पहुँचा। पिंगलक ने क्रुद्ध होकर उस पर आक्रमण कर दिया और उसे मार डाला। इस प्रकार दमनक और करटक ने 'सुहृद्भेद' के द्वारा अपना स्वार्थ सिद्ध किया और गत अधिकार को पुन प्राप्त कर लिया।

प्रासंगिक कथाएँ

१—कोलोत्पाटिवानर-कथा

मगध देश मे शुभदत्त नाम का एक कायस्थ विहार बनवा रह था। वहाँ बढइयो ने आधो फटी हुई लकडी मे एक कील डाल कर छोड दिया था। एक दिन एक बन्दर ने आकर उस कील को पकड लिया और वही बैठ गया। बैठने समय उसका अडकोश लकडी के बीच मे चला गया। उसने चचलता से कील को खीच लिया जिससे उसका अडकोश दब गया और वह मर गया। अत मनुष्य को व्यर्थ कार्यों मे नही लगना चाहिए।

२—चीत्कारकारि-गर्दभ-कथा

काशी में कर्पूरपुरटक नाम का एक धोबी था। वह एक दिन गहरी नीद मे सोया था कि कुछ चोर उसके घर मे घुस गए। आगन मे बन्धे हुए गदहे ने वही बैठे हुए कुत्ते से कहा कि तुम भूँक कर स्वामी को जगा दो क्योकि वही तुम्हारा काम है। लेकिन धोबी से अपमानित कुत्ते ने ऐसा करने से इनकार कर दिया। तब गदहा स्वामो को जगाने के लिए स्वयम् चिल्लाने लगा। धोबी की नीद उचट गई और उसने गदहे को इतना मारा कि वह मर गया। अत दूसरे के अधिकार की चर्चा भी नही करनी चाहिए काम करना तो दूर की बात है।

३—दधिकर्ण विडाल कथा

अर्बुद पहाड-शिखर पर दुर्दान्त नाम का एक सिंह था। उसके सोने के समय एक चूहा निकल कर उसका अयाल काट देता था। इसलिए उसने दधिकर्ण नाम का एक बिलाव पाल लिया और भोजनादि से उसका बडा सत्कार करने लगा। अब चूहा भी उसके डर से बाहर नही निकलता था जिससे सिंह सुख से सोता था। एक दिन भूख से व्याकुल होकर चूहा बाहर निकला तो बिलाव ने उसे मार डाला। अब सिंह ने बिलाव की आवश्यकता न समझ कर उसके भोजनादि में कोताही कर दी, जिससे वह धीरे-धीरे दुर्बल हो कर मर गया। अत सेवक को चाहिए कि वह स्वामी को कभी भी अपने प्रति निरपेक्ष न होने दे।

४—घटाकर्ण-कुट्टनी कथा

श्रीपर्वत पर ब्रह्मपुर नाम का एक नगर था। वहाँ घटा चुराकर भागने वाले एक चोर को सिंह ने मार डाला। उक्त घटेको बन्दरो ने ले लिया और उसे बजाना शुरू किया। उस मरे हुए चोर को देख और घटे की आवाज सुन कर नगर के सभी लोग घटाकर्ण भूत के डर से भागने लगे। एक कुट्टनी ने इस रहस्य का पता लगा लिया और वह राजा से बोली—राजन् यदि आप कुछ खर्च करें तो मैं घटाकर्ण को वश मे कर लूंगी। राजा ने उसे धन दे दिया। वह कुछ फल लेकर वहाँ गई और उन्हे फेंक दिया। बन्दर घटा छोड कर फल खाने लगे। कुट्टनी घटा लेकर चली आई। राजा ने उसे बहुत पुरस्कृत किया। इसलिए केवल शब्दमात्र से नही डरना चाहिए।

५—स्वर्णरेखा तथा नापितगोपवधू कथा

कञ्चनपुर नाम के नगर मे एक राजा था। उसके सिपाही एक नाई को पकड कर मारने के लिए ले जा रहे थे कि एक साधु के साथ आने वाले कन्दर्पकेतु ने उसे बचा लिया और कहा—मैं सिंहल द्वीप का राजपुत्र हूँ मैंने एक दिन नाविको के मुँह से सुना कि समुद्र मे चतुर्दशी के दिन एक सुन्दरी कन्या दिखाई पडती है। यह सुनकर मैं वहाँ गया और उसे देखते ही उसके रूप पर आसक्त हो कर समुद्र मे कूद पडा। इसके बाद मैंने उसे सोने के महल मे देखा। और उससे विवाह कर लिया। एक दिन उसने मुझे चित्र मे बनी सुवर्णरेखा अप्सरा को छूने के लिए मना किया किन्तु मैंने उसे छू दिया। छूते ही उसने मुझे ऐसा झटका दिया कि मैं अपने देश मे आ गिरा। तभी से सन्यासी बन कर घूम रहा हूँ। एक दिन मैं एक ग्वाले के घर मे सोया था। उस समय

जब ग्वाला पशुओ को खिला-पिलाकर घर लौटा तो उसने अपनी स्त्री को एक दूती से बातचीत करते हुए देखकर उसे खम्भे मे बाँध दिया और सो गया। रात को फिर दूती ने आकर अपने को खभे मे बांध दिया और ग्वालिन को नाई के पास भेज दिया। ग्वाले ने आँख खुलने पर फिर ग्वालिन से कहा कि अब क्यो नही अपने जार के पास जा रही हो। कुछ उत्तर न पा कर क्रुद्ध होकर उसने उसकी नाक काट ली और फिर सो गया। ग्वालिन नाई के यहाँ से लौट कर नाइन का बधन से खोल कर फिर अपने को उसमे बाँध दिया। नाइन अपने घर लौट गई। प्रात काल जब नाई ने अपनी पेटी मागी तो उसने केवल छुरा दिया जिससे उसने छुरा उसके ऊपर चला दिया। इस पर अपनी नाक काट लेने का दोष लगा कर नाइन उसे अदालत मे ले गई। इधर जब ग्वाला उठा और उसने अपनी स्त्री से पूछा तो उसने उसे डाँटते हुए कहा कि मैं सती हूँ देखो उसी के प्रभाव से मेरी कटी हुई नाक जुड गई है। ग्वाला इसे देखकर उसके पैरो पर गिर गया।

उसने साधु की कथा कहते हुए कहा कि यह एक दिन वेश्या के घर मे सोया था। इसने वेश्या के द्वार पर काठ के एक वैताल की मूर्ति देखी जिसके सिर पर रत्न था। लालच मे आकर उसने इसे लेना चाहा, किन्तु पुतले ने उसे पकड लिया। उसका चिल्लाना सुनकर वेश्या ने कहा कि तुम्हारे पास जो भी रत्न हो दे दो, तभी छूट सकते हो। सभी रत्नो के देने के बाद ही यह बेचारा छूट पाया था। अत मनुष्य अपने ही कर्मों का फल भोगता है।

६—गोपीजारद्वय कथा

द्वारवती मे एक ग्वाले की एक कुलटा स्त्री थी। वह गाँव के मुखिया और उसके लडके के साथ फँसी हुई थी। एक दिन जिस समय मुखिया का लडका उसके पास था उसी समय मुखिया भी आया। ग्वालिन ने उसे अनाज की खत्ती मे छिपा दिया और वह मुखिया के साथ आनन्द लूटने लगी। इसी समय ग्वाला भी आ गया। तब ग्वालिन ने उससे कहा कि तुम डण्डा लेकर क्रोध से बडबडाते हुए घर से निकल जाओ। ग्वाले ने उसे इस प्रकार जाते हुए देख कर पूछा कि यह किस लिए आया था। ग्वालिन ने कहा कि यह अपने लडके को मारने के लिए दौडाया था वह भाग कर मेरे घर मे चला आया। जिसे मैंने छिपा दिया। यह उसे न पाकर क्रोध मे बडबडाता हुआ जा रहा है यह कहकर उसने उसके लडके को दिखा दिया। इस प्रकार उसने सबको सकट से बचा लिया। अत समयानुसार बुद्धि द्वारा मनुष्य कठिनाइयो को जीत सकता है।

३—दधिकर्ण विडाल कथा

अर्बुद पहाड-शिखर पर दुर्दान्त नाम का एक सिंह था। उसके सोने के समय एक चूहा निकल कर उसका अयाल काट देता था। इसलिए उसने दधिकर्ण नाम का एक बिलाव पाल लिया और भोजनादि से उसका बडा सत्कार करने लगा। अब चूहा भी उसके डर से बाहर नही निकलता था जिससे सिंह सुख से सोता था। एक दिन भूख से व्याकुल होकर चूहा बाहर निकला तो बिलाव ने उसे मार डाला। अब सिंह ने बिलाव की आवश्यकता न समझ कर उसके भोजनादि में कोताही कर दी, जिससे वह धीरे-धीरे दुर्बल हो कर मर गया। अत सेवक को चाहिए कि वह स्वामी को कभी भी अपने प्रति निरपेक्ष न होने दे।

४—घटाकर्ण-कुट्टनी कथा

श्रीपर्वत पर ब्रह्मपुर नाम का एक नगर था। वहाँ घटा चुराकर भागने वाले एक चोर को सिंह ने मार डाला। उक्त घटेको बन्दरो ने ले लिया और उसे बजाना शुरू किया। उस मरे हुए चोर को देख और घटे की आवाज सुन कर नगर के सभी लोग घटाकर्ण भूत के डर से भागने लगे। एक कुट्टनी ने इस रहस्य का पता लगा लिया और वह राजा से बोली—राजन् यदि आप कुछ खर्च करें तो मैं घटाकर्ण को वश मे कर लूंगी। राजा ने उसे धन दे दिया। वह कुछ फल लेकर वहाँ गई और उन्हें फेंक दिया। बन्दर घटा छोड कर फल खाने लगे। कुट्टनी घटा लेकर चली आई। राजा ने उसे बहुत पुरस्कृत किया। इसलिए केवल शब्दमात्र से नही डरना चाहिए।

५—स्वर्णरेखा तथा नापितगोपवधू कथा

कञ्चनपुर नाम के नगर मे एक राजा था। उसके सिपाही एक नाई को पकड कर मारने के लिए ले जा रहे थे कि एक साधु के साथ आने वाले कन्दर्पकेतु ने उसे बचा लिया और कहा—मैं सिंहल द्वीप का राजपुत्र हूँ मैंने एक दिन नाविको के मुंह से सुना कि समुद्र मे चतुर्दशी के दिन एक सुन्दरी कन्या दिखाई पडती है। यह सुनकर मैं वहाँ गया और उसे देखते ही उसके रूप पर आसक्त हो कर समुद्र मे कूद पडा। इसके बाद मैंने उसे सोने के महल मे देखा। और उससे विवाह कर लिया। एक दिन उसने मुझे चित्र मे बनी सुवर्णरेखा अप्सरा को छूने के लिए मना किया किन्तु मैंने उसे छू दिया। छूते ही उसने मुझे ऐसा झटका दिया कि मैं अपने देश मे आ गिरा। तभी से सन्यासी बन कर घूम रहा हूँ। एक दिन मैं एक ग्वाले के घर मे सोया था। उस समय

जब ग्वाला पशुओ को खिला-पिलाकर घर लौटा तो उसने अपनी स्त्री को एक दूती से बातचीत करते हुए देखकर उसे खम्भे मे बांध दिया और सो गया। रात को फिर दूती ने आकर अपने को खभे मे बांध दिया और ग्वालिन को नाई के पास भेज दिया। ग्वाले ने आँख खुलने पर फिर ग्वालिन से कहा कि अब क्यो नही अपने जार के पास जा रही हो। कुछ उत्तर न पा कर क्रुद्ध होकर उसने उसकी नाक काट ली और फिर सो गया। ग्वालिन नाई के यहाँ से लौट कर नाइन को बधन से खोल कर फिर अपने को उसमें बांध दिया। नाइन अपने घर लौट गई। प्रात काल जब नाई ने अपनी पेटी मागी तो उसने केवल छुरा दिया जिससे उसने छुरा उसके ऊपर चला दिया। इस पर अपनी नाक काट लेने का दोष लगा कर नाइन उसे अदालत मे ले गई। इधर जब ग्वाला उठा और उसने अपनी स्त्री से पूछा तो उसने उसे डाँटते हुए कहा कि मैं सती हूँ देखो उसी के प्रभाव से मेरी कटी हुई नाक जुड गई है। ग्वाला इसे देखकर उसके पैरो पर गिर गया।

उसने साधु की कथा कहते हुए कहा कि यह एक दिन वेश्या के घर मे सोया था। इसने वेश्या के द्वार पर काठ के एक वैताल की मूर्ति देखी जिसके सिर पर रत्न था। लालच मे आकर उसने इसे लेना चाहा, किन्तु पुतले ने उसे पकड लिया। उसका चिल्लाना सुनकर वेश्या ने कहा कि तुम्हारे पास जो भी रत्न हो दे दो, तभी छूट सकते हो। सभी रत्नो के देने के बाद ही यह बेचारा छूट पाया था। अत मनुष्य अपने ही कर्मों का फल भोगता है।

६—गोपीजारद्वय कथा

द्वारवती मे एक ग्वाले की एक कुलटा स्त्री थी। वह गाँव के मुखिया और उसके लडके के साथ फँसी हुई थी। एक दिन जिस समय मुखिया का लडका उसके पास था उसी समय मुखिया भी आया। ग्वालिन ने उसे अनाज की खत्ती मे छिपा दिया और वह मुखिया के साथ आनन्द लूटने लगी। इसी समय ग्वाला भी आ गया। तब ग्वालिन ने उससे कहा कि तुम डण्डा लेकर क्रोध से बडबडाते हुए घर से निकल जाओ। ग्वाले ने उसे इस प्रकार जाते हुए देख कर पूछा कि यह किस लिए आया था। ग्वालिन ने कहा कि यह अपने लडके को मारने के लिए दौडाया था वह भाग कर मेरे घर मे चला आया। जिसे मैंने छिपा दिया। यह उसे न पाकर क्रोध मे बडबडाता हुआ जा रहा है यह कहकर उसने उसके लडके को दिखा दिया। इस प्रकार उसने सबको सकट से बचा लिया। अत समयानुसार बुद्धि द्वारा मनुष्य कठिनाइयो को जीत सकता है।

७—काकी कृष्णसर्प कथा

एक वृक्ष पर कौवा का एक जोडा रहता था। उसी वृक्ष की जड मे एक काला सॉप भी रहता था। वह कौवो के बच्चो को खा जाया करता था। एक दिन काकी ने वहा से दूसरी जगह चलने को कहा तब कौवे ने कहा कि डरो मत तुम बुद्धि से काम लो। राजा रोज इस तालाब मे स्नान करने आता है। तुम उसके उतारे हुए साने के हार को उठाकर सॉप के खोखले में रख दा। कौवे ने ऐसा ही किया। फिर हार को खोजते हुए राजा के सिपाही पेड के खोखले के पास पहुँचे और वहाँ काले सॉप को देखकर उन्होने मार डाला। अर्थात् कोई काम बुद्धि के द्वारा ही आसानी से पूरा किया जा सकता है।

८—दुर्दान्त सिंहशशकयों कथा

मन्दर नाम के पहाड पर दुर्दान्त नाम का सिंह था। उसे दिन भर मे कई पशुओ को मारते हुए देखकर सभी पशुओ ने प्रतिदिन एक एक पशु भेजने का निश्चय किया। सिंह ने भी इसे मान लिया। एक दिन एक बुड्ढे खरगोश की बारी आई। खरगोश उसके मारने का उपाय सोचते हुए उसके पास देर से पहुँचा। सिंह के पूछने पर उसने बताया कि इस जगल मे रहने वाले दूसरे सिंह ने मुझे पकड लिया था। मैं उससे कसम खाकर आपके पास सूचना देने आया हूँ। सिंह यह सुनकर आग-बबूला हो गया और दूसरे सिंह को मारने चल पडा। खरगोश ने एक कुएँ मे उसी को परछाई को दिखा दिया। सिंह बिना सोचे कुएँ मे कूद पडा और मर गया। अत बुद्धि का बल सबसे बडा बल होता है।

९—समुद्र टिट्टिभ कथा

दक्षिण समुद्र के किनारे टिटिहरियो का एक जोडा रहता था। समुद्र बराबर टिटिहिरी के अडो को बहा ले जाया करता था। एक बार टिटिहरी ने बच्चा देने के समय टिटिहरे से दूसरी जगह चलने को कहा। लेकिन टिटि-हरा वही रहा। अबकी बार भी समुद्र अडे को बहा ले गया तब टिटिहरा सभी पक्षियो को सभा करके गरुड के पास गया। उन्होने विष्णु से कहा और विष्णु ने समुद्र को आदेश दिया कि अडो को लौटा दो। समुद्र ने उनकी आज्ञा से अडे लौटा दिए। अत किसी को शक्ति का अनुमान उसके सगे सम्बन्धियो को जान कर ही लगाया जा सकता है।

॥ श्रीः ॥

हितोपदेशः

सुहृद्भेदः

अथ राजपुत्रा ऊचुः—'आर्य, मित्रलाभः श्रुतस्तावदस्माभिः। इदानीं सुहृद्भेदं श्रोतुमिच्छामः।' विष्णुशर्मोवाच—'सुहृद्भेदं तावच्छृणुत, यस्यायमाद्यः श्लोकः—

मणिप्रभा

गणनाथं प्रभानाथं रमानाथमुमापतिम्।
उमां च नत्वा कुर्वेऽहं सुहृद्भेदे मणिप्रभाम्॥ १॥

अथ = मित्रलाभश्रवणानन्तरम्, इदानीम् = अधुना, सुहृद्भेदम् = एतन्नामकं हितोपदेशस्य द्वितीयं प्रकरणम्, शृणुत—यूयमिति शेषः। आद्यः = प्रथमः॥

हिन्दी रूपान्तर

इसके पश्चात् उन राजपुत्रों ने कहा—'आर्य', हम लोगों ने 'मित्रलाभ' तो सुन लिया अब 'सुहृद्भेद' सुनना चाहते हैं। विष्णुशर्मा ने कहा—तो 'सुहृद्भेद' सुनो। जिसका पहला श्लोक यह है—

'वर्धमानो महान् स्नेहो मृगेन्द्रवृषयोर्वने।
पिशुनेनातिलुब्धेन जम्बुकेन विनाशितः'॥ १॥

अन्वयः—वने मृगेन्द्रवृषयोः वर्द्धमानः महान् स्नेहः पिशुनेन अतिलुब्धेन जम्बुकेन विनाशितः॥ १॥

वर्द्धमानः—वर्द्धते इति वर्द्धमानः एधमानः, स्नेहः = प्रेम, मृगेन्द्रवृषयोः = सिंहवृषभयोः, पिशुनेन = कर्णजपेन (चुगली करनेवाले), जम्बुकेन = शृगालेन॥

वन में सिंह एवं बैल के बढ़ते हुए महान् स्नेह को अत्यंत लालची तथा चुगली करने वाले स्यार ने नष्ट करा दिया॥ १॥

राजपुत्रैरुक्तम्—'कथमेतत्।' विष्णुशर्मा कथयति—

अस्ति दक्षिणापथे सुवर्णवती नाम नगरी। तत्र वर्धमानो नाम

र्धमानोनिवसति। तस्य प्रचुरेऽपि वित्तेऽपरान्बन्धूनतिसमृद्धान्समीक्ष्य पुन-रर्थवृद्धिः करणीयेति मतिर्बभूव। यतः—

दक्षिणापथे=दक्षिणस्यां दिशि, तत्र=सुवर्णवत्यां नगर्याम्, तस्य=वर्द्धमान नाम्नो वणिजः, प्रचुरे=प्रभूते 'प्रभूतं प्रचुरं प्राज्यम्' इत्यमरः, अपरान्=अन्यान् स्वसहवासिन इत्यर्थः, समीक्ष्य=दृष्ट्वा, अर्थवृद्धिः=धनवृद्धिः, मतिर्बभूव=विचारोऽभवत्। यतः=यस्मात्॥

राजपुत्रों ने पूछा—'ऐसा कैसे हुआ' विष्णुशर्मा ने कहा—'दक्षिण देश मे सुवर्णवती नाम की एक नगरी है। वहाँ वर्धमान नाम का एक अत्यन्त धनी बनिया रहता था। बहुत अधिक धन होने पर भी, अपने अन्य अत्यन्त धनी बन्धुओं को देखकर उसे और भी अधिक धन बढ़ाने की इच्छा हुई। क्योंकि—

अधोऽधः पश्यतः कस्य महिमा नोपचीयते।
उपर्युपरि पश्यन्तः सर्व एव दरिद्रति॥ २॥

अन्वयः—अधः अधः पश्यतः कस्य (जनस्य) महिमा न उपचीयते। उपरि उपरि पश्यन्तः सर्वे एव दरिद्रति॥ २॥

अधोऽधः=नीचैः नीचैः, पश्यतः=अवलोकयतः—(दृश् धातु, षष्ठी ए० व०), महिमा=महत्त्वम्, उपचीयते=वर्द्धते। उपर्युपरि=उच्चैः उच्चैः, दरिद्रति=दरिद्रा भवन्ति (दरिद्रा लट् प्र० पु० ब० व०, 'जक्षित्यादयः षट्' इत्यभ्याससंज्ञायां 'नाभ्यस्ताच्छतुः' इति नुमभावः)॥

अपने से नीचे की ओर देखनेवाले किस मनुष्य का महत्त्व नहीं बढ़ जाता? किन्तु अपने से ऊपर देखनेवाले सभी दरिद्र दिखाई पड़ते हैं। (अपने से कम वित्तवालों को देखनेवाले अपने को धनी समझते हैं, किन्तु अपने से अधिक वित्तवालों को देख कर दरिद्र बन जाते हैं)॥ २॥

अपरं च—

ब्रह्महापि नरः पूज्यो यस्यास्ति विपुलं धनम्।
शशिनस्तुल्यवंशोऽपि निर्धनः परिभूयते॥ ३॥

अन्वयः—यस्य (नरस्य) विपुलम् धनम् अस्ति, (सः) ब्रह्महा अपि नरः पूज्यः (भवति), (किन्तु) शशिनः तुल्यवंशः अपि निर्धनः परिभूयते॥ ३॥

ब्रह्महा=ब्राह्मणघाती (ब्रह्माणं हतवान् इति विग्रहः), पूज्यः=पूजनीयः, विपुलम्=अधिकम्, शशिनः=चन्द्रस्य, परिभूयते=तिरस्क्रियते॥

और भी—जिसके पास अत्यन्त अधिक धन है, वह मनुष्य ब्रह्महत्या करने पर

भी अत्यत पूज्य होता है, किन्तु चन्द्रमा के समान उज्ज्वल वंश में जन्म लेकर भी निर्धन व्यक्ति सभी जगह अपमानित होता है ॥ ३ ॥

अन्यच्च—

अव्यवसायिनमलस दैवपरं साहसाच्च परिहीनम् ।
प्रमदेव हि वृद्धपतिं नेच्छत्युपगूहितु लक्ष्मीः ॥ ४ ॥

अन्वय —लक्ष्मीः अव्यवसायिनम् अलसम् दैवपरम् साहसात् परिहीनम् च (जनम्) प्रमदा वृद्धपतिम् इव उपगूहितुम् न इच्छति ॥ ४ ॥

अव्यवसायिनम् = अनुद्योगिनम्, अलसम् = आलस्ययुक्तम्, दैवपरम्=भाग्याधीनम् (भाग्य पर ही भरोसा करनेवाले), प्रमदा = युवतिः, वृद्धपतिम्=प्रगतवयसं भर्तारम्, उपगूहितुम् = आलिङ्गितुम्, पक्षे आश्रय कर्तुम् ॥

और भी—उद्योग रहित, आलसी, भाग्य के भरोसे रहने वाले एव साहस से हीन व्यक्ति को लक्ष्मी उसी प्रकार आलिङ्गन करना नहीं चाहती है जैसे यौवन में मतवाली स्त्री बूढे पति को ॥ ४ ॥

किं च—

आलस्य स्त्रीसेवा सरोगता जन्मभूमिवात्सल्यम् ।
सन्तोषो भीरुत्व षड् व्याघाता महत्त्वस्य ॥ ५ ॥

अन्वय —आलस्यम्, स्त्रीसेवा, सरोगता, जन्मभूमिवात्सल्यम्, सन्तोषः, भीरुत्वम् (इति इमे) षट् महत्त्वस्य व्याघाताः (सन्ति) ॥ ५ ॥

स्त्रीसेवा = स्त्रीविषयेऽधिकासक्तिः, सरोगता = रोगयुक्तता, जन्मभूमिवात्सल्यम् = जन्मभूम्या सह स्नेहः, तेन जन्मभूमिं त्यक्त्वाऽन्यत्र गमनाभावः, भीरुत्वम् = भयम्, व्याघाताः = बाधकाः ॥

और भी—आलस्य, स्त्री की गुलामी, रोगी बना रहना, जन्मभूमि के प्रति स्नेह, सतोष और डर—यही महत्त्व प्राप्ति के छ विघ्न हैं ॥ ५ ॥

यत'—

सपदा सुस्थिरमन्यो भवति स्वल्पयापि य ।
कृतकृत्यो विधिर्मन्ये न वर्धयति तस्य ताम् ॥ ६ ॥

अन्वय —यः स्वल्पया अपि सम्पदा सुस्थिरम्मन्यः भवति, कृतकृत्य विधिः तस्य ताम् न वर्द्धयति, (इति अहम्) मन्ये ॥ ६ ॥

सम्पदा = धनेन, सुस्थिरम्मन्यः—आत्मान सुस्थिर मन्यते एवंविधः आत्मानं सुस्थिर मन्यते इति विग्रहे 'आत्ममाने खश्च' इति खश्प्रत्यये खित्यनन्तस्य मुमागमः,

कृतकृत्यः = कृतार्थो, विधिः = दैवम्, साम् = सम्पदम् । मन्ये=(अहं) जानामि ।
क्योंकि—जो थोडे ही धन से अपनी स्थिति को अच्छी समझनेवाला होता है उसका भाग्य भी कृतकृत्य होकर उसकी सम्पत्ति को नहीं बढाता है ॥ ६ ॥

अपरं च—

निरुत्साहं निरानन्दं निर्वीयमरिनन्दनम् ।
मा स्म सीमन्तिनी काचिज्जनयेत्पुत्रमीदृशम् ॥ ७ ॥

अन्वय —काचित् सीमन्तिनी निरुत्साहम्, निरानन्दम्, निर्वीर्यम्, अरिनन्दनम् पुत्रम् मा स्म जनयेत् ॥ ७ ॥

निरुत्साहम् (निर्गत उत्साहः यस्मात् स तम् = उत्साहहीनम्, एवमग्रेऽपि बोध्यम् । निर्वीर्यम् = पराक्रमहीनम्, अरिनन्दनम्=शत्रवे हर्षप्रदम्, सीमन्तिनी = नारी 'नारी सीमन्तिनी वधूः' इत्यमरः । मा स्म जनयेत् = नोत्पादयेत् (अत्र मा' न तु 'माङ्' अतएव लुङ् नेति बोध्यम् ॥

और भी उत्साहरहित, उदासीन और शत्रुओं को आनन्दित करनेवाले पुत्र का जन्म कोई भी स्त्री न दे ॥ ७ ॥

तथा चोक्तम्—

अलब्धं चैव लिप्सेत लब्धं रक्षेदवक्षयात् ।
रक्षितं वर्धयेत्सम्यग्वृद्धं तीर्थेषु निक्षिपेत् ॥ ८ ॥

अन्वय —(उन्नतिकामुकः जनः) अलब्धम् (धनम्) लिप्सेत, लब्धम् अप क्षयात् रक्षेत् , रक्षितम् वर्द्धयेत् , वृद्धम् तीर्थेषु सम्यक् निक्षिपेत् च ॥ ८ ॥

लिप्सेत = लब्धुमिच्छेत् , अवक्षयात्=हानेः, तीर्थेषु=काशीप्रयागादितीर्थक्षेत्रेषु सत्पात्रेषु वा, निक्षिपेत्=दानं कुर्यात् ॥

जैसा कि कहा भी गया है—जो प्राप्त नहीं हो सका है, उसे पाने की इच्छा करनी चाहिए, जो प्राप्त हो चुका है, उसे नष्ट होने से बचाना चाहिए, बचाए हुए धन को बढाना चाहिए और बढे हुए धन को अच्छे कर्मों में लगाना चाहिए ॥ ८ ॥

यतोऽलब्धमिच्छतोऽर्थयोगादर्थस्य प्राप्तिरेव । लब्धस्याप्यरक्षितस्य निधेरपि स्वयं विनाशः । अपि च । अवर्धमानश्चार्थः काले स्वल्पव्ययोऽप्यञ्जनवत्क्षयमेति । अनुपभुज्यमानश्च निष्प्रयोजन एव सः । तथा चोक्तम्—

अलब्धम् = अप्राप्तम्, अर्थयोगात् = वित्तसम्पादात् , अरक्षितस्य = अगुप्तस्य, निधेः = शेवधेः (शङ्खपद्मादयः नव निधयो भवन्ति) । अवर्द्धमानः=अवृद्धिशीलः

अर्थः=धनम्, काले = स्वल्पसमयानन्तरम्, अक्षयवत्=अक्षयेन तुल्यम्, उपमेति = नश्यति । अनुपभुज्यमानः=स्वोपभोगेऽनियुज्यमानः, निष्प्रयोजनः = व्यर्थः (इदमर्थस्य विशेषणमतः पुंस्त्वमस्तीति बोध्यम्) ॥

क्योंकि—अप्राप्त धन के चाहनेवाले व्यक्ति को धन लगाने से धन की प्राप्ति होती ही है । प्राप्त हो जाने पर भी यदि रक्षा न की जाय तो खजाना भी स्वयम् नष्ट हो जाता है । इसके अतिरिक्त यदि धन बढ़ाया न जाय तो वह थोड़ा खर्च करने पर भी अक्षय के समान समय पाकर समाप्त हो जाता है और यदि उसका उपभोग न किया जाय तो उसका पाना ही व्यर्थ है । जैसा कहा गया है कि—

धनेन किं यो न ददाति नाश्नुते
बलेन किं यश्च रिपून् न बाधते ।
श्रुतेन किं यो न च धर्ममाचरेत्
किमात्मना यो न जितेन्द्रियो भवेत् ॥ ९ ॥

अन्वय.—यः (जनः धनम्) न ददाति, न अश्नुते, (तस्य जनस्य) धनेन किम् (अस्ति) ? यः (जन.) रिपून् न बाधते, (तस्य) बलेन किम् (अस्ति) ? यः (जनः) धर्मम् न आचरेत् (तस्य जनस्य) श्रुतेन किम् (अस्ति) ? य. (जन) जितेन्द्रियो न भवेत् (तस्य जनस्य) आत्मना किम् (अस्ति) ? ॥ ९ ॥

अश्नुते=भुङ्क्ते, भोग करोतीत्यर्थः । बलेन = शक्त्या, रिपून्=शत्रून् , बाधते = पीडयति विजयते इत्यर्थ. । श्रुतेन=शास्त्रज्ञानेन, आत्मना = आत्मज्ञानेन, जितेन्द्रिय =संयतेन्द्रियः । तस्य नरस्य धनादिकं सर्वं व्यर्थमस्ति, यः तेन दानादिकार्यं न करोतीत्याशय. ॥

उस धन के मिलने से क्या हुआ जो न तो दिया ही गया और न तो अपने ही उपयोग में लाया गया, उस बल से क्या हुआ जो शत्रुओं को वश में न कर सका, उन धर्मग्रन्थों के सुनने से क्या हुआ जिनके अनुसार धर्म का आचरण ही न हो सका और उस आत्मा से क्या हुआ जो इन्द्रियों को जीत न सके ॥ ९ ॥

यत —

जलबिन्दुनिपातेन क्रमशः पूर्यते घटः ।
स हेतु सर्वविद्याना धर्मस्य च धनस्य च ॥ १० ॥

अन्वय —घट क्रमश॰ जलबिन्दुनिपातेन पूर्यते, सर्वविद्यानाम् च धर्मस्य च धनस्य स हेतु (अस्ति) ॥ १० ॥

कृतकृत्यः = कृतार्थः, विधिः = दैवम्, ताम् = सम्पदम् । मन्ये=(अहं) जानामि ।

क्योंकि—जो थोड़े ही धन से अपनी स्थिति को अच्छी समझनेवाला होता है उसका भाग्य भी कृतकृत्य होकर उसकी सम्पत्ति को नहीं बढ़ाता है ॥ ६ ॥

अपरं च—

> निरुत्साहं निरानन्दं निर्वीर्यमरिनन्दनम् ।
> मा स्म सीमन्तिनी काचिज्जनयेत्पुत्रमीदृशम् ॥ ७ ॥

अन्वय.—काचित् सीमन्तिनी निरुत्साहम्, निरानन्दम्, निर्वीर्यम्, अरिनन्दनम् पुत्रम् मा स्म जनयेत् ॥ ७ ॥

निरुत्साहम् (निर्गतः उत्साहः यस्मात् स तम् = उत्साहहीनम्, एवमग्रेऽपि बोध्यम् । निर्वीर्यम् = पराक्रमहीनम्, अरिनन्दनम्=शत्रवे हर्षप्रदम्, सीमन्तिनी = नारी 'नारी सीमन्तिनी वधूः' इत्यमरः । मा स्म जनयेत् = नोत्पादयेत् (अत्र मा' न तु 'माङ्' अतएव लुङ् नेति बोध्यम् ॥

और भी उत्साहरहित, उदासीन और शत्रुओं को आनन्दित करनेवाले पुत्र का जन्म कोई भी स्त्री न दे ॥ ७ ॥

तथा चोक्तम्—

> अलब्धं चैव लिप्सेत लब्धं रक्षेदवक्षयात् ।
> रक्षितं वर्धयेत्सम्यग्वृद्धं तीर्थेषु निक्षिपेत् ॥ ८ ॥

अन्वयः—(उन्नतिकामुकः जनः) अलब्धम् (धनम्) लिप्सेत, लब्धम् अव क्षयात् रक्षेत्, रक्षितम् वर्द्धयेत्, वृद्धम् तीर्थेषु सम्यक् निक्षिपेत् च ॥ ८ ॥

लिप्सेत = लब्धुमिच्छेत्, अवक्षयात्=हानेः, तीर्थेषु=काशीप्रयागादितीर्थक्षेत्रेषु सत्पात्रेषु वा, निक्षिपेत्=दानं कुर्यात् ॥

जैसा कि कहा भी गया है—जो प्राप्त नहीं हो सका है, उसे पाने की इच्छा करनी चाहिए, जो प्राप्त हो चुका है, उसे नष्ट होने से बचाना चाहिए, बचाए हुए धन को बढ़ाना चाहिए और बढ़े हुए धन को अच्छे कर्मों में लगाना चाहिए ॥ ८ ॥

यतोऽलब्धमिच्छतोऽर्थयोगादर्थस्य प्राप्तिरेव । लब्धस्याप्यरक्षितस्य निधेरपि स्वयं विनाशः । अपि च । अवर्धमानश्चार्थः काले स्वल्पव्ययोऽप्यञ्जनवत्क्षयमेति । अनुपभुज्यमानश्च निष्प्रयोजन एव सः । तथा चोक्तम्—

अलब्धम् = अप्राप्तम्, अर्थयोगात् = वित्तसम्पर्कात्, अरक्षितस्य = अगुप्तस्य, निधेः = शेवधेः (शङ्खपद्मादयः नव निधयो भवन्ति) । अवर्द्धमानः=अवृद्धिशीलः

अर्थः=धनम्, काले=स्वल्पसमयानन्तरम्, अशनवत्=अशनेन तुल्यम्, उप-मेति=नश्यति । अनुपभुज्यमानः=स्वोपभोगेऽनियुज्यमानः, निष्प्रयोजनः=व्यर्थः (इदमर्थस्य विशेषणमतः पुंस्त्वमत्रेति बोध्यम्) ॥

क्योंकि—अप्राप्त धन के चाहनेवाले व्यक्ति को धन लगाने से धन की प्राप्ति होती ही है । प्राप्त हो जाने पर भी यदि रक्षा न की जाय तो खजाना भी स्वयम् नष्ट हो जाता है । इसके अतिरिक्त यदि धन बढ़ाया न जाय तो वह थोड़ा खर्च करने पर भी अञ्जन के समान समय पाकर समाप्त हो जाता है और यदि उसका उपभोग न किया जाय तो उसका पाना ही व्यर्थ है । जैसा कहा गया है कि—

धनेन किं यो न ददाति नाश्नुते
बलेन किं यश्च रिपून बाधते ।
श्रुतेन किं यो न च धर्ममाचरेत्
किमात्मना यो न जितेन्द्रियो भवेत् ॥ ९ ॥

अन्वयः—यः (जनः धनम्) न ददाति, न अश्नुते, (तस्य धनस्य) धनेन किम् (अस्ति) ? यः (जनः) रिपून् न बाधते, (तस्य) बलेन किम् (अस्ति) ? यः (जनः) धर्मम् न आचरेत् (तस्य जनस्य) श्रुतेन किम् (अस्ति) ? यः (जनः) जितेन्द्रियो न भवेत् (तस्य जनस्य) आत्मना किम् (अस्ति) ? ॥ ९ ॥

अश्नुते=भुङ्क्ते, भोगं करोतीत्यर्थः । बलेन=शक्त्या, रिपून्=शत्रून्, बाधते=पीडयति विजयते इत्यर्थः । श्रुतेन=शास्त्रज्ञानेन, आत्मना=आत्मज्ञानेन, जितेन्द्रियः=संयतेन्द्रियः । तस्य नरस्य धनादिकं सर्वं व्यर्थमस्ति, यः तेन दानादिकार्यं न करोतीत्याशयः ॥

उस धन के मिलने से क्या हुआ जो न तो दिया ही गया और न तो अपने ही उपयोग में लाया गया, उस बल से क्या हुआ जो शत्रुओं को वश में न कर सका, उन धर्मग्रंथों के सुनने से क्या हुआ जिनके अनुसार धर्म का आचरण ही न हो सका और उस आत्मा से क्या हुआ जो इन्द्रियों को जीत न सके ॥ ९ ॥

यत —

जलबिन्दुनिपातेन क्रमशः पूर्यते घटः ।
स हेतु सर्वविद्याना धर्मस्य च धनस्य च ॥ १० ॥

अन्वयः—घटः क्रमशः जलबिन्दुनिपातेन पूर्यते, सर्वविद्यानाम् च धर्मस्य च धनस्य स हेतुः (अस्ति) ॥ १० ॥

घट=कलशः, क्रमशः = क्रमात् , जलबिन्दुनिपातेन=शनैः शनैः जलबिन्दु निपतनेन, पूर्यते=पूर्णः भवति । सर्वविद्यानाम् = समस्तज्ञानानाम् । यथा शनैः जलस्य बिन्दूनां पतनेन घटः पूर्णः भवति, तथैव क्रमशः सर्वविद्यादयोऽपि अभ्यसनादिना पूर्णा भवन्ति ॥

क्योंकि—जैसे एक एक बूँद गिरने से धीरे धीरे घड़ा भर जाता है उसी प्रकार सभी विद्याएँ, धर्म और धन भी धीरे ही धीरे बढ़ता है ॥ १० ॥

दानोपभोगरहिता दिवसा यस्य यान्ति वै ।
स कर्मकारभस्त्रेव श्वसन्नपि न जीवति ॥ ११ ॥

अन्वयः—यस्य (जनस्य) दिवसाः दानोपभोगरहिताः यान्ति, स (जनः) कर्मकारभस्त्रा इव श्वसन् अपि न जीवति ॥ ११ ॥

दानोपभोगरहिता=त्यागोपभोगाभ्यां शून्याः, दिवसाः = दिनानि, यान्ति= व्यतियन्ति (बीतते हैं), कर्मकारभस्त्रेव=कर्मकारस्य लोहतापक—चर्मनिर्मित यन्त्रविशेषः इव (भाथी के समान), श्वसन्=श्वास गृह्णन् जीवन्नित्यर्थः, न जीवति= मृतकतुल्योऽस्ति ॥

जिनके दिन दान और भोग के बिना ही चले जाते हैं, वह लुहार की भाथी के समान साँस लेते हुए भी जीवित नहीं कहा जा सकता ॥ ११ ॥

इति सञ्चिन्त्य नन्दकसञ्जीवकनामानौ वृषभौ धुरि नियोज्य शकटं नानाविधद्रव्यपूर्णं कृत्वा वाणिज्येन गतः कश्मीरं प्रति । अन्यच्च—

इति=एतत् , धुरि = भारवहनकार्ये, नियुज्य = नियुक्तौ कृत्वा (नि+युज्+ ल्यप्), शकटम् = अनः (गाड़ी को), नानाविधद्रव्यपूर्णम् =अनेकप्रकारकवस्तुभरितम्, वाणिज्येन=व्यापाराय, कश्मीरम्=एतन्नामकं भारतस्य पश्चिमोत्तरदिक्स्थित प्रान्तविशेषम् ॥

इस प्रकार सोचकर नंदक और सञ्जीवक नाम के दो बैलों को जोत में नाँध कर गाड़ी को तरह-तरह की वस्तुओं से भर कर व्यापार करने की इच्छा से कश्मीर की ओर चला । और भी—

अञ्जनस्य क्षयं दृष्ट्वा वल्मीकस्य च सञ्चयम् ।
अवन्ध्यं दिवसं कुर्याद्दानाध्ययनकर्मसु ॥ १२ ॥

अन्वय —(अभ्युदयेच्छुकः) अञ्जनस्य क्षयम् वल्मीकस्य सञ्चयम् च दृष्ट्वा दानाध्ययनकर्मभिः दिवसम् अवन्ध्यम् कुर्यात् ॥ १२ ॥

अञ्जनस्य = कज्जलस्य, क्षयम् = नाशम्, वल्मीकस्य = वामलूरस्य (बाँबी), सञ्चयम् = वृद्धिम्, अवन्ध्यम् = सफलम्, दानाध्ययनकर्मभिः = दानपठनादिकार्यैः (वृद्धिरहितमल्पमल्पश व्ययीभवदप्यञ्जन क्षीयते, क्षयरहित सतत स्वल्पशोऽपि उपचीयमान वल्मीक वर्धते इत्येतद् दृष्ट्वा जनदानं शास्त्रपठन च कृत्वा मानवेन दिवसस्य साफल्यं कर्तव्यमिति भावः ॥

आँखों में लगाये जानेवाले अञ्जन का धीरे धीरे नष्ट हो जाना तथा बाँबी का धीरे धीरे एकत्रित हो कर बढना देख कर मनुष्य को चाहिये कि वह अपने दिन को दान, अध्ययन तथा अन्य कर्मों से सफल करे ॥ १२ ॥

यत.—

कोऽतिभार. समर्थाना किं दूर व्यवसायिनाम् ।
को विदेश सविद्याना कः परः प्रियवादिनाम् ॥ १३ ॥

अन्वयः—समर्थानाम् (जनानाम्) क. अतिभारः (अस्ति) ? व्यवसायिनाम् किम् दूरम् (अस्ति) ? सविद्यानाम् कः विदेशः (अस्ति) ?, प्रियवादिनाम् क पर (अस्ति) ? ॥ १३ ॥

अतिभार = महाभार , भारयुक्तम्—असाध्यमित्यर्थः, समर्थानाम् = सामर्थ्यवताम्, व्यवसायिनाम् = उद्योगिनाम् , विदेशः = परदेशः, सविद्यानाम् = विदुषाम्, प्रियवादिनाम् = मधुरभाषिणाम् ॥

क्योंकि—शक्तिशाली के लिए कोई भी कार्य बोझ जैसा नहीं लगता, परिश्रमी व्यक्ति के लिए कोई भी स्थान दूर नहीं होता, विद्वान् के लिए कोई भी देशविदेश नहीं होता और प्रिय बोलने वाले का कोई भी शत्रु नहीं होता ॥ १३ ॥

अथ गच्छतस्तस्य सुदुर्गनाम्नि महारण्ये सञ्जीवको भग्नजानुर्निपतित । तमालोक्य वर्धमानोऽचिन्तयत्—

सुदुर्गनाम्नि = सुदुर्गनामके, महारण्ये = महावने, भग्नजानुः = भग्न जानु यस्य स (टूटे घुटनेवाला), निपतित = अपतत् , अचिन्तयत् = चिन्तितवान् ॥

इसके पश्चात् जाते जाते सुदुर्गनाम के एक बडे जगल में सञ्जीवक का घुटना टूट गया और वह गिर पडा । वर्धमान ने उसे देख कर विचार किया—

'करोतु नाम नीतिज्ञो व्यवसायमितस्तत. ।
फल पुनस्तदेवास्य यद्विधेर्मनसि स्थितम् ॥ १४ ॥

अन्वय —नीतिज्ञ (नर) इतस्तत व्यवसायम् करोतु नाम पुनः अस्य फलम् तत् एव (भवति), यत् विधे मनसि स्थितम् (वर्तते) ॥ १४ ॥

नीतिज्ञः—नीतिं जानातीति विग्रहे 'इगुपधज्ञा०' इति कः = नीतिपण्डितः। इतस्ततः = यत्र तत्र (इधर उधर), व्यवसायम् = उद्योगम्, फलम् = परिणाम', विधेः = भाग्यस्य, मनसि = चित्ते ॥

चतुर व्यक्ति इधर-उधर कितना ही प्रयत्न क्यों न करें; परन्तु उसका फल वही होता है जो ब्रह्मा के मन में होता है ॥ १४ ॥

किंतु—

> विस्मयः सर्वथा हेय प्रत्यूहः सर्वकर्मणाम् ।
> तस्माद् विस्मयमुत्सृज्य साध्ये सिद्धिर्विधीयताम्' ॥ १५ ॥

अन्वय —सर्वकर्मणाम् प्रत्यूह' विस्मयः (अनेन) सर्वथा हेयः (अस्ति), तस्मात् (अनेन) विस्मयम् उत्सृज्य साध्ये सिद्धिः विधीयताम् ॥ १५ ॥

विस्मयः = धैर्याभावः (घबड़ाहट), सर्वथा = सर्वं प्रकारैः (सब तरह) हेयः = त्याज्यः, प्रत्यूहः = वि'न', उत्सृज्य = त्यक्त्वा (उत्+सृज्+ल्यप्), साध्ये = कार्ये, कर्तव्य इत्यर्थः, विधीयताम् = क्रियताम् ॥

किन्तु–विस्मय (किसी कार्य की बाधाओं को देख कर चकित हो जाना) का सर्वथा परित्याग कर देना चाहिये क्योंकि वह सभी कार्यों का विघ्न होता है। इसलिए आश्चर्य को छोड़ कर अपने द्वारा किए जानेवाले कार्य में सफलता प्राप्त करनी चाहिए ॥ १५ ॥

इति सचिन्त्य सजीवक तत्र परित्यज्य वर्धमान. पुन' स्वय धर्मपुर नाम नगरं गत्वा महाकायमन्य वृषभमेक समानीय धुरि नियोज्य चलित । तत सजीवकोऽपि कथकथमपि खुरत्रये भर कृत्वोत्थितः । यत.—

इति = एतत्, सञ्चिन्त्य = विचार्य, परित्यज्य = सन्त्यज्य, वर्द्धमानः = इत्याख्यक' वणिक्, महाकायम् = हृष्टपुष्टशरीरम्, धुरि नियोज्य = भारकार्ये नियुक्त कृत्वा, कथङ्कथमपि = कथञ्चित्, खुरत्रये = त्रिषु खुरेषु, एकजानुभङ्गत्वेति यावत्, उत्थित. = उत्थितवान् ॥

ऐसा सोचकर उसने सञीवक को वहीं छोड दिया और स्वय धर्मपुर नाम के नगर में जाकर एक बड़े डील डौल वाले दूसरे बैल को लाकर जोत में नाँध दिया तथा आगे चल पड़ा। कुछ देर बाद सञीवक भी अपने तीन ही खुरों पर बल देकर किसी प्रकार उठ खड़ा हुआ। क्योंकि—

निमग्नस्य पयोराशौ पर्वतात्पतितस्य च।
तक्षकेणापि दष्टस्य आयुर्मर्माणि रक्षति ॥ १६ ॥

अन्वय —आयु पयोराशौ निमग्नस्य, पर्वतात् पतितस्य, तक्षकेण दष्टस्य च अपि (नरस्य) मर्माणि रक्षति ॥ १६ ॥

आयु. = वयः जीवितावधिकालः (वस्र), पयोराशौ = समुद्रे, निमग्नस्य= बुडितस्य, तक्षकेण = एतन्नामकेन तीव्रविषेण, सर्पेण, दष्टस्य = कृतदशनस्य (डँसे गये), मर्माणि=मर्मस्थलानि, रक्षति=गोपायति ॥

समुद्र में भी डूबनेवाले, पर्वत से भी गिरे हुए तथा साँप द्वारा काटे गए व्यक्ति के प्राणों को भी आयु बचा लेती है ॥ १६ ॥

नाकाले म्रियते जन्तुर्विद्धः शरशतैरपि।
कुशाग्रेणैव संस्पृष्टः प्राप्तकालो न जीवति ॥ १७ ॥

अन्वय —जन्तुः शरशतैः विद्धः अपि अकाले न म्रियते, (तथा) प्राप्तकालः (सन् सः) कुशाग्रेण एव संस्पृष्टः न जीवति ॥ १७ ॥

अकाले=मृत्युसमये अप्राप्ते, जन्तुः = प्राणी, देहधारीत्यर्थं, विद्धः = छिन्नितः ताडित इत्यर्थः, शरशतै = अनेकशतसङ्ख्यकबाणै, कुशाग्रेण = दर्भाग्रभागेनैव (कुशकी नोकसे), प्राप्तकाल.=प्राप्तमृत्युसमयः ॥

और सभी—सैकड़ों बाणों से बिंधा हुआ प्राणी भी बिना समय आए नहीं मर सकता, किन्तु समय आ जाने पर वही कुश की नोक से छू जाने पर भी नहीं बच सकता ॥ १७ ॥

अरक्षितं तिष्ठति दैवरक्षितं
सुरक्षितं दैवहतं विनश्यति।
जीवत्यनाथोऽपि वने विसर्जितः
कृतप्रयत्नोऽपि गृहे न जीवति ॥ १८ ॥

अन्वय —(मानवादिना) अरक्षितम् (अपि) दैवरक्षितम् (वस्तु) तिष्ठति, (मानवादिना) सुरक्षितम् (अपि) दैवहतम् (वस्तु) विनश्यति। (एवमेव, मानवादिना) वने विसर्जितः अनाथ अपि जीवति, (तथा मानवादिना) गृहे कृतप्रयत्न अपि न जीवति ॥ १८ ॥

अरक्षितम् = मानवादिना अकृतरक्षणम्, दैवरक्षितम् = भाग्येन कृतरक्षणम्, तिष्ठति = न विनश्यति। दैवहतम् = भाग्येन विनष्टम्, विसर्जितः = त्यक्तः, कृतप्रयत्न =मानवादिना कृतसुरक्षण. ॥

भाग्य जिसकी रक्षा करना चाहे तो दूसरों द्वारा अरक्षित होने पर भी वह बच जाता है, किंतु दूसरों द्वारा बचाने पर भी भाग्य का मारा हुआ नहीं बच सकता। जैसे जंगल में फेंका हुआ अनाथ बच्चा भी जीता रहता है, किन्तु अनेक प्रयत्नों के होने पर भी घर में पड़ा हुआ बालक नहीं जी पाता ॥ १८ ॥

ततो दिनेषु गच्छत्सु संजीवकः स्वेच्छाहारं कृत्वारण्यं भ्राम्यन् हृष्टपुष्टाङ्गो बलवन्ननाद। तस्मिन्वने पिङ्गलकनामा सिंहः स्वभुजोपार्जितराज्यसुखमनुभवन्निवसति। तथा चोक्तम्—

स्वेच्छाहारविहारम् = इच्छापूर्वकभोजनभ्रमणम्, हृष्टपुष्टाङ्ग = पुष्टशरीरः, बलवत् = उच्चस्वरेण, स्वभुजोपार्जितराज्यसुखम्—स्वभुजेन = आत्मभुजबलेन, उपार्जितस्य = प्राप्तस्य, राज्यस्य, सुखं = शर्म, अनुभवन्=प्राप्नुवन् ॥

कुछ दिन बीतने के बाद अपनी इच्छा के अनुसार आहार विहार करने के कारण संजीवक के सभी अंग हृष्ट पुष्ट हो गये और वह अत्यन्त तेज के साथ डकारें भरने लगा। उसी जंगल में पिङ्गलक नाम का एक सिंह अपने पराक्रम से प्राप्त राज्यसुख का अनुभव करता हुआ निवास करता था। जैसे कि कहा भी गया है—

नाभिषेको न संस्कारः सिंहस्य क्रियते मृगैः।
विक्रमार्जितराज्यस्य स्वयमेव मृगेन्द्रता ॥ १९ ॥

अन्वय—मृगैः सिंहस्य अभिषेकः (तथा) संस्कारः न क्रियते, (किन्तु) विक्रमार्जितराज्यस्य (तस्य मृगस्य) मृगेन्द्रता स्वयमेव (भवति) ॥ १९ ॥

अभिषेकः राज्याभिषेकः, संस्कारः = शूरत्वादिगुणयोगः, मृगैः = वन्यपशुभिः विक्रमार्जितराज्यस्य—विक्रमेण=स्वभुजबलेन, अर्जितम् = उपार्जितम्, राज्यम् = साम्राज्यम्, येन स तस्य। स्वयमेव=स्वतः एव, मृगेन्द्रता=मृगराजता ॥

जंगली पशुओं द्वारा सिंह का न तो अभिषेक ही किया जाता है और न संस्कार ही, किन्तु वह अपने पराक्रम से प्राप्त राज्य का स्वयम् राजा बन जाता है ॥ १९ ॥

स चैकदा पिपासाकुलितः पानीयं पातुं यमुनाकच्छमगच्छत्। तेन च तत्र सिंहेनाननुभूतपूर्वकमकालघनगर्जितमिव संजीवकनर्दितमश्रावि। तच्छ्रुत्वा पानीयमपीत्वा सचकितः परिवृत्य स्वस्थानमागत्य किमिदमित्यालोचयंस्तूष्णीं स्थितः। स च तथाविधः करटकदमनकाभ्यामस्य मन्त्रिपुत्राभ्यां दृष्टः। तं तथाविधं दृष्ट्वा दमनकः करटकमाह—'सखे करटक, किमित्ययमुदकार्थी स्वामी पानीयम-

पीत्वा सचकितो मन्दं मन्दमवतिष्ठते।' करटको ब्रूते—'मित्र दमनक, अस्मन्मतेनास्य सेवैव न क्रियते। यदि तथा भवति, तर्हि किमनेन स्वामिचेष्टानिरूपणेनास्माकम्। यतोऽनेन राज्ञा विनापराधेन चिरमवधीरिताभ्यामावाभ्यां महद्दुःखमनुभूतम्।

पिपासाऽऽकुलित = तृष्णया व्याकुलः, पानीयम् = जलम्, यमुनाकच्छम् = यमुनायास्तीरम्, अननुभूतपूर्वकम् = प्रथममश्रुतम्, अकालघनगर्जितम्—अकाले = असमये प्रावृडभावेऽपीति भाव., घनस्य = मेघस्य, गर्जितम् गर्जनम्, सञ्जीवकनर्दितम् = सञ्जीवकस्य गर्जितम्, अश्रावि = श्रुतम्। सचकित = आश्चर्यित., पराबृत्य = परावर्तितो भूत्वा, आलोचयन् = विचारयन्, तूष्णीम् = मौनः सन्, तथाविध. = तादृश, पिपासाऽऽकुलत्वेऽपि सञ्जीवकनर्दितेन अपीतसलिलः, किमिति = कथम्, उदकार्थी = पिपासित., अवतिष्ठते—अत्र 'समवप्रविभ्य. स्थ.' इत्यात्मनेपदम्॥ अस्मन्मतेन = स्वविचारेण, स्वामिचेष्टानिरूपणेन = स्वामिनो भयादिकारणविचारेण, विनापराधेन = अपराध विनैव, चिरम् = चिरकालात्, अवधीरिताभ्याम् = तिरस्कृताभ्याम्, अनुभूतम् = आप्तम्॥

वह सिंह एक बार प्यास से व्याकुल होकर पानी पीने के लिए यमुना नदी के किनारे गया। वहाँ असमय के बादलों की गर्जन के समान सञ्जीवक की आवाज सिंह को सुनाई पड़ी। ऐसी आवाज उसने इसके पहले कभी नहीं सुनी थी। यह सुन कर बिना पानी पिए ही वह चकित होकर लौट पड़ा और अपने स्थान पर आकर, 'यह क्या है' ऐसा सोचता हुआ चुपचाप बैठ गया। उसके मन्त्री के पुत्र करटक और दमनक नाम के दो स्यारों ने उसे इस अवस्था में देखा। उसे इस प्रकार की अवस्था में देखकर दमनक ने करटक से कहा—'मित्र, करटक, पानी चाहनेवाले यह मेरे स्वामी बिना पानी पिए ही क्यों लौटकर इस प्रकार उदासभाव से चुपचाप बैठे हैं?' करटक ने कहा—मित्र दमनक, मेरे विचार से तो यह सेवा करने योग्य ही नहीं है, फिर इस प्रकार हम स्वामी की चेष्टा देखने से हम लोगों का काम भी क्या है? क्योंकि इस राजा के द्वारा बिना किसी अपराध के ही हम दोनों अपमानित होकर बहुत दिनों से कष्ट झेलते चले आ रहे हैं।

सेवया धनमिच्छद्भिः सेवकैः पश्य यत्कृतम्।
स्वातन्त्र्यं यच्छरीरस्य मूढैस्तदपि हारितम्॥ २०॥

अन्वय—(त्वम्) पश्य, सेवया धनम् इच्छद्भिः, सेवकैः यत् कृतम्, शरीरस्य यत् स्वातन्त्र्यम् (आसीत्), तत् अपि मूढैः हारितम्॥ २०॥

सेवया = स्वामिनः सेवनेन, सेवकैः = भृत्यैः, स्वातन्त्र्यम् = स्वतन्त्रता, हारितम् = नाशितम् ॥

सेवा द्वारा धन की अभिलाषा रखने वाले सेवकों ने जो किया, उसे देखो। उन मूर्खों ने उसके लिए अपने शरीर की स्वतन्त्रता भी गँवा दी ॥ २० ॥

अपरं च—

शीतवातातपक्लेशान् सहन्ते यान् पराश्रिताः।
तदंशेनापि मेधावी तपस्तप्त्वा सुखी भवेत् ॥ २१ ॥

अन्वयः—पराऽऽश्रिताः यान् शीतवातातपक्लेशान् सहन्ते, मेधावी तदंशेन अपि तपः तप्त्वा सुखी भवेत् ॥ २१ ॥

शीतवातातपक्लेशान्—शीतश्च = अनुष्णत्वञ्च, वातश्च = वायुश्च, आतपश्च = घर्मश्च इति शीतवातातपाः तेषां क्लेशान् = दुःखानि, पराश्रिताः = पराधीनाः, सेवका इत्यर्थः, तदंशेन = शीतादिजन्यदुःखस्य स्वल्पतमभागेन, मेधावी = बुद्धिमान्, तपस्तप्त्वा = तपस्यां कृत्वा ॥

और भी-दूसरों के अधीन रहनेवाले शीत, वायु तथा धूम आदि के जिन दुःखों को झेलते हैं, उसके अंशमात्र दुःखों को ही सहकर बुद्धिमान् तप करके सुखी हो जाता है ॥२१॥

अन्यच्च—

एतावज्जन्मसाफल्यं यदनायत्तवृत्तिता।
ये पराधीनतां यातास्ते वै जीवन्ति, के मृताः ? ॥ २२ ॥

अन्वयः—यत् (जनस्य) अनायत्तवृत्तिता (भवति), एतावत् जन्मसाफल्यम् (अस्ति), ये (जनाः) पराधीनताम् याताः (सन्ति, यदि) ते जीवन्ति, (तर्हि) के (जनाः) मृताः सन्ति ? ॥ २२ ॥

जन्मसाफल्यम् = जन्मनः सफलता, अनायत्तवृत्तिता = स्वतन्त्रजीवनम्, पराधीनताम् = परतन्त्रताम् = स्वतन्त्रस्यैव जनस्य जन्म सफलमस्ति, पराधीनास्तु जना मृतकतुल्या एवेत्याशयः ॥

और भी-जीविका का दूसरे के अधीन न होना ही इस जन्म की सच्ची सफलता है। यदि पराधीन व्यक्ति को ही जीवित माना जाय तो फिर मरा हुआ किसे कहा जायगा ॥ २२ ॥

अपरञ्च—

एहि गच्छ, पतोत्तिष्ठ, वद, मौनं समाचर।
एवमाशाग्रहग्रस्तैः क्रीडन्ति धनिनोऽर्थिभिः ॥ २३ ॥

अन्वय.—धनिनः (स्वम्) एहि, गच्छ, पत, उत्तिष्ठ, वद, मौनं समाचर, एवम् आशाग्रहग्रस्तैः अर्थिभिः (सह) क्रीडन्ति ॥ २३ ॥

एहि = आगच्छ, पत = पतनं कुरु, मौनं समाचर = तूर्ष्णींभावं गच्छ, आशा ग्रहग्रस्तैः = आशारूपपाशेन बद्धः, अर्थिभिः = अर्थाभिलाषुकैः सेवकैः क्रीडन्ति= खेलन्ति ॥

और भी—आओ, जाओ, बैठो, उठो, बोलो, चुप रहो-इस प्रकार की आज्ञाएँ दे देकर धनी लोग आशारूपी ग्रह से ग्रसित याचकों से अपना मनोविनोद करते रहते हैं ॥ २३ ॥

किं च—

अबुधैरर्थलाभाय पण्यस्त्रीभिरिव स्वयम् ।
आत्मा सस्कृत्य संस्कृत्य परोपकरणीकृतः ॥ २४ ॥

अन्वय—अबुधैः (जनैः) पण्यस्त्रीभिः इव अर्थलाभाय आत्मा संस्कृत्य सस्कृत्य स्वयम् परोपकरणीकृतः ॥ २४ ॥

अबुधैः=मूर्खैः पण्यस्त्रीभिः=वेश्याभिः, आत्मा ··· कृतः=अलङ्कारादि शृङ्गारेण (पक्षे—विद्याज्ञानशौर्यादिना) शरीरं पुनः पुनः मण्डयित्वा ॥

और भी—मूर्खों ने धन के लिए वेश्याओं के समान अपने आप को सजा-सजा कर स्वयं ही उसे दूसरों के कार्य में लगा दिया है ॥ २४ ॥

किं च—

या प्रकृत्यैव चपला निपतत्यशुचावपि ।
स्वामिनो बहु मन्यन्ते दृष्टिं तामपि सेवकाः ॥ २५ ॥

अन्वय—(स्वामिनः=प्रभोः) प्रकृत्या एव चपला या दृष्टिः अशुचौ अपि निपतति, सेवकाः स्वामिनः ताम् अपि बहु मन्यन्ते ॥ २५ ॥

प्रकृत्यैव = स्वभावेनैव, अशुचौ अपि निपतति = अपवित्रमपि पश्यति, बहु, मन्यन्ते=स्वामी मयि कृपादृष्टिं करोति इति मत्वा सेवकाः कृतार्था भवन्ति ॥

और भी—सेवक लोग स्वभाव से ही चचल एवं अपवित्र स्थान में पड़नेवाली स्वामी की दृष्टि को भी बहुत बड़ी वस्तु समझते हैं ॥ २५ ॥

अपर च—

मौनान्मूर्खः प्रवचनपटुर्वातुलो जल्पको वा
क्षान्त्या भीरुर्यदि न सहते प्रायशो नाभिजातः ।
धृष्टः पार्श्वे वसति नियतं दूरतश्चाप्रगल्भः
सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः ॥ २६ ॥

अन्वय —(स्वामिना सेवक) मौनात् मूर्खः (अस्तीति गण्यते, एवं सर्वत्र योज्यम्), प्रवचनपटुः वातुल वा जल्पक, क्षान्त्या भीरुः, यदि न सहते (तदा) प्रायशः नाभिजात, नियतम् पार्श्वे वसति (तदा) धृष्टः, च दूरतः (वसति तदा) अप्रगल्भः; (एवम्) परमगहनः सेवाधर्मः योगिनाम् अपि अगम्य (अस्ति) ॥ २६ ॥

मौनात् = तूष्णीम्भावात् , प्रवचनपटुः = अधिककथने चतुरः, वातुल = वाचाल. (बातूनी), जल्पक = कुत्साऽधिकवक्ता (बकवादी), क्षान्त्या = क्षमया, भीरु. = भययुक्त. (डरपोक), नाभिजात = अकुलीन , अप्रगल्भः = लज्जाशीलः, परमगहन. = अतिकठिनः, योगिनामपि = योगिवद्विकसहनशीला नामपि, अतीन्द्रिय पश्यतामपि, अगम्य.=सेवनेऽतिकठिनः, अज्ञेयश्च, पादत्रयोक्त कारणै. अतिकठिनं सेवाधर्मं परमसहिष्णवोऽपि सेवका निवोढु न शक्नुव न्तीति भाव ॥

और भी—यदि सेवक चुप रहे तो स्वामी उसे मूर्ख, बात करने में चतुर हो तो बातूनी, सहनशील हो तो डरपोक, असहनशील हो तो अकुलीन, नित्य स्वामी के पास रहे तो ढीठ और दूर रहे तो कायर समझते हैं। इसलिए, सेवाधर्म अत्यन्त कठिन होता है जिसकी साधना योगियों के लिए भी दु साध्य होती है ॥ २६ ॥

विशेषतश्च—

प्रणमत्युन्नतिहेतोर्जीवितहेतोर्विमुञ्चति प्राणान् ।
दु खीयति सुखहेतो. को मूढ सेवकादन्यः २७ ॥

अन्वय —सेवकात् अन्यः कः मूढ. उन्नतिहेतोः प्रणमति, जीवितहेतोः प्राणान् विमुञ्चति, सुखहेतो. दु खीयति ॥ २७ ॥

सेवकात् अन्य =सेवक विना, उन्नतिहेतो =उन्नत्यर्थम् , पक्षे-उच्चैर्भवितुम् , प्रणमति = नमस्करोति, पक्षे०—नम्रो भवति, जीवितहेतो. = जीवितुम् , प्राणान् विमुञ्चति = म्रियते, सुखहेतो. = सुखलाभाय, दु खीयति । सेवक एव स्वोन्नत्यै स्वामिन प्रणमति, जीवितु स्वाम्यर्थं प्राणत्यागमपि करोति तथा सुखप्राप्तये अनेक· दु.खानि सहते, नान्य इत्यर्थ ॥

विशेष करके—सेवक अपनी उन्नति के लिये झुकता है, जीवित रहने के लिये मरता और सुख पाने के लिए दु ख उठाता है, अत उससे बढकर और कौन दूसरा मूर्ख हो सकता है ॥ २७ ॥

दमनको ब्रूते—'मित्र सर्वथा मनसापि नैतत्कर्तव्यम् । यत'—
दमनक ने कहा—मित्र, मन से भी कभी ऐसा नहीं करना चाहिए । क्योंकि—

कथं नाम न सेव्यन्ते यत्नतः परमेश्वराः ।
अचिरेणैव ये तुष्टाः पूरयन्ति मनोरथान् ॥ २८ ॥

अन्वय—तुष्टा ये अचिरेण एव (सेवकानाम्) मनोरथान् पूरयन्ति, (ते) परमेश्वरा. सेवकैः कथं नाम यत्नत. न सेव्यन्ते ॥ २८ ॥

कथं नाम=कस्मात्कारणात् , यत्नतः=प्रयत्नपूर्वकम्, परमेश्वराः = स्वामिनः, तुष्टा.=सन्तुष्टा. ॥

उन स्वामियों की सेवा अत्यन्त यत्न के साथ क्यों नहीं करनी चाहिए, जो प्रसन्न हो कर शीघ्र ही सारी अभिलाषाओं को पूरी कर देते हैं ॥ २८ ॥

अन्यच्च पश्य—

कुतः सेवाविहीनानां चामरोद्धूतसंपदः ।
उद्दण्डधवलच्छत्रं वाजिवारणवाहिनी ॥ २९ ॥

अन्वय.—सेवाविहीनानाम् (सेवकजनानाम्), चामरोद्धूतसम्पद. उद्दण्डधवल-च्छत्रम् वाजिवारणवाहिनी च कुत. (प्राप्यते) ? ॥ २९ ॥

सेवाविहीनानाम् = स्वामिसेवनमकुर्वताम्, चामरोद्धूतसम्पदः—चामरेण उद्धूताश्च ताः सम्पदश्च=चामरसञ्चालनसूचितधनानि, उद्दण्डधवलच्छत्रम्= उत् = ऊर्ध्वं दण्ड यस्य तत् उद्दण्डम्, तच्च तत् धवलं=शुभ्रम् छत्रञ्च = राजत्वसूचकोर्ध्वीकृतशुभ्रातपत्रम् , वाजिवारणवाहिनी—वाजिनाम्=अश्वानाम् वारणानाम्= हस्तिनां च वाहिनी=सेना ॥

और भी देखो—सेवा न करनेवाले सेवकों को भला चामरयुक्त लक्ष्मी, लम्बी डंडी वाला छत्र, घोडे और हाथियों से युक्त सेना कैसे प्राप्त हो सकती है ? ॥ २९ ॥

करटको ब्रूते—'तथापि किमनेनास्माकं व्यापारेण । यतोऽव्यापारेषु व्यापार. सर्वथा परिहरणीयः । पश्य—

तथापि=स्वामिसेवायाः कर्तव्यत्वेऽपि, व्यापारेण = कार्येण, परिहरणीय.= त्याज्य. ॥

करटक ने कहा—'फिर भी हमलोगों को इस कार्य (स्वामी का ध्यान रखना) से क्या काम ! क्योंकि अकरणीय कार्यों में व्यर्थ की उधेड़बुन करने से सदा बचना चाहिए । देखो—

'अव्यापारेषु व्यापारं यो नरः कर्तुमिच्छति ।
स भूमौ निहतः शेते कीलोत्पाटीव वानर.' ॥ ३० ॥

अन्वयः—यो नरः अव्यापारेषु व्यापार कर्तुम् इच्छति, स (नरः) कीलोत्पाटी वानरः इव निहतः (सन्) शेते ॥ ३० ॥

अव्यापारेषु=अकार्येषु, स शेते=मृतः सन् भूमौ तिष्ठति। कीलोत्पाटी—कीलस्य=शंकोः, उत्पाटी=उत्पाटनकर्ता ॥

जो मनुष्य अकरणीय कार्यों के करने में अपने आपको लगाने की इच्छा करता है वह कील उखाड़ने वाले वानर के समान घायल होकर मर जाता है ॥ ३० ॥

दमनक पृच्छति—'कथमेतत्' करटकः कथयति—

दमनक ने पूछा—यह कैसे ? करटक ने कहा—

कथा १

अस्ति मगधदेशे धर्मारण्यसंनिहितवसुधायां शुभदत्तनाम्ना कायस्थेन, विहारः कर्तुमारब्धः। तत्र करपत्रदार्यमाणैकस्तम्भस्य कियद्दूरस्फाटितस्य काष्ठखण्डद्वयमध्ये कीलकः सूत्रधारेण निहितः। तत्र बलवान् वानरयूथः क्रीडन्नागतः। एको वानरः कालप्रेरित इव तं कीलकं हस्ताभ्यां धृत्वोपविष्टः। तत्र तस्य मुष्कद्वयं लम्बमानं काष्ठखण्डद्वयाऽभ्यन्तरे प्रविष्टम्। अनन्तरं स च सहजचपलतया महता प्रयत्नेन तं कीलकमाकृष्टवान्। आकृष्टे च कीलके चूर्णिताण्डद्वयः पञ्चत्वं गतः। अतोऽहं ब्रवीमि-'अव्यापारेषु व्यापारम्' इत्यादि। दमनको ब्रूते—'तथापि स्वामिचेष्टानिरूपणं सेवकेनावश्यं करणीयम्।' करटको ब्रूते—सर्वस्मिन्नधिकारे य एव नियुक्तः प्रधानमन्त्री स करोतु। यतोऽनुजीविना पराधिकारचर्चा सर्वथा न कर्तव्या। पश्य—

मगधदेशे—एतन्नामकजनपदे (पटना गया आदि के प्रान्त को 'मगध' कहते हैं), धर्मारण्यसंनिहितवसुधायाम् = धर्मारण्यस्य निकटस्थभूमौ, विहारः= बौद्धभिक्षुकाणां निवासार्थं भवनम्, करपत्रदार्यमाणैकस्तम्भस्य—करपत्रेण = काष्ठविदारकास्त्रविशेषेण ('करौत, आरा' इति भाषायाम्), विदार्यमाणस्य=द्विधा क्रियमाणस्य, एकस्य = अन्यतमस्य, स्तम्भस्य = काष्ठविशेषस्य, कियद्दूरस्फाटितस्य = स्वल्पं विदारितस्य, काष्ठखण्डद्वयमध्ये = द्वयोः काष्ठखण्डयोर्मध्यभागे कीलकः = शङ्कुः, सूत्रधारेण = काष्ठविदारकेण वार्द्धकिना (बढ़ई), निहितः = स्थापितः। बलवान् = महान्, वानरयूथः=वानरसमूहः, कालप्रेरितः = मृत्युप्रेरितः, तस्य = वानरस्य, मुष्कद्वयम् = द्वौ अण्डकोषौ, काष्ठखण्डद्वयाऽभ्यन्तरे =

विदार्यमाणकाष्ठखण्डयोर्मध्यभागे। अनन्तरम् = काष्ठखण्डद्वयमध्येऽण्डकोषद्वय प्रवेशान्ते, सहजचपलतया = स्वाभाविकचञ्चलतया, आकृष्टवान् = उत्पाटितवान् (खींचा, उखाड़ा)। चूर्णिताण्डद्वय:—चूर्णित = चूर्णीभूतम्, अण्डयोः = मुष्कयोः, द्वयम् = युगलं यस्य सः। पञ्चत्वं गतः = मृतः। तथापि = अव्यापारेषु व्यापारकरणस्यानौचित्येऽपि, स्वामिचेष्टानिरूपणम् = प्रभोश्चेष्टाया निर्णयः, अनुजीविना = सेवकेन, पराधिकारचर्चा = अन्याधिकारसम्बद्धः वार्तालापः, सर्वथा = सर्वप्रकारेण॥

मगध देश में धर्मारण्य के समीप ही किसी स्थान पर शुभदत्त नाम का एक कायस्थ विहार (बौद्धमठ) बनवा रहा था। वहाँ आरे से चीरे गये कुछ दूर तक फटे हुए लकड़ी के एक खम्भे की दोनों फाँकों के बीच में बढ़ई ने एक कील गाड़ दी थी। एक दिन वहां बन्दरों का एक बहुत बड़ा झुण्ड खेलता कूदता हुआ पहुंचा। काल से प्रेरित होकर उनमें से एक बन्दर उस कील को पकड़ कर बैठ गया। वहाँ उसके लटकते हुए अण्डकोश भी फटे हुए काठ के बीच में चले गए। इसके बाद उसने अपनी स्वाभाविक चपलता के कारण बड़े परिश्रम से उस कील को खींच लिया। कील के निकल जाने पर उसके दोनों अण्डकोश उसी में पिस उठे, जिससे उसकी मृत्यु हो गयी। इसीलिए मैं कह रहा हूँ कि 'अव्यापार में जो व्यापार करता है' इत्यादि। दमनक ने कहा—'फिर भी सेवक को स्वामी की चेष्टाओं पर अवश्य ध्यान रखना चाहिए।' करटक ने कहा—'जिसे सभी अधिकार दिए हैं, वह प्रधान मन्त्री करे। क्योंकि सेवक को दूसरे के अधिकार की चर्चा भी कभी नहीं करना चाहिये। देखो—

पराधिकारचर्चां यः कुर्यात्स्वामिहितेच्छया।
स विषीदति चीत्काराद् गर्दभस्ताडितो यथा' ॥ ३१॥

अन्वय—यः (सेवकः) स्वामिहितेच्छया पराधिकारचर्चाम् कुर्यात्, चीत्कारात् ताडितः गर्दभः यथा सः विषीदति ॥ ३१॥

पराधिकारचर्चाम् = अन्याधिकारसम्बद्धां वार्ताम्, कुर्यात् = करोति, स्वामिहितेच्छया = प्रभोः हिताभिलाषेण, विषीदति = विषादं करोति, चीत्कारात् = चीत्कारकरणात् (चिल्लानेसे), गर्दभः = रासभः, यथा = इव॥

जो सेवक स्वामी की भलाई के लिए दूसरे व्यक्ति के अधिकार की चर्चा करता है, वह उसी प्रकार दुखी होता है जैसे चिल्लाने के कारण पिटा हुआ गदहा हुआ था॥ ३१॥

दमनकः पृच्छति—'कथमेतत्'? करटको ब्रूते—

दमनक ने पूछा—'यह कैसे?' करटक ने कहा—

कथा २

अस्ति वाराणस्यां कर्पूरपटको नाम रजकः। स रात्रौ गाढनिद्रायां प्रसुप्तः। तदनन्तरं तद्गृहद्रव्याणि हर्तुं चौरः प्रविष्टः। तस्य प्राङ्गणे गर्दभो बद्धस्तिष्ठति। कुक्कुरश्चोपविष्टोऽस्ति। अथ गर्दभः श्वानमाह—'सखे, भवतस्तावदयं व्यापारः। तत्किमिति त्वमुच्चैः शब्दं कृत्वा स्वामिनं न जागरयसि।' कुक्कुरो ब्रूते—'भद्र, मम नियोगस्य चर्चा त्वया न कर्तव्या। त्वमेव किं न जानासि यथा तस्याहर्निशं गृहरक्षां करोमि। यतोऽयं चिरान्निर्वृत्तो ममोपयोगं न जानाति। तेनाधुनापि ममाहारदाने मन्दादरः। यतो विना विधुरदर्शनं स्वामिन उपजीविषु मन्दादरा भवन्ति। गर्दभो ब्रूते—'शृणु रे बर्बर,

वाराणस्याम् = काश्याम्, रजक = धावकः (धोबी), प्रसुप्तः = सुप्तवान्॥ तदनन्तरम् = रजकस्य शयनानन्तरम्, हर्तुम् = चोरयितुम्। किमिति = कथम्, नियोगस्य = कर्तव्यस्य, अहर्निशम् = अहोरात्रम्, निर्वृतः = चौरादिभयरहितः; निश्चिन्त इत्यर्थः, अधुना = इदानीम् 'एतर्हि सम्प्रतीदानीमधुना साम्प्रतं तथा।' इत्यमरः। आहारदाने = भोजनदाने, मन्दादरः=शिथिलादरः, विना विधुरदर्शनम्= दुःखमनवलोक्य, उपजीविषु = भृत्येषु, बर्बर = धूर्त, नीचेत्यर्थः॥

वाराणसी में कर्पूरपटक नाम का एक धोबी था। वह रात में गहरी नींद में सो गया। इसके पश्चात् उसके घर का सामान चुराने के लिये वहाँ चोर घुस आए। उसके आँगन में गदहा बँधा हुआ था और कुत्ता बैठा हुआ था। गदहे ने कुत्ते से कहा—'मित्र, यह तुम्हारा काम है। इसलिए जोर से शब्द करके स्वामी को क्यों नहीं जगा रहे हो?' कुत्ते ने कहा—'भाई मेरे अधिकार की चर्चा तुम्हें नहीं करनी चाहिए। क्या तुम नहीं जानते हो कि मैं रात दिन उनके घर की रखवाली करता रहता हूँ। इसी से वह इससे छुटकारा पाकर मेरी आवश्यकता नहीं समझता। और अब मुझे भोजन देने में भी लापरवाह होगया है। क्योंकि बिना नुकसान देखे स्वामी लोग सेवकों की ओर ध्यान नहीं देते।' गदहे ने कहा—'अरे जगली सुन तो सही—

याचते कार्यकाले यः स किंभृत्यः स किंसुहृत्।'

कुक्कुरो ब्रूते—

'भृत्यान्संभाषयेद्यस्तु कार्यकाले स किंप्रभुः॥ ३२॥

अन्वयः—यः (भृत्यः सुहृद्वा) कार्यकाले याचते सः किम्भृत्यः (च) किंसुहृद् अस्ति। यः (प्रभुः) तु कार्यकाले भृत्यान् सम्भाषयेत्, सः किम्प्रभुः अस्ति॥ ३२॥

कार्यकाले=कार्यस्य समये, याचते=अर्थयते, किम्भृत्यः=निन्दितः भृत्यः, किंसुहृद्=कुत्सित मित्रम्, सम्भाषयेत्=भाषणं कुर्यात्, सर्वत्र 'किं क्षेपे' इति समासः॥

'जो सेवक या मित्र कार्य के समय स्वामी या मित्र से कुछ मांगता है वह अच्छा मित्र या सेवक नहीं है।

कुत्ते ने कहा—

'और काम पड़ने पर ही सेवक से बात करे, वह स्वामी भी तो अच्छा नहीं कहा जा सकता'॥ ३२॥

यतः—

आश्रितानां भृतौ स्वामिसेवायां धर्मसेवने।
पुत्रस्योत्पादने चैव न सन्ति प्रतिहस्तकाः॥

अन्वयः—आश्रितानाम् भृतौ स्वामिसेवायाम् धर्मसेवने च पुत्रस्योत्पादने एव प्रतिहस्तकाः न सन्ति॥ ३३॥

आश्रितानाम्=आश्रयवताम्, भृतौ=पालने, स्वामिसेवायाम्=स्वामिसेवने, प्रतिहस्तकाः=प्रतिनिधयः। एतानि कार्याणि स्वयमेव कर्तव्यानि, न तु प्रतिनिधिद्वारेणेत्यर्थः।

क्योंकि—अपने अधीन लोगों की रक्षा करने, स्वामी की सेवा करने, धर्म का कार्य करने एवं सन्तान उत्पन्न करने में कोई किसी का प्रतिनिधि नहीं बन सकता है। अर्थात् ये कार्य अपने ही द्वारा सम्पन्न होते हैं॥ ३३॥

ततो गर्दभः सकोपमाह—'अरे दुष्टमते, पापीयाँस्त्वं यद्विपत्तौ स्वामिकार्ये उपेक्षां करोषि। भवतु तावत्। यथा स्वामी जागरिष्यति, तन्मया कर्तव्यम्। यतः—

सकोपम्—कोपेन सहितं यथा स्यात्तथा=क्रोधसहितम्, क्रियाविशेषणमिदम्, आह=अब्रवीत् 'ब्रुवः पञ्चानामादित आहो ब्रुवः', इति ब्रुवधातोराहादेशस्तिपः णलादेशश्च। पापीयान्—अतिशयेन पापः पापीयान् पापशब्दादीयसुन् प्रत्ययः= महापापीत्यर्थः, उपेक्षाम्=अवज्ञाम्। यथा=येन प्रकारेण, जागरिष्यति=जागरणं ॥ कार्यम्, कर्तव्यम्=करणीयम्॥

तब गदहे ने क्रोध के साथ कहा—'अरे दुष्ट, तू तो बहुत ही पापी है। स्वामी के कार्य में ध्यान नहीं देता है। अच्छा, जो हो। मैं वही उपाय करूँगा जिससे स्वामी जाग जायें। क्योंकि—

'पृष्ठतः सेवयेदर्कं जठरेण हुताशनम्।
स्वामिनं सर्वभावेन परलोकममायया'॥

अन्वयः—(जनः) अर्कम् पृष्ठतः, हुताशनम् जठरेण, स्वामिनं सर्वभावेन (तथा) परलोकम् अमायया सेवयेत्॥ ३४॥

अर्कम्=सूर्यम्, पृष्ठतः=पृष्ठभागेन, हुताशनम्—हुतमश्नातीति हुताशन स्तम्=अग्निम्, जठरेण=आभिमुख्येन, सर्वभावेन=सर्वप्रकारेण, परलोकम्=स्वर्गम्, अमायया=निष्कपटतया, सेवयेत्=इत्यस्य सर्वत्रान्वयः॥

सूर्य का सेवन पीठ देकर करना चाहिए, (सूर्य की ओर पीठ कर धूप लेनी चाहिए), अग्नि का सेवन पेट द्वारा करना चाहिए (आग सामने करके तापना चाहिए), स्वामी की सेवा सभी प्रकार से करनी चाहिए और परलोक का सेवन माया छोड़ कर करना चाहिए'॥ ३४॥

इत्युक्त्वातीव चीत्कारशब्दं कृतवान्। ततः स रजकस्तेन चीत्कारेण प्रबुद्धो निद्राभङ्गकोपादुत्थाय गर्दभं लगुडेन ताडयामास। तेनासौ पञ्चत्वमगमत्। अतोऽहं ब्रवीमि—'पराधिकारचर्चाम्' इत्यादि। पश्य। पशूनामन्वेषणमेवास्मन्नियोगः। स्वनियोगचर्चा क्रियताम्। (विमृश्य।) 'किंत्वद्य तया चर्चया न प्रयोजनम्। यत आवयोर्भक्षितशेषाहारः प्रचुरोऽस्ति।' दमनकः सरोषमाह—'कथमाहारार्थी भवान् केवलं राजानं सेवते। एतदयुक्तमुक्तं त्वया। यतः—

अतीव=उच्चस्वरेण, पुनःपुनर्वा, चीत्कार०=चीत्कृतवान्। प्रबुद्धः=जागरितः, निद्राभङ्गकोपात्—निद्राया भङ्गेन यः कोपस्तस्मात्=जागरणजन्यक्रोधात्, लगुडेन=वधदण्डेन ('लाठी'), तेन लगुडताडनेन, असौ=गर्दभः, पञ्चत्वमगमत्=मृतः। अन्वेषणम्=अनुसन्धानम्, अस्मन्नियोगः=अस्माकमधिकृतं कार्यम् (ड्यूटी)। आवयोः=मम तव च, भक्षितशेषाहारः=भुक्तावशिष्टं भोज्यम्, प्रचुरः=पर्याप्तः (काफी) आहारार्थी=भोजनाभिलाषुकः। अयुक्तम्=अनुचितम्॥

ऐसा कहकर वह अत्यंत जोर से शब्द करना प्रारम्भ किया जिससे वह धोबी उस रेंकने से जाग पड़ा और नींद टूट जाने के कारण क्रोध से उठकर गदहे को डंडे से पीटने लगा, जिससे वह मर गया। इसी लिए मैं कह रहा हूँ कि दूसरे व्यक्ति के अधिकार की चर्चा, आदि। पशुओं की टोह लगाना ही हम लोगों का काम है। अपने काम की बात करो। (विचार करके) किन्तु आज हमें उनकी चर्चा की भी कोई आवश्यकता नहीं है। क्योंकि हम लोगों के खाने से बचा हुआ भोजन अभी पर्याप्त है।' दमनक ने क्रोध के साथ कहा—'क्या तुम केवल भोजन पाने के लिए ही राजा की सेवा करते हो। यह तो तुमने अनुचित कहा है। क्योंकि—

सुहृदामुपकारकारणाद्
द्विषतामप्यपकारकारणात्।
नृपसंश्रय इष्यते बुधै-
र्जठरं को न बिभर्ति केवलम्॥ ३५॥

अन्वय.—सुहृदाम् उपकारकारणात्, द्विषताम् = शत्रूणाम् अपि अपकारकारणात् बुधैः नृपसंश्रयः इष्यते, कः (जनः) केवलम् जठरम् न बिभर्ति॥ ३५॥

सुहृदाम् = मित्राणाम्, उपकारकारणात् = उपकाराय, द्विषताम् = शत्रूणाम्, अपकारकारणात्=अपकाराय हानये इत्यर्थः, बुधैः=विद्वद्भिः, नृपसंश्रयः = राजाश्रयणम्, राजसेवेत्यर्थः, इष्यते = अभिलष्यते। जठरम् = उदरम्, बिभर्ति = पूरयति॥

बुद्धिमान् लोग मित्रों का उपकार एवं शत्रुओं का विनाश करने के लिए ही राजा की सेवा करते हैं। वैसे अपना पेट कौन नहीं भर लेता॥ ३५॥

जीविते यस्य जीवन्ति विप्रा मित्राणि बान्धवाः।
सफलं जीवितं तस्य आत्मार्थे को न जीवति॥ ३६॥

अन्वय.—यस्य जीविते विप्राः, मित्राणि, बान्धवाः (च) जीवन्ति, तस्य जीवितम् सफलम् (अस्ति), आत्मार्थे कः (नरः) न जीवति॥ ३६॥

यस्य = मनुष्यस्य, जीविते = जीवने, यस्मिन् जीवति सति इत्याशयः, विप्राः= ब्राह्मणाः, बान्धवाः=भ्रात्रादिपरिवारः, सफलम् = सार्थकम्, आत्मार्थे=स्वार्थे॥

जिसके जीवित रहने से ब्राह्मण, मित्र और भाई बन्धु जीवित रहें, उसी का जीवन सफल है। यों अपने लिए तो सभी जीवित रहते हैं॥ ३६॥

अपि च—

यस्मिञ्जीवति जीवन्ति बहवः स तु जीवतु।
काकोऽपि किं न कुरुते चञ्च्वा स्वोदरपूरणम्॥ ३७॥

तब गदहे ने क्रोध के साथ कहा—'अरे दुष्ट, तू तो बहुत ही पापी है। स्वामी के कार्य में ध्यान नहीं देता है। अच्छा, जो हो। मैं वही उपाय करूँगा जिससे स्वामी जाग जायें। क्योंकि—

'पृष्ठतः सेवयेदर्कं जठरेण हुताशनम्।
स्वामिनं सर्वभावेन परलोकममायया' ॥

अन्वय.—(जनः) अर्कम् पृष्ठतः, हुताशनम् जठरेण, स्वामिनं सर्वभावेन (तथा) परलोकम् अमायया सेवयेत् ॥ २४ ॥

अर्कम्=सूर्यम् , पृष्ठतः = पृष्ठभागेन, हुताशनम्—हुतमश्नातीति हुताशन एतम् = अग्निम्, जठरेण = आभिमुख्येन, सर्वभावेन = सर्वप्रकारेण, परलोकम्= स्वर्गम्, अमायया=निष्कपटतया, सेवयेत्=इत्यस्य सर्वत्रान्वयः ॥

सूर्य का सेवन पीठ देकर करना चाहिए, (सूर्य की ओर पीठ कर धूप लेनी चाहिए), अग्नि का सेवन पेट द्वारा करना चाहिए (आग सामने करके तापना चाहिए), स्वामी की सेवा सभी प्रकार से करनी चाहिए और परलोक का सेवन माया छोड़ कर करना चाहिए' ॥ २४ ॥

इत्युक्त्वातीव चीत्कारशब्दं कृतवान्। ततः स रजकस्तेन चीत्कारेण प्रबुद्धो निद्राभङ्गकोपादुत्थाय गर्दभं लगुडेन ताडयामास। तेनासौ पञ्चत्वमगमत्। अतोऽहं ब्रवीमि—'पराधिकारचर्चाम्' इत्यादि। पश्य। पशूनामन्वेषणमेवास्मन्नियोगः। स्वनियोगचर्चा क्रियताम्। (विमृश्य।) 'किंत्वद्य तया चर्चया न प्रयोजनम्। यत आवयोर्भक्षितशेषाहारः प्रचुरोऽस्ति।' दमनकः सरोषमाह—'कथमाहारार्थी भवान् केवलं राजानं सेवते। एतदयुक्तमुक्तं त्वया। यतः—

अतीव = उच्चस्वरेण, पुनःपुनर्वा, चीत्कार० = चीत्कृतवान्। प्रबुद्धः = जागरितः, निद्राभङ्गकोपात्—निद्राया भङ्गेन यः कोपस्तस्मात् = जागरणजन्यकोपात्, लगुडेन = यष्टिदण्डेन ('लाठी'), तेन लगुडताडनेन, असौ = गर्दभः, पञ्चत्वमगमत् = मृतः। अन्वेषणम् = अनुसन्धानम् , अस्मन्नियोगः = अस्माकमधिकृतकार्यम् (ड्यूटी)। आवयोः = मम तव च, भक्षितशेषाहारः = भुक्तावशिष्टभोज्यम्, प्रचुरः = पर्याप्तः (काफी) आहारार्थी = भोजनाभिलाषुकः। अयुक्तम् =अनुचितम् ॥

ऐसा कहकर वह अत्यंत जोर से शब्द करना प्रारम्भ किया जिससे वह धोबी उस रेकने से जाग पड़ा और नींद टूट जाने के कारण क्रोध से उठकर गदहे को डंडे से पीटने लगा, जिससे वह मर गया। इसी लिए मैं कह रहा हूँ कि दूसरे व्यक्ति के अधिकार की चर्चा, आदि। पशुओं की टोह लगाना ही हम लोगों का काम है। अपने काम की बात करो। (विचार करके) किन्तु आज हमें उनकी चर्चा की भी कोई आवश्यकता नहीं है। क्योंकि हम लोगों के खाने से बचा हुआ भोजन अभी पर्याप्त है।' दमनक ने क्रोध के साथ कहा—'क्या तुम केवल भोजन पाने के लिए ही राजा की सेवा करते हो। यह तो तुमने अनुचित कहा है। क्योंकि—

सुहृदामुपकारकारणाद्
द्विषतामप्यपकारकारणात्।
नृपसंश्रय इष्यते बुधै-
र्जठरं को न बिभर्ति केवलम्॥ ३५॥

अन्वय.—सुहृदाम् उपकारकारणात्, द्विषताम् = शत्रूणाम् अपि अपकारकारणात् बुधैः नृपसंश्रयः इष्यते, कः (जनः) केवलम् जठरम् न बिभर्ति॥ ३५॥

सुहृदाम् = मित्राणाम्, उपकारकारणात् = उपकाराय, द्विषताम् = शत्रूणाम्, अपकारकारणात्=अपकाराय हानये इत्यर्थं, बुधैः =विद्वद्भिः, नृपसंश्रयः = राजाश्रयणम्, राजसेवेत्यर्थः, इष्यते = अभिलष्यते। जठरम् = उदरम्, बिभर्ति = पूरयति॥

बुद्धिमान् लोग मित्रों का उपकार एवं शत्रुओं का विनाश करने के लिए ही राजा की सेवा करते हैं। वैसे अपना पेट कौन नहीं भर लेता॥ ३५॥

जीविते यस्य जीवन्ति विप्रा मित्राणि बान्धवा।
सफलं जीवितं तस्य आत्मार्थे को न जीवति॥ ३६॥

अन्वय.—यस्य जीविते विप्रा, मित्राणि, बान्धवा (च) जीवन्ति, तस्य जीवितम् सफलम् (अस्ति), आत्मार्थे कः (नरः) न जीवति॥ ३६॥

यस्य = मनुष्यस्य, जीविते = जीवने, यस्मिन् जीवति सति इत्याशयः, विप्राः= ब्राह्मणाः, बान्धवाः=भ्रात्रादिपरिवारः, सफलम् = सार्थकम्, आत्मार्थे=स्वार्थे॥

जिसके जीवित रहने से ब्राह्मण, मित्र और भाई बन्धु जीवित रहें, उसी का जीवन सफल है। यों अपने लिए तो सभी जीवित रहते हैं॥ ३६॥

अपि च—

यस्मिञ्जीवति जीवन्ति बहवः स तु जीवतु।
काकोऽपि किं न कुरुते चञ्च्वा स्वोदरपूरणम्॥ ३७॥

अन्वयः—यस्मिन् (जने) जीवति (सति) बहवः (जनाः) जीवन्ति, सः तु जीवतु । काकः अपि चञ्च्वा स्वोदरपूरणम् न कुरुते किम् ? ॥ ३७ ॥

बहवः=अनेके जनाः, काकः = वायसः, चञ्च्वा = त्रोट्या 'चञ्चुस्त्रोटिरुमे स्त्रियौ' इत्यमरः । स्वोदरपूरणम् = स्वजठरपूर्तिम् ॥

और भी—जिसके जीवित रहने पर, बहुत से लोग जीवित रहते हैं, सचमुच वही जीवित रहता है । नहीं तो कौवा भी क्या अपनी चोंचसे अपना पेट नहीं भर लेता है ? ॥ ३७ ॥

पश्य—

पञ्चभिर्याति दासत्व पुराणैः कोऽपि मानव ।
कोऽपि लक्षैः कृती कोऽपि लक्षैरपि न लभ्यते ॥ ३८ ॥

अन्वय —कः अपि मानवः पञ्चभिः पुराणै. दासत्वम् याति, कः अपि लक्षैः कृती (भवति), क. अपि लक्षै' न लभ्यते ॥ ३८ ॥

कोऽपि=कश्चित् , पुराणै. = पणै' (अशीतिवराटिकाणामेक. पणो भवति— पैसा), दासत्व याति = भृत्यो भवति, लक्षैः = शतसहस्रपणैर्मुद्राभिर्वा, कृती = कृतार्थः ॥

देखो—कोई मनुष्य पाँच पैसे पर ही गुलाम बन जाता है कोई लाखों पैसे पर, किन्तु कोई कोई लाखों पर भी नहीं प्राप्त होता अर्थात् गुलामी नहीं स्वीकार करता ॥ ३८ ॥

अन्यच्च—

मनुष्यजातौ तुल्यायां भृत्यत्वमतिगर्हितम् ।
प्रथमो यो न तत्रापि स किं जीवत्सु गण्यते ॥ ३९ ॥

अन्वय —मनुष्यजातौ तुल्यायाम् भृत्यत्वम् अतिगर्हितम् (अस्ति), तत्र अपि य. (भृत्य.) प्रथम. न (भवति), स' जीवत्सु गण्यते किम् ? ॥ ३९ ॥

मनुष्यजातौ = मनुष्यत्वे, भृत्यत्वम् = दासत्वम् , अतिगर्हितम् = अतिशयेन निन्दितम् , तत्रापि तस्मिन् भृत्यत्वेऽपि, यः = भृत्य', प्रथमः = मुख्यः, भृत्येषु प्रधानम् इत्यर्थ , जीवत्सु = प्राणान् धारयत्सु ॥

और भी—मनुष्य जाति में अपने समान व्यक्ति की नौकरी करना अत्यत निन्दनीय है । ऐसी दशा में सेवक होकर भी सेवा में सर्वप्रथम नहीं हुआ, क्या उसकी गणना जीवितों में की जा सकती है ? ॥ ३९ ॥

तथा चोक्तम्—

वाजिवारणलोहाना काष्ठपाषाणवाससाम् ।
नारीपुरुषतोयानामन्तरं महदन्तरम् ॥ ४० ॥

अन्वयः—वाजिवारणलोहानाम् काष्ठपाषाणवाससाम् नारीपुरुषतोयानाम् (पारस्परिकम्) अन्तरम् महत् अन्तरम् (भवति) ॥ ४० ॥

वाजिवारणलोहानाम् = अश्वगजायसानाम्, काष्ठपाषाणवाससाम् = दारुशिलावस्त्राणाम्, नारीपुरुषतोयानाम् = स्त्रीपुरुषजलानाम्, अन्तरम् = भेदः। अश्वादिषु परस्पर महान् भेदो भवति, नैव सर्वेऽपि समानरूपा भवन्तीत्याशयः॥

जैसे कहा भी गया है—घोड़ा, हाथी, लोहा, लकड़ी, पत्थर, कपड़ा, नारी-पुरुष और जल में महान अन्तर होता है ॥ ४० ॥

तथाहि। स्वल्पमप्यतिरिच्यते—

स्वल्पमपि = पूर्वोक्तास्वादीनां साधारणमप्यन्तरम्, अतिरिच्यते = स्वचित् महत्त्वाधायक भवति ॥

फिर भी कभी कभी छोटी वस्तु भी बड़ी मानी जाती है।

स्वल्पस्नायुवसावशेषमलिनं निर्मांसमप्यस्थिकं
श्वा लब्ध्वा परितोषमेति न भवेत्तस्य क्षुधः शान्तये।
सिंहो जम्बुकमङ्कमागतमपि त्यक्त्वा निहन्ति द्विपं
सर्वः कृच्छ्रगतोऽपि वाञ्छति जनः सत्त्वानुरूपं फलम् ॥४१॥

अन्वयः—श्वा स्वल्पस्नायुवसावशेषमलिनम् निर्मांसम् अपि अस्थिकम् लब्ध्वा परितोषम् एति, (किन्तु तत्) तस्य क्षुधः शान्तये न भवेत्। सिंहः अङ्कम् आगतम् अपि जम्बुकम् त्यक्त्वा द्विपम् निहन्ति, कृच्छ्रगतः अपि सर्वः जनः सत्त्वानुरूपम् फलम् वाञ्छति ॥ ४१ ॥

स्वल्पस्नायुवसावशेषमलिनम्—स्वल्पेन = मात्रायां न्यूनेन, स्नायुवसयोः = वस्नसामेदसो· अवशेषेण = अवशिष्टांशेन, मलिनम् = मलयुक्तम्, निर्मांसम् = मांसरहितम्, अस्थिकम् = अस्थि (हड्डी), लब्ध्वा = प्राप्य, परितोषम् = सन्तोषम्, एति = प्राप्नोति। क्षुधः = बुभुक्षायाः, शान्तये = शमनाय। जम्बुकम् = शृगालम्, अङ्कम् = स्वक्रोडम्, अतिसमीपमित्यर्थः, आगतम् = स्वयं प्राप्तम्, निहन्ति = मारयति, द्विपम् = गजम् कृच्छ्रगत· = कष्टावस्थां प्राप्तः सत्त्वानुरूपम् = स्वबलानुकूलम् ॥

थोड़ी सी नसों और चर्बी से मैली मांस-रहित हड्डी को ही पाकर कुत्ता सन्तुष्ट हो जाता है, यद्यपि उससे उसकी भूख शान्त नहीं होती है। किन्तु सिंह गोद में आए हुए गीदड़ को छोड़ कर हाथी को मारता है, क्योंकि सभी लोग कठिनाई में पड़ जाने पर भी अपने पराक्रम के अनुकूल ही फल की इच्छा करते हैं ॥ ४१ ॥

अपरञ्च, सेव्यसेवकयोरन्तरं पश्य—

सेव्यसेवकयोः=स्वामिदासयोः, अन्तरम्=परस्परभेदम् ॥

और भी, स्वामी सेवक का अन्तर देखो—

लाङ्गूलचालनमधश्चरणावपातं
भूमौ निपत्य वदनोदरदर्शनं च ।
श्वा पिण्डदस्य कुरुते गजपुङ्गवस्तु
धीरं विलोकयति चाटुशतैश्च भुङ्क्ते ॥ ४२ ॥

अन्वयः—श्वा पिण्डदस्य (पुरोभागे) लाङ्गूलचालनम् अधश्चरणावपातम्, च भूमौ निपत्य वदनोदरदर्शनम् कुरुते, तु गजपुङ्गवः धीरम् विलोकयति, च चाटुशतैः भुङ्क्ते ॥ ४२ ॥

पिण्डदस्य—पिण्डं ददातीति पिण्डदस्तस्य = ग्रासदस्य, भोजनदातुः स्वामिन इति यावत्, लाङ्गूलचालनम्=पुच्छभ्रामणम्, अधः चरणावपातम्=चरणयोरधः पतनम्, निपत्य=लुठित्वा, वदनोदरदर्शनम्=स्वमुखस्य स्वजठरस्य च प्रदर्शनम्। गजपुङ्गवः=गजराजः, धीरम्=मन्दम्, विलोकयति=पश्यति, चाटुशतैः=नाना॰ चाटुकारैः प्रियभाषणैः। अनेन शुनो गजस्य च स्वभावप्रदर्शनेन नीचस्य उच्चस्य च महदन्तरमिति सूचितम् ॥

कुत्ता टुकड़ा देने वाले स्वामी के आगे अपनी पूँछ हिलाता है, उसके पैरों पर लोटता है, पृथ्वी पर लोट कर उसे अपना पेट तथा मुँह दिखाता है; किन्तु गजराज अपने स्वामी को बड़ी गम्भीरता से देखता है और सैकड़ों खुशामद के बाद उसके दिए हुए भोजन को ग्रहण करता है ॥ ४२ ॥

किञ्च—

यज्जीव्यते क्षणमपि प्रथितं मनुष्यै-
र्विज्ञानविक्रमयशोभिरभज्यमानम् ।
तन्नाम जीवितमिह प्रवदन्ति तज्ज्ञाः
काकोऽपि जीवति चिराय बलिं च भुङ्क्ते ॥ ४३ ॥

अन्वयः—मनुष्यैः विज्ञानविक्रमयशोभिः अभज्यमानम् प्रथितम् यत् क्षणम् अपि जीव्यते, तज्ज्ञाः इह तत् जीवितं प्रवदन्ति नाम, (अन्यथा) काकः अपि चिराय जीवति, बलिं च भुङ्क्ते ॥ ४३ ॥

जीव्यते=जीवनं धार्यते, क्षणमपि=क्षणमात्रमपि अत्यल्पकालमपीति यावत्। विज्ञानविक्रमयशोभिः—विज्ञानं च=कलानपुण्यञ्च विक्रमश्च = पराक्रमश्च यशश्च कीर्तिश्च इति विज्ञानविक्रमयशांसि तैः, अभज्यमानम्=पूर्णम्,

सन् एव प्रथितम्=प्रसिद्धं यथा स्यात्तथा जीव्यते इत्यनेन सम्बन्धः, तज्ज्ञाः—तत् जानन्ति इति तज्ज्ञाः=तद्विदः, इह = संसारे, प्रवदन्ति = कथयन्ति, बलिम् = बलिदाने दीयमानं भोज्यम्, धर्मशास्त्रेषु श्वकाकादिभ्यो बलिप्रदानस्य विधि रुक्तः। कलाकौशलपराक्रमकीर्तिभिः पूर्णंतथा प्रसिद्धं जीवनमेव मानवानां वास्तविक जीवनमस्ति, अन्यथा काकतुल्यं मानवजीवनं व्यर्थमिति भावः।

और भी—ज्ञान, विक्रम एवं कीर्ति से युक्त तथा लोगों में प्रसिद्ध होकर जो व्यक्ति एक क्षण भी जीवित रहता है, विद्वान लोग उसी को जीवित कहते हैं। यों तो कौवा भी बहुत दिनों तक जीवित रहकर बलि का अन्न खाया करता है ॥ ४३ ॥

अपरञ्च—

> यो नात्मजे न च गुरौ न च भृत्यवर्गे
> दीने दया न कुरुते न च बन्धुवर्गे।
> किं तस्य जीवितफलेन मनुष्यलोके
> काकोऽपि जीवति चिराय बलिं च भुङ्क्ते ॥ ४४ ॥

अन्वय.—यः (नरः) आत्मजे दयां न (कुरुते, कुरुते इत्यस्य अग्रेऽपि सम्बन्धः), च गुरौ न, च भृत्यवर्गे न, दीने न, च बन्धुवर्गे न, मनुष्यलोके तस्य जीवितफलेन किम् (अस्ति) ? काकः अपि चिराय जीवति, च बलिं भुङ्क्ते ॥४४॥

आत्मजे=पुत्रे, गुरौ=मातापित्रादिगुरुजने, भृत्यवर्गे=सेवकसमूहे, दीने=दुःखिते, बन्धुवर्गे = बान्धवसमूहे, तस्य = पूर्वोक्तपुत्रादिषु दयारहितस्य नरस्य, जीवित-फलेन=जीवनेन।

और भी—जो व्यक्ति पुत्र, गुरु, सेवकों एवं बन्धु बान्धवों के प्रति दया नहीं करता, इस मनुष्य लोक में उसके जीवित रहने से क्या लाभ ? यों कौवा भी तो बलि का अन्न खा खाकर बहुत दिनों तक जीवित रहता है ॥ ४४ ॥

अपरमपि—

> अहितहितविचारशून्यबुद्धेः
> श्रुतिसमयैर्बहुभिस्तिरस्कृतस्य।
> उदरभरणमात्रकेवलेच्छोः
> पुरुषपशोश्च पशोश्च को विशेषः ॥ ४५ ॥

अन्वय —अहितहितविचारशून्यबुद्धेः बहुभिः तिरस्कृतस्य च उदरभरणमात्र-केवलेच्छोः पुरुषपशोः च पशोः को विशेषः (अस्ति) ? ॥ ४५ ॥

अहितहितविचारशून्यबुद्धेः—अहितहितयोः=अशुभशुभयोः विचारेण = ज्ञानेन शून्या=हीना, बुद्धिः=मतिर्यस्य स तस्य, हिताहितज्ञानहीनस्येति यावत्, बहुभिः=अनेकैः, श्रुतिसमयैः = शास्त्रसिद्धान्तैः 'समयाः शपथाचारकालसिद्धान्तसंविदः' इत्यमरः, तिरस्कृतस्य = हीनस्य शास्त्रोक्त कर्माकुर्वतः, उदरभरणमात्रकेवलेच्छोः=जठरपूर्तिमात्राभिलाषुकस्य, पुरुषपशोः = पुरुषेषु पशुतुल्यस्य, पशोः= गवादिपशोः च को विशेषः=किमन्तरमस्ति, किमप्यन्तरं नास्तीति भावः ॥

और भी—अपने भले बुरे का विचार न कर सकने वाले, वेदोक्त अनेकों आचारों से शून्य तथा केवल अपना ही पेट भरने की इच्छा रखने वाले मनुष्य रूपी पशु तथा पशु में अन्तर ही क्या है ? ॥ ४५ ॥

करटको ब्रूते—'आवां तावदप्रधानौ । तदाप्यावयोः किमनया विचारणया ' दमनको ब्रूते—कियते कालेनामात्याः प्रधानताम-प्रधानतां वा लभन्ते । यतः—

अप्रधानौ = अमुख्यौ, कियता=कियत्परिमाणेन, अमात्याः = मन्त्रिणः, प्रधानताम्=मुख्यताम् ॥

करटक ने कहा—'हम लोग तो प्रधान नहीं हैं । अत हमें ऐसे विचारों से क्या लाभ होगा ।' दमनक ने कहा—'बहुत दिनों के प्रयत्न के बाद ही साधारण मन्त्री प्रधान अथवा अप्रधान पद प्राप्त करते हैं । क्योंकि—

न कस्यचित्कश्चिदिह स्वभावा-
द्भवत्युदारोऽभिमतः खलो वा ।
लोके गुरुत्वं विपरीततां वा
स्वचेष्टितान्येव नरं नयन्ति ॥ ४६

अन्वय —इह कश्चित् (नरः) स्वभावात् कस्यचित् उदारः अभिमतः वा खलः न भवति, (किन्तु) लोके स्वचेष्टितान्येव नरं गुरुत्वम् वा विपरीतताम् नयन्ति ॥ ४६ ॥

स्वभावात्=प्रकृतेः, उदारः=दाता महान् वा, 'उदारो दातृमहतोः' इत्यमरः । अभिमतः=अभीष्टः, खलः=दुर्जनः । गुरुत्वम्=गौरवम्, विपरीतताम् = अगौरवम्, स्वचेष्टितानि=आत्मनः कार्याणि, नयन्ति=प्राप्नुवन्ति ॥

कोई व्यक्ति अपने स्वभाव से ही संसार में किसी के प्रति उदार, प्रिय एवं दुष्ट स्वभाववाला नहीं होता है बल्कि उसके कार्य ही उसे महानता अथवा नीचता की ओर लेजानेवाले होते हैं ॥ ४६ ॥

किं च—

आरोप्यते शिला शैले यत्नेन महता यथा ।
निपात्यते क्षणेनाधस्तथात्मा गुणदोषयोः ॥ ४७ ॥

अन्वय —यथा शिला महता यत्नेन शैले आरोप्यते, (च) क्षणेन अधः निपात्यते; तथा आत्मा गुणदोषयोः महता यत्नेन आरोप्यते, क्षणेन निपात्यते च ॥

आरोप्यते = आरोह्यते, आत्मा=जीवात्मा, महत्तोद्योगेन शैलोपरि स्थाप्यमाना शिलेव जीवात्मा महाप्रयत्नेन गुणे आरोपितो भवति, तथा उपरितनभागात् क्षणमात्रेणाधःपात्या शिलेव जीवात्मा क्षणमात्रेण दोषयुक्तो विधीयते ॥

और भी—जैसे पत्थर की चट्टान पहाड पर बडे यत्न के साथ चढाई जाती है किन्तु वही नीचे की ओर बडी आसानी से गिरा दी जाती है, उसी प्रकार आत्मा बडे प्रयत्न से गुणों पर पहुँचाई जाती और आसानी से दोषों में नीचे गिरा दी जाती है ॥ ४७ ॥

यात्यधोऽधः व्रजत्युच्चैर्नरः स्वैरेव कर्मभिः ।
कूपस्य खनिता यद्वत्प्राकारस्येव कारकः ॥ ४८ ॥

अन्वय.—नरः स्वैः एव कर्मभिः कूपस्य खनिता यद्वत् प्राकारस्य कारक इव (क्रमशः) अधो याति उच्चैः व्रजति ॥ ४८ ॥

स्वैरेव कर्मभिः = आत्मकृत्यैरेव, खनिता = खनकः, यद्वत्=इव, प्राकारस्य = दुर्गादिचतुर्दिक्स्थभित्तेः कारकः =कर्ता ॥

मनुष्य अपने कर्मों द्वारा ही कुआँ खोदने वाले के समान तो नीचे जाता है और चहारदीवारी बनाने वाले के समान ऊपर पहुँचता है ॥ ४८ ॥

तद्भद्रम् । स्वयत्नायत्तो ह्यात्मा सर्वस्य ।' करटको ब्रूते—'अथ भवान् किं ब्रवीति ? ।' स आह—'अय तावत्स्वामी पिङ्गलकः कुतोऽपि कारणात्सचकितः परिवृत्योपविष्टः ।' करटको ब्रूते—'किं तत्त्वं जानासि ।' दमनको ब्रूते—'किमत्राविदितमस्ति । उक्तं च—

भद्रम्=वरम् । स्वयत्नायत्तः = स्वकर्माधीनः, कुतोऽपि = कस्माच्चिदपि, सचकितः = भययुक्तः, तत्त्वम् = वास्तविकताम् ॥

अतः हे भाई, सभी की आत्मा अपने कर्मों के ही अधीन होती है । करटक ने कहा—'आप यह क्या कह रहे हैं ?' उसने कहा—'मेरे स्वामी पिंगलक किसी कारण से ही लौट कर अत्यन्त चकित भाव से बैठे हैं ।' करटक ने कहा—'तो क्या तुम इसका कुछ मतलब समझ रहे हो ।' दमनक ने कहा—इसमें कौन सी बात छिपी ही है । कहा भी है—

उदीरितोऽर्थः पशुनापि गृह्यते
हयाश्च नागाश्च वहन्ति देशिताः।
अनुक्तमप्यूहति पण्डितो जनः
परेङ्गितज्ञानफला हि बुद्धयः ॥ ४९ ॥

अन्वय —उदीरितिः अर्थः पशुनापि गृह्यते, देशिताः हयाः च नागाः च वहन्ति, पण्डितः जनः अनुक्तम् अपि ऊहति, हि बुद्धयः परेङ्गितज्ञानफला (भवन्ति)॥

उदीरितः = कथितः, अर्थः=विषयः, पशुना = गोहयादिना चतुष्पदजन्तुना, नागाः = गजाः, देशिताः = प्रेरिताः, ऊहति = तर्कद्वारा जानाति, तर्कयति इति यावत्, परेङ्गितज्ञानफलाः = अन्यदीयमानसिकेच्छाबोधपरिणामाः ॥

पशु भी कही हुई बातों को समझ लेता है, आज्ञा पाए हुए घोड़े हाथी भी सवारी ढोते हैं और पण्डित व्यक्ति बिना कहे हुए ही किसी बात को समझ लेते हैं। क्योंकि दूसरों के मनोभावों को जान लेना ही बुद्धि का फल होता है ॥ ४९ ॥

आकारैरिङ्गितैर्गत्या चेष्टया भाषणेन च।
नेत्रवक्त्रविकारेण लक्ष्यतेऽन्तर्गतं मनः ॥ ५० ॥

अन्वय —आकारैः, इङ्गितैः, गत्या, चेष्टया, भाषणेन च नेत्रवक्त्रविकारेण अन्तर्गतम् मनः लक्ष्यते ॥ ५० ॥

आकारैः = आकृतिभिः, इङ्गितैः = हृद्गतभावैः, गत्या=गतिविधिना, चेष्टया= हस्तादिसञ्चालनादिचेष्टया, भाषणेन = कथनेन, नेत्रवक्त्रविकारेण = चक्षुर्मुखमुद्रया, लक्ष्यते = परिचीयते, अन्तर्गतं मनः = आन्तरिकभावः ॥

आकृति, सकेत, गति, चेष्टा, वाणी, और मुख के परिवर्तन से अन्तःकरण की बात ज्ञात हो जाती है ॥ ५० ॥

अत्र भयप्रस्तावे प्रज्ञाबलेनाहमेनं स्वामिनमात्मीयं करिष्यामि। यतः—

भयप्रस्तावे = स्वामिनो भयावसरे, प्रज्ञाबलेन = बुद्धिबलेन, आत्मीयम्=स्ववशम् ॥

इस भय की उपस्थिति के समय मे अपनी बुद्धि के बल से इस स्वामी को अपना बना लूँगा।

प्रस्तावसदृशं वाक्यं सद्भावसदृशं प्रियम्।
आत्मशक्तिसमं कोपं यो जानाति स पण्डितः" ॥ ५१ ॥

अन्वयः—यः (नरः) प्रस्तावसदृशम् वाक्यम् सद्भावसदृशम् प्रियम्, आत्मशक्तिसमम्, कोपम् जानाति, सः पण्डितः (अस्ति)॥ ५१॥

प्रस्तावसदृशम् = अवसरानुकूलम्, वाक्यम् = वाक्कथनम्, सद्भावसदृशम्= सद्भावनोचितम, प्रियम् = प्रियभाषणम्, आत्मशक्तिसमम्=स्वसामर्थ्यानुकूलम्।

प्रसंग के अनुसार बात चीत, सद्भाव के अनुकूल प्रेम तथा अपनी शक्ति के अनुसार क्रोध करना जो व्यक्ति जानता है वही पंडित कहा जाता है॥ ५१॥

करटको ब्रूते—'सखे, त्वं सेवानभिज्ञः। पश्य—

सेवानभिज्ञः=सेवाकरणज्ञानहीनः॥

करटक ने कहा—मित्र! तुम सेवा करना नहीं जानते। देखो—

> अनाहूतो विशेद्यस्तु अपृष्टो बहु भाषते।
> आत्मानं मन्यते प्रीतं भूपालस्य स दुर्मतिः'॥ ५२॥

अन्वयः—यः तु अनाहूतः विशेत्, अपृष्टः बहु भाषते, आत्मानम् भूपालस्य प्रीतम् मन्यते, सः दुर्मतिः (अस्ति)॥ ५२॥

अनाहूतः=अनाकारितः, विशेत्=गृहादौ गच्छेत्, अपृष्टः = अननुयुक्तः (बिना पूछा गया), प्रीतम्=प्रियम्, दुर्मतिः=दुर्बुद्धिः, बुद्धिहीन इति भावः॥

जो बिना बुलाए निकट जाता है, बिना पूछे बहुत सी बातें करता है और अपने को राजा का प्रिय समझता है वह मूर्ख है॥ ५२॥

दमनको ब्रूते—'भद्र, कथमहं सेवानभिज्ञः। पश्य।

दमनक ने कहा—'भाई मैं सेवा करना क्यों नहीं जानता? देखो—

> किमप्यस्ति स्वभावेन सुन्दरं वाप्यसुन्दरम्।
> यदेव रोचते यस्मै भवेत्तत्तस्य सुन्दरम्॥ ५३॥

अन्वयः—स्वभावेन सुन्दरम् असुन्दरम् वा अपि किमपि अस्ति? यस्मै यत् एव (वस्तु) रोचते, तत् (वस्तु) तस्य सुन्दरम् अस्ति॥ ५३॥

सुन्दरम्=मनोहरम्, रोचते=रुचिकरं जायते। स्व स्वरुच्यनुसारमेव सर्वं वस्तु सर्वस्य जनस्य सद्सद्रूपं ज्ञायते इति भावः॥

कोई वस्तु स्वभाव से ही भली या बुरी नहीं होती बल्कि जिसमें जिसको रुचि होती है, वही उसे भली लगती है॥ ५३॥

यतः—

> यस्य यस्य हि यो भावस्तेन तेन हि तं नरम्।
> अनुप्रविश्य मेधावी क्षिप्रमात्मवशं नयेत्॥ ५४॥

उदीरितोऽर्थः पशुनापि गृह्यते
हयाश्च नागाश्च वहन्ति देशिताः ।
अनुक्तमप्यूहति पण्डितो जनः
परेङ्गितज्ञानफला हि बुद्धयः ॥ ४९ ॥

अन्वय—उदीरितः अर्थः पशुनापि गृह्यते, देशिताः हयाः च नागाः च वहन्ति, पण्डितः जनः अनुक्तम् अपि ऊहति, हि बुद्धयः परेङ्गितज्ञानफलाः (भवन्ति) ॥

उदीरितः = कथितः, अर्थः=विषयः, पशुना = गोहयादिना चतुष्पदजन्तुना, नागाः = गजाः, देशिताः = प्रेरिताः, ऊहति = तर्कद्वारा जानाति, तर्कयति इति यावत्, परेङ्गितज्ञानफलाः = अन्यदीयमानसिकेच्छाबोधपरिणामाः ॥

पशु भी कही हुई बातों को समझ लेता है, आज्ञा पाए हुए घोडे हाथी भी सवारी ढोते हैं और पण्डित व्यक्ति बिना कहे हुए ही किसी बात को समझ लेते हैं। क्योंकि दूसरों के मनोभावों को जान लेना ही बुद्धि का फल होता है ॥ ४९ ॥

आकारैरिङ्गितैर्गत्या चेष्टया भाषणेन च ।
नेत्रवक्त्रविकारेण लक्ष्यतेऽन्तर्गतं मनः ॥ ५० ॥

अन्वय—आकारैः, इङ्गितैः, गत्या, चेष्टया, भाषणेन च नेत्रवक्त्रविकारेण अन्तर्गतम् मनः लक्ष्यते ॥ ५० ॥

आकारैः = आकृतिभिः, इङ्गितैः = हृद्गतभावैः, गत्या=गतिविधिना, चेष्टया= हस्तादिसञ्चालनादिचेष्टया, भाषणेन = कथनेन, नेत्रवक्त्रविकारेण = चक्षुर्मुखभ्रु-क्षुब्धया, लक्ष्यते = परिचीयते, अन्तर्गतं मनः = आन्तरिकभावः ॥

आकृति, संकेत, गति, चेष्टा, वाणी, और मुख के परिवर्तन से अन्तःकरण की बात ज्ञात हो जाती है ॥ ५० ॥

अत्र भयप्रस्तावे प्रज्ञाबलेनाहमेनं स्वामिनमात्मीयं करिष्यामि । यतः—

भयप्रस्तावे = स्वामिनो भयावसरे, प्रज्ञाबलेन = बुद्धिबलेन, आत्मीयम्=स्ववशम् ॥

इस भय की उपस्थिति के समय में अपनी बुद्धि के बल से इस स्वामी को अपना बना लूँगा।

प्रस्तावसदृशं वाक्यं सद्भावसदृशं प्रियम् ।
आत्मशक्तिसमं कोपं यो जानाति स पण्डितः" ॥ ५१ ॥

अन्वयः—यः (नरः) प्रस्तावसदृशम् वाक्यम् सद्भावसदृशम् प्रियम्, आत्मशक्तिसमम्, कोपम् जानाति, सः पण्डितः (अस्ति) ॥ ५१ ॥

प्रस्तावसदृशम् = अवसरानुकूलम्, वाक्यम् = वाक्कथनम्, सद्भावसदृशम्= सद्भावनोचितम, प्रियम् = प्रियभाषणम्, आत्मशक्तिसमम्=स्वसामर्थ्यानुकूलम्।

प्रसंग के अनुसार बात चीत, सद्भाव के अनुकूल प्रेम तथा अपनी शक्ति के अनुसार क्रोध करना जो व्यक्ति जानता है वही पंडित कहा जाता है ॥ ५१ ॥

करटको ब्रूते—'सखे, त्वं सेवानभिज्ञः। पश्य—

सेवानभिज्ञः=सेवाकरणज्ञानहीनः ॥

करटक ने कहा—मित्र! तुम सेवा करना नहीं जानते। देखो—

अनाहूतो विशेद्यस्तु अपृष्टो बहु भाषते।
आत्मानं मन्यते प्रीतं भूपालस्य स दुर्मतिः' ॥ ५२ ॥

अन्वयः—यः तु अनाहूतः विशेत्, अपृष्टः बहु भाषते, आत्मानम् भूपालस्य प्रीतम् मन्यते, सः दुर्मतिः (अस्ति) ॥ ५२ ॥

अनाहूतः=अनाकारितः, विशेत्=गृहादौ गच्छेत्, अपृष्टः = अननुयुक्तः (बिना पूछा गया), प्रीतम्=प्रियम्, दुर्मतिः=दुर्बुद्धिः, बुद्धिहीन इति भावः ॥

जो बिना बुलाए निकट जाता है, बिना पूछे बहुत सी बातें करता है और अपने को राजा का प्रिय समझता है वह मूर्ख है ॥ ५२ ॥

दमनको ब्रूते—'भद्र, कथमहं सेवानभिज्ञः। पश्य।

दमनक ने कहा—'भाई मैं सेवा करना क्यों नहीं जानता? देखो—

किमप्यस्ति स्वभावेन सुन्दरं वाप्यसुन्दरम्।
यदेव रोचते यस्मै भवेत्तत्तस्य सुन्दरम् ॥ ५३ ॥

अन्वयः—स्वभावेन सुन्दरम् असुन्दरम् वा अपि किमपि अस्ति? यस्मै यत् एव (वस्तु) रोचते, तत् (वस्तु) तस्य सुन्दरम् अस्ति ॥ ५३ ॥

सुन्दरम्=मनोहरम्, रोचते=रुचिकरं जायते। स्व स्वरुच्यनुसारमेव सर्वं वस्तु सर्वस्य जनस्य सत्सदृशं ज्ञायते इति भावः ॥

कोई वस्तु स्वभाव से ही भली वा बुरी नहीं होती बल्कि जिसमें जिसको रुचि होती है, वही उसे भली लगती है ॥ ५३ ॥

यतः—

यस्य यस्य हि यो भावस्तेन तेन हि तं नरम्।
अनुप्रविश्य मेधावी क्षिप्रमात्मवशं नयेत् ॥ ५४ ॥

अन्वयः—हि यस्य यस्य (जनस्य) यः यः भावः (भवति), मेधावी (नरः) तेन तेन अनुप्रविश्य तम् नरम् क्षिप्रम् आत्मवशम् नयेत् ॥ ५४ ॥

भाव=मनोऽभिप्राय, अनुप्रविश्य=तदनुकूलतया तं विश्वास्य, मेधावी=विद्वान्, आत्मवशं नयेत्=स्वस्य वशीभूतं कुर्यात् ॥

क्योंकि—प्रतिभाशाली मनुष्य को चाहिए कि जिसका जैसा भाव हो उसी के अनुसार उसके हृदय में घुस कर शीघ्र ही उसे अपने वश में कर ले ॥ ५४ ॥

अन्यच्च—

कोऽत्रेत्यहमिति ब्रूयात्सम्यगादेशयेति च ।
आज्ञामवितथां कुर्याद्यथाशक्ति महीपतेः ॥ ५५ ॥

अन्वय—(महीपतिना) अत्र कः (अस्ति) ? (इति पृष्टः) 'अहम् (अस्मि) सम्यक् आदेशय' इति ब्रूयात्; यथाशक्ति महीपतेः आज्ञाम् अवितथाम् (च) कुर्यात् ॥ ५५ ॥

सम्यगादेशय=यथावदाज्ञापय, अवितथाम्=सत्यां सफलामिति भावः, यथाशक्ति=शक्त्यनुसारम्, 'अव्ययं विभक्ति—' इति याथार्थ्येऽव्ययीभावः ॥

और भी—राजा ज्यों ही 'यहाँ कौन है' इस प्रकार कहे' उस समय 'मैं हूँ, आज्ञा दीजिए' इस प्रकार सेवक को कहना चाहिए और अपनी शक्ति के अनुसार राजा की आज्ञा व्यर्थ नहीं होने देना चाहिए ॥ ५५ ॥

अपरं च—

अल्पेच्छुर्धृतिमान्प्राज्ञश्छायेवानुगतः सदा ।
आदिष्टो न विकल्पेत स राजवसतौ वसेत् ॥ ५६ ॥

अन्वय—(यः सेवकः) अल्पेच्छुः धृतिमान् प्राज्ञः, छाया इव सदा अनुगतः (राज्ञा) आदिष्टः न विकल्पेत; सः राजवसतौ वसेत् ॥ ५६ ॥

अल्पेच्छुः=स्वल्पवेतनेच्छुकः, धृतिमान्=धैर्ययुक्तः, प्राज्ञः=विद्वान्, अवसरज्ञ इत्यर्थः, छाये०=छायातुल्यः सदा स्वाम्यनुगामी, आदिष्टः = आज्ञप्तः, न विकल्पेत = इदं कुर्यां न वा कुर्यामिति न विचारयेत्, राजवसतौ=राजभवने ॥

और भी—थोड़े वस्तु की इच्छा रखने वाला, धैर्यशाली, छाया के समान सदा स्वामी के पीछे पीछे चलने वाला और उसके आदेश का बिना विचारे पालन करने वाला बुद्धिमान ही राजा के पास रह सकता है ॥ ५६ ॥

करटको ब्रूते—'कदाचित्त्वामनवसरप्रवेशादवगण्यते स्वामी'। स चाह—'अस्त्वेवम् । तथाप्यनुजीविना स्वामिसान्निध्यमवश्यं करणीयम् । यतः—

अनवसरप्रवेशात् = असमये गमनात्, अवमन्यते = अपमानं करोति। स्वामिसांनिध्यम् = स्वामिनः निकटे स्थितिम्॥

करटक ने कहा—'सम्भवतः स्वामी बिना काम के ही पास गये हुए तुम्हारा कहीं अपमान न करें'। उसने कहा—ऐसा हो सकता है। किन्तु सेवक को स्वामी के निकट अवश्य रहना चाहिए। क्योंकि—

> दोषभीतेरनारम्भस्तत्कापुरुषलक्षणम्।
> कैरजीर्णभयाद् भ्रातर्भोजनं परिहीयते॥ ५७॥

अन्वय—(यत्) दोषभीतेः अनारम्भः (भवति), तत् कापुरुषलक्षणम् (अस्ति), हे भ्रातः! अजीर्णभयात् भोजनम् कैः परिहीयते?॥ ५७॥

दोषभीतेः=वातपित्तादिदोषवृद्धिभयात्, अनारम्भः—कार्यस्य अप्रारम्भः, कापुरुषलक्षणम् = निन्द्यजनस्य चिह्नम्। अजीर्णभयात्=अजीर्णस्य भयहेतोः, भुक्तमन्नं जीर्णं भविष्यति नवेति भयकारणात्, परिहीयते = त्यज्यते॥

किसी दोष के डर से जो कार्य ही नहीं प्रारम्भ करता वह तो कायर कहा जाता है। भला अपच के डर से सामने रक्खे हुए भोजन को कोई छोड़ देता है?॥ ५७॥

पश्य—

> आसन्नमेव नृपतिर्भजते मनुष्यं
> विद्याविहीनमकुलीनमसंगतं वा।
> प्रायेण भूमिपतयः प्रमदा लताश्च
> यः पार्श्वतो वसति तं परिवेष्टयन्ति॥ ५८॥

अन्वय—नृपतिः विद्याविहीनम् अकुलीनम् वा असङ्गतम् आसन्नम् एव मनुष्यम् भजते, प्रायेण भूमिपतयः प्रमदाः च लताः यः पार्श्वतः वसति, तम् परिवेष्टयन्ति॥ ५८॥

आसन्नम्=निकटस्थम्, अकुलीनम्=नीचवंशजम्, असङ्गतम्=अयोग्यम्, प्रायेण=प्रायशः, प्रमदाः = स्त्रियः, पार्श्वतः = पार्श्वभागे, निकटे इत्यर्थः, परिवेष्टयन्ति = भूमिपतयः अनुगृहीतं कुर्वन्ति प्रमदाः आलिङ्गनं कुर्वन्ति, लताश्च आश्रयन्ति॥

देखो—राजा अपने पास रहने वाले मनुष्य को ही याद रखता है, भले ही वह मनुष्य विद्या से रहित, अकुलीन अथवा मूर्ख ही क्यों न हो। क्योंकि राजा, स्त्रियाँ और लताएँ प्रायः उसी को अपनाती हैं जो उनके पास रहता है॥ ५८॥

करटको ब्रूते—'अथ तत्र गत्वा किं वक्ष्यति भवान्।' स आह—'शृणु। किमनुरक्तो विरक्तो वा मयि स्वामीति ज्ञास्यामि।' करटको ब्रूते—'किं तज्ज्ञानलक्षणम्।' दमनको ब्रूते—'शृणु।

क्षपयति = क्षपयिष्यति । अनुरक्तः = स्नेहयुक्तः, विरक्तः = विरागयुक्तः ॥

करटक ने कहा—'तो वहाँ जाकर आप क्या करेंगे ?' उसने कहा—'सुनो, पहले मैं यह मालूम करूँगा कि स्वामी मुझ पर प्रसन्न है अथवा मेरी उपेक्षा कर रहा है ।' करटक ने कहा—'इसको जानने का क्या उपाय है' ? दमनक ने कहा—'सुनो—

दूरादवेक्षणं हासः सम्प्रश्नेष्वादरो भृशम् ।
परोक्षेऽपि गुणश्लाघा स्मरणं प्रियवस्तुषु ॥ ५९ ॥

अन्वयः—दूरात् अवेक्षणम्, हासः, संप्रश्नेषु भृशम् आदरः, परोक्षे अपि गुणश्लाघा, प्रियवस्तुषु स्मरणम् ॥ ५९ ॥

अवेक्षणम् = अवलोकनम्, सम्प्रश्न०=अत्यादरपूर्वकं प्रश्नश्रवणम्, परोक्षे = अप्रत्यक्षे, गुणश्लाघा = गुणप्रशंसा, स्मरण०—प्रियकर वस्तु प्राप्य स्मृतिः, 'स यद्यीदानीं स्यात्तदा तस्मै अपि इदं दद्यामि'त्यादिभावेन स्मरणम् ॥

दूर से ही देखना, हँसना, पूछते समय बहुत आदर दिखाना, पीठ पीछे गुणों की प्रशंसा करना, और प्रिय वस्तुओं में याद करना ॥ ५९ ॥

असेवके चानुरक्तिर्दानं सप्रियभाषणम् ।
अनुरक्तस्य चिह्नानि दोषेऽपि गुणसंग्रहः ॥ ६० ॥

अन्वयः—असेवके अनुरक्तिः दानम् च सप्रियभाषणम् च दोषे अपि गुण संग्रहः (इत्येतानि) अनुरक्तस्य चिह्नानि (सन्ति) ॥ ६० ॥

असेवके = सेवायाः अकर्तरि, अनुरक्तिः = अनुरागः, दानं० = प्रियभाषणपूर्वकं किञ्चित्प्रदानम्, अनुरक्तस्य = स्नेहवतः, दोषे = असत्कार्ये, गुणसंग्रहः = गुणानामेव वर्णनम्, (इति प्राक्तनश्लोकद्वये वर्णितानि लक्षणानि स्नेहयुक्तस्य स्वामिनः सन्तीति योज्यम्) ॥

सेवा न करने पर भी उसके प्रति प्रेम भाव रखना, मीठी बातों के साथ कुछ देना और दोष से भी गुण ग्रहण करना यह प्रसन्न राजाके लक्षण हैं ॥ ६० ॥

अन्यच्च—

कालयापनमाशानां वर्धनं फलखण्डनम् ।
विरक्तेश्वरचिह्नानि जानीयान्मतिमान्नरः ॥ ६१ ॥

अन्वयः—मतिमान् नरः कालयापनम् आशानाम् वर्धनम् फलखण्डनम् विरक्तेश्वरचिह्नानि जानीयात् ॥ ६१ ॥

कालयापनम् = समयनिर्वाहः ('आज दूंगा, कल दूंगा' इत्यादि कहकर समय टालना) आशानां वर्द्धनम् = वेतनवर्द्धनाद्याशायाः सततं वर्द्धनम्, फल-

खण्डनम् = जातेऽपि फले तन्निराकरणम्, विरक्तेश्वरचिह्नानि = विरक्तस्य स्वामिनो लक्षणानि ॥

और भी—बुद्धिमान को यह जान लेना चाहिए कि समय टालना, झूठी आशायें बढ़ाना और परिणाम को व्यर्थ कर देना—उदासीन राजा के लक्षण हैं ॥ ६१ ॥

एवञ्ज्ञात्वा यथा चायं ममायत्तो भविष्यति, तथा वदिष्यामि। यतः—

ज्ञात्वा = विदित्वा, ममायत्तः=मदधीनः, वदिष्यामि = कथयिष्यामि ॥

यह समझ कर जैसे यह मेरे वश में हो वैसा ही कहूँगा। क्योंकि—

अपायसन्दर्शनजां विपत्ति-
मुपायसन्दर्शनजां च सिद्धिम्।
मेधाविनो नीतिविधिप्रयुक्तां
पुरः स्फुरन्तीमिव दर्शयन्ति ॥ ६२ ॥

अन्वयः—मेधाविनः (नराः) नीतिविधिप्रयुक्ताम् अपायसन्दर्शनजाम् विपत्तिम् उपायसन्दर्शनजाम् सिद्धिम् पुरः स्फुरन्तीमिव दर्शयन्ति ॥ ६२ ॥

अपायसन्दर्शनजाम्—अपायस्य=कार्यनाशस्य, सन्दर्शनात् = प्रदर्शनात् जायते= उत्पद्यते इति ताम्, उपायसन्दर्शनजाम्—उपायस्य = कार्यसिद्धेः, सन्दर्शनात् जायते इति ताम्, मेधाविनः = बुद्धिमन्तो जनाः, नीतिविधिप्रयुक्ताम् = नीतिद्वारेण सम्पादिताम्, पुरः स्फुरन्तीमिव = प्रत्यक्षरूपेण भासमानामिव। बुद्धिमन्तो जना नीत्या, एवङ्कृते कार्यनाशेन विपत्तिः तथा अनेनोपायेन करणे कार्यसिद्धिर्भविष्यति इत्येवम्प्रकारेण स्वामिनोऽग्रे प्रत्यक्षदृश्यमानामिव बोधयन्ति।

बुद्धिमान् नीतिशास्त्र की विधियों का उचित प्रयोग करके दोषों से उत्पन्न हानि और उपायों से होने वाली सिद्धि को सामने झलकती हुई सी दिखाते हैं ॥ ६२ ॥

करटको ब्रूते—'तथाप्यप्राप्ते प्रस्तावे न वक्तुमर्हसि। यतः।

अप्राप्ते = अनागते, प्रस्तावे = अवसरे ॥

करटक ने कहा—फिर भी बिना प्रसंग आए तो तुम कुछ भी न कह सकोगे। क्योंकि—

अप्राप्तकालवचनं बृहस्पतिरपि ब्रुवन्।
प्राप्नुयाद्बुद्ध्यवज्ञानमपमानं च शाश्वतम् ॥ ६३ ॥

अन्वयः—अप्राप्तकालवचनम् ब्रुवन् बृहस्पतिः अपि बुद्ध्यवज्ञानम् च शाश्वतम् अपमानम् लभते ॥ ६३ ॥

अप्राप्तकालवचनम्—अप्राप्तः कालो यस्य तच्च तद्वचनञ्च=असामयिकवाक्यम्, बुद्ध्यवज्ञानम्=बुद्ध्यनादरम्, शाश्वतम्—शश्वद्भवम् = सर्वदेत्यर्थः ॥

बृहस्पति भी बिना प्रसंग आए ही कोई बात कहने से मूर्ख समझे जाते हैं और उन का सर्वदा अनादर होने लगता है ॥ ६३ ॥

दमनको ब्रूते—'मित्र, मा भैषीः'। नाहमप्राप्तावसरं वचनं वदिष्यामि। यतः—

दमनक ने कहा—'मित्र डरो मत, मैं बिना अवसर आए कोई भी बात नहीं कहूँगा। क्योंकि—

आपद्युन्मार्गगमने कार्यकालात्ययेषु च।
अपृष्टेनापि वक्तव्यं भृत्येन हितमिच्छता ॥ ६४ ॥

अन्वय—आपदि उन्मार्गगमने च कार्यकालात्ययेषु (सत्सु) अपृष्टेन अपि हितमिच्छता भृत्येन वक्तव्यम् ॥ ६४ ॥

आपदि = स्वामिनो विपत्काले, उन्मार्गगमने = कुमार्गगमने, कार्यकालात्ययेषु = कार्यसमयातिक्रमणेषु, अपृष्टेन = अननुयुक्तेन, हितमिच्छता = हितैषिणा ॥

आपत्ति में पड़ने, बुरे मार्ग में फँसे रहने तथा काम का समय बीत जाने पर स्वामी का हित चाहने वाले सेवक का कर्तव्य है कि बिना पूछे ही उचित बातें कह दे ॥ ६४ ॥

यदि च प्राप्तावसरेणापि मया मन्त्रो न वक्तव्यस्तदा मन्त्रित्वमेव ममानुपपन्नम्। यतः—

प्राप्तावसरेण = लब्धावसरेण (मौका पाकर), मन्त्रः = उचितपरामर्शः, अनुपपन्नम् = असिद्धम्, व्यर्थमिति यावत् ॥

यदि अवसर पाकर भी मैं उसे उचित सलाह न दूँ तो मेरा मन्त्रित्व ही व्यर्थ हो जायगा। क्योंकि—

कल्पयति येन वृत्तिं येन च लोके प्रशस्यते सद्भिः।
स गुणस्तेन च गुणिना रक्ष्यः संवर्धनीयश्च ॥ ६५ ॥

अन्वय—(भृत्यः) येन वृत्तिं कल्पयति, च लोके सद्भिः येन प्रशस्यते, स गुणः तेन रक्ष्यः च संवर्धनीयः ॥ ६५ ॥

कल्पयति = कुरुते, लभते इत्यर्थः, येन = येन गुणेन, वृत्तिम् = जीविकाम्, प्रशस्यते = प्रशंसनीयो जायते, सद्भिः = सज्जनैः रक्ष्यः = रक्षणीयः, संवर्धनीयः = वर्धितुं योग्यः ॥

जिस गुण से जीविका चलती है और जिससे संसार में सज्जनोंद्वारा प्रशंसा होती है, गुणी मनुष्य को उस गुण की रक्षा करनी चाहिए और उसे बढ़ाये रहना चाहिए ॥ ६५ ॥

तद्भद्र! अनुजानीहि माम्। गच्छामि।' करटको ब्रूते—'शुभमस्तु। शिवास्ते पन्थानः। यथाभिलषितमनुष्ठीयताम्' इति। ततो दमनको विस्मित इव पिङ्गलकसमीपं गतः।

अनुजानीहि माम् = स्वामिसमीपं गन्तुं मामाज्ञापय। अनुष्ठीयताम् = विधीयताम्, त्वयेति शेषः। विस्मित इव = आश्चर्यितवत्, सभयवत् इत्यर्थः ॥

अतः भद्र, मुझे आज्ञा दो। मैं जा रहा हूँ। करटक ने कहा—तुम्हारा कल्याण हो और तुम्हारा मार्ग मंगलमय हो। जाओ, अपनी इच्छा के अनुसार काम करो। इसके पश्चात् दमनक कुछ चकित सा होकर पिंगलक के समीप गया।

अथ दूरादेव सादरं राज्ञा प्रवेशितः साष्टाङ्गप्रणिपातं प्रणिपत्योपविष्टः। राजाऽऽह—'चिराद् दृष्टोऽसि'। दमनको ब्रूते—'यद्यपि मया सेवकेन श्रीमद्देवपादानां न किञ्चित्प्रयोजनमस्ति, तथापि प्राप्तकालमनुजीविना सान्निध्यमवश्यं कर्तव्यमित्यागतोऽस्मि। किञ्च—

सादरम् = आदरपूर्वकम्, प्रवेशितः = कारितान्तःप्रवेशः, साष्टाङ्गप्रणिपातं प्रणिपत्य = साष्टाङ्गं पतित्वा प्रणम्य। श्रीमद्देवपादानाम् = भवच्चरणानाम्, भवतामित्यर्थः, प्राप्तकालम् = अवसरे प्राप्ते, अनुजीविना = सेवकेन, सान्निध्यम् = स्वामिनिकटगमनम् ॥

राजा ने उसे दूर ही से आदर के साथ अपने पास बुलाया। वह साष्टाङ्ग प्रणाम करके बैठ गया। राजा ने कहा—बहुत दिनों के बाद दिखाई पड़े। दमनक ने कहा—यद्यपि हमारे जैसे तुच्छ सेवक की स्वामी को कोई आवश्यकता नहीं है, फिर भी सेवक को समय पड़ने पर स्वामी के पास अवश्य जाना चाहिए। इसी नाते आया हूँ। क्योंकि—

दन्तस्य निर्घर्षणकेन राजन् कर्णस्य कण्डूयनकेन वापि।
तृणेन कार्यं भवतीश्वराणां किमङ्ग वाक्पाणिमता नरेण ॥ ६६ ॥

अन्वयः—हे राजन्! दन्तस्य निर्घर्षणकेन वा कर्णस्य कण्डूयनकेन तृणेन अपि ईश्वराणाम् प्रयोजनं भवति, (तर्हि) अङ्गवाक्पाणिमता नरेण किम् (वक्तव्यम्, तेन त्ववश्यं प्रयोजनं भविष्यतीति भावः) ॥ ६६ ॥

निर्घर्षणकेन = सङ्घर्षणकृता (खोदनेवाले), कण्डूयनकेन = कण्डूयनकारिणा (खुजलानेवाले), ईश्वराणाम् = स्वामिनाम्, अङ्गवाक्पाणिपादमता = श्वपजहस्त

पादयुक्तेन। यदि तुच्छतमतृणेनापि राज्ञा दन्तनिर्घर्षणाद्यर्थं प्रयोजनं भवति, तर्हि वचसा हस्तपादयुक्तेन नरेण कथं न प्रयोजन भवति, अपि तु भवत्येवेति भावः॥

हे राजन्, दाँत खोदने और कान खुजलाने के लिए राजाओं को तिनके की भी आवश्यकता पड़ जाती है तो फिर अङ्ग हाथ पैरवाले मनुष्य की तो बात ही क्या है। ॥६६॥

यद्यपि चिरेणावधीरितस्य देवपादैर्मे बुद्धिनाशः शक्यते, तदपि न शङ्कनीयम्। यतः—

अवधीरितस्य = तिरस्कृतस्य, देवपादैः = भवद्भिः॥

यद्यपि आपने बहुत दिनों से मेरी उपेक्षा की है जिससे आपको यह शंका हो सकती है कि कहीं आपकी उपेक्षा से मेरी बुद्धि ही नष्ट न हो गयी हो। फिर भी आप को ऐसी शङ्का नहीं होनी चाहिए। क्योंकि—

> कदर्थितस्यापि च धैर्यवृत्तेर्बुद्धेर्विनाशो नहि शङ्कनीयः।
> अधः कृतस्यापि तनूनपातो नाधः शिखा याति कदाचिदेव ॥६७॥

अन्वयः—कदर्थितस्य अपि धैर्यवृत्तेः (जनस्य) बुद्धिनाशः न हि शङ्कनीयः, (यतः) अधः कृतस्य अपि तनूनपातः शिखा कदाचिदेव अधः न याति॥ ६७॥

कदर्थितस्य = स्वामिना तिरस्कृतस्य, धैर्यवृत्ते = धीरस्य, बुद्धिनाशः = बुद्धिभ्रंश, अधःकृतस्य = नीचैर्विहितस्य, तनूनपातः—तनू न पातयतीति तनूनपात् 'नभ्राण्नपात—'इति निपातितः, तस्य = अग्नेः, शिखा = ज्वाला, कदाचिदेव = कदाचिदपि, अत्र 'एव' शब्दोऽप्यर्थकः॥

अपमानित हुए धैर्यशाली व्यक्ति की बुद्धि नष्ट हो जाती है ऐसी शंका कभी नहीं करनी चाहिए। क्योंकि आग को नीचे की ओर करने पर भी उसकी लपट कभी भी नीचे की ओर नहीं जाती॥ ६७॥

देव, तत्सर्वथा विशेषज्ञेन स्वामिना भवितव्यम्। यतः—

सर्वथा=सर्वैः प्रकारैः, विशेषज्ञेन=ह्रस्मिन् भृत्ये का विशेषता इति ज्ञानवता॥

इसलिए हे राजन्, स्वामी को भली भाँति विवेकी होना चाहिए। क्योंकि—

> मणिर्लुठति पादेषु काचः शिरसि धार्यते।
> यथैवास्ते तथैवास्तां काचः काचो मणिर्मणिः॥ ६८॥

अन्वय—(यदि धारकस्य अज्ञानतया) मणिः पादेषु लुठति, काचः शिरसि धार्यते (तर्हि स मणिः काचश्च) यथा एव आस्ते तथा एव आस्ताम्, (परन्तु काचः काचः (एव अस्ति, तथा) मणिः मणिः (एव अस्ति)॥ ६८॥

मणिः = रत्नम्, लुठति = चालितः तिष्ठति। यदि मणिकाचयोरनुचितस्थाने ग्रहणेनापि तयोर्गुणः नाल्पमपि हीयते इत्यर्थः ॥

यदि मणि को पैरों पर डाल दिया जाय और कांच को शिर पर धारण कर लिया जाय तो भी जो जैसा है, वह वैसा ही रहेगा। कांच (शीशा) कांच ही रहेगा और मणि मणि ही रहेगी ॥ ६८ ॥

अन्यच्च—

निर्विशेषो यदा राजा समं सर्वेषु वर्तते।
तदोद्यमसमर्थानामुत्साहः परिहीयते ॥ ६९ ॥

अन्वय—यदा राजा निर्विशेषः (सन्) सर्वेषु समं वर्तते, तदा उद्यमसमर्थानाम् उत्साहः परिहीयते ॥ ६९ ॥

निर्विशेषः = गुणतारतम्यस्य अज्ञः, सर्वेषु = समस्तेषु, गुणवत्सु गुणहीनेषु चेत्यर्थः, उद्यमसमर्थानाम्=उद्योगिनाम्, परिहीयते = हीनो भवति ॥

और भी—जब राजा सेवक की विशेषताओं पर ध्यान दिए बिना ही सभी के साथ समान व्यवहार करता है तो उद्यमी सेवक का उत्साह ठंडा पड़ जाता है ॥ ६९ ॥

किञ्च—

त्रिविधाः पुरुषा राजन्नुत्तमाधममध्यमाः।
नियोजयेत्तथैवैतांस्त्रिविधेष्वेव कर्मसु ॥ ७० ॥

अन्वय—राजन्! उत्तमाधममध्यमाः (इति) त्रिविधाः पुरुषाः (भवन्ति, अतः राजा एतान् त्रिविधेषु एव कर्मसु तथा एव योजयेत् ॥ ७० ॥

त्रिविधाः=त्रिप्रकाराः, उत्तमाधममध्यमाः=श्रेष्ठाः नीचाः साधारणाश्च। नियोजयेत्=नियुक्तान् कुर्यात्, त्रिविधेषु=उत्तमनीचसाधारणेषु ॥

और भी—हे राजन्! मनुष्य तीन प्रकार के होते हैं—उत्तम मध्यम और अधम। इस लिए इन तीनों प्रकार के मनुष्यों को तीन प्रकार के कार्यों—उत्तम, मध्यम, और अधम में ही लगाना चाहिए ॥ ७० ॥

यतः—

स्थान एव नियोज्यन्ते भृत्याश्चाभरणानि च।
नहि चूडामणिः पादे नूपुरं शिरसा कृतम् ॥ ७१ ॥

अन्वय—भृत्याः आभरणानि च स्थाने एव नियोज्यन्ते, पादे चूडामणिः शिरसा नूपुरम् नहि कृतम् (भवति) ॥ ७१ ॥

स्थाने = योग्यस्थाने, आभरणानि = अलङ्काराः, चूडामणिः = शिरोभूषणम्, नूपुरम् = चरणभूषणम् (पावजेब, पैजनी)

और भी—सेवक और आभूषण को उचित स्थान ही पर नियुक्त करना चाहिए, क्योंकि चूडामणि पैर में और नूपुर सिर पर कभी नहीं धारण किया जा सकता है ॥ ७१ ॥

अपि च—

> कनकभूषणसंग्रहणोचितो
> यदि मणिस्त्रपुणि प्रणिधीयते ।
> न स विरौति न चापि न शोभते
> भवति योजयितुर्वचनीयता ॥ ७२ ॥

अन्वय—यदि कनकभूषणसंग्रहणोचितः मणिः त्रपुणि प्रणिधीयते, स न विरौति, च न, शोभते इति न (किन्तु) योजयितु. वचनीयता (भवति) ॥ ७२ ॥

कनकभूषणसंग्रहणोचितः—स्वर्णालङ्कारे जटितु योग्य, त्रपुणि=पिचटे, तुच्छ- तमधातुविशेषे (रांगा) नामके, विरौति = विरुद्ध शब्दायते, नचापि० = न शोभते इति न अपि तु शोभत एव। योजयितु. = त्रपुणो भूषणे योजकस्य, वचनीयता = निन्दा ॥

और भी—सोने के आभूषण में जड़ी जाने के योग्य मणि यदि रांगे में जड़ दी जाय तो न तो वह रोती है और भली नहीं लगती, यह बात नहीं है, किन्तु भली लगती ही है, किन्तु इससे तो उसके जड़नेवाले की ही निन्दा होती है ॥ ७२ ॥

अन्यच्च—

> मुकुटे रोपितः काचश्चरणाभरणे मणिः ।
> नहि दोषो मणेरस्ति किन्तु साधोरविज्ञता ॥ ७३ ॥

अन्वय—(यदि) मुकुटे काचः (च) चरणाभरणे मणिः रोपितः (भवति, तदा) मणेः दोषः न हि अस्ति, किन्तु साधोः अविज्ञता (भवति) ॥ ७३ ॥

मुकुटे = शिरोधार्यभूषणविशेषे, रोपितः = जटितः (जड़ा गया), चरणा भरणे = पादभूषणे नूपुरादौ, साधोः = वणिजः (साहूकारकी), अविज्ञता = विशिष्टज्ञानहीनता ॥

और भी—यदि मुकुट में काँच और पैर के गहने में मणि जड़ दी जाय तो इसमें मणि का कोई भी दोष नहीं। बल्कि ऐसा करने वाला साहूकार ही मूर्ख समझा जायगा ॥ ७३ ॥

पश्य—

बुद्धिमाननुरक्तोऽयमय शूर इती भयम्।
इति भृत्यविचारज्ञो भृत्यैरापूर्यते नृप॥ ७४॥

अन्वय—अयम् बुद्धिमान् अनुरक्तः, अयम् शूरः, इतः भयम् (अस्ति), इति भृत्यविचारज्ञः नृपः भृत्यैः आपूर्यते॥ ७४॥

अनुरक्तः = अनुरागपूर्णः, शूरः = वीरः, इतः = अस्मात् भृत्यादिति शेषः, इति = इत्थम्, भृत्यविचारज्ञः = भृत्यविचारज्ञानपूर्णः, आपूर्यते = परिपूर्णो भवति। बुद्धिमदादिभृत्यज्ञानवत नृपस्य समीप एव भृत्या सदा तिष्ठन्तीति भावः॥

देखिये—यह सेवक बुद्धिमान् है, यह मुझमें अनुरक्त है, यह वीर है, इससे मुझे भय है—इस प्रकार सेवकों के विषय में ज्ञान रखने वाला स्वामी सर्वदा सेवकों से भरा पुरा रहता है॥ ७४॥

तथा हि—

अश्व शस्त्रं शास्त्र वीणा वाणी नरश्च नारी च।
पुरुषविशेष प्राप्य हि भवन्ति योग्या अयोग्याश्च॥ ७५॥

अन्वय—अश्वः शस्त्रम् शास्त्रम् वीणा वाणी च नरः च नारी (एते) पुरुषविशेष प्राप्य योग्याः च अयोग्या भवन्ति॥ ७५॥

पुरुषविशेषम् = योग्यमयोग्य वा नरम्॥

जैसा कि—घोड़ा, हथियार, शास्त्र, वीणा, वाणी, पुरुष और स्त्री—ये सब योग्य या अयोग्य पुरुष के हाथों में पड कर योग्य या अयोग्य बन जाते हैं॥ ७५॥

अन्यच्च—

किं भक्तेनासमर्थेन किं शक्तेनापकारिणा।
भक्तं शक्तं च मा राजन्नवज्ञातु त्वमर्हसि॥ ७६॥

अन्वय—भक्तेन (परन्तु) असमर्थेन (भृत्येन) किम् (अस्ति)?, अपकारिणा शक्तेन किम् (अस्ति)?, हे राजन्! (त्वम्) भक्तम् च शक्तम् माम् अवज्ञातुम् न अर्हसि॥ ७६॥

भक्तेन=भक्तियुक्तेन, असमर्थेन = सामर्थ्यहीनेन, शक्तेन = सामर्थ्ययुक्तेन, अपकारिणा=अपकारकारिणा, अवज्ञातुम् = तिरस्कर्तुम्, अर्हसि=योग्योऽसि॥

स्वामिभक्त होते हुए भी शक्तिहीन सेवक से कोई लाभ नहीं, उसी प्रकार शक्तिशाली होते हुए भी बुरा चाहने वाले सेवक से भी कोई लाभ नहीं। इस लिए आप को स्वामिभक्त शक्तिसम्पन्न मेरे जैसे सेवक का निरादर करना उचित नहीं है॥ ७६॥

यतः—

अवज्ञानाद्राज्ञो भवति मतिहीनः परिजनः
ततस्तत्प्रामाण्याद्भवति न समीपे बुधजनः ।
बुधैस्त्यक्ते राज्ये नहि भवति नीतिर्गुणवती
विपन्नायां नीतौ सकलमवशं सीदति जगत् ॥ ७७ ॥

अन्वय—राज्ञः अवज्ञानात् परिजनः मतिहीनः भवति, ततः तत्प्रामाण्यात् बुधजनः समीपे न भवति, बुधैः त्यक्ते राज्ये गुणवती नीतिः न भवति, नीतौ विपन्नायाम् अवशम् सकलम् जगत् अवसीदति ॥ ७७ ॥

अवज्ञानात् = तिरस्कारात्, परिजनः = भृत्यसमूहः, तत्प्रामाण्यात्=बुद्धिहीनपरिजनस्य प्रामाण्येन, बुधजनः=विद्वज्जनः, बुधैः त्यक्ते=विद्वज्जनहीने, गुणवती = प्रशस्तगुणयुक्ता, विपन्नायाम् = नष्टायाम्, सकलम् = सर्वम्, सीदति= पीडितं भवति, नश्यतीति भावः ॥

क्योंकि—राजा के निरादर करने से सेवक बुद्धिहीन हो जाता है, जिससे उन्हीं को प्रमाण मान कर विद्वान् लोग उसके समीप ही नहीं जाते और बुद्धिमानों के द्वारा छोड़े गये राज्य में नीति गुणशालिनी नहीं होती तथा नीति के दूषित हो जाने से सारी प्रजा उच्छृङ्खल हो कर नष्ट हो जाती है ॥ ७७ ॥

अपरञ्च—

जनं जनपदा नित्यमर्चयन्ति नृपार्चितम् ।
नृपेणावमतो यस्तु स सर्वैरवमन्यते ॥ ७८ ॥

अन्वय—जनपदाः नृपार्चितम् जनम् नित्यम् अर्चयन्ति, तु यः नृपेण अवमतः, सः सर्वैः अवमन्यते ॥ ७८ ॥

जनपदाः=देशाः, तत्स्था देशवासिन इत्यर्थः, नृपार्चितम् = राज्ञा सत्कृतम्, अवमतः = अनादृतः, अवमन्यते = अनाद्रियते ॥

और भी—हे राजन् राजा द्वारा सम्मानित व्यक्ति का प्रजा भी सम्मान करती है, किन्तु जो राजा से अपमानित होता है, वह सभी लोगों द्वारा अपमानित होता है ॥ ७८ ॥

किञ्च—

बालादपि ग्रहीतव्यं युक्तमुक्तं मनीषिभिः ।
रवेरविषये किं न प्रदीपस्य प्रकाशनम् ॥ ७९ ॥

अन्वय—मनीषिभिः युक्तम् उक्तम् बालात् अपि गृहीतव्यम्, रवेः अविषये किम् प्रदीपस्य प्रकाशनम् न (गृह्यते) ? ॥ ७९ ॥

बालात् = बालकात्, युक्तम् = योग्यम्, उक्तम् = कथितं वचनम्, मनीषिभिः = बुद्धिमद्भिः, रवेरविषये = सूर्येऽविद्यमाने, प्रदीपस्य = दीपकस्य, प्रकाशनम् = प्रकाशः, सूर्याभावे दीपप्रकाशग्रहणवद्विद्वद्भिर्नोदात्यभावे बालकोक्तमप्युचितवचनं ग्रहणीयमेवेत्याशयः ॥

और भी—विद्वानों को बालक द्वारा भी कही गई उचित बात मान लेनी चाहिए। जहाँ सूर्य का प्रकाश काम नहीं देता वहाँ क्या दीपक नहीं जलाया जाता ? ॥ ७९ ॥

पिङ्गलकोऽवदत्—'भद्र दमनक ! किमेतत् ? । त्वमस्मदीयप्रधानामात्यपुत्र इयन्त कालं यावत्कुतोऽपि खलवाक्यान्नागतोऽसि । इदानीं यथाभिमतं ब्रूहि ।' दमनको ब्रूते—'देव, पृच्छामि किञ्चित् । उच्यताम् । उदकार्थी स्वामी पानीयमपीत्वा किमिति विस्मित इव तिष्ठति ।' पिङ्गलकोऽवदत्—'भद्रमुक्तं त्वया । किन्त्वेतद्रहस्यं वक्तुं काचिद्विश्वासभूमिर्नास्ति । तथापि निभृतं कृत्वा कथयामि । शृणु । सम्प्रति वनमिदमपूर्वसत्त्वाधिष्ठितमतोऽस्माकं त्याज्यम् । अनेन हेतुना विस्मितोऽस्मि । तथा च श्रुतो मयापि महानपूर्वशब्दः । शब्दानुरूपेणास्य प्राणिनो महता बलेन भवितव्यम् ।' दमनको ब्रूते—'देव ! अस्ति तावदयं महान् भयहेतुः । स शब्दोऽस्माभिरप्याकर्णितः । किन्तु स किंमन्त्री यः प्रथमं भूमित्यागं पश्चाद्युद्धं चोपदिशति अस्मिन् कार्यसन्देहे भृत्यानामुपयोग एव ज्ञातव्यः । यतः—

भद्र = कल्याणिन् !, अस्मदीयप्रधानामात्यपुत्रः—अस्मन्मुख्यमन्त्रिसुतः, इयन्तं कालं यावत् = एतावत्कालपर्यन्तम्, कुतोऽपि = कस्माच्चित्, खलवाक्यात् = दुर्जनोक्तेः । यथाभिमतम् = स्वाभीष्टानुसारम् । उदकार्थी = जलाभिलाषी स्वामी = प्रभुः, भवानिति यावत्, किमिति = कथम्, विस्मित इव = भीतवत्, भद्रम् = सम्यक् । रहस्यस्य = गुप्तविषयस्य, विश्वासभूमिः = विश्वासस्थानम् । निभृतम् = एकान्तम्, निर्जनमिति भावः । सम्प्रति = अस्मिन् समये, अपूर्वसत्त्वाधिष्ठितम्—अपूर्वेण = नवागन्तुकेन, सत्त्वेन = जीवेन, अधिष्ठितम् = कृताधिष्ठानम्, अत्र वने कोऽपि नवीनो जन्तुस्तिष्ठतीति यावत् । श्रुतः = आकर्णितः, अपूर्वशब्दः = अश्रुतपूर्वो ध्वनिः, शब्दानुरूपेण = ध्वन्यनुसारम्, प्राणिनः = जन्तोः, भयहेतुः = भयस्य कारणम्, आकर्णितः = श्रुतः । भूमित्यागम् = निवासस्थानत्यागम्, उपादिशति = मन्त्रयति, भृत्यानाम् = सेवकानाम्, उपयोगः = उपयोगिता ॥

पिंगलक ने कहा—भद्र दमनक, यह क्या ? तुम हमारे प्रधानमन्त्री के पुत्र हो। पता

नहीं, किस दुष्ट की बात में पड़कर इतने दिनों तक तुम नहीं आये। अब तुम अपनी बात कहो। दमनक ने कहा—'देव, मैं आप से कुछ पूछना चाहता हूं। यह बताइए कि आप पानी पीने तो गए, किन्तु बिना पानी पिए ही क्यों इस प्रकार चकित सा होकर बैठे हैं? 'पिङ्गलक ने कहा—'तुमने ठीक ही कहा है, किन्तु इस रहस्य को बताने के लिए कोई विश्वासपात्र ही नहीं है फिर भी मैं चुपके से कह रहा हूं। सुनो—इस समय इस जंगल में कोई अपूर्व जानवर आ गया है, अतः मुझे यह स्थान छोड़ देना चाहिए। इसी कारण मैं चकित हूँ। मैंने भी उसका महान् अपूर्व शब्द सुना है। शब्द के अनुसार तो उस प्राणी को बहुत ही बलवान् होना चाहिए।' दमनक ने कहा—'देव' यह तो बड़े ही भय का कारण है। वह शब्द हमलोगों ने भी सुना है। किन्तु वह मन्त्री कैसा, जो पहले स्थान छोड़ देने और फिर युद्ध करने की सलाह दे। ऐसे ही सन्देहात्मक विषय में सेवकों की उपयोगिता समझनी चाहिए। क्योंकि—

बन्धुस्त्रीभृत्यवर्गस्य बुद्धेः सत्त्वस्य चात्मनः।
आपन्निकषपाषाणे नरो जानाति सारताम्॥ ८०॥

अन्वय—नरः बन्धुस्त्रीभृत्यवर्गस्य, बुद्धेः सत्त्वस्य च आत्मनः सारताम् आपन्निकषपाषाणे जानाति॥ ८०॥

बन्धुस्त्रीभृत्यवर्गस्य—बन्धूनाम् = बान्धवानाम्, स्त्रीणाम् = पत्नीनाम्, भृत्यानां च = सेवकानां च, वर्गस्य, = समूहस्य, सत्त्वस्य = बलस्य, आत्मनः = स्वस्य, आपन्निकषपाषाणे—आपत् = विपत्तिरेव, निकषपाषाणः = सुवर्णपरीक्षकप्रस्तरः (कसौटी) सारताम् = श्रेष्ठताम्। यथा निकषप्रस्तरे सुवर्णस्य अधमोत्तमत्वं ज्ञायते, तथैव आपत्तौ बन्ध्वादेः सारत्वं नरः जानाति इत्याशयः॥

भाई, स्त्री, सेवक वर्ग, बुद्धि और अपने बल को आपत्तिरूपी कसौटी पर कस कर ही मनुष्य उसका तत्त्व समझ सकता है॥ ८०॥

सिंहो ब्रूते—'भद्र, महती शङ्का मां बाधते।' दमनकः पुनराह स्वगतम्—'अन्यथा राज्यसुखं परित्यज्य स्थानान्तरं गन्तुं कथं मां सम्भाषसे।' प्रकाशं ब्रूते—'देव! यावदहं जीवामि तावद्भयं न कर्तव्यम्। किन्तु करटकादयोऽप्याश्वास्यन्तां यस्मादापत्प्रतीकारकाले दुर्लभः पुरुषसमवायः—

माम् = पिङ्गलकम्, बाधते = पीडयति। स्वगतम् = स्वमनसि, तमश्रावयित्वेत्यर्थः। अन्यथा = भयाभावे सति, स्थानान्तरम् = अन्यत् स्थानम्, सम्भाषसे = कथयसि, प्रकाशम् = स्पष्टम्, सिंहं श्रावयित्वा, करटकादयः = करटकप्रभृ-

तय., आश्वास्यन्ताम् = आश्वासनीयाः, करटकादीनप्याश्वासयेत्यर्थः । यत = यस्मात् कारणात्, आपत्प्रतीकारकाले = विपन्निराकरणक्षणे पुरुषप्रमादः = शक्तानुरक्तसेवकसमूहसमागम ॥

सिंह ने कहा—'भद्र, मुझे बहुत बड़ी शंका सता रही है। दमनक ने मन ही मन कहा—'ऐसा न होता तो राज्यसुख छोड़ कर दूसरे स्थान पर जाने की बात ही मुझ से कहते ?' उसने प्रकट रूप में कहा—'राजन्! जब तक मैं जीवित हूँ, तब तक आप को डरना नहीं चाहिए। किन्तु करटक इत्यादि को भी आश्वासन दे दें क्योंकि विपत्ति का सामना करने के समय पुरुषों का एकत्रित होना कठिन होता है।

ततस्तौ दमनककरटकौ राज्ञा सर्वस्वेनापि पूजितौ भयप्रतीकारं प्रतिज्ञाय चलितौ। करटको गच्छन् दमनकमाह—'सखे, किं शक्यप्रतीकारो भयहेतुरशक्यप्रतीकारो वेति न ज्ञात्वा भयोपशमं प्रतिज्ञाय कथमयं महाप्रसादो गृहीतः ?। यतोऽनुपकुर्वाणो न कस्याप्युपायनं गृह्णीयाद्विशेषतो राज्ञः। पश्य—

सर्वस्वेन = सर्वविधधनेन, प्रचुरद्रव्येणेति यावत्, भयप्रतीकारं प्रतिज्ञाय = तद्भयं निराकरिष्याव इति प्रतिज्ञां कृत्वा। शक्यप्रतीकार = निवारयितुं शक्य., भयहेतु = भयकारणम्, भयोपशमम् = भयनिवारणम्, प्रतिज्ञाय = प्रतिज्ञां कृत्वा, महाप्रसाद. = स्वामिदत्त. श्रेष्ठ पुरस्कार.। अनुपकुर्वाणः = उपकार मकुर्वन्, उपायनम् = उपहारम् (भेंट)॥

इसके पश्चात् दमनक और करटक राजा से भली भाँति सम्मानित हो कर भय दूर करने की प्रतिज्ञा करके चले। करटक ने चलते समय दमनक से कहा—मित्र, भय का कारण दूर हो सकने योग्य है अथवा नहीं—बिना इसे समझे ही भय दूर करने की प्रतिज्ञा करके क्यों तुमने इस बड़े पुरस्कार को ले लिया ? क्योंकि बिना उपकार किए किसी का पुरस्कार नहीं लेना चाहिए, और विशेष कर राजा का तो अवश्य नहीं। देखो—

यस्य प्रसादे पद्माऽऽस्ते विजयश्च पराक्रमे।
मृत्युश्च वसति क्रोधे सर्वतेजोमयो हि सः ॥ ८१ ॥

अन्वय —यस्य प्रसादे पद्मा च पराक्रमे विजय आस्ते, च क्रोधे मृत्युः वसति सः हि सर्वतेजोमय. (अस्ति)

यस्य = नृपस्य, प्रसादे = प्रसन्नतायाम्, पद्मा = लक्ष्मीः आस्ते = वर्तते यस्मिन् प्रसन्ने लक्ष्मीर्भवति इत्यर्थः, मृत्यु = मरणम्, सर्वतेजोमय. = समस्ततेजोयुक्त.॥

जिसकी कृपा में लक्ष्मी, पौरुष में विजय तथा क्रोध में मृत्यु का निवास होता है, इसी से वह सभी तेजों से पूर्ण होता है ॥ ८१ ॥

नहीं, किस दुष्ट का बात में पड़कर इतने दिनों तक तुम नहीं आये। अब तुम अपनी बात कहो। दमनक ने कहा–'देव, मैं आप से कुछ पूछना चाहता हू। यह बताइए कि आप पानी पीने तो गए, किन्तु बिना पानी पिए ही क्यों इस प्रकार चकित सा होकर बैठे हैं? 'पिङ्गलक ने कहा—'तुमने ठीक ही कहा है, किन्तु इस रहस्य को बताने के लिए कोई विश्वासपात्र ही नहीं है फिर भी मैं चुपके से कह रहा हू। सुनो—इस समय इस जगल में कोई अपूर्व जानवर आ गया है, अतः मुझे यह स्थान छोड़ देना चाहिए। इसी करण मैं चकित हूँ। मैंने भी उसका महान् अपूर्व शब्द सुना है। शब्द के अनुसार तो उस प्राणी को बहुत ही बलवान् होना चाहिए।' दमनक ने कहा—'देव' यह तो बड़े ही भय का कारण है। वह शब्द हमलोगों ने भी सुना है। किन्तु वह मंत्री कसा, जो पहले स्थान छोड़ देने और फिर युद्ध करने की सलाह दे। ऐसे ही सन्देहात्मक विषय में सेवकों की उपयोगिता समझनी चाहिए। क्योंकि—

बन्धुस्त्रीभृत्यवर्गस्य बुद्धेः सत्त्वस्य चात्मनः।
आपन्निकषपाषाणे नरो जानाति सारताम्' ॥ ८० ॥

अन्वय —नरः बन्धुस्त्रीभृत्यवर्गस्य, बुद्धेः सत्त्वस्य च आत्मनः सारताम् आपन्निकषपाषाणे जानाति ॥ ८० ॥

बन्धुस्त्रीभृत्यवर्गस्य—बन्धूनाम् = बान्धवानाम्, स्त्रीणाम् = पत्नीनाम्, भृत्यानां च = सेवकाना च, वर्गस्य, = समूहस्य, सत्त्वस्य = बलस्य, आत्मनः = स्वस्य, आपन्निकषपाषाणे—आपत् = विपत्तिरेव, निकषपाषाणः = सुवर्णपरीक्षकप्रस्तर (कसौटी) सारताम् = श्रेष्ठताम्। यथा निकषप्रस्तरे सुवर्णस्य अधमोत्तमत्व ज्ञायते, तथैव आपत्तौ बन्धुस्त्र्यादेः सारत्व नरः जानाति इत्याशयः ॥

भाई, स्त्री, सेवक वर्ग, बुद्धि और अपने बल को आपत्तिरूपी कसौटी पर कस कर ही मनुष्य उसका तत्त्व समझ सकता है ॥ ८० ॥

सिंहो ब्रूते—'भद्र, महती शङ्का मा बाधते।' दमनकः पुनराह स्वगतम्—'अन्यथा राज्यसुख परित्यज्य स्थानान्तर गन्तु कथ मा सम्भाषसे।' प्रकाश ब्रूते—'देव! यावदह जीवामि तावद्भयं न कर्तव्यम्। किन्तु करटकादयोऽप्याश्वास्यन्ता यस्मादापत्प्रतीकारकाले दुर्लभः पुरुषसमवायः—

माम् = पिङ्गलकम्, बाधते = पीडयति। स्वगतम् = स्वमनसि, समश्राव्यित्वेत्यर्थः। अन्यथा = भयाभावे सति, स्थानान्तरम् = अन्यत् स्थानम्, सम्भाषसे = कथयसि, प्रकाशम् = स्पष्टम्, सिंह श्रावयित्वा, करटकादयः = करटकप्रभृ-

तथ., आश्वास्यन्ताम् = आश्वासनीयाः, करटकादीनप्याश्वासयेत्यर्थः। यतः = यस्मात् कारणात्, आपत्प्रतीकारकाले = विपन्निराकरणक्षणे पुरुषसमवाय = शक्तानुरक्तसेवकसमूहसमागम ॥

सिंह ने कहा—'भद्र, मुझे बहुत बड़ी शंका सता रही है। दमनक ने मन ही मन कहा—'ऐसा न होता तो राज्यसुख छोड़ कर दूसरे स्थान पर जाने की बात ही क्यों मुख से कहते ?' उसने प्रकट रूप में कहा—'राजन् ! जब तक मैं जीवित हूँ, तब तक आप को डरना नहीं चाहिए। किन्तु करटक इत्यादि को भी आश्वासन दे दें क्योंकि विपत्ति का सामना करने के समय पुरुषों का एकत्रित होना कठिन होता है।

ततस्तौ दमनककरटकौ राज्ञा सर्वस्वेनापि पूजितौ भयप्रतीकार प्रतिज्ञाय चलितौ। करटको गच्छन् दमनकमाह—'सखे, किं शक्य-प्रतीकारो भयहेतुरशक्यप्रतीकारो वेति न ज्ञात्वा भयोपशम प्रतिज्ञाय कथमय महाप्रसादो गृहीत ?। यतोऽनुपकुर्वाणो न कस्याप्युपायन गृह्णीयाद्विशेषतो राज्ञ। पश्य—

सर्वस्वेन = सर्वविधधनेन, प्रचुरद्रव्येणेति यावत्, भयप्रतीकार प्रतिज्ञाय = तद्भय निराकरिष्याव इति प्रतिज्ञां कृत्वा। शक्यप्रतीकार = निवारयितु शक्यः, भयहेतुः = भयकारणम्, भयोपशमम् = भयनिवारणम्, प्रतिज्ञाय = प्रतिज्ञां कृत्वा, महाप्रसादः = स्वामिकृत. श्रेष्ठ पुरस्कार। अनुपकुर्वाणः = उपकार मकुर्वन्, उपायनम् = उपहारम् (भेंट) ॥

इसके पश्चात् दमनक और करटक राजा से भली भाँति सम्मानित हो कर भय दूर करने की प्रतिज्ञा करके चले। करटक ने चलते समय दमनक से कहा—मित्र, भय का कारण दूर हो सकने योग्य है अथवा नहीं—बिना इसे समझे ही भय दूर करने की प्रतिज्ञा करके क्यों तुमने इस बड़े पुरस्कार को ले लिया ? क्योंकि बिना उपकार किए किसी का पुरस्कार नहीं लेना चाहिए, और विशेष कर राजा का तो अवश्य नहीं। देखो—

यस्य प्रसादे पद्माऽऽस्ते विजयश्च पराक्रमे।
मृत्युश्च वसति क्रोधे सर्वतेजोमयो हि स ॥ ८१ ॥

अन्वय —यस्य प्रसादे पद्मा च पराक्रमे विजय. आस्ते, च क्रोधे मृत्यु' वसति स. हि सर्वतेजोमय. (अस्ति)

यस्य = नृपस्य, प्रसादे = प्रसन्नतायाम्, पद्मा = लक्ष्मी. आस्ते = वर्तते यस्मिन् प्रसन्ने लक्ष्मीर्भवति इत्यर्थं, मृत्यु. = मरणम्, सर्वतेजोमय. = समस्ततेजोयुक्त ॥

जिसकी कृपा में लक्ष्मी, पौरुष में विजय तथा क्रोध में मृत्यु का निवास होता है; इसी से वह सभी तेजों से पूर्ण होता है ॥ ८१ ॥

तथा हि

> बालोऽपि नावमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिपः।
> महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति॥ ८२॥

अन्वय—(अयम्) मनुष्य (अस्ति), इति (विदित्वा) बालः अपि भूमिपः न अवमन्तव्यः, हि एषा महती देवता नररूपेण तिष्ठति॥ ८२॥

अवमन्तव्यः = तिरस्कर्तव्यः, भूमिप = राजा, महती = बहुशक्तियुक्तया श्रेष्ठा॥

जैसा कि—बालक राजा को भी मनुष्य समझ कर उसका निरादर नहीं करना चाहिए। वह तो एक बड़ा देवता होता है, जो मनुष्यरूप में पृथ्वी पर निवास करता है॥ ८२॥

दमनको विहस्याह—'मित्र! तूष्णीमास्यताम्। ज्ञातं मया भयकारणम्। बलीवर्दनर्दितं तत्। वृषभाश्चास्माकमपि भक्ष्याः। किं पुनः सिंहस्य।' करटको ब्रूते—'यद्येवं तदा किं पुनः स्वामित्रासस्तत्रैव किमिति नापनीतः।' दमनको ब्रूते—यदि स्वामित्रासस्तत्रैव मुच्यते तदा कथमयं महाप्रसादलाभः स्यात्। अपरञ्च—

तूष्णीमास्यताम् = त्वया मौनेन स्थीयताम् बलिवर्दनर्दितम् = वृषभगर्जनम्, भक्ष्याः = भोज्याः। स्वामित्रासः = स्वामिनो भयम्, अपनीतः = दूरीकृतः। मुच्यते = दूरीक्रियते॥

दमनक ने हँस कर कहा—'मित्र, चुप रहो। मैंने भय का कारण समझ लिया है। वह बैल का शब्द है। बैल हम लोगों का भी भोजन है, फिर सिंह की तो बात ही क्या'? करटक ने कहा—'यदि ऐसी बात है तो फिर तुमने स्वामी के भय को वहीं क्यों नहीं दूर कर दिया'? दमनक ने कहा—'यदि स्वामी का भय वहीं दूर कर देता तो यह इतना बड़ा उपहार कैसे प्राप्त होता? और भी—

> निरपेक्षो न कर्तव्यो भृत्यैः स्वामी कदाचन।
> निरपेक्षं प्रभुं कृत्वा भृत्यः स्याद्दधिकर्णवत्॥ ८३॥

अन्वय—भृत्यैः कदाचन स्वामी निरपेक्षः न कर्तव्यः। प्रभुं निरपेक्षं कृत्वा भृत्यः दधिकर्णवत् स्यात्॥ ८३॥

निरपेक्षः = अपेक्षाहीनः, कदाचन = कदाचित्। दधिकर्णवत्—दधिकर्णेन इति विग्रहे 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' इति वतिप्रत्ययः = 'दधिकर्ण' नामकबिडाल तुल्यः। स्यात् = भवेत्॥

सेवक को चाहिए कि वह कभी भी स्वामी को निरपेक्ष (सेवक को अनावश्यक समझने वाला) नहीं करे, क्योंकि स्वामी को निरपेक्ष बना देने से सेवक की दशा दधिकर्ण के समान हो जाती है ॥ ८३ ॥

करटक' पृच्छति—'कथमेतत् ?' दमनक कथयति—

करटक ने पूछा—'यह कैसे ?' दमनक ने कहा—

अस्त्युत्तरापथेऽर्बुदशिखरनाम्नि पर्वते दुर्दान्तो नाम महाविक्रम सिह' । तस्य पर्वतकन्दरमधिशयानस्य केसराग्र कश्चिन्मूषिक' प्रत्यह छिनत्ति । तत केसराग्र लून दृष्ट्वा कुपितो विवरान्तर्गतं मूषिकमलभमानोऽचिन्तयत्—

महाविक्रमः=अतीव पराक्रमी, पर्वतकन्दरम्=गिरिगुहाम् , अधिशयानस्य = सुप्तस्य, केसराग्रम्=ग्रीवोपरिस्थबालसमूहाग्रमित्यर्थं , लूनम् = छिन्नम्, विवरान्तर्गतम्=बिलस्याभ्यन्तरे प्रविष्टम् , अलभमानः=अप्राप्नुवन् । विधेयम्=कर्तव्यम् ॥

भारत के उत्तरी प्रदेश में अर्बुदशिखर नाम के पहाड पर दुर्दान्त नाम का एक बडा बलवान् सिंह रहता था । पर्वत की गुफा में सोने के समय कोई चूहा नित्य उसके अयाल (गर्दन का बाल) का अगला भाग कुतर देता था । इस तरह अपने अयाल को कटा हुआ देख कर तथा बिल में रहने वाले चूहे को न पाकर क्रुद्ध सिंह ने विचार किया—

'क्षुद्रशत्रुर्भवेद्यस्तु विक्रमान्नैव लभ्यते ।
तमाहन्तु पुरस्कार्य सदृशस्तस्य सैनिक.' ॥ ८४ ॥

अन्वय — य तु क्षुद्रशत्रुः भवेत् , (स यदि) विक्रमात् न एव लभ्यते, (तर्हि) तम् आहन्तुम् तस्य सदृश. सैनिक. पुरस्कार्यः ॥ ८४ ॥

क्षुद्रशत्रु'=नीचो रिपु , विक्रमात्=पराक्रमेण, लभ्यते=प्राप्यते, तम्=क्षुद्ररिपुम् , आहन्तुम्=मारयितुम् , पुरस्कार्य =पुरस्कर्तव्य. ॥

छोटा शत्रु बल से नहीं पकडा जा सकता है । उसे मारने के लिए उसी के समान छोटे सैनिक को पुरस्कृत करना चाहिए ॥ ८४ ॥

इत्यालोच्य तेन ग्राम गत्वा विश्वास कृत्वा दधिकर्णनामा बिडालो यत्नेनानीय मांसाहारं दत्त्वा स्वकन्दरे स्थापित । अनन्तर तद्भयान्मूषिकोऽपि बिलान्न नि.सरति, तेनासौ सिंहोऽक्षतकेसर.

सुखं स्वपिति। मूषिकशब्दं यदा यदा शृणोति, तदा तदा मांसाहार-दानेन तं बिडालं संवर्धयति।

कृत्यालोच्य = एवं विचार्य, बिडाल = मार्जारः, यत्नेन = प्रयत्नपूर्वकम्, मांसाहारम् = मांसभोजनम्, स्वकन्दरे = स्वावासगुहायाम्। तदनन्तरम् = सिंहेन बिडालस्य स्थापनानन्तरम्, तद्भयात् = बिडालभयात्, अलूनकेसरः = अलूनसटः, सुखम्=सुखपूर्वकम्, स्वपिति = शेते। मांसाहारदानेन = मांसभोजनं दत्त्वा, संवर्धयति = मूषिकवधायोत्साहितं करोति॥

ऐसा विचार कर वह गाँव गया और विश्वास देकर बड़े प्रयत्न से दधिकर्ण नामक बिलार को लाकर मांस का भोजन दे देकर बड़े अपनी गुफा में रख लिया। इसके पश्चात् चूहा भी उसके डर के कारण बिल से नहीं निकलता था। जिससे सिंह की गर्दन के बाल काटे जाने से बचने लगे और वह सुख की नींद सोने लगा। वह जब चूहे की आवाज सुनता तब मांस का भोजन दे देकर बिलार का पालन पोषण करता।

अथैकदा च मूषिकः क्षुधापीडितो बहिः सञ्चरन् बिडालेन प्राप्तो व्यापादितश्च। अनन्तरं स सिंहोऽनेककालं यावन्मूषिकं न पश्यति तत्कृतरावमपि न शृणोति, तदा तस्यानुपयोगाद् बिडालस्याप्याहार-दाने मन्दादरो बभूव। ततोऽसावाहारविरहाद् दुर्बलो दधिकर्णोऽ-वसन्नो बभूव। अतोऽहं ब्रवीमि—'निरपेक्षो न कर्तव्य' इत्यादि। ततो दमनककरटकौ सञ्जीवकसमीपं गतौ। तत्र करटकस्तरुतले साटोपमुपविष्टः।

क्षुधापीडितः = बुभुक्षायुक्तः, सञ्चरन् = भ्रमन्, व्यापादितः = हतः। अनेककालम् = चिरकालपर्यन्तम्, तत्कृतरावम् = मूषिककृतशब्दम्, तस्य = दधिकर्णाख्यबिडालस्य, अनुपयोगात् = उपयोगाभावात्, आहारदाने = भोजनप्रदाने, मन्दादरः=शिथिलादरः। तरुतले=वृक्षाधोभागे, साटोपम्=आडम्बरयुक्तम्॥

एक दिन चूहा भूख से व्याकुल होकर बाहर घूमते समय बिल्ली द्वारा पकड़ लिया गया और मार डाला गया। इसके बाद बहुत दिनों तक जब सिंह ने चूहे को नहीं देखा और न तो उसके शब्द ही को सुना तो दधिकर्ण बिलाड़ की उपयोगिता न रह जाने पर भोजन देने में भी उपेक्षा करने लगा। जिससे वह भोजन न मिलने के कारण दुर्बल हो गया और कुछ दिनों के बाद मर गया। इसी लिए मैंने कहा है कि 'स्वामी को निरपेक्ष नहीं करना चाहिए' इत्यादि। इसके बाद दमनक और करटक सञ्जीवक के पास गए। वहाँ एक वृक्ष के नीचे करटक बड़े रोब-दाब के साथ बैठ गया।

दमनकः सञ्जीवकसमीपं गत्वाब्रवीत्—'अरे वृषभ ! एषोऽहं राज्ञा पिङ्गलकेनारण्यरक्षार्थं नियुक्तः । सेनापतिः करटकः समाज्ञापयति—' सत्वरमागच्छ । न चेदस्मादरण्याद् दूरमपसर । अन्यथा ते विरुद्धं फलं भविष्यति । न जाने क्रुद्धः स्वामी किं विधास्यति ।' तच्छ्रुत्वा सञ्जीवकश्चायात् । यतः—

अरण्यरक्षार्थम् = वनस्य रक्षायै, नियुक्तः = अधिकृतः । सत्वरम्=शीघ्रम् , न चेत् = अन्यथा, आगमनाभावे इत्यर्थः, अपसर = गच्छ । अन्यथा = मत्सिकटमागमनाभावे दूरमपसरणाभावे च विरुद्धम् = विपरीतम् । विधास्यति = करिष्यति । आयात् = आगतः ॥

दमनक ने सञ्जीवक के पास आकर कहा—अरे बैल ! मुझे राजा पिंगलक ने इस जंगल की रखवाली करने के लिये नियुक्त किया है । सेनापति करटक ने आज्ञा दी है कि तुम शीघ्र ही उसके पास चलो । अन्यथा इस जंगल को छोड़ कर दूर चले जाओ । नहीं तो तुम्हारी बड़ी बुरी दशा हो जायगी । पता नहीं क्रुद्ध होकर स्वामी क्या कर डालेंगे । यह सुनकर सञ्जीवक चला आया । क्योंकि—

> आज्ञाभङ्गो नरेन्द्राणां ब्राह्मणानामनादरः ।
> पृथक्शय्या च नारीणामशस्त्रविहितो वधः ॥ ८५ ॥

अन्वयः—नरेन्द्राणाम् आज्ञाभङ्गः ब्राह्मणानाम् अनादरः नारीणाम् पृथक् शय्या (एतत्त्रयम्) अशस्त्रविहितः वधः (भवति) ॥ ८५ ॥

नरेन्द्राणाम् = नृपाणाम् , आज्ञाभङ्गः = आदेशस्य अपालनम् , पृथक्शय्या = पृथक्शयनम् , अशस्त्रविहितः = शस्त्रप्रयोगं विनैव कृतः, वधः = मृत्युः । आज्ञाभङ्गादिना नृपादयो विना शस्त्रप्रयोगं म्रियन्ते, मृतकतुल्या भवन्तीत्याशयः ॥

राजाओं की आज्ञा का उल्लङ्घन करना, ब्राह्मणों का अनादर करना और स्त्रियों को अलग बिछौने पर सुलाना—ये बिना हथियार के की गयी हत्या है ॥ ८५ ॥

ततो देशव्यवहारानभिज्ञः सञ्जीवकः सभयमुपसृत्य साष्टाङ्गपातं करटकं प्रणतवान् । तथा चोक्तम्—

देशव्यवहारानभिज्ञः = देशव्यवहारज्ञानरहितः, सभयम् = भययुक्तम् , उपसृत्य = निकटं गत्वा, प्रणतवान् = ननाम ॥

इस लिए देश काल के व्यवहार को न जानने वाले सञ्जीवक ने डर से निकट जाकर करटक को साष्टाङ्ग प्रणाम किया । जैसा कि कहा भी है—

मतिरेव बलाद्गरीयसी यदभावे करिणामियं दशा ।
इति घोषयतीव डिण्डिमः करिणो हस्तिपकाहतः क्वणन् ॥ ८६ ॥

अन्वय —बलात् मतिः एव गरीयसी (अस्ति), यदभावे करिणाम् इयम् दशा (भवति), करिणः हस्तिपकाहतः क्वणन् डिण्डिमः इति घोषयति इव ॥ ८६ ॥

बलात् = बलापेक्षया, गरीयसी = अतिशयेन श्रेष्ठा, यदभावे = यस्या मतेरभावे, करिणाम् = गजानाम् , इयं दशा = स्वस्य महाशक्तिसम्पन्नत्वेऽपि स्वल्पबलवतः मानवस्य वशीभावरूपैषा अवस्था । घोषयति = घोषणां करोतीव, डिण्डिमः = वाद्यविशेषः, हस्तिपकाहतः = गजारोहिणा ताडितः, क्वणन् = शब्दायमानः ॥

हाथी की पीठ पर रखे हुए नगाड़ा को पीट पीटकर महावत द्वारा बजाने पर मानो वह नगाड़ा यह घोषणा करता है कि बल से बुद्धि ही बलवती होती है । उसी के अभाव में हाथियों की ऐसी दशा है (बली होते हुए भी वे मनुष्य की बुद्धि द्वारा ही उसके गुलाम बन जाते हैं) ॥ ८६ ॥

अथ सञ्जीवकः साशङ्कमाह—'सेनापते ! किं मया कर्तव्यम् । तदभिधीयताम् ।' करटको ब्रूते—'वृषभ ! अत्र कानने तिष्ठसि । अस्मद्देवपादारविन्दं प्रणम ।' सञ्जीवको ब्रूते—'तदभयवाचं मे यच्छ । गच्छामि ।' करटको ब्रूते—'शृणु रे बलीवर्द ! अलमनया शङ्कया ।' यतः—

साशङ्कम् = आशङ्कापूर्वकम् , अभिधीयताम् = कथ्यताम् । अत्र कानने = अस्मिन् वने, तिष्ठसि = निवासं करोषि । अस्मद्देवपादारविन्दम् = अस्माकं नृपतेः चरणकमलम् , प्रणम = प्रणामं कुरु । तावत् = प्रथमम् , अभयवाचम् = अभयवचनम् , मे = मह्यं संजीवकाय, यच्छ = देहि । अलमनया शङ्कया = ईदृशीं शङ्कां न कुरु ॥

इसके बाद सञ्जीवक ने डरते हुए कहा—'सेनापति, बताइए, मैं क्या करूँ ?' करटक ने कहा—'बैल, यदि तुम इस जंगल में रहना चाहते हो तो हमारे स्वामी के चरणों में नमस्कार करो ।' सञ्जीवक ने कहा—'तो मुझे अभयदान दीजिए, मैं वहाँ चलता हूँ ।' करटक ने कहा—'अरे बैल, ऐसी शङ्का न करो । क्योंकि—

प्रतिवाचमदत्त केशवः शपमानाय न चेदिभूभुजे ।
अनुहुङ्कुरुते घनध्वनिं न हि गोमायुरुतानि केसरी ॥ ८७ ॥

अन्वय —केशवः शपमानाय चेदिभूभुजे प्रतिवाचम् न अदत्त, केसरी घनध्वनिम् अनुहुङ्कुरुते, गोमायुरुतानि न (अनुहुङ्कुरुते) ॥ ८७ ॥

प्रतिवाचम् = प्रत्युत्तरम्, केशवः = कृष्णः, शपमानाय = गालिप्रदानं कुर्वत, चेदिभुजे = शिशुपालाय। अनुहुङ्कुरुते = पश्चाद्धुङ्कृतिं करोति। घनध्वनिम् = मेघशब्दम्, गोमायुरुतानि = शृगालरुदितानि, केसरी = सिंहः। बलवान् बलवत्स्वेव पराक्रमं दर्शयति, न क्षुद्रेष्विति तात्पर्यम्।

भगवान कृष्ण ने गाली देने वाले शिशुपाल की बातों का कोई भी उत्तर नहीं दिया क्योंकि सिंह बादलों का गरजना सुनकर ही गरजता है न कि गीदड़ों की बोली सुनकर ॥८७॥

अन्यच्च—

> तृणानि नोन्मूलयति प्रभञ्जनो
> मृदूनि नीचैः प्रणतानि सर्वतः।
> समुच्छ्रितानेव तरून्प्रबाधते
> महान्महत्येव करोति विक्रमम्' ॥ ८८ ॥

अन्वय—प्रभञ्जनः मृदूनि सर्वतः नीचैः प्रणतानि तृणानि न उन्मूलयति, समुच्छ्रितान् तरूनेव प्रबाधते, (यतः) महान् महति एव विक्रमं करोति ॥ ८८ ॥

तृणानि = घासान्, न उन्मूलयति = न उत्पाटयति, प्रभञ्जनः = वात्या (आँधी), मृदूनि = कोमलानि, प्रणतानि = नम्रीभूतानि। समुच्छ्रितान्=अत्युन्नतान्, तरून् = वृक्षान्, प्रबाधते = त्रोटयति, उत्पाटयति वा ॥

ओर—कोमल तथा सभी तरह झुकी हुई घासों को वायु कभी नहीं उखाड़ता। वह तो सिर ऊपर उठाने वाले पेड़ों को ही उखाड़ता है, क्योंकि बड़े लोग बड़ों पर अपने बल का प्रयोग करते हैं ॥ ८८ ॥

ततस्तौ सञ्जीवकं कियद्दूरे संस्थाप्य पिङ्गलकसमीपं गतौ।
तौ = करटकदमनकौ, कियद्दूरे = स्वल्पदूरे ॥

इसके बाद दोनों कुछ दूरी पर ही सञ्जीवक को बिठाकर पिङ्गलक के पास गए।

ततो राज्ञा सादरमवलोकितौ प्रणम्योपविष्टौ। राजाऽऽह—'त्वया स दृष्टः ?।' दमनको ब्रूते—'देव, दृष्टः। किन्तु यद्देवेन ज्ञातं तत्तथा। महानेवासौ देवं द्रष्टुमिच्छति। किन्तु महाबलोऽसौ ततः सज्जीभूयोपविश्य दृश्यताम्। शब्दमात्रादेव न भेतव्यम्। तथा चोक्तम्—

सादरम् = आदरपूर्वकम्, अवलोकितौ = दृष्टौ, देवम् = भवन्तम्। सज्जीभूय = सज्जितो भूत्वा, उपविश्य = उपवेशनं कृत्वा। शब्दमात्रात् = केवलं शब्देनैव ॥

राजा ने इन दोनों को बड़े आदर से देखा और ये दोनों भी प्रणाम करके बैठ गए। राजा ने कहा—'क्या तुमने उसे देखा।' दमनक ने कहा—'देव, देखा तो अवश्य, किन्तु आप जैसा समझते थे, वह वैसा ही बली है। वह आपका दर्शन करना चाहता है। किन्तु वह बहुत बलवान है। आप तैयार होकर बैठिए और देखिए, केवल उसके शब्द को ही सुनकर डर मत जाइएगा। जैसा कि कहा भी है—

'शब्दमात्रान्न भेतव्यमज्ञात्वा शब्दकारणम्।
शब्दहेतुं परिज्ञाय कुट्टनी गौरवं गता' ॥ ८९ ॥

अन्वयः—शब्दकारणम् अज्ञात्वा शब्दमात्रात् न भेतव्यम्, (यतः) शब्दभेदं परिज्ञाय कुट्टिनी गौरवम् गता ॥ ८९ ॥

अज्ञात्वा = अपरिज्ञाय, शब्दकारणम् = शब्दस्य हेतुम्, कुट्टनी = शम्भली, गौरवम् = महत्त्वम् ॥

बिना शब्द का कारण समझे केवल शब्दमात्र से ही नहीं डरना चाहिए। शब्द का कारण जान लेने से ही एक कुटनी लोगों के आदर का पात्र बन गई थी ॥ ८९ ॥

राजाऽऽह—'कथमेतत्?।' दमनकः कथयति—

राजा ने कहा—'यह कैसे?' दमनक ने कहा—

कथा ४

अस्ति श्रीपर्वतमध्ये ब्रह्मपुराख्यं नगरम्। तच्छिखरप्रदेशे घण्टाकर्णो नाम राक्षसः प्रतिवसतीति जनप्रवादः श्रूयते। एकदा घण्टामादाय पलायमानः कश्चिच्चौरो व्याघ्रेण व्यापादितः। तत्पाणिपतिता घण्टा वानरैः प्राप्ता। वानरास्तां घण्टामनुक्षणं वादयन्ति। ततो नगरजनैः स मनुष्यः खादितो दृष्टः प्रतिक्षणं घण्टारवश्च श्रूयते। अनन्तरं घण्टाकर्णः कुपितो मनुष्यान् खादति घण्टां च वादयतीत्युक्त्वा सर्वे जना नगरात्पलायिताः ततः करालया नाम कुट्टन्या विमृश्यानवसरोऽयं घण्टानादः। तत्किं मर्कटा घण्टां वादयन्तीति स्वयं विज्ञाय राजा विज्ञापितः—देव, यदि कियद्धनोपक्षयः क्रियते, तदाहमेनं घण्टाकर्णं साधयामि।' ततो राज्ञा तस्यै धनं दत्तम्। कुट्टन्या च मण्डलं कृत्वा तत्र गणेशादिपूजागौरवं दर्शयित्वा स्वयं वानरप्रियफलान्यादाय वनं प्रविश्य फलान्याकीर्णानि। ततो घण्टां परित्यज्य वानराः

फलासक्ता बभूवुः। कुट्टनी च घण्टां गृहीत्वा नगरमागता सर्वजनपूज्याभवत्। अतोऽहं ब्रवीमि—'शब्दमात्रान्न भेतव्यम्' इत्यादि। ततः संजीवकमानीय दर्शनं कारितवन्तौ। पश्चात्तत्रैव परमप्रीत्या निवसति।

ब्रह्मपुराख्यम् = ब्रह्मपुरनामकम्। तच्छिखरप्रदेशे = तस्य शिखरोपरिभागे, जनप्रवादः = लोकोक्तिः। व्यापादितः = हतः। तत्पाणिपतिता—तस्य चौरस्य हस्ताद् भ्रष्टा, अनुक्षणम् = प्रतिक्षणम्। नगरजनैः = नागरिकैः, खादितः=भक्षितः, घण्टारवं = घण्टाया ध्वनिः, कुपितः = क्रुद्धः। विमृश्य = विचार्य, असवसरः = असामयिकः, घण्टानादः = घण्टाध्वनिः। विज्ञापितः = आवेदितः। कियद्धनोपक्षय = स्वल्पधनव्ययः, साधयामि = वशीकरोमि। तस्यै = कुट्टन्यै, मण्डलम् = तण्डुलकुङ्कुमादिचूर्णेन वृत्ताद्याकारम्, गणेशादिपूजागौरवम् = गणपत्यादिपूजनमहत्वम्, दर्शयित्वा = प्रदर्श्य, आकीर्णानि = यत्र तत्र प्रक्षिप्तानि (बिखेर दिया)। फलासक्ताः = फलग्रहणभक्षणतत्पराः। सर्वजनपूज्या = समस्तमानवादरणीया परमप्रीत्या = महत्या प्रसन्नतया॥

श्री पर्वत के बीच में ब्रह्मपुर नाम का नगर है। वहाँ के लोग ऐसा कहते हुए सुने जाते हैं कि उसकी चोटी पर घण्टाकर्ण नाम का राक्षस रहता था। एक बार घण्टा लेकर भागते हुए किसी चोर को सिंह ने मार डाला। उसके हाथ से गिरा हुआ घण्टा बन्दरों को मिल गया। वे बन्दर घण्टे को हर समय बजाया करते थे। जब नगरवासियों ने सिंह द्वारा खाए गए उस मनुष्य को देखा और हर समय घण्टे की आवाज सुनी तो वे लोग 'घण्टाकर्ण मनुष्यों को खाता है और घण्टा बजाता है' ऐसा कहते हुए वहाँ से भागने लगे। इसके बाद कराला नाम की कुटनी ने विचार किया कि इस घण्टे के असमय बजने में कोई भेद है। उसने यह जान लिया कि घण्टे को बन्दर बजाते हैं और उसने राजा से निवेदन किया कि 'आप कुछ धन खर्च करें तो मैं घण्टाकर्ण को वश में कर सकती हूँ।' राजा ने उसे धन दिया। कुटनी मण्डल बनाकर गणेशादि की पूजा करने का पाखण्ड करके स्वयं बन्दरों को अच्छे लगने वाले फल लेकर जंगल में गई और वहाँ उसने फलों को बिखेर दिया। तब घण्टे को छोड़कर बन्दर फल खाने में लग गए। और कुटनी घण्टे को लेकर नगर में चली आई तथा लोगों से सम्मानित हुई। इसीलिए मैंने कहा है कि—'केवल शब्द से नहीं डरना चाहिए' इत्यादि। इसके बाद संजीवक को वहाँ लाकर उन दोनों ने उसका दर्शन कराया। फिर वह वहीं बड़े प्रेम के साथ रहने लगा।

अथ कदाचित्तस्य सिंहस्य भ्राता स्तब्धकर्णनामा सिंहः समा-

गत'। तस्यातिथ्यं कृत्वा सिंहमुपवेश्य पिङ्गलकस्तदाहाराय पशुं हन्तुं चलित'। अत्रान्तरे संजीवको वदति—'देव, अद्य हतमृगाणां मांसानि क?' राजाह—'दमनककरटकौ जानीत सजीवको ब्रूते—'ज्ञायता किमस्ति नास्ति वा?' सिंहो विमृश्याह—'नास्त्येव तत्।' संजीवको ब्रूते—'कथमेतावन्मांस ताभ्यां खादितम्।' राजाह—'खादितं व्ययितमवधीरित च। प्रत्यहमेष क्रमः। सञ्जीवको ब्रूते—'कथ श्रीमद्देवपादानामगोचरेणैव क्रियते?' राजाह—'मदीयागोचरेणैव क्रियते।' अथ सजीवको ब्रूते—नैतदुचितम्। तथा चोक्तम्—

सिंहस्य = पिङ्गलकस्य। आतिथ्यम् = अतिथिसत्कारम्, समुपवेश्य = उपवेशनं कारयित्वा (बैठा कर), तदाहाराय = स्वभ्रातृभोजनाय। हतमृगाणाम् = मारितपशूनाम्, क = कुत्र, अस्तीति शेष.। विमृश्य = विचार्य। एतावत् = इयत्परिमाणम्, व्ययितम् = व्ययीकृतम्, अवधीरितम् = तिरस्कृत व्यर्थमेव विनाशितञ्चेत्यर्थ.। प्रत्यहम् = प्रतिदिनम्, एष. = अयम्, क्रमः = परिपाटी। श्रीमद्देवपादानाम् = भवतामित्य ं, अगोचरेण = अविषयेण, भवतोऽविज्ञात्येत्यर्थ.।

कुछ दिनों के बाद उस सिंह का भाई स्तब्धकर्ण उसके घर आया। उसका आदर-सत्कार करके तथा घर में बिठा कर पिंगलक उसके भोजन के लिए शिकार करने चला। इसी समय सजीवक ने कहा—'स्वामी! आज मारे गए मृगों का मास क्या हो गया' राजा ने कहा—'दमनक और करटक जानें।' सजीवक ने कहा—'तो मालूम कीजिए कि है या नहीं ' सिंह ने विचार कर कहा—'वह नहीं ही है।' संजीवक ने कहा—'क्या उतना मांस वह दोनों खा गए।' राजा ने कहा—'कुछ खाया, कुछ बाँटा और कुछ इधर-उधर में फेंक दिया ' यह तो प्रतिदिन का क्रम है। सजीवक ने कहा—'तो क्या यह सब आप से छिपाकर किया जाता है।' राजा ने कहा—'हाँ यह सब मेरे अनजाने ही किया जाता है।' सजीवक ने कहा—'यह तो ठीक नहीं है। कहा भी गया है—

नानिवेद्य प्रकुर्वीत भर्तुः किंचिदपि स्वयम्।
कार्यमापत्प्रतीकारादन्यत्र जगतीपते! ॥ ९० ॥

अन्वय'—हे जगतीपते! आपत्प्रतीकारात् अन्यत्र भर्तुः अनिवेद्य स्वयम् किंचित् कार्यम् अपि न कुर्वीत ॥ ९० ॥

अनिवेद्य = निवेदनमकृत्वा, प्रकुर्वीत = कुर्यात्, स्वयम्=आत्मना, आपत्प्रतीकारादन्यत्र = विपत्तिनिवारणविषय विना, जगतीपते = राजन्!॥

स्वामी को बिना बताए स्वयं कुछ भी नहीं करना चाहिए और यदि करना ही हो तो केवल विपत्तियों के दूर करने का उपाय ही करना चाहिए ॥ ९० ॥

अन्यच्च—

कमण्डलूपमोऽमात्यस्तनुत्यागो बहुग्रहः।
नृपते! किंक्षणो मूर्खो दरिद्रः किंवराटकः ॥ ९१ ॥

अन्वयः—हे नृपते! तनुत्यागः बहुग्रहः कमण्डलूपमः अमात्यः (भवति), किंक्षणः मूर्खः, (तथा) किंवराटकः दरिद्रः (भवति) ॥ ९१ ॥

कमण्डलूपमः = कमण्डलुतुल्यः, तनुत्यागः = स्वल्पशस्त्यागकर्त्ता, बहुग्रहः = विपुलग्राही, अमात्यः = प्रशस्तः मन्त्री भवति। किंक्षणः = कुत्सितसमयः— छिन्नेषु क्षणेषु व्यर्थं गतेष्वपि का क्षतिः इति विचारयिता, मूर्खः = मूढः, किंवराटकः = स्वल्पवराटकोपेक्षक —कतिपयेषु वराटकेषु (कपर्दकेषु) नष्टेष्वपि का कोषे न्यूनता इत्येव विचारकर्त्ता दरिद्रः भवति ॥

और भी—हे राजन्! मन्त्री को कमण्डलु के समान थोड़ा खर्च करनेवाला और बहुत संग्रह करनेवाला होना चाहिए। 'क्षण भर का समय कुछ नहीं' ऐसा सोचनेवाला मूर्ख एवं 'एक कौड़ी की क्या बिसात है' ऐसा सोचनेवाला दरिद्र होता है ॥ ९१ ॥

स ह्यमात्यः सदा श्रेयान् काकिनीं यः प्रवर्धयेत्।
कोषः कोषवतः प्राणाः प्राणाः प्राणा न भूपतेः ॥ ९२ ॥

अन्वयः—यः काकिनीम् सदा प्रवर्धयेत् सः श्रेयान् अमात्यः (अस्ति) कोषवतः भूपतेः कोषः प्राणाः (सन्ति), प्राणाः प्राणाः न (सन्ति) ॥ ९२ ॥

अमात्यः = मन्त्री, श्रेयान् = उत्तमः, काकिनीम् = कपर्दिकाम् (कौड़ीको), कोषवतः = कोषयुक्तः (खजाने वालेका) नृपस्य, कोषा एव प्राणाः सन्ति, न तु प्राणाः प्राणाः सन्ति ॥

एक कौड़ी को भी बढ़ानेवाला ही सबसे कल्याणकारी मन्त्री समझा जाता है। क्योंकि खजाना रखनेवाले राजा का प्राण खजाना ही होता है न कि उसका प्राण प्राण होता है ॥ ९२ ॥

किं चार्थैर्न कुलाचारैः सेव्यतामेति पूरुषः।
धनहीनः स्वपत्न्यापि त्यज्यते किं पुनः परैः ॥ ९३ ॥

अन्वयः—किं च पुरुषः अर्थैः न कुलाचारैः सेव्यताम् एति, धनहीनः पुरुषः स्वपत्न्या अपि त्यज्यते, पुनः परैः किम्? ॥ ९३ ॥

अर्थैः = धनैः, कुलाचारैः=कुलाचरणैः, सव्यतामेति = सेवनीयो भवति । स्वप त्न्या = स्वस्त्रिया, परैः = अन्यैः, किम् = किं वक्तव्यम् ।

धन के अतिरिक्त अन्य कुलाचारों से मनुष्य स्वामित्व नहीं प्राप्त कर सकता, क्योंकि धनहीन तो अपनी पत्नी के द्वारा भी छोड दिया जाता है फिर दूसरों की बात ही क्या ? ९३

एतच्च राज्ञः प्रधान दूषणम्—

यह राजा का प्रधान दोष है—

अतिव्ययोऽनपेक्षा च तथार्जनमधर्मतः ।
मोक्षण दूरसस्थाना कोषव्यसनमुच्यते ॥ ९४ ॥

अन्वय.—अतिव्ययः, च अनवेक्षा तथा अधर्मतः (धनस्य) अर्जनम्, दूरसंस्थानाम् मोक्षणम् (इत्येतत्सर्वम्) कोषव्यसनम् उच्यते ॥ ९४ ॥

अतिव्ययः=अधिकव्ययः, अनवेक्षा=निरीक्षणाभावः, अर्जनम्=उपार्जनम्, मोक्षणम् = त्यागः, कोषव्यसनम् = कोषदोषः कोषहानिकारकत्वादित्यर्थः, उच्यते = कथ्यते ॥

अधिक खर्च करना, देखभाल न रखना, अधर्म से धन के आना, दूर रखना और छोड देना, ये खजाने के सङ्कट कहे जाते हैं ॥ ९४ ॥

यत —

क्षिप्रमायमनालोच्य व्ययमानः स्ववाञ्छया ।
परिक्षीयत एवासौ धनी वैश्रवणोपमः ॥ ९५ ॥

अन्वयः—आयम् अनालोच्य स्ववाञ्छया व्ययमानः वैश्रवणोपमः (अपि) असौ धनी क्षिप्रम् परीक्षीयते एव ॥ ९५ ॥

क्षिप्रम् = शीघ्रम्, आयम् = आगतधनम्, अनालोच्य = अविचार्य, व्ययमानः= व्यय कुर्वन् , परिक्षीयते = परितः क्षीणो भवति, वैश्रवणोपमः =कुबेरतुल्यः ॥

क्योंकि जो मन्त्री तत्काल होनेवाली आय का विचार किए बिना ही इच्छानुसार धन खर्च करता है, वह कुबेर—जैसा धनी होने पर भी धीरे धीरे सम्पत्ति से रहित हो जाता है ॥ ९५ ॥

स्तब्धकर्णो ब्रूते—'शृणु भ्रातः, चिराश्रितावेतौ दमनककरटकौ सधिविग्रहकार्याधिकारिणौ च कदाचिदर्थाधिकारे न नियोक्तव्यौ अपरञ्च नियोगप्रस्तावे यन्मया श्रुत तत्कथ्यते ।

ब्रूते = आह, सन्धिविग्रहकार्याधिकारिणौ = सन्धिविग्रहकार्ये प्राप्ताधिकारौ, अर्थाधिकारे = द्रव्याधिकारे, नियोक्तव्यौ = नियोजनीयौ । नियोगप्रस्तावे = नियुक्तिप्रसङ्गे ॥

स्तब्धकर्ण ने कहा—सुनो भाई, ये दमनक और करटक दोनों ही पुराने सेवक हैं और उन्हें सन्धि या विग्रह करने का अधिकार दिया गया है, अतः इन्हें अर्थ (धन) का अधिकार नहीं देना चाहिए। और नियुक्त के विषय में जैसा मैंने सुना है, वैसा कह रहा हूँ।

ब्राह्मणः क्षत्रियो बन्धुर्नाधिकारे प्रशस्यते।
ब्राह्मणः सिद्धमप्यर्थं कृच्छ्रेणापि न यच्छति ॥ ९६ ॥

अन्वय—ब्राह्मणः क्षत्रियः बन्धुः अधिकारे न प्रशस्यते, ब्राह्मणः सिद्धम् अपि अर्थम् कृच्छ्रेण अपि न यच्छति ॥ ९६ ॥

अधिकारे = प्रजातः करादानाधिकारविषये, प्रशस्यते = योग्यो भवति, सिद्धम् = लब्धम्, अर्थम् = धनम्, कृच्छ्रेण = कष्टेन, यच्छति = ददाति ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा अपने बन्धुओं को अर्थ के अधिकारी के रूप में नियुक्त करना ठीक नहीं। क्योंकि ब्राह्मण तैयार धन को भी कठिनाइयों के समय नहीं देता ॥ ९६ ॥

नियुक्तः क्षत्रियो द्रव्ये खड्गं दर्शयते ध्रुवम्।
सर्वस्वं ग्रसते बन्धुराक्रम्य ज्ञातिभावतः ॥ ९७ ॥

अन्वयः—(अधिकारे) नियुक्तः क्षत्रियः ध्रुवम् खड्गम् दर्शयते, बन्धुः ज्ञातिभावतः आक्रम्य सर्वस्वम् ग्रसते ॥ ९७ ॥

(प्रजातः करादानाधिकारे) नियुक्तः = स्थापितः, क्षत्रियः = बाहुजः, खड्गं—निश्चयेन खड्गं दर्शयति, अवश्यं युध्यति इत्यर्थः। सर्वस्वम्=सर्वसम्पदम्, ग्रसते= गिरति, गृह्णातीति यावत्, बन्धुः = भ्रात्रादिबान्धवः, ज्ञातिभावत =ज्ञातित्वात् ॥

यदि क्षत्रिय को अर्थ का अधिकार दे दिया जाय तो वह बात-बात में तलवार ही उठाएगा और भाई बन्धु तो मौका पाकर उसपर आक्रमण करके सभी कुछ हड़प जायेंगे ॥

अपराधेऽपि निःशङ्को नियोगी चिरसेवकः।
स स्वामिनमवज्ञाय चरेच्च निरवग्रहः ॥ ९८ ॥

अन्वय—नियोगी चिरसेवकः अपराधे अपि निःशङ्कः (भवति) सः स्वामिनम् अवज्ञाय निरवग्रहः चरेत् ॥ ९८ ॥

अपराधे = दोषे, निःशङ्कः=निर्भयः, नियोगी=प्रजातः करादाने नियुक्तः, चिरसेवकः = पुरातनभृत्यः, अवज्ञाय = तिरस्कृत्य, निरवग्रहः=बन्धनहीनः, स्वच्छन्द इति भावः ॥

पुराना सेवक अपराध करने पर भी निडर भाव से स्वामी का अपमान करता हुआ मनमानी आचरण करने लगता है ॥ ९८ ॥

उपकर्ताऽधिकारस्थः स्वापराधं न मन्यते ।
उपकारं ध्वजीकृत्य सर्वमेवावलुम्पति ॥ ९९ ॥

अन्वय—अधिकारस्थः उपकर्ता स्वापराधम् न मन्यते । उपकारम् ध्वजीकृत्य सर्वं एव अवलुम्पति ॥ ९९ ॥

उपकर्ता = उपकारी, अधिकारस्थः=प्रजाभ्यः करग्रहणाधिकारे नियुक्तः स्वापराधम् = स्वदोषम् , न मन्यते=न स्वीकरोति । ध्वजीकृत्य,=सर्वोपरि कृत्वा, अवलुम्पति = नष्टं करोति, आवृत्ते वा ॥

स्वामी का उपकार करनेवाला सेवक किसी अधिकार पर स्थित होकर अपने अपराधों को नहीं समझता और उपकार का झंडा फहराता हुआ सभी कुछ निगल जाता है ॥ ९९ ॥

उपांशुक्रीडितोऽमात्यः स्वयं राजायते यतः ।
अवज्ञा क्रियते तेन सदा परिचयाद्ध्रुवम् ॥ १०० ॥

अन्वयः—उपांशु क्रीडितः अमात्यः यतः स्वयम् राजायते, तेन सदा परिचयात् ध्रुवम् अवज्ञा क्रियते ॥ १०० ॥

उपांशु = एकान्ते, क्रीडितः = कृतविलासः, राजायते = राजेवाचरति ॥

राजा के साथ खेलनेवाला सेवक मन्त्री बनकर यदि धन का भी अधिकार पा जाता है तो वह अपने को राजा ही मान बैठता है और पहले के परिचय के नाते पद-पद पर राजा का अपमान करता चलता है ॥ १०० ॥

अन्तर्दुष्टः क्षमायुक्तः सर्वानर्थकरः किल ।
शकुनिः शकटारश्च दृष्टान्तावत्र भूपते ॥ १०१ ॥

अन्वय—अन्तर्दुष्टः (बहिः) क्षमायुक्तः (अमात्यः) सर्वानर्थकरः (भवति) किल । भूपते ! अत्र शकुनिः च शकटारः दृष्टान्तौ (स्तः) ॥ १०१ ॥

अन्तर्दुष्टः = मनसि दुर्जनः, क्षमायुक्तः=क्षमासहितः (बहिरिति शेषः), सर्वानर्थकरः = सकलानर्थकारकः, किल = इति प्रसिद्धौ । शकुनिः = धृतराष्ट्रस्य श्यालः, शकटारः = नन्दनृपतेस्तन्नामकोऽमात्यः, दृष्टान्तौ = उदाहरणस्वरूपौ ॥

जो मन का खोटा किन्तु ऊपर से क्षमाशील होता है वह सभी प्रकार अनर्थ कर सकता है । राजन् ! इस विषय में शकुनि (दुर्योधन का मामा) और शकटार (नन्द का मंत्री) प्रमाण हैं ॥ १०१ ॥

सदामात्यो न साध्यः स्यात्समृद्धः सर्व एव हि ।
सिद्धानामयमादेश ऋद्धिश्चित्तविकारिणी ॥ १०२ ॥

अन्वय—समृद्धः सर्वः एव अमात्यः सदा साध्यः न हि (भवति), ऋद्धिः चित्तविकारिणी (भवति), अयम् आदेशः सिद्धानाम् (अस्ति) ॥ १०२ ॥

साध्यः=वशीकरणयोग्यः, समृद्धः=समृद्धियुक्त, सिद्धानाम्=सिद्धपुरुषाणाम्, आदेशः = आज्ञा, ऋद्धिः = समृद्धिः, वलतिरिति भावः, चित्तविकारिणी = मनोविकारिणी ॥

वैभवशाली मन्त्री कभी भी वश में नहीं किया जा सकता है, क्योंकि वह तो अपने ही को सब कुछ समझता है। इसीलिए नीतिज्ञ पुरुषों का यह कहना है कि धन तो अवश्य ही मन में विकार उत्पन्न करता है ॥ १०२ ॥

प्राप्तार्थग्रहणं द्रव्यपरीवर्तोऽनुरोधनम्।
उपेक्षा बुद्धिहीनत्वं भोगोऽमात्यस्य दूषणम् ॥ १०३ ॥

अन्वय—प्राप्तार्थग्रहणम्, द्रव्यपरीवर्तः अनुरोधनम् उपेक्षा बुद्धिहीनत्वम् भोगः (इत्येतत्सर्वम्) अमात्यस्य दूषणम् (अस्ति) ॥ १०३ ॥

प्राप्तार्थग्रहणम् = लब्धधनस्य स्वयमादानम्, द्रव्यपरीवर्तः = बहुमूल्यं वस्तु स्वयमादाय तत्स्थाने स्वल्पमूल्यवतो वस्तुनः स्थापनम्, अनुरोधनम् = स्वाभिलषितसिद्ध्यै राजानं प्रत्याग्रहः, उपेक्षा = नृपादेशस्य नृपकार्यस्य वा उपेक्षणम्, बुद्धिहीनत्वम् = मूर्खत्वम्, भोगः = विषयासक्तिः राजद्रव्यस्य स्वकार्ये उपयोगो वा, इदं सर्वम् अमात्यस्य = मन्त्रिणः, दूषणम् = दोषः, अस्तीति शेषः ॥

प्राप्त धन को ले लेना, कोष के धन को ब्याज पर देना, किसी बात के लिए राजा पर दबाव डालना, उसके प्रति उपेक्षा का भाव रखना और भोगविलास में लगा रहना—ये मन्त्री के दोष हैं ॥ १०३ ॥

नियोग्यर्थग्रहोपायो राज्ञां नित्यपरीक्षणम्।
प्रतिपत्तिप्रदानं च तथा कर्मविपर्ययः ॥ १०४ ॥

अन्वय—राज्ञां नित्यम् परीक्षणम्, च प्रतिपत्तिप्रदानम् तथा कर्मविपर्ययः (एतत् त्रयम्) नियोग्यर्थग्रहोपायः (अस्ति) ॥ १०४ ॥

नियोग्यर्थग्रहोपायः—नियोगिनः = नियुक्तादधिकारिपुरुषात्, अर्थस्य = द्रव्यस्य, ग्रहः = ग्रहणम्, तस्य उपायः = यत्नः (नियुक्त पुरुषोंसे धन लेनेका उपाय) राज्ञां०—अधिकारिपुरुषस्य कार्यपरीक्षा, प्रतिपत्तिप्रदानम् = पुरस्कारादिप्रदानस्य वेतनवृद्ध्यादेर्वा विश्वासदानम्, कर्मविपर्ययः = अधिकारिणां कार्यस्य परिवर्तनम्, उपक्रियमाणकार्यादन्यकार्ये नियुक्तिः ॥

राजसेवकों से धन ग्रहण करने का यही उपाय है कि राजा अपने सभी विभागों की

देख रेख में लगा रहे, विभागीय कर्मचारियों को धन देने का विश्वास देता रहे तथा उनके काम को बदलता रहे ॥ १०४ ॥

निपीडिता वमन्त्युच्चैरन्तःसारं महीपतेः ।
दुष्टव्रणा इव प्रायो भवन्ति हि नियोगिनः ॥ १०५ ॥

अन्वय—निपीडिताः (नियोगिनः) महीपतेः अन्तःसारम् उच्चैः वमन्ति हि नियोगिनः प्रायः दुष्टव्रणा इव भवन्ति ॥ १०५ ॥

निपीडिताः = दण्डादिना पीडिताः, अन्तःसारम् = गुप्तशक्तिम्, उच्चैः वमन्ति = स्पष्टतया प्रकटयन्ति । दुष्टव्रणाः = महाविस्फोटाः (बड़े घाव), नियोगिनः = राज्ञा अधिकारे नियुक्ताः पुरुषाः । यथा महाव्रणाः पीडिताः पूयमुच्चैरुद्गिरन्ति, तथैव कठिनदण्डादिना पीडिता राजाधिकारिणोऽपि राज्ञो गुप्तवार्ताः प्रकटी कुर्वन्ति ॥

हे राजन्, राज्यकार्य में लगे हुए बहुत से ऐसे सेवक होते हैं जो दबाव पड़ने पर राजा के सभी भेदों को साफ साफ उसी प्रकार मुँह के बाहर कर देते हैं जैसे पका हुआ फोड़ा दबाने से बह जाता है ॥ १०५ ॥

मुहुर्नियोगिनो बाध्या वसुधारा महीपते ।
सकृत्किं पीडितं स्नानवस्त्रं मुञ्चेद्घृतं पयः ॥ १०६ ॥

अन्वय—हे महीपते ! वसुधारा नियोगिनः मुहुः बाध्याः, सकृत् पीडितम् स्नानवस्त्रम् किम् घृतम् पयः मुञ्चति ॥ १०६ ॥

मुहुः = पौनः पुन्येन, नियोगिनः = अधिकृता जनाः, बाध्याः = धनग्रहणार्थं पीडनीयाः । सकृत् = एकवारम्, पीडितम् = मर्दितम् (निचोड़ा गया), स्नानवस्त्रम् = स्नानान्ते आर्द्रीभूत वसनम्, मुञ्चेत् = त्यजति ? घृतम् = स्वस्मिन् गृहीतम्, (द्रुतमिति पाठे शीघ्रमित्यर्थः), पयः = जलम् ॥

हे राजन्, बार बार दबाव देने से ही कर्मचारी राजा को धन देता रहता है । इसलिए उसे बराबर दबाते रहना चाहिए । क्या पानी में भींगा हुआ कपड़ा एक ही बार निचोड़ने से सारा पानी छोड़ देता है ? ॥ १०६ ॥

एतत्सर्वं यथावसरं ज्ञात्वा व्यवहर्तव्यम् ।' सिंहो ब्रूते—'अस्ति तावदेवम् । किंत्वेतौ सर्वथा न मम वचनकारिणौ ।' स्तब्धकर्णो ब्रूते—'एतत्सर्वमनुचितं सर्वथा । यतः—

यथावसरम् = अवसरानुकूलम्, व्यवहर्तव्यम् = व्यवहारः कर्तव्यः; वचनकारिणौ = आज्ञापालकौ ॥

यह सब समझ कर अवसर के अनुकूल ही काम करना चाहिए। सिंह ने कहा—यह तो ठीक ही है। किन्तु यह दोनों मेरी बात ही नहीं मानते। स्तब्धकर्ण ने कहा—यह सब तो बहुत अनुचित है। क्योंकि—

आज्ञाभङ्गकरान् राजा न क्षमेत्स्वसुतानपि।
विशेषः को नु राज्ञश्च राज्ञश्चित्रगतस्य च॥ १०७॥

अन्वय—राजा आज्ञाभङ्गकरान् स्वसुतान् अपि न क्षमेत्। (अन्यथा) राज्ञः चित्रगतस्य राज्ञः च कः विशेषः नु॥ १०७॥

आज्ञाभङ्गकरान् = आदेशोल्लङ्घिनः, क्षमेत = क्षमां कुर्यात्। विशेषः = भेदः राज्ञः = सिंहासनारूढनृपस्य, राज्ञश्चित्र० = चित्रस्थस्य नृपस्य। यदि राजा निर्देशोल्लङ्घिनः भृत्यान् न दण्डयति, तदा सः चित्रगतनृप इव व्यर्थ इति भावः॥

राजा को चाहिए कि वह अपनी आज्ञा न माननेवाले अपने लड़कों को भी न क्षमा करे। जो राजा ऐसा नहीं करता, उसमें तथा चित्रमें लिखे हुए राजा में अन्तर ही क्या है?॥ १०७॥

स्तब्धस्य नश्यति यशो विषमस्य मैत्री
नष्टेन्द्रियस्य कुलमर्थपरस्य धर्मः।
विद्याफलं व्यसनिनः कृपणस्य सौख्यं
राज्यं प्रमत्तसचिवस्य नराधिपस्य॥ १०८॥

अन्वय—स्तब्धस्य (पुरुषस्य, इदं पादत्रयेऽपि बोध्यम्) यशः, विषमस्य मैत्री, नष्टेन्द्रियस्य कुलम्, अर्थपरस्य धर्मः, व्यसनिनः विद्याफलम्, कृपणस्य सौख्यम् (च) प्रमत्तसचिवस्य राज्यम् नश्यति॥ १०८॥

स्तब्धस्य = अलसस्य, विषमस्य = अस्थिरप्रकृतेः, मैत्री = मित्रता, नष्टेन्द्रियस्य = अजितेन्द्रियस्य, कुलम् = वंशः, अर्थपरस्य = धनसंग्रहमात्रतत्परस्य, व्यसनिनः = मद्यद्यूताद्यासक्तचेतसः, प्रमत्तसचिवस्य = प्रमादवदमात्यस्य। नश्यतीत्यस्य सर्वत्र सम्बन्धो बोध्यः॥

आलसी व्यक्ति का यश, अविश्वासी की मित्रता, इन्द्रियों को वश में न रखनेवाले की वंशमर्यादा, धन के लोभी का धर्म, व्यसनी व्यक्ति की विद्या, कंजूस का सुख और उन्मत्त मन्त्रीवाले राजा का राज्य अवश्य नष्ट हो जाता है॥ १०८॥

अपर च—

तस्करेभ्यो नियुक्तेभ्यः शत्रुभ्यो नृपवल्लभात्।
नृपतिनिजलोभाच्च प्रजा रक्षेत्पितेव हि॥ १०९॥

देख रेख में लगा रहे, विभागीय कर्मचारियों को धन देने का विश्वास देता रहे तथा उनके काम को बदलता रहे ॥ १०४ ॥

निपीडिता वमन्त्युच्चैरन्तःसारं महीपतेः ।
दुष्टव्रणा इव प्रायो भवन्ति हि नियोगिनः ॥ १०५ ॥

अन्वयः—निपीडिताः (नियोगिनः) महीपतेः अन्तःसारम् उच्चैः वमन्ति हि नियोगिनः प्रायः दुष्टव्रणा इव भवन्ति ॥ १०५ ॥

निपीडिताः = दण्डादिना पीडिताः, अन्तःसारम्=गुप्तरहस्यम् , उच्चैः वमन्ति= स्पष्टतया प्रकटयन्ति । दुष्टव्रणाः = महाविस्फोटाः (बड़े घाव), नियोगिनः = राज्ञा अधिकारे नियुक्ताः पुरुषाः । यथा महाव्रणाः पीडिताः पूयमुच्चैरुद्गिरन्ति, तथैव कठिनदण्डादिना पीडिता राजाधिकारिणोऽपि राज्ञो गुप्तापाताः प्रकटी कुर्वन्ति॥

हे राजन् , राज्यकार्य में लगे हुए बहुत से ऐसे सेवक होते हैं जो दबाव पड़ने पर राजा के सभी भेदों को साफ साफ उसी प्रकार मुँह के बाहर कर देते हैं जैसे पका हुआ फोड़ा दबाने से बह जाता है ॥ १०५ ॥

मुहुर्नियोगिनो बाध्या वसुधारा महीपते ।
सकृत्किं पीडितं स्नानवस्त्रं मुञ्चेद्घृतं पयः ॥ १०६ ॥

अन्वय—हे महीपते ! वसुधाराः नियोगिनः मुहुः बाध्याः, सकृत् पीडितम् स्नानवस्त्रम् किम् घृतम् पयः मुञ्चति ॥ १०६ ॥

मुहुः = पौनः पुन्येन, नियोगिनः = अधिकृता जनाः, बाध्याः=धनग्रहणार्थं पीडनीयाः । सकृत् = एकवारम् , पीडितम् = मर्दितम् (निचोड़ा गया), स्नानवस्त्रम्= स्नानान्ते आर्द्रीभूत वसनम् , मुञ्चेत् = त्यजति ? घृतम्=स्वस्मिन् गृहीतम् , (द्रुतमिति पाठे शीघ्रमित्यर्थः), पयः = जलम् ॥

हे राजन् , बार बार दबाव देने से ही कर्मचारी राजा को धन देता रहता है । इसलिए उसे बराबर दबाते रहना चाहिए । क्या पानी में भींगा हुआ कपड़ा एक ही बार निचोड़ने से सारा पानी छोड़ देता है ? ॥ १०६ ॥

एतत्सर्वं यथावसरं ज्ञात्वा व्यवहर्तव्यम् ।' सिंहो ब्रूते—'अस्ति तावदेवम् । किंत्वेतौ सर्वथा न मम वचनकारिणौ ।' स्तब्धकर्णो ब्रूते—'एतत्सर्वमनुचितं सर्वथा । यतः—

यथावसरम् = अवसरानुकूलम् , व्यवहर्तव्यम् = व्यवहारः कर्तव्यः, वचनकारिणौ = आज्ञापालकौ ॥

यह सब समझ कर अवसर के अनुकूल ही काम करना चाहिए। सिंह ने कहा—यह तो ठीक ही है। किन्तु यह दोनों मेरी बात ही नहीं मानते। स्तब्धकर्ण ने कहा—यह सब तो बहुत अनुचित है। क्योंकि—

आज्ञाभङ्गकरान् राजा न क्षमेत्स्वसुतानपि।
विशेष को नु राज्ञश्च राज्ञश्चित्रगतस्य च ॥ १०७ ॥

अन्वय—राजा आज्ञाभङ्गकरान् स्वसुतान् अपि न क्षमेत्। (अन्यथा) राज्ञः चित्रगतस्य राज्ञः च कः विशेषः नु ॥ १०७ ॥

आज्ञाभङ्गकरान् = आदेशोल्लङ्घिन, क्षमेत = क्षमां कुर्यात्। विशेष. = भेदः राज्ञ'=सिंहासनारूढनृपस्य, राज्ञश्चित्र० = चित्रस्थस्य नृपस्य। यदि राजा निर्देशोल्लङ्घिन. भृत्यान् न दण्डयति, तदा स चित्रगतनृप इव व्यर्थ इति भाव. ॥

राजा को चाहिए कि वह अपनी आज्ञा न माननेवाले अपने लड़कों को भी न क्षमा करे। जो राजा ऐसा नहीं करता, उसमें तथा चित्रमें लिखे हुए राजा में अन्तर ही क्या है? ॥ १०७ ॥

स्तब्धस्य नश्यति यशो विषमस्य मैत्री
नष्टेन्द्रियस्य कुलमर्थपरस्य धर्म.।
विद्याफलं व्यसनिनः कृपणस्य सौख्यं
राज्यं प्रमत्तसचिवस्य नराधिपस्य ॥ १०८ ॥

अन्वय—स्तब्धस्य (पुरुषस्य, इदं पादत्रयेऽपि योज्यम्) यशः, विषमस्य मैत्री, नष्टेन्द्रियस्य कुलम्, अर्थपरस्य धर्मः, व्यसनिनः विद्याफलम्, कृपणस्य सौख्यम् (च) प्रमत्तसचिवस्य राज्यम् नश्यति ॥ १०८ ॥

स्तब्धस्य = जडस्य, विषमस्य = अस्थिरप्रकृते, मैत्री=मित्रता, नष्टेन्द्रियस्य = अजितेन्द्रियस्य, कुलम् = वंश', अर्थपरस्य=धनसंग्रहमात्रतत्परस्य, व्यसनिनः = मद्यद्यूताद्यासक्तचेतस., प्रमत्तसचिवस्य = प्रमादवदमात्यस्य। नश्यतीत्यस्य सर्वत्र सम्बन्धो बोध्य ॥

आलसी व्यक्ति का यश, अविश्वासी की मित्रता, इन्द्रियों को वश में न रखनेवाले की वंशमर्यादा, धन के लोभी का धर्म, व्यसनी व्यक्ति की विद्या, कंजूस का सुख और उन्मत्त मन्त्रीवाले राजा का राज्य अवश्य नष्ट हो जाता है ॥ १०८ ॥

अपरं च—

तस्करेभ्यो नियुक्तेभ्य. शत्रुभ्यो नृपवल्लभात्।
नृपतिर्निजलोभाच्च प्रजा रक्षेत्पितेव हि ॥ १०९ ॥

अन्वय'—नृपतिः, तस्करेभ्यः नियुक्तेभ्यः शत्रुभ्यः नृपवल्लभात् च निजलोभात् प्रजा. पिता इव रक्षेत् हि ॥ १०९ ॥

तस्करेभ्यः = चौरेभ्यः, नियुक्तेभ्यः = राज्याधिकृतेभ्यः, नृपवल्लभात् = राज्ञः अतिस्नेहप्राप्तजनात्, निजलोभात् = आत्मलोभात् ॥

और भी—चोरों, कर्मचारियों, शत्रुओं, अपने प्रियलोगों तथा अपनी लालच से राजाको पिता के समान सर्वदा प्रजा की रक्षा करनी चाहिए ॥ १०९ ॥

भ्रातः ! सर्वथास्मद्वचनं क्रियताम्। व्यवहारोऽप्यस्माभिः कृत एव। अयं संजीवक. सस्यभक्षकोऽर्थाधिकारे नियुज्यताम्।' एतद्वचनात्तथानुष्ठिते सति तदारभ्य पिङ्गलकसजीवकयो. सर्वबन्धुपरित्यागेन महता स्नेहेन कालोऽतिवर्तते। ततोऽनुजीविनामप्याहारदाने शैथिल्यदर्शनाद्दमनककरटकावन्योन्य चिन्तयत.। तदाह दमनक. करटकम्—'मित्र, किं कर्तव्यम्। आत्मकृतोऽय दोष.। स्वय कृतेऽपि दोषे परिदेवनमप्यनुचितम्। तथा चोक्तम्—

व्यवहारः = निर्णय. सस्यभक्षक. = तृणभक्षणकर्ता, अर्थाधिकारे = द्रव्याधिकारे, नियुज्यताम् = नियुक्त. क्रियताम्, तथाऽनुष्ठिते सति = सञ्जीवके धनाधिकारे नियुक्ते सति, सर्वबन्धुपरित्यागेन = समस्तपरिवारत्यागेन, अतिवर्तते = गच्छति। अनुजीविनाम् = भृत्यानाम्, शैथिल्यदर्शनात् = अनादरावलोकनात्, अन्योन्यम् = परस्परम्, परिदेवनम् = परिताप., सन्ताप इत्यर्थ. ॥

भाई, आप सभी प्रकार हमारे कहने के अनुसार ही काम करें। इस घास खाने वाले सञीवक को ही 'धन' का अधिकार प्रदान करें। स्तब्धकर्ण के कहने के अनुसार सञीवक के कोषाध्यक्ष बना देने के समय से ही पिंगलक और सञीवक दोनों ही अपने बन्धुओं द्वारा छोड़ दिए जाने पर भी बड़े प्रेम के साथ अपना समय बिताने लगे। इसके पश्चात् सेवकों के भोजन देने में भी उपेक्षा देखकर दमनक और करटक ने आपस में विचार किया। तब दमनक ने करटक से कहा—'मित्र! क्या करना चाहिए। यह तो अपना ही किया हुआ पाप है। स्वय किए हुए पापों पर पश्चात्ताप भी करना अनुचित है। जैसा कि कहा भी गया है—

स्वर्णरेखामह स्पृष्ट्वा बद्ध्वात्मान च दूतिका।
आदित्सुश्च मणि साधु. स्वदोषाद् दु.खिता इमे ॥ ११० ॥

अन्वय.—अहम् स्वर्णरेखाम् स्पृष्ट्वा, च दूतिका आत्मानम् बद्ध्वा, च साधुः मणिम् आदित्सुः—इमे स्वदोषात् दुःखिता. (अभूवन्) ॥ ११० ॥

आप्तिप्सुः = आप्तुमिच्छु, स्वदोषात् = स्वकृतापराधाद्धेतो ॥

मैं सोने की रेखा छूकर, दूती अपने आप को बांध कर तथा साधु रत्न लेने की अभिलाषा करके—ये तीनों ही अपने ही दोषों से दुखी हुए ॥ ११० ॥

करटको ब्रूते—'कथमेतत्।' दमनकः कथयति—

करटक ने कहा—यह कैसे ?' दमनक ने कहा—

कथा ९

अस्ति काञ्चनपुरनाम्नि नगरे वीरविक्रमो राजा। तस्य धर्माधिकारिणा कश्चिन्नापितो वध्यभूमिं नीयमानः कन्दर्पकेतुनाम्ना परिव्राजकेन साधुद्वितीयकेन 'नायं हन्तव्य' इत्युक्त्वा वस्त्राञ्चले धृतः। राजपुरुषा ऊचुः—'किमिति नायं वध्यः।' स आह—'श्रूयताम्।' 'स्वर्णरेखामहं स्पृष्ट्वा' इत्यादि पठति। त आहुः—'कथमेतत्।' परिव्राजकः कथयति—'अहं सिंहलद्वीपस्य भूपतेर्जीमूतकेतोः पुत्रः कन्दर्पकेतुर्नाम। एकदा केलिकाननावस्थितेन मया पोतवणिङ्मुखाच्छ्रुतं 'यदत्र समुद्रमध्ये चतुर्दश्यामाविर्भूतकल्पतरुतले रत्नावलीकिरणकर्बुरपर्यङ्के स्थिता सर्वालंकारभूषिता लक्ष्मीरिव वीणां वादयन्ती कन्या काचिद् दृश्यते' इति। ततोऽहं पोतवणिजमादाय पोतमारुह्य तत्र गतः। अनन्तरं तत्र गत्वा पर्यङ्केऽर्धमग्ना तथैव साऽवलोकिता। ततस्तल्लावण्यगुणाकृष्टेन मयापि तत्पश्चाज्झम्पो दत्तः। तदनन्तरं कनकपत्तनं प्राप्य सुवर्णप्रासादे तथैव पर्यङ्के स्थिता विद्याधरीभिरुपास्यमाना मयालोकिता। तयाप्यहं दूरादेव दृष्ट्वा सखीं प्रस्थाप्य सादरं संभाषितः। तत्सख्या च मया पृष्टया समाख्यातम्—'एषा कन्दर्पकेलिनाम्नो विद्याधरचक्रवर्तिनः पुत्री रत्नमञ्जरी नाम प्रतिज्ञापिता विद्यते। यः कनकपत्तनं स्वचक्षुषागत्य पश्यति, स एव पितुरगोचरोऽपि मां परिणेष्यतीति मनसः संकल्पः। तदेनां गान्धर्वविवाहेन परिणयतु भवान्।'

धर्माधिकारिणा = न्यायाधीशेन, नापितः = क्षौरकर्ता (नाई), परिव्राजकेन = संन्यासिना, वस्त्राञ्चले = स्ववस्त्रप्रान्ते, केलिकाननावस्थितेन = क्रीडोद्यानस्थेन,

पोतवणिङ्मुखात् = जलयानव्यापारिमुखात् (समुद्री व्यापारीके मुखसे), आविर्भूतकल्पतरुतले = प्रकटितकल्पवृक्षस्याधोभागे, रत्नावलीकर्बुरितपर्यङ्के = रत्नसमूहजटिततया चित्रीकृतशय्यायाम्। पोतम् = जलयानम्। तथैव=सर्वालङ्कारभूषिता लक्ष्मीरिव एव, सा = कन्या, अवलोकिता = दृष्टा। तल्लावण्यगुणाकृष्टेन = तस्याः = कन्यायाः, लावण्यम् = सौन्दर्यम् एव गुणः = रज्जु, तेनाकृष्ट = कृताकृष्टिः तेन, तस्याः सौन्दर्यवशीभूतेनेत्यर्थः। झम्पो दत्तः = जले कूर्दितम्। कनकपत्तनम् = स्वर्णनगरम्, स ैव = अर्द्धसुप्तैव, विद्याधरीभिः = विद्याधरस्त्रीभिः, उपास्यमाना = सेव्यमाना। प्रस्थाप्य=सम्प्रेष्य, सम्भाषितः=उक्तः। समाख्यातम्= कथितम्। प्रतिज्ञापिता = कृतप्रतिज्ञा, स्वचक्षुषा = स्वनेत्रेण, पितुः = जनकस्य, अगोचर = अप्रत्यक्षः, मां परिणेष्यति = मया सह विवाह करिष्यति। गान्धर्वं विवाहेन = कन्यावरयोरेव परस्परं प्रीत्या जायमानेन विवाहेन, परिणयतु = विवाह करोतु॥

, कञ्चनपुर नाम के नगर में वीरविक्रम नाम का एक राजा था। उसके धर्माधिकारी एक नाई को पकड़ कर फांसी देने के स्थान पर ले जा रहे थे कि उसी समय एक साधु के साथ कन्दर्पकेतु नाम के एक सन्यासी ने उसे अपने वस्त्रों में छिपाते हुए कहा कि 'यह मारने योग्य नहीं है'।' तब सिपाहियों ने कहा—'क्यों नहीं मारने योग्य है।' उसने कहा-सुनो, और 'स्वर्णरेखा को छूकर मैं' आदि पढ़ने लगा। उन्होंने कहा—यह कैसे ? सन्यासी ने कहा—'मैं सिंहलद्वीपके राजा जीमूतकेतु का पुत्र कन्दर्पकेतु हूँ। एक बार मैं अपने विहार-उपवन में बैठा हुआ था कि उसी समय मैंने नाव द्वारा व्यापार करनेवाले एक व्यवसायी से सुना कि इस समुद्र के बीच में चतुर्दशी के दिन दिखाई पड़ने वाले कल्पवृक्ष के नीचे रत्नों की किरणों से जगमगाते हुए पलंग पर बैठी हुई, सभी गहनों से सुशोभित एवं लक्ष्मी के समान, वीणा बजाती हुई कोई कन्या दिखाई पड़ती है। तब मैं उस नाविक व्यापारी को साथ लेकर नाव द्वारा वहाँ गया। वहाँ जाने पर मैंने पलंग पर आधी लेटी हुई उसी प्रकार की कन्या देखी। उसकी सुन्दरता पर मुग्ध होकर मैं भी समुद्र में कूद पड़ा। इसके पश्चात् मैंने सोने की नगरी में पहुँच कर सोने के महल में उसी प्रकार पलंग पर बैठी हुई तथा विद्याधरियों द्वारा सेवित उस कन्या को देखा। उसने भी मुझे दूर ही से देख कर सखी भेज उसके द्वारा मुझसे बड़े आदर के साथ बात चीत की। मैंने उसकी सखी से पूछा तो उसने बताया कि यह विद्याधरों के चक्रवर्ती राजा कन्दर्पकेलि की पुत्री है। इसका नाम रत्नप्रभा है और इसने प्रतिज्ञा करके यहाँ निवास किया है। इसके मन का सङ्कल्प है कि जो पुरुष इस सोने की नगरी में आकर स्वयम् अपनी आँखों से इसे देखेगा वही पिता की आज्ञा न होते हुए भी मेरे विवाह करेगा। इसलिए आप इसके साथ गन्धर्व विवाह करें।

अथ तत्र वृत्ते गान्धर्वविवाहे तया सह रममाणस्तत्राहं तिष्ठामि। तत एकदा रहसि तयोक्तम्—'स्वामिन्, स्वेच्छया सर्वमिदमुपभोक्तव्यम्। एषा चित्रगता स्वर्णरेखा नाम विद्याधरी न कदाचित् स्प्रष्टव्या। पश्चादुपजातकौतुकेन मया स्वर्णरेखा स्वहस्तेन स्पृष्टा। तया चित्रगतयाप्यहं चरणपद्मेन ताडित आगत्य स्वराष्ट्रे पतितः। अथ दुःखितोऽहं परिव्रजितः पृथिवीं परिभ्राम्यन्निमां नगरीमनुप्राप्तः। अत्र चातिक्रान्ते दिवसे गोपगृहे सुप्तः सन्नपश्यम्।' प्रदोषसमये पशूनां पालनं कृत्वा स्वगेहमागतो गोपः स्ववधूं दूत्या सह किमपि मन्त्रयन्तीमपश्यत्। ततस्तां गोपीं ताडयित्वा स्तम्भे बद्ध्वा सुप्तः। ततोऽर्धरात्रे एतस्य नापितस्य वधूर्दूती पुनस्तां गोपीमुपेत्यावदत्—'तव विरहानलदग्धोऽसौ स्मरशरजर्जरितो मुमूर्षुरिव वर्तते। तथा चोक्तम्—

वृत्ते = सञ्जाते। रहसि = एकान्ते। चित्रगता=चित्रस्था, स्वर्णरेखा = तन्नाम्नी, स्प्रष्टव्या = स्पर्शनीया। उपजातकौतुकेन = एतस्याः स्पर्शनेन किं भविष्यति इत्येवमुत्पन्नकौतूहलेन, चरणपद्मेन = पादपङ्कजेन, स्वराष्ट्रे = आत्मनो राज्ये। दुःखितः = तद्वियोगकष्टेन पीडितः, परिव्रजितः = गृहीतसन्न्यासः। अतिक्रान्ते = अतीते, दिवसे = दिने, प्रदोषसमये = सायंकाले, पशूनाम् = गवादिजन्तूनाम्, पालनं कृत्वा = तेभ्यो यवसादि दत्त्वा, मन्त्रयन्तीम् = परामर्शं कुर्वन्तीम् (सलाह करती हुई)। तव = गोप्याः, विरहानलदग्धः = वियोगाग्निज्वलितः, स्मरशरजर्जरितः = कामबाणेन जर्जरीभूतः, मुमूर्षुरिव = आसन्नमृत्युरिव॥

इसके बाद गान्धर्व विवाह करके मैं उसके साथ रमण करता हुआ वहीं उसी के साथ रहने लगा। एक बार उसने एकान्त में मुझसे कहा कि–स्वामी! आप अपनी इच्छा के अनुसार इन सभी वस्तुओं का उपयोग करें' किन्तु इस चित्र में बनी हुई स्वर्णरेखा नाम की विद्याधरी को कभी मत छूवें। इससे मुझे कुछ कुतूहल हुआ और मैंने उसे छू लिया। उस चित्र में बनी हुई स्वर्णरेखा ने मुझे अपने चरणकमलों से इस प्रकार झटका दिया कि मैं आकर अपने राज्य में गिरा। मैंने दुःखी होकर सन्यास ले लिया और पृथ्वी से घूमता हुआ अब मैं इस नगरी में पहुँचा हूँ। यहाँ कल एक ग्वाले के घर सोते समय मैंने देखा कि ग्वाला पशुओं को चराकर सायंकाल अपने घर आया और उसने अपनी पत्नी को किसी दूती के साथ बातचीत करते हुए देखा। तब वह पत्नी को मार कर तथा उसे खम्भे में बाँध कर सो

गया। इसके बाद आधी रात के समय उस नाई की दूती जो फिर उस अहीरिन के पास आई और बोली—'तुम्हारे विरह की अग्नि में जलता हुआ वह कामबाणों से घायल होकर मरा हुआ सा पड़ा है।' जैसा कि कहा भी है—

रजनीचरनाथेन खण्डिते तिमिरे निशि।
यूनां मनांसि विव्याध दृष्ट्वा दृष्ट्वा मनोभवः॥ १११॥

अन्वयः—रजनीचरनाथेन निशि तिमिरे खण्डिते (सति) मनोभवः यूनाम् मनांसि दृष्ट्वा दृष्ट्वा विव्याध॥ १११॥

रजनीचरनाथेन = चन्द्रेण, खण्डिते०—रात्रौ अन्धकारे दूरीकृते, यूनाम्= युवकानाम्, विव्याध = विद्धवान्॥

चन्द्रमा ने उदय होकर रात्रि के अन्धकार को दूर कर दिया जिससे अब कामदेव देख देख कर युवकों के मन को बेध रहा है॥ ११२॥

तस्य तादृशीमवस्थामवलोक्य परिक्लिष्टमनास्त्वामनुवर्तितुमागता। तदहमत्रात्मानं बद्ध्वा तिष्ठामि। त्वं तत्र गत्वा तं सन्तोष्य सत्वरमागमिष्यसि। तथानुष्ठिते सति स गोपः प्रबुद्धोऽवदत्—इदानीं त्वां पापिष्ठां जारान्तिकं नयामि। ततो यदासौ न किंचिदपि ब्रूते तदा क्रुद्धो गोपः 'दर्पान्मम वचसि प्रत्युत्तरमपि न ददासि' इत्युक्त्वा कोपेन तेन कर्तरिकामादायास्या नासिका छिन्ना। तथा कृत्वा पुनः सुप्तो गोपो निद्रामुपगतः। अथागत्य गोपी दूतीमपृच्छत्—'का वार्ता?' दूत्योक्तम्—'पश्य माम्। मुखमेव वार्तां कथयति।' अनन्तरं सा गोपी तथा कृत्वात्मानं बद्ध्वा स्थिता। इयं च दूती तां छिन्ननासिकां गृहीत्वा स्वगृहं प्रविश्य स्थिता। ततः प्रातरेवानेन नापितेन स्ववधूः क्षुरभाण्डं याचिता सती क्षुरमेकं प्रादात्। ततोऽसमग्रभाण्डे प्राप्ते समुपजातकोपोऽयं नापितस्तं क्षुरं दूरादेव गृहे क्षिप्तवान्। अथ कृतार्तरावेयं विनापराधेन मे नासिकानेन छिन्नेत्युक्त्वा धर्माधिकारिसमीपमेनमानीतवती। सा च गोपी तेन गोपेन पुनः पृष्टोवाच—'अरे पाप, को मां महासतीं विरूपयितुं समर्थः। मम व्यवहारमकल्मषमष्टौ लोकपाला एव जानन्ति। यतः—

तस्य = दूत्युक्तजारस्य, तादृशीमवस्थाम् = मदनाग्निजर्जरितदशाम्, परिक्लिष्टमनाः = दुःखितचित्ता, अनुवर्तितुम् = अनुकूलयितुम्। तथाऽनुष्ठिते = गोप्याः

स्वय स्तम्भे पद्ध्वा स्थितायां सत्याम्, प्रबुद्ध = त्यक्तनिद्र । पापिष्ठाम् = महापापाम्, आरान्तिकम् = उपपतिसमीपम्, नयामि = प्रापयामि । दर्पात् = अभिमानात्, प्रत्युत्तरम् = प्रतिवचनम्, कर्तरिकाम् = छुरिकाम्, छिन्ना = कर्तिता । त्वमेव०—मम मुखदर्शनेनैव का वार्ताऽस्ति' इति ज्ञास्यसि । क्षुरभाण्डम् = क्षुरस्थापनपात्रम् (छोरा), याचिता = प्रार्थिता असमग्र भाण्डे = असम्पूर्णक्षुरभाजने, समुपजातकोपः = क्रुद्ध, चिक्षेप = चिक्षेप । कृता तैरावा = कृतरोदनस्वरा, दृष्टम् = नापितवधू, विनापराधेन = दोष विना, धर्माधिकारिसमीपम् = न्यायाधीशनिकटम्, पृष्टम् = नापितम् । पाप = पापिन्!, महासतीम् = अतिशयेन पतिव्रताम्, विरूपयितुम् = विरूपां कर्तुम् । अक्षतम्पम् = निर्दुष्टम्, अष्टौ = अष्टसङ्ख्यकाः ।

उसकी इस प्रकार की अवस्था देख मैं अत्यन्त दुखी होकर एक बार फिर तुम्हें मनाने आई हूँ। मैं अपने को यहीं बाँध कर रहती हूँ और तुम वहाँ जाकर उसे सन्तुष्ट करके जल्दी आ जाओ। ऐसा हो जाने पर उसी समय ग्वाले की नींद खुली और उसने कहा—पापिनि! अब क्यों नहीं अपने यार के पास जा रही हो। जब उसने कुछ नहीं कहा तो ग्वाले ने क्रोध में आकर कहा कि यह मारे घमंड के मेरी बातों का उत्तर भी नहीं देती है और उसने कैंची लेकर उसकी नाक काट दी। ऐसा करके ग्वाला फिर सो गया।

तब अहिरिन ने आकर दूती से पूछा—'क्या बात?' दूती ने कहा—'मुझे देखो, मेरा मुँह ही सारी बात बतायगा।' इसके बाद गोपी ने फिर अपने को वहीं बाँध लिया। और अपना कटी हुई नाक लेकर वह दूती अपने घर चली गई। प्रातः काल ही नाई ने अपनी बहू से छुरों का थैला माँगा, किंतु उसने केवल एक ही छुरा दिया। फिर पूरा थैला न पाने से क्रुद्ध होकर नाई ने दूर ही से छुरे को घर से फेंका। तब नाइन रोती हुई यह 'बिना अपराध के ही इनने मेरी नाक काट ली है'–ऐसा कहती हुई इसे धर्माधिकारियों के पास लाई है। जब उस ग्वाले ने ग्वालिन से फिर पूछा तो उसने कहा—'अरे पापी, मेरी जैसी सती के सौन्दर्य को कौन नष्ट कर सकता है? मेरे पवित्र आचरण को आठो लोकपाल जानते हैं। क्योंकि—

आदित्यचन्द्रावनिलोऽनलश्च द्यौर्भूमिरापो हृदयं यमश्च।
अहश्च रात्रिश्च उभे च संध्ये धर्मश्च जानाति नरस्य वृत्तम्॥ ११२॥

अन्वय—आदित्यचन्द्रौ अनिलः च अनलः द्यौः भूमिः आपः हृदयम् च यमः च अहः च रात्रिः च उभे सन्ध्ये च धर्मः नरस्य वृत्तम् जानाति (अत्र वचनविपरिणामेन प्रत्येक सम्बन्धः कार्यः)॥ ११२॥

आदित्यचन्द्रौ = सूर्याचन्द्रमसौ, अनिलः = वायुः, अनलः = अग्निः, द्यौः =

आकाशम् , आपः = जलानि, तदधिष्ठातृदेवो वरुणः. अहः = दिनम् , उभे सन्ध्ये = सन्ध्याद्वयम् , वृत्तम्=आचरणम् ॥

सूर्य, चन्द्रमा, वायु, अग्नि, आकाश, पृथ्वी, जल, हृदय, यम, रात, दिन और दोनों सन्ध्या तथा धर्म ही मनुष्य के अच्छे बुरे आचरण को जानते हैं ॥ ११२ ॥

यद्यहं परमसती स्याम् , त्वां विहायान्यं न जाने, पुरुषान्तरं स्वप्नेऽपि नहि भजे, तेन धर्मेण छिन्नापि मम नासिकाऽच्छिन्नाऽस्तु । मया त्वं भस्म कर्तुं शक्यसे । किन्तु स्वामी त्वम् । लोकभयादुपेक्षे । पश्य मन्मुखम् । यावदसौ गोपो दीपं प्रज्वाल्य तन्मुखमवलोकते तावदुन्नस मुखमवलोक्य तच्चरणयोः पतितः—'धन्योऽहं यस्येदृशी भार्या परमसाध्वी' इति ।

परमसती = महापतिव्रता, पुरुषान्तर = अन्य पुरुषम् , भजे = सेवनं करोमि । भस्म कर्तुम् = दग्धुम् , स्वामी = पतिः, लोकभयात् = जनापवादभयात् । उन्नसम् = उन्नतनासिकायुक्तम् , अच्छिन्ननासिकम् , परमसाध्वी = महासती ।

अगर मैं सती हूँगी, तुम्हे छोड़ कर दूसरे का ध्यान नहीं करती हूँगी, स्वप्न में भी पर पुरुष को न देखती हूँगी तो मेरे इस धर्म के द्वारा मेरी नाक ठीक से हो जायगी । मैं तुम्हें भस्म कर सकती हूँ किन्तु तुम मेरे स्वामी हो । लोकभय से ऐसा नहीं करती हूँ । मेरा मुँह देखो । जब ग्वाले ने दीपक जला कर उसका मुँह देखा तो नाक सहित मुँह को देखकर उसके पैरों पर गिर पड़ा और कहा—'मैं धन्य हूँ जिसे ऐसी सती स्त्री मिली है ।'

योऽयमास्ते साधुरेतद्वृत्तान्तमपि कथयामि । अयं स्वगृहान्निर्गतो द्वादशवर्षैर्मलयोपकण्ठादिमां नगरीमनुप्राप्तः अत्र वेश्यागृहे सुप्तः । तस्याः कुट्टन्या गृहद्वारि स्थापितकाष्ठघटितवेतालस्य मूर्धनि रत्नमेकमुत्कृष्टमास्ते । तत्र लुब्धेनानेन साधुना रात्रावुत्थाय रत्न ग्रहीतु यत्न. कृतः । तदा तेन वेतालेन सूत्रसञ्चारितबाहुभ्यां पीडितः सन्नार्तनादमयं चकार । पश्चादुत्थाय कुट्टन्योक्तम्—'पुत्र ! मलयोपकण्ठादागतोऽसि । तत्सर्वरत्नानि प्रयच्छास्मै । नो चेदनेन न त्यक्तव्योऽसि ।' इत्थमेवायं चेटकः । ततोऽनेन सर्वरत्नानि समर्पितानि यथायमपहृतसर्वस्वोऽस्मासु समागत्य मिलितः । एतत्सर्वं श्रुत्वा राजपुरुषैर्न्याये धर्माधिकारी प्रवर्तितः । अन-

न्तर तेन सा दूती गोपी च ग्रामाद्बहिर्निःसारिते। नापितश्च गृह गत। अतोऽहं ब्रवीमि—'स्वर्णरेखामहं स्पृष्ट्वा' इत्यादि। अथ स्वय कृतोऽय दोष। अत्र विलपन नोचितम्। (क्षण विमृश्य) मित्र! यथानयोः सौहार्दं मया कारित तथा मित्रभेदोऽपि मया कार्य। यत—

साधु = वणिक्। मलयोपकण्ठात् = मलयपर्वतनिकटस्थप्रदेशात्, इमां नगरीम् = एतत्काञ्चनपुरीम्, स्थापितकाष्ठघटितवेतालस्य = स्थापिताया दारुमय्याः वेतालमूर्त्याः, मूर्धनि = मस्तके, सत्कृष्टम् = श्रेष्ठम्, बहुमूल्यमित्यर्थः, सूत्रसञ्चारितबाहुभ्याम् = तन्त्रीप्रेरितहस्ताभ्याम् (यन्त्रद्वारा चलाये गये दोनों हाथोंसे), आर्तनादम् = दीनतयोच्चैः शब्दम्। प्रयच्छ = देहि। नो चेद्०—अन्यथापि त्वां न त्यक्ष्यति। चेटक = भृत्य, अपहृतसर्वस्वः—अपहृतम् = आच्छिन्नम्, सर्वस्वम् = सर्वसम्पत्तिर्यस्य स। विलपनम् = विलाप। सौहार्दम् = मित्रता, मित्रभेद = सुहृद्भेद, अनयोर्मित्रयो परस्पर विरोध इत्यर्थ॥

और जो यह साधु है उसका भी वृत्तांत कह रहा हूँ। सुनो—बारह वर्ष तक मलय पहाड़ पर रहकर यह इस नगर में आया है। यहाँ एक दिन यह वेश्या के घर में सो रहा था। उस कुटनी वेश्या के दरवाजे पर काठ के बने हुए वेताल की मूर्ति के सिर पर एक मूल्यवान् रत्न जड़ा हुआ था। लालच में आकर इस साधु ने रात में उठ कर उस रत्न को ले लेने का प्रयत्न किया। तत्काल वेताल ने डोरे से चलाई गई अपनी बाहों से इसे जकड़ लिया, जिससे यह चिल्लाने लगा। कुटनी ने उठकर कहा—पुत्र, तुम मलय पहाड़ के पास से आ रहे हो, अत इसे सभी रत्न दे दो, नहीं तो यह तुम्हें नहीं छोड़ेगी। यही इसका व्यवहार ही है। तब इसने अपने सभी रत्नों को उसे दे दिया और सब कुछ चले जाने से अब हम लोगों से आ मिला है। यह सब सुनकर राजपुरुषों ने इसे न्यायालय में धर्माधिकारी के पास भेज दिया। धर्माधिकारी ने इस अहिरिन और दूती को गाँव से बाहर निकाल दिया। नाई अपने घर चला गया। इसी लिए मैं कह रहा हूँ कि 'मैं स्वर्णरेखा को छूकर' इत्यादि। यह तो अपना ही किया हुआ पाप है। फिर इस विषय में रोना व्यर्थ है। (थोड़ी देर विचार कर) मित्र! जैसे मैंने इन दोनों में मित्रता कराई है उसी प्रकार मैं इनकी मित्रता में फूट भी डाल दूँगा। क्योंकि—

अतथ्यान्यपि तथ्यानि दर्शयन्त्यतिपेशलाः।
समे निम्नोन्नतानीव चित्रकर्मविदो जनाः॥ ११३॥

अन्वयः—अतिपेशलाः जना. अतथ्यानि अपि, चित्रकर्मविदः जनाः समे (चित्रपटे) निम्नोन्नतानि इव तथ्यानि दर्शयन्ति ॥ ११३ ॥

अतथ्यानि = अवर्तमानानि, तथ्यानि = वर्तमानानि, दर्शयन्ति = प्रदर्शयन्ति, अतिपेशला. = अतिशयेन चतुरा., समे = समतले पटादौ, निम्नोन्नतानि = निम्नानि उन्नतानि च, चित्रकर्मविद् = चित्रकारा ॥

नीतिज्ञ लोग झूठ का भी सच सिद्ध कर देते हैं जिस तरह कुशल चित्रकार समान भूमि को भी ऊँची नीची करके दिखा देता है ॥ २१ ॥

अपर च—

उत्पन्नेष्वपि कार्येषु मतिर्यस्य न हीयते।
स निस्तरति दुर्गाणि गोपी जारद्वयं यथा ॥ ११४ ॥

अन्वय—कार्येषु उत्पन्नेषु अति यस्य मति. न हीयते, सः, गोपी जारद्वयम् यथा दुर्गाणि निस्तरति ॥ ११४ ॥

उत्पन्नेषु = समुपस्थितेषु, हीयते = क्षीणा भवति, निस्तरति = तरति = पारयति, जारद्वयम् = द्वौ उपपती, यथा = इव ॥

और भी—कार्य के उपस्थित हो जाने पर भी जिसकी बुद्धि क्षीण नहीं होती, वह कठिनाई से वसी प्रकार बच जाता है जैसे उस अहिरिन ने दोनों जारों को बचा किया था ॥ ११४ ।।

करटकः पृच्छति—कथमेतत् ? दमनकः कथयति ।

करटक ने पूछा—यह कैसे ? दमनक ने कहा—

कथा ६

अस्ति द्वारवत्या पुर्यां कस्यचिद्गोपस्य वधूर्बन्धकी। सा ग्रामस्य दण्डनायकेन तत्पुत्रेण च सम रमते। तथा चोक्तम्—

द्वारवत्याम् = द्वारकायाम् , बन्धकी = व्यभिचारिणी। दण्डनायकेन = दण्डाध्यक्षेण (कोतवाल के साथ), समम् = सह, रमते = व्यभिचार करोति ॥

द्वारवती नगरी में किसी ग्वाले की पत्नी कुलटा थी। वह उस गाँव के मुखिया और उसके पुत्र—दोनों के साथ सम्भोग करती थी। जैसा कि कहा भी है—

नाग्निस्तृप्यति काष्ठानां नापगाना महोदधिः।
नान्तक सर्वभूतानां न पुंसा वामलोचनाः ॥ ११५ ॥

अन्वय.—अग्निः काष्ठानाम् , महोदधिः आपगानाम् , अन्तकः सर्वभूतानाम् , (च) वामलोचना. पुंसाम् न तृप्यति ॥ ११५ ॥

काष्ठानाम् = इन्धनानाम् , आपगानाम्—अपां समूहः आपम् , तेन गच्छन्ति इति आपगास्तासाम् = नदीनाम् , अन्तकः = यमराजः, सर्वभूतानाम् = समस्तजीवानाम् , वामलोचना = युवतयो नार्यः ॥

अग्नि लकड़ियों से, समुद्र नदियों से, यमराज सभी प्राणियों से और नारी पुरुषों से कभी भी तृप्त नहीं होती ॥ ११५ ॥

अन्यच्च—

न दानेन न मानेन नार्जवेन न सेवया ।
न शस्त्रेण न शास्त्रेण सर्वथा विषमाः स्त्रियः ॥ ११६ ॥

अन्वय.—स्त्रियः दानेन न, मानेन न, आर्जवेन न, सेवया न, शस्त्रेण न, शास्त्रेण न, (वशगामिन्यः भवन्ति, यतः) स्त्रियः सर्वथा विषमाः (भवन्ति) ॥११६॥

मानेन = आदरेण, आर्जवेन = सरलतया, शस्त्रेण = आयुधादिताडनेन, शास्त्रेण = शास्त्रोपदेशेन, विषमा = कठिनाः ॥

और भी—स्त्रियाँ न तो दान से, न सन्मान से, न खुशामद से, न सेवा से, न हथियार से और न तो शास्त्र ही से सुधारी जा सकती हैं। इसीलिए वे बड़ी भयानक होती हैं ॥

यतः—

गुणाश्रयं कीर्तियुतं च कान्तं पतिं रतिज्ञं सधनं युवानम् ।
विहाय शीघ्रं वनिता व्रजन्ति नरान्तरं शीलगुणादिहीनम् ॥ ११७ ॥

अन्वय.—वनिता गुणाश्रयम् कीर्तियुतम् कान्तम् रतिज्ञम् सधनम् युवानम् पतिम् विहाय शीलगुणादिहीनम् नरान्तरम् शीघ्रम् व्रजन्ति ॥ ११७ ॥

गुणाश्रयम् = शौर्यादिगुणवन्तम् , कीर्तियुतम् = यशस्विनम् , कान्तम् = रम्यम् , रतिज्ञम् = कामशास्त्रज्ञम् , युवानम् = युवकम् , वनिता. = स्त्रियः , नरान्तरम् = अन्य नरम् , जारमित्यर्थः ॥

क्योंकि—गुणी, यशस्वी, सुन्दर, रतिकला के ज्ञाता, धनी तथा नवयुवक पति को भी छोड़कर स्त्रियाँ अन्य दुराचारी तथा दुष्ट मनुष्य के पास शीघ्र चली जाती हैं ॥ ११७ ॥

अपरं च—

न तादृशीं प्रीतिमुपैति नारी विचित्रशय्या शयितापि कामम् ।
यथा हि दूर्वादिविकीर्णभूमौ प्रयाति सौख्यं परकान्तसङ्गात् ॥ ११८ ॥

अन्वय.—अतिपेशलाः जनाः असत्यानि अपि, चित्रकर्मविदः जनाः समे (चित्रपटे) निम्नोन्नतानि इव तथ्यानि दर्शयन्ति ॥ ११३ ॥

असत्यानि = अवर्तमानानि, तथ्यानि = वर्तमानानि, दर्शयन्ति = प्रदर्शयन्ति, अतिपेशला = अतिशयेन चतुरा., समे = समतले पदार्थो, निम्नोन्नतानि = निम्नानि उन्नतानि च, चित्रकर्मविद. = चित्रकारा. ॥

नीतिज्ञ लोग झूठ का भी सच सिद्ध कर देते हैं जिस तरह कुशल चित्रकार समान भूमि को भी ऊँची नीची करके दिखा देता है ॥ १३ ॥

अपर च—

उत्पन्नेष्वपि कार्येषु मतिर्यस्य न हीयते ।
स निस्तरति दुर्गाणि गोपी जारद्वयं यथा ॥ ११४ ॥

अन्वय —कार्येषु उत्पन्नेषु अति यस्य मति. न हीयत, सः, गोपी जारद्वयम् यथा दुर्गाणि निस्तरति ॥ ११४ ॥

उत्पन्नेषु = समुपस्थितेषु, हीयते = क्षीणा भवति, निस्तरति = तरति = पारयति, जारद्वयम् = द्वौ उपपती, यथा = इव ॥

और भी—कार्य के उपस्थित हो जाने पर भी जिसकी बुद्धि क्षीण नहीं होती, वह कठिनाई से उसी प्रकार बच जाता है जैसे उस अहिरिन ने दोनों जारों को बचा लिया था ॥ ११४ ॥

करटक' पृच्छति—कथमेतत् ? दमनकः कथयति ।

करटक ने पूछा—यह कैसे ? दमनक ने कहा—

कथा ६

अस्ति द्वारवत्या पुर्यां कस्यचिद्गोपस्य वधूर्बन्धकी । सा ग्रामस्य दण्डनायकेन तत्पुत्रेण च सम रमते । तथा चोक्तम्—

द्वारवत्याम् = द्वारकायाम् , बन्धकी = व्यभिचारिणी । दण्डनायकेन = दण्डाध्यक्षेण (कोतवाल के साथ), समम् = सह, रमते = व्यभिचार करोति ॥

द्वारवती नगरी में किसी ग्वाले की पत्नी कुलटा थी । वह उस गाँव के मुखिया और उसके पुत्र—दोनों के साथ सम्भोग करती थी । जैसा कि कहा भी है—

नाग्निस्तृप्यति काष्ठाना नापगाना महोदधिः ।
नान्तक सर्वभूताना न पुंसा वामलोचना: ॥ ११५ ॥

अन्वय.—अग्निः काष्ठानाम् , महोदधिः आपगानाम् , अन्तकः सर्वभूतानाम् , (च) वामलोचना. पुंसाम् न तृप्यति ॥ ११५ ॥

काष्ठानाम् = इन्धनानाम् , आपगानाम्—अपां समूहः आपम् , तेन गच्छन्ति इति आपगास्तासाम् = नदीनाम् , अन्तक = यमराज , सर्वभूतानाम् = समस्तजीवानाम् , वामलोचना = युवतयो नार्यः ॥

अग्नि लकड़ियों से, समुद्र नदियों से, यमराज सभी प्राणियों से और नारी पुरुषों से कभी भी तृप्त नहीं होती ॥ ११५ ॥

अन्यच्च—

न दानेन न मानेन नार्जवेन न सेवया ।
न शस्त्रेण न शास्त्रेण सर्वथा विषमा. स्त्रिय. ॥ ११६ ॥

अन्वय.—स्त्रियः दानेन न, मानेन न, आर्जवेन न, सेवया न, शस्त्रेण न, शास्त्रेण न, (वशगामिन्यः भवन्ति, यत.) स्त्रिय सर्वथा विषमाः (भवन्ति) ॥११६॥

मानेन = आदरेण, आर्जवेन = सरलतया, शस्त्रेण = आयुधादिप्रताडनेन, शास्त्रेण = शास्त्रोपदेशेन, विषमा = कठिना. ॥

और भी—स्त्रियाँ न तो दान से, न सन्मान से, न खुशामद से, न सेवा से, न हथियार से और न तो शास्त्र ही से सुधारी जा सकती हैं । इसीलिए वे बड़ी भयानक होती हैं ॥

यत:—

गुणाश्रयं कीर्तियुतं च कान्तं पतिं रतिज्ञं सधनं युवानम् ।
विहाय शीघ्रं वनिता व्रजन्ति नरान्तरं शीलगुणादिहीनम् ॥ ११७ ॥

अन्वय.—वनिता. गुणाश्रयम् कीर्तियुतम् कान्तम् रतिज्ञम् सधनम् युवानम् पतिम् विहाय शीलगुणादिहीनम् नरान्तरम् शीघ्रम् व्रजन्ति ॥ ११७ ॥

गुणाश्रयम् = शौर्यादिगुणवन्तम् , कीर्तियुतम् = यशस्विनम् , कान्तम् = रम्यम् , रतिज्ञम् = कामशास्त्रज्ञम् , युवानम् = युवकम् , वनिता. = स्त्रिय., नरान्तरम् = अन्य नरम् , जारमित्यर्थः ॥

क्योंकि—गुणी, यशस्वी, सुन्दर, रतिकला के ज्ञाता, धनी तथा नवयुवक पति को भी छोड़कर स्त्रियाँ अन्य दुराचारी तथा दुष्ट मनुष्य के पास शीघ्र चली जाती हैं ॥ ११७ ॥

अपरं च—

न तादृशीं प्रीतिमुपैति नारी विचित्रशय्या. शयितापि कामम् ।
यथा हि दूर्वादिविकीर्णभूमौ प्रयाति सौख्यं परकान्तसङ्गात् ॥ ११८ ॥

अन्वयः—नारी कामम् विचित्रशय्याम् शयिता अपि तादृशीम् प्रीतिम् न उपैति, यथा हि दूर्वादिविकीर्णभूमौ परकान्तसङ्गात् सौख्यम् प्रयाति ॥ ११८ ॥

विचित्रशय्याम् = उज्ज्वलप्रच्छदपटादियुक्ता विचित्रपर्यङ्कम्, शयिता = सुप्ता, कामम् = यथेष्टम्, दूर्वादिविकीर्णभूमौ = दूर्वादितृणाच्छन्नभूतले, परकान्तसङ्गात् = अन्यपतिसहवासात् ॥

और भी—नारी सुन्दर शय्या पर सोती हुई भी उतना प्रसन्न नहीं होती है, जितना दूसरे पुरुष के साथ घासफूस आदि से भरी भूमि पर सो कर सुखी होती है ॥ ११८ ॥

अथ कदाचित्सा दण्डनायकपुत्रेण सह रममाणा तिष्ठति। अथ दण्डनायकोऽपि रन्तुं तत्रागतः। तमायान्तं दृष्ट्वा तत्पुत्रं कुसूले निक्षिप्य दण्डनायकेन सह तथैव क्रीडति। अनन्तरं तस्या भर्ता गोपो गोष्ठात्समागतः। तमवलोक्य गोप्योक्तम्—'दण्डनायक, त्वं लगुडं गृहीत्वा कोपं दर्शयन्सत्वरं गच्छ'। तथा तेनानुष्ठिते गोपेन गृहमागत्य भार्या पृष्टा—'केन कार्येण दण्डनायकः समागत्यात्र स्थितः।' सा ब्रूते—'अयं केनापि कार्येण पुत्रस्योपरि क्रुद्धः। स च मार्यमाणोऽप्यत्रागत्य प्रविष्टो मया कुसूले निक्षिप्य रक्षितः। तत्पित्रा चान्विष्यतात्र न दृष्टः। अत एवायं दण्डनायकः क्रुद्ध एव गच्छति।' ततः सा तत्पुत्रं कुसूलाद्बहिष्कृत्य दर्शितवती। तथा चोक्तम्—

सा = गोपी, दण्डनायकपुत्रेण = दण्डाध्यक्षसुतेन, रममाणा = रमणं कुर्वन्ती, रन्तुम् = रमणं कर्तुम्। कुसूले = अन्नभाजने (कोठिला या बखार), तथा = प्रागवत्, गोष्ठात् = गोस्थानात्। लगुडम् = वंशदण्डम् (लाठी), कोपं दर्शयन् = कोपप्रदर्शनं कुर्वन्, न तु वस्तुतः कुपितः तत्कारणाभावादित्यर्थः। अनुष्ठिते=कृते, केनापि कार्येण = कस्मैचित् प्रयोजनाय, अयम् = दण्डनायकः, पलायमानः = पलायनं कुर्वन्, अन्विष्यता = अन्वेषणं कुर्वता।

एक बार वह मुखिया के बेटे के साथ सम्भोग कर रही थी कि उसी बीच मुखिया भी उसके साथ सम्भोग करने के लिए आ पहुंचा। उसे आया हुआ देख कर उसने उसके बेटे को बखार में छिपा दिया और मुखिया के साथ आनन्द लेने लगी। इसी बीच उसका पति ग्वाला गोशाला से आ पहुँचा। तब ग्वालिन ने उसे देखकर मुखिया से कहा—'तुम डंडा लेकर क्रोध करते हुए बाहर निकलो। उनके ऐसा करने पर ग्वाले ने घर में आकर पूछा कि 'मुखिया यहाँ किस लिए आया था?' उसने कहा—यह किसी कारण से

अपने पुत्र पर क्रुद्ध हुआ था । यह भागा हुआ मेरे घर में घुस आया, मैंने इसे बखार में छिपा कर बचा लिया । उसका पिता यहाँ आया किन्तु नहीं देखा । इसीलिए यह क्रुद्ध होकर गया है । तब उसने बखार से निकाल कर उसके पुत्र को दिखा दिया । जैसा कि कहा भी है—

आहारो द्विगुणः स्त्रीणां बुद्धिस्तासां चतुर्गुणा ।
षड्गुणो व्यवसायश्च कामश्चाष्टगुणः स्मृतः ॥ ११९ ॥

अन्वय—स्त्रीणाम् आहारः द्विगुणः तासाम् बुद्धिः चतुर्गुणा, च व्यवसायः षड्गुणः च कामः च अष्टगुणः स्मृतः ॥ ११९ ॥

आहारः = भोजनम्, द्विगुणः = द्विगुणितः, व्यवसायः = परिश्रमादिव्यापारः, कामः = कामवासना, सम्भोगाभिलाषः इत्यर्थः, स्मृतः = कथितः ॥

स्त्रियों का भोजन पुरुष की अपेक्षा दूना, उनकी बुद्धि चौगुनी, व्यवसायशीलता छ गुनी और कामुकता आठगुनी होती है ॥ ११९ ॥

अतोऽहं ब्रवीमि—'उत्पन्नेष्वपि कार्येषु' इत्यादि ।
इसीलिए मैं कह रहा हूँ कि 'कार्य पड़ने पर ।' आदि ।

करटको ब्रूते—'अस्त्वेवम् । किन्त्वनयोर्महानन्योन्यनिसर्गोपजातस्नेहः कथं भेदयितुं शक्यः ।' दमनको ब्रूते—'उपायः क्रियताम् ।' तथा चोक्तम्—

अनयोः = सिंहवृषभयोः, अन्योन्यनिसर्गोपजातस्नेहः = स्वभावेन परस्परमुत्पन्नं प्रेम, भेदयितुम् = नाशयितुम् ।

करटक ने कहा—यह तो ठीक है । किन्तु इन दोनों में अत्यन्त महान और स्वाभाविक प्रेम हो गया है, अतः तुम उनमें कैसे फूट डाल सकते हो । दमनक ने कहा—उपाय करो—जैसा कि कहा भी गया है—

उपायेन हि यच्छक्यं न तच्छक्यं पराक्रमैः
काक्या कनकसूत्रेण कृष्णसर्पो निपातितः ॥ १२० ॥

अन्वय—यत् (कार्यम्) उपायेन शक्यम् (भवति), तत् पराक्रमैः न शक्यम् (अस्ति) हि काक्या कनकसूत्रेण कृष्णसर्पः निपातितः ॥ १२० ॥

यत् = कार्यम्, शक्यम् = साध्यम्, पराक्रमैः = बलैः । काक्या = काकस्त्रिया, कनकसूत्रेण (सोनेकी जञ्जीरसे), कृष्णसर्पः (करैत साँप) निपातितः = मारितः ॥

उपाय से भी हो सकता है वह बल द्वारा नहीं हो सकता है। कौवी ने सोने की जंजीर से काले सर्प को मार डाला ॥ १२० ॥

करटकः पृच्छति—कथमेतत् ?' दमनकः कथयति

करटक ने पूछा—यह कैसे ? दमनक ने कहा—

कथा ७

कस्मिंश्चित्तरौ वायसदम्पती निवसतः । तयोश्चापत्यानि तत्कोटरावस्थितेन कृष्णसर्पेण खादितानि । ततः पुनर्गर्भवती वायसी वायसमाह—'नाथ ! त्यज्यतामयं तरुः । अत्रावस्थितकृष्णसर्पेणावयोः सततिः सततं भक्ष्यते यतः—

तरौ = वृक्षोपरि, वायसदम्पती = काकः काकी च (कौवेकी जोड़ी), अपत्यानि = सन्तानानि, तत्कोटरावस्थितेन—तस्य = वृक्षस्य, कोटरे = छिद्रे (खोडरेमें), अवस्थितेन = स्थितेन । सततम् = सर्वदा ॥

किसी वृक्ष पर कौवों का एक जोड़ा रहता था। उसके बच्चों को उसी पेड़ के खोखले में रहने वाला काला साँप खा जाया करता था। इसके बाद जब कौवी फिर गर्भवती हुई तो उसने कौवे से कहा—स्वामी ! इस वृक्ष को छोड़ दो। यहाँ रहने वाला काला साँप हम लोगों की सन्तानों को बराबर खा लिया करता है। क्योंकि—

दुष्टा भर्या शठ मित्रं भृत्यश्चोत्तरदायकः ।
ससर्पे च गृहे वासो मृत्युरेव न संशयः' ॥ १२१ ॥

अन्वयः—दुष्टा भार्या, शठम् मित्रम्, च उत्तरदायकः भृत्यः, च ससर्पे गृहे वासः (इत्येतत्सर्वम्) मृत्युः एव (अस्ति, अस्मिन्) संशयः न (अस्ति) ॥१२१॥

दुष्टा = चण्डी, शठम्=कपटयुक्तम् , उत्तरदायकः = प्रत्युत्तरदाता, ससर्पे = सर्पसहिते, वासः = निवासः ॥

दुष्ट स्त्री, धूर्त मित्र, जवाब देने वाला नौकर तथा साँप वाले घर में रहना, हमेशा मृत्यु का कारण बनता है। इसमें जरा भी सन्देह नहीं ॥ १२१ ॥

वायसो ब्रूते—'प्रिये ! न भेतव्यम् । वारंवारं मयैतस्य महापराधः सोढः । इदानीं पुनर्न क्षन्तव्यः ।' वायस्याह—'कथमेतेन बलवता सार्धं भवान् विग्रहीतुं समर्थः ।' वायसो ब्रूते—अलमनया शङ्कया । यतः—

वायसः = काकः । भेतव्यम् = भयं कर्तव्यम् । महापराधः=महान् दोषः, सोढः =सहनं कृतम् । इदानीम् = अधुना, क्षन्तव्य = क्षमार्हः । बलवता = बलिना, विग्रहीतुम् = योद्धुम् , अलं० = एवं शङ्का न कर्तव्या ॥

कौवे ने कहा—प्रिये डरो मत । बराबर मैंने इसके अपराध को क्षमा किया है अब मैं इसे क्षमा नहीं करूँगा । कौवी ने कहा—आप इस बलवान के साथ कैसे झगडा कर सकेंगे । कौवे ने कहा—ऐसी शङ्का न करो । क्योंकि—

> बुद्धिर्यस्य बलं तस्य निर्बुद्धेस्तु कुतो बलम् ।
> पश्य सिंहो मदोन्मत्त. शशकेन निपातित ' ॥ १२२ ॥

यस्य बुद्धि (अस्ति), तस्य बलम् (अस्ति), निर्बुद्धे तु कुत बलम् (अस्ति), पश्य, मदोन्मत्त. सिंह' शशकेन निपातित' ॥ १२२ ॥

निर्बुद्धेः=बुद्धिहीनस्य । मदोन्मत्तः=मदोद्धत. ॥

जिसके पास बुद्धि है उसी के पास बल है, जो बुद्धिहीन है उसके पास कहाँ बल होता है । देखो, मतवाले सिंह को खरगोश ने मार डाला ॥ १२२ ॥

वायसी विहस्याह—'कथमेतत् ।' वायस. कथयति—

कौवी ने हँसकर कहा—'यह कैसे ?' कौवे ने कहा—

कथा ८

अस्ति मन्दरनाम्नि पर्वते दुर्दान्तो नाम सिंह । स च सर्वदा पशूनां वधं कुर्वन्नास्ते । तत सर्वै पशुभिर्मिलित्वा स सिंहो विज्ञप्त:—'मृगेन्द्र ! किमर्थमेकदा बहुपशुघात क्रियते । यदि प्रसादो भवति तदा वयमेव भवदाहाराय प्रत्यहमेकैक पशुमुपढौकयाम ।' ततः सिंहेनोक्तम्—'यद्येतदभिमत भवता तर्हि भवतु तत् ।' तत प्रभृत्येकैकं पशुमुपकल्पित भक्षयन्नास्ते । अथ कदाचिद् वृद्धशशकस्य वारः समायात । सोऽचिन्तयत्—

मन्दरनाम्नि = मन्दरनामके, विज्ञप्त = निवेदित । बहुपशुघात.= अनेकपशुवध , प्रसाद = प्रसन्नता, प्रत्यहम् = प्रतिदिनम् , उपढौकयाम = प्रापयाम. । अभिमतम् = अभीष्टम् , तत. प्रभृति = तस्मात् दिनादारभ्य, उपकल्पितम्=वन्यपशुभिर्नियतम् , वृद्धशशकस्य=प्रवयस शशस्य (बूढे खरहेकी) ॥

मन्दर नाम के पहाड पर दुर्दान्त नाम का सिंह रहता था । वह सर्वदा जानवरों को मारा करता था । तब सभी जानवरों ने मिलकर सिंह से कहा—'हे मृगेन्द्र ! क्यों एक

ही साथ बहुत से जानवरों को मारते हैं। यदि आप कृपा करें तो हम लोग ही आपके भोजन के लिए प्रतिदिन एक एक जानवर सेवा में भेज दिया करें।' सिंह ने कहा—'यदि आप लोगों की यही इच्छा है तो ऐसा ही होना चाहिए। उसी समय से प्रतिदिन एक एक भेजे गए जानवर को खाकर वह रहने लगा। एक दिन एक बूढ़े खरगोश की बारी आई। उसने विचार किया—

'त्रासहेतोर्विनीतिस्तु क्रियते जीविताशया।
पञ्चत्वं चेद्गमिष्यामि किं सिंहानुनयेन मे॥ १२३॥

अन्वय—त्रासहेतोः विनीतिः तु जीविताशया क्रियते, चेत् (अहम्) पञ्चत्वम् गमिष्यामि, (तर्हि) सिंहानुनयेन मे किम् (अस्ति)?॥ १२३॥

त्रासहेतोः = भयकारणीभूतात् नृपादेः, विनीतिः = विनयः, जीविताशया = अहमस्यानुनयेन जीविष्यामि इत्याशया:, पञ्चत्व० = यदि मरिष्यामि, सिंहानुनयेन = सिंहप्रार्थनया॥

जीवन की आशा से ही भयभीत करने वाले की प्रार्थना की जाती है। यदि मुझे मरना ही है तो क्यों सिंह से प्रार्थना करूँ॥ १२३॥

तन्मन्दं मन्दं गच्छामि।' ततः सिंहोऽपि क्षुधापीडितः कोपात्तमुवाच—'कुतस्त्वं विलम्ब्य समागतोऽसि।' शशकोऽब्रवीत्—'देव! नाहमपराधी। आगच्छन्पथि सिंहान्तरेण बलाद्धृतः। तस्याग्रे पुनरागमनाय शपथं कृत्वा स्वामिनं निवेदयितुमत्रागतोऽस्मि।' सिंहः सकोपमाह—'सत्वरं गत्वा दुरात्मानं दर्शय, क्व स दुरात्मा तिष्ठति।' ततः शशकस्तं गृहीत्वा गभीरकूपं दर्शयितुं गतः। तत्रागत्य 'स्वयमेव पश्यतु स्वामी' इत्युक्त्वा तस्मिन् कूपजले तस्य सिंहस्यैव प्रतिबिम्बं दर्शितवान्। ततोऽसौ क्रोधाध्मातो दर्पात्तस्योपर्यात्मानं निक्षिप्य पञ्चत्वं गतः। अतोऽहं ब्रवीमि—'बुद्धिर्यस्य' इत्यादि।

मन्दं मन्दम् = शनैः शनैः। कुतः=कस्मात् कारणात्, विलम्ब्य=विलम्बं कृत्वा। सिंहान्तरेण = अन्यसिंहेन, बलाद्धृतः = बलपूर्वकं गृहीतः। शपथम् = समयम्, (सौगन्ध), सकोपम्=कोपपूर्वकम्, दुरात्मानम्, =दुष्टम्। गभीरकूपम्=गभीरान्धुम् (गहरे कूँएको), गतः = कूपसमीपं गतवान्। प्रतिबिम्बम् = प्रतिच्छायाम्। क्रोधाध्मातः = क्रोधपूर्णः, दर्पात् = गर्वात्, तस्यो०—प्रतिबिम्बोपरि कूर्दित्वा मृतः। सम्प्रति = इदानीम्।

इसलिए धीरे धीरे चलूं। तब सिंह ने भूख से व्याकुल होकर क्रोध के साथ कहा

कि—'तुम क्यों इतनी देरी से आए हो ।' खरगोश ने कहा—'इसमें मेरा दोष नहीं है । रास्ते में आते समय एक दूसरे बलवान सिंह ने मुझे पकड़ लिया । उसके सामने फिर आने की कसम खाकर स्वामी को सूचना देने यहाँ आया हूँ ।' सिंह ने क्रुद्ध होकर कहा कि—शीघ्र ही चलकर उस दुष्ट को दिखाओ कि वह कहाँ रहता है ।' तब खरगोश उन्हें लेकर एक गहरा कुआँ दिखाने के लिए गया । वहाँ जाकर उसने कहा कि 'स्वामी, आप स्वयं देख लें । ऐसा कह कर उस कुएँ के जल में उसी सिंह की छाया दिखला दी । इसके बाद वह क्रोध तथा घमंड में आकर कुएँ में कूद पड़ा और मर गया । इसी लिए मैं कह रहा हूँ कि—'जिसके पास बुद्धि है' आदि ।

वायस्याह—'श्रुतं मया सर्वम् । सम्प्रति यथा कर्तव्यं तद् ब्रूहि ।' वायसोऽवदत्—'अत्रासन्ने सरसि राजपुत्रः प्रत्यहमागत्य स्नाति । स्नानसमये मदङ्गादवतारितं तीर्थशिलानिहितं कनकसूत्रं चञ्च्वा विधृत्यानीयास्मिन् कोटरे धारयिष्यसि ।' अथ कदाचित्स्नातुं जलं प्रविष्टे राजपुत्रे वायस्या तदनुष्ठितम् । अथ कनकसूत्रानुसरणप्रवृत्तै राजपुरुषैस्तत्र तरुकोटरे कृष्णसर्पो दृष्टो व्यापादितश्च । अतोऽहं ब्रवीमि—'उपायेन हि यच्छक्यम्' इत्यादि । करटको ब्रूते—'यद्येवं तर्हि गच्छ । शिवास्ते सन्तु पन्थानः ।' ततो दमनकः पिङ्गलकसमीपं गत्वा प्रणम्योवाच—'देव ! आत्ययिकं किमपि महाभयकारि कार्यं मन्यमानः समागतोऽस्मि । यतः—

आसन्ने=निकटवर्तिनि, सरसि=तडागे, स्नाति=स्नानं करोति । तदङ्गादवतारितम्=राजपुत्रशरीरान्निस्सारितम्, तीर्थशिलानिहितम्=तीरस्थप्रस्तरे स्थापितम्, चञ्च्वा=त्रोट्या, धारयिष्यसि=पातयिष्यसि, पातयेत्यर्थः । तदनुष्ठितम्=कनकसूत्रं तरुकोटरे पातितवती । कनकसूत्रानुसरणप्रवृत्तैः=स्वर्णसूत्रप्राप्तये काकीमुद्दिश्यानुधावद्भिः, व्यापादितः=हतः । आत्ययिकम्=हानिकारकम्, महाभयकारि=अतिशयेन भयप्रदम्, मन्यमानः=मन्वानः ॥

कौवी ने कहा—'मैंने सब कुछ सुन लिया । इस समय जो करना है उसे बताओ ।' कौवे ने कहा—इस निकट के तालाब में राजकुमार प्रतिदिन आकर स्नान करता है । तुम स्नान के समय, उतार कर शिला पर रखे हुए स्वर्णसूत्र को चोंच में पकड़ कर लाओ और इस खोखले में रख दो । एक बार जब राजपुत्र जल में स्नान करने के लिए उतर पड़ा तो कौवी ने वैसा ही किया । इसके बाद उस सुवर्णसूत्र की खोज करने वाले सिपाहियों ने खोखले में काले साँप को देखा और उसे मार डाला । इसीलिए मैं कह रहा हूँ—'उपाय से जो हो सकता है' इत्यादि । करटक ने कहा—'यदि

ऐसा है तो जाओ, तुम्हारा मार्ग कल्याणमय हो।' तब दमनक ने पिंगलक के समीप जाकर प्रणाम करके कहा—देव, आप पर आने वाली एक महान विपत्ति को जानकर यहाँ आया हूं। क्योंकि—

आपद्युन्मार्गगमने कार्यकालात्ययेषु च।
कल्याणवचनं ब्र्यादपृष्टोऽपि हितो नरः॥ १२४॥

अन्वयः—आपदि उन्मार्गगमने च कार्यकालात्ययेषु हितः नरः अपृष्टः अपि कल्याणवचनम् ब्रूयात्॥ १२४॥

आपदि = आपत्काले, उन्मार्गगमने = कुमार्गगमने कार्यकालात्ययेषु—कार्यस्य कालः तस्य अत्ययेषु = कर्तव्यसमयविनाशेषु, कल्याणवचनम्=हितकृद्वाक्यम्, अपृष्टः = अननुयुक्तः, हितः=हितेच्छुकः॥

कल्याण चाहने वाले पुरुष को, आपत्ति के समय कार्य का समय बीतते समय तथा बुरे मार्ग में जाते समय स्वामी को देखकर बिना पूछे ही सारी बातें बता देनी चाहिए॥

अन्यच्च—

भोगस्य भाजनं राजा न राजा कार्यभाजनम्।
राजकार्यपरिध्वंसी मन्त्री दोषेण लिप्यते॥ १२५॥

अन्वयः—राजा भोगस्य भाजनम् (अस्ति), राजा कार्यभाजनं न (अस्ति), राजकार्यपरिध्वंसी मन्त्री दोषेण लिप्यते॥ १२५॥

भोगस्य=भोगकरणस्य, भाजनम् = पात्रम्, कार्यभाजनम् = कार्यकर्ता। राजकार्यपरिध्वंसी=राजकार्यनाशकः, दोषेण लिप्यते=दोषी भवति॥

और भी—राजा केवल भोग का पात्र होता है अर्थात् भोग करने वाला होता है, वह कार्य करने वाला नहीं होता। राजा के काम को बिगाड़ने वाला मन्त्री ही दोषी होता है॥ १२५॥

तथा हि पश्य। अमात्यानामेष क्रमः—

और देखिए, मन्त्रियों का यह नियम है—

वरं प्राणपरित्यागः शिरसो वाऽपि कर्तनम्।
न तु स्वामिपदावाप्तिपातकेच्छोरुपेक्षणम्॥ १२६॥

अन्वयः—प्राणपरित्यागः वा शिरसः अपि कर्तनम् वरम् (अस्ति), तु स्वामिपदावाप्तिपातकेच्छोः उपेक्षणम् न वरम् (अस्ति)॥ १२६॥

प्राणपरित्यागः = मरणम्, शिरसः कर्तनम् = शिरश्छेदनं वा, स्वामि-

पदापातिपातकेच्छो'—स्वामिनः पदस्य = स्थानस्य राज्यस्येत्यर्थः, अपाति' छामः एव पातकं तस्येच्छु' तस्य = राज्यलाभरूपपातकं कर्तुमिच्छुकस्य, उपेक्षणम् = उपेक्षा ॥

प्राणों का परित्याग करना अच्छा है अथवा सिर भी कटा देना उत्तम है किन्तु स्वामी के पद को हड़पने की इच्छा करने वाले की उपेक्षा करना ठीक नहीं है। १२६ ॥

पिङ्गलकः सादरमाह—'अथ भवान् किं वक्तुमिच्छति।' दमनको ब्रूते—'देव! संजीवकस्तवोपर्यसदृशव्यवहारीव लक्ष्यते। तथा चास्मत्संनिधाने श्रीमद्देवपादानां शक्तित्रयनिन्दां कृत्वा राज्यमेवाभिलषति।' एतच्छ्रुत्वा पिङ्गलकः सभयं साश्चर्यं मत्वा तूष्णीं स्थितः। दमनकः पुनराह—'देव! सर्वामात्यपरित्यागं कृत्वैक एवायं यत्त्वया सर्वाधिकारी कृतः, स एव दोषः। यतः—

असदृशव्यवहारी इव = अनुचितव्यवहारकर्तेव, लक्ष्यते = प्रतीयते। अस्मत्संनिधाने अस्माकं निकटे, श्रीमद्देवपादानाम् = भवताम्, शक्तित्रयनिन्दाम् = प्रभुमन्त्रोत्साहरूपाणां तिसृणां शक्तीनां निन्दनम्। तूष्णीं स्थितः = मौनो जातः। सर्वामात्यपरित्यागं कृत्वा = सर्वान्मन्त्रिणः सन्त्यज्य ॥

पिंगलक ने आदर के साथ कहा—'आप क्या कहना चाहते हैं।' दमनक ने कहा—'संजीवक आप के प्रतिकूल कार्य करता हुआ दिखाई पड़ रहा है। उसने हमारे सामने आप की तीनों शक्ति (प्रभुशक्ति, मन्त्रशक्ति, तथा उत्साहशक्ति) की निन्दा करते हुए राज्य ले लेने की इच्छा व्यक्त की है। यह सुनकर पिंगलक भय और आश्चर्य के साथ थोड़ी देर के लिए चुप हो गया। दमनक ने फिर कहा—आपने सभी मन्त्रियों को छोड़कर इसी को सर्वाधिकारी बना दिया, आप से यही गलती हुई। क्योंकि—

अत्युच्छ्रिते मन्त्रिणि पार्थिवे च
विष्टभ्य पादावुपतिष्ठते श्रीः।
सा स्त्रीस्वभावादसहा भरस्य
तयोर्द्वयोरेकतरं जहाति ॥ १२७ ॥

अन्वय—लक्ष्मी अत्युच्छ्रिते मन्त्रिणि च पार्थिवे पादौ विष्टभ्य उपतिष्ठते, सा स्त्रीस्वभावात् भरस्य असहा (सती) तयोः द्वयोः एकतरम् जहाति ॥ १२७ ॥

अत्युच्छ्रिते = अत्युन्नते प्रभावयुक्ते च, पार्थिवे = नृपे, विष्टभ्य = स्थिरौ कृत्वा, उपतिष्ठते = सेवते समाश्रयति च। असहा=सोढुमसमर्था, भरस्य = भारस्य, तयोर्द्वयोः =पार्थिवमन्त्रिणोः, एकतरम्=कमप्येकम्, जहाति = त्यजति ॥

अत्यन्त उन्नत मैत्री अथवा राजा के चरणों का अवलम्बन लेकर ही लक्ष्मी टिकती है किन्तु स्त्रीस्वभाव के कारण वह अधिक भार नहीं सहन कर सकती इसलिए वह इन दोनों में से एक का परित्याग कर देती है ॥ १२७ ॥

अपरं च—

एकं भूमिपतिः करोति सचिवं राज्ये प्रमाणं यदा
तं मोहाच्छ्रयते मदः स च मदालस्येन निर्भिद्यते ।
निर्भिन्नस्य पदं करोति हृदये तस्य स्वतन्त्रस्पृहा
स्वातन्त्र्यस्पृहया ततः स नृपतेः प्राणान्तिकं द्रुह्यति ॥ १२८ ॥

अन्वय०—यदा भूमिपतिः एकम् सचिवम् राज्ये प्रमाणं करोति, मोहात् तम् मदः श्रयते, स च मदालस्येन निर्भिद्यते, निर्भिन्नस्य तस्य हृदये स्वतन्त्रस्पृहा पदम् करोति, ततः स स्वतन्त्रस्पृहया नृपतेः प्राणान्तिकम् द्रुह्यति ॥ १२८ ॥

सचिवम् = मन्त्रिणम् , प्रमाणम् = प्रधानत्वेनाभिमतम् , तम् = सचिवम् , मोहात् = अभिमानात् , मदः = गर्वः, दास्येन = दासतया, निर्भिद्यते = छिद्यते, पदम् = स्थानम् , स्वतन्त्रस्पृहा = स्वातन्त्र्येच्छा, प्राणान्तिकम् = प्राणघातावधि, द्रुह्यति = द्रोह करोति ॥

और भी—जब राजा एक ही मन्त्री को राज्य का सारा अधिकार दे देता है तो अज्ञान वश उसे अभिमान हो जाता है और अभिमान तथा आलस्य उसके हृदय में भेद भाव उत्पन्न कर देते हैं। भेद आ जाने के कारण उसके हृदय में स्वतन्त्र हो जाने की इच्छा आ जाती है और इसी स्वतन्त्रता की इच्छा से वह राजा से प्राणघातक द्रोह करने लगता है ॥ १२८ ॥

अन्यच्च—

विषदिग्धस्य भक्तस्य दन्तस्य चलितस्य च ।
अमात्यस्य च दुष्टस्य मूलादुद्धरणं सुखम् ॥ १२९ ॥

अन्वय—विषदिग्धस्य भक्तस्य, च चलितस्य दन्तस्य च दुष्टस्य अमात्यस्य मूलात् उद्धरणम् सुखम् (भवति) ॥ १२९ ॥

विषदिग्धस्य = विषाक्तस्य, भक्तस्य = अन्नस्य (भातका), चलितस्य=दोलायमानस्य, अमात्यस्य = मन्त्रिणः, मूला० = समूलोत्पाटनं सुखकरं भवति ॥

और भी—विष भरे भोजन, हिलते हुए दाँत और दुष्ट मन्त्री को जड़ से उखाड़ फेंकने से ही सुख होता है ॥ १२९ ॥

किञ्च—

> यः कुर्यात्सचिवायत्तां श्रियं तद्व्यसने सति ।
> सोऽन्धवज्जगतीपालः सीदेत्सञ्चारकैर्विना ॥ १३० ॥

अन्वयः—यः (जगतीपालः) श्रियम् सचिवायत्ताम् कुर्यात्, सः जगतीपालः तद्व्यसने सति संचारकैः विना अन्धवत् सीदति ॥ १३० ॥

सचिवायत्ताम्=सचिवाधीनाम्, तद्व्यसने = सचिवव्यसने, अन्धवत् = अन्धेन तुल्यम्, जगतीपालः = भूपतिः, सीदेत् = दुःखितो भवेत्, सञ्चारकैर्विना = सेवकैर्विना ॥

और भी जो राजा अपनी राजलक्ष्मी को अपने मन्त्री के अधीन कर देता है तो वह विपत्ति के समय उसी अंधे के समान कष्ट पाता है जिसे कोई मार्ग बताने वाला नहीं होता ॥ १३० ॥

सर्वकार्येषु स्वेच्छातः प्रवर्तते । तदत्र प्रमाणं स्वामी । एतच्च जानाति—

स्वेच्छातः=स्वेच्छया, प्रवर्तते = कार्ये प्रवृत्तो भवति ।

वह मन्त्री सभी काम अपनी इच्छा के अनुसार करने लगता है । अब आप जैसा चाहें वैसा करें । आप यह तो जानते ही हैं कि—

> न सोऽस्ति पुरुषो लोके यो न कामयते श्रियम् ।
> परस्य युवतिं रम्यां सादरं नेक्षतेऽत्र कः' ॥ १३१ ॥

अन्वयः—लोके सः पुरुषः न अस्ति, यः श्रियम् न कामयते । परस्य रम्याम् युवतीम् अत्र कः सादरम् न ईक्षते ? ॥ १३१ ॥

कामयते = अभिलषति, श्रियम् = राजलक्ष्मीम्, परो धनम्, सादरम् = आदरपूर्वकम्, भोगेच्छयेति शेषः, ईक्षते=पश्यति ॥

संसार में ऐसा कोई भी व्यक्ति नहीं होता जो लक्ष्मी की कामना न रखता हो । भला दूसरे की सुन्दरी स्त्री को आदर के साथ कौन नहीं देखता ? ॥ १३१ ॥

सिंहो विमृश्याह—'भद्र ! यद्यप्येवं तथापि सञ्जीवकेन सह मम महान् स्नेहः । पश्य—

विमृश्य=विचार्य, एवम्=त्वदुक्तप्रकारम् ।

सिंह ने विचार करके कहा—भाई, आप का कहना तो ठीक है लेकिन संजीवक के साथ मेरा बहुत स्नेह है । देखो—

कुर्वन्नपि व्यलीकानि यः प्रियः प्रिय एव सः ।
अशेषदोषदुष्टोऽपि कायः कस्य न वल्लभः ॥ १३२ ॥

अन्वय —यः प्रियः (अस्ति), सः व्यलीकानि कुर्वन्नपि प्रिय एव (अस्ति) अशेषदोषदुष्टः अपि कायः कस्य (जनस्य) वल्लभः न (भवति) ? ॥ १३२ ॥

व्यलीकानि = अपराधान् । अशेषदोषदुष्टः = सकलदोषयुक्ततया दुष्टोऽपि, कायः = शरीरम् , वल्लभः = प्रियतमः । अनेकदोषपूर्णदेहवत् प्रतिकूलमाचरन् प्रियो जनः सदा प्रिय एव जायते ॥

कितना ही अपराध करने पर भी प्रिय व्यक्ति सर्वदा प्रिय ही रहेगा । जैसे इस शरीर में सभी प्रकार के दोष होते हैं फिर भी वह किसे प्रिय नहीं होता ॥ १३२ ॥

अन्यच्च—

अप्रियाण्यपि कुर्वाणो यः प्रियः प्रिय एव सः ।
दग्धमन्दिरसारेऽपि कस्य वह्नावनादरः ॥ १३३ ॥

अन्वय —यः प्रियः (अस्ति), सः अप्रियाणि अपि कुर्वाणः प्रियः एव (अस्ति) दग्धमन्दिरसारे अपि वह्नौ कस्य (जनस्य) अनादरः भवति ॥ १३३ ॥

अप्रियाणि=अनिष्टानि, कुर्वाणः = कुर्वन् , दग्धमन्दिरसारः—दग्धः = भस्मीकृत , मन्दिरस्य = गृहस्य, सारः=सारभूत वस्तु येन सः तस्मिन् , वह्नौ=अग्नौ, अनादर =तिरस्कारः, त्याग उपेक्षा वेत्यर्थः । न कस्यापीति भावः ॥

और भी—अप्रिय कार्य करने पर भी प्रिय व्यक्ति प्रिय ही रहेगा । आग कितने घर जला डालती है, फिर भी कौन उसका अनादर करता है ? ॥ १३३ ॥

दमनकः पुनरेवाह—'देव ! स एवातिदोषः । यतः—

देव != श्रीमन् ! अतिदोषः=महान् अगुणः ।

दमनक ने फिर कहा—'राजन् , यही तो सबसे बड़ा दोष है । क्योंकि—

यस्मिन्नेवाधिकं चक्षुरारोहयति पार्थिवः ।
सुतेऽमात्येऽप्युदासीने स लक्ष्म्याश्रीयते जनः ॥ १३४ ॥

अन्वय —पार्थिवः यस्मिन् एव सुते अमात्ये उदासीने अपि चक्षुः अधिकम् आरोहयति, सः जनः लक्ष्म्या आश्रीयते ॥ १३४ ॥

तस्मिन् = यत्र जने, चक्षुरारोहयति=चक्षुरारोपयति स्नेहेन यमेव जन पश्यतीत्यर्थः । सुते=पुत्रे, उदासीने = मध्यस्थे, अनुरागवैराग्यरहिते, लक्ष्म्याश्रीयते= धनवान् भवति ॥

पुत्र, मन्त्री तथा अपने प्रति उपेक्षाभाव रखनेवाले जिस किसी व्यक्ति पर भी यदि राजा अधिक स्नेह दिखाने लगता है तो वह लक्ष्मीपात्र बन ही जाता है ॥ १२४ ॥

शृणु देव—

अप्रियस्यापि पथ्यस्य परिणामः सुखावहः।
वक्ता श्रोता च यत्रास्ति रमन्ते तत्र सम्पदः ॥ १२५ ॥

अन्वयः—पथ्यस्य अप्रियस्य अपि परिणामः सुखावहः (भवति) यत्र वक्ता च श्रोता अस्ति, तत्र सम्पदः रमन्ते ॥ १२५ ॥

पथ्यस्य = हितकरस्य, वचनस्येति शेषः. परिणामः=फलम्, सुखावहः = सुखदः (भवति), वक्ता=स्वामिने सत्परामर्शप्रदः, श्रोता = अमात्यसत्परामर्शस्य श्रोता, यत्र=राज्ये स्थाने वा, रमन्ते = सानन्दं चिरं तिष्ठन्ति ॥

सुनिए राजन्—पथ्य (रोग के समय किया जाने वाला भोजन) भले ही अच्छा न लगने वाला हो, किन्तु उसका अंतिम फल सुखदायक होता है। और अप्रिय पथ्य के कहने तथा सुनने वाले जहां रहते हैं वहां सभी प्रकार की सम्पत्ति विराजमान रहती है ॥

त्वया च मूलभृत्यानपास्यायमागन्तुकः पुरस्कृतः। एतच्चानुचितं कृतम्। यतः—

त्वया=भवता, पिङ्गलकेन, मूलभृत्यान् = प्रधानसेवकान्, अपास्य = दूरीकृत्य, आगन्तुकः=बहिर्देशादागतः, पुरस्कृतः = अग्रे कृतः, प्रधानत्वेन अभिमतः कृतवान्, एतत् = आगन्तुकस्य पुरस्करणम् ॥

आपने अपने पुराने सेवकों को छोड़ दिया और इस नये आनेवाले को आगे बढ़ा दिया। यह आपने अनुचित किया। क्योंकि—

मूलभृत्यान्परित्यज्य नागन्तून्प्रतिमानयेत्।
नातः परतरो दोषो राज्यभेदकरो यतः ॥ १२६ ॥

अन्वयः—(नृपः) मूलभृत्यान् परित्यज्य आगन्तून् न प्रतिमानयेत्, यतः अतः परतरः राज्यभेदकरः दोषः न (अस्ति) ॥ १२६ ॥

मूलभृत्यान् = वंशपरम्परागतप्रधानसेवकान्, आगन्तून्—आगन्तुकान्, न प्रतिमानयेत् = नाद्रियात्। परतरः=महत्तरः, राज्यभेदकरः=राज्यनाशकः ॥

पुराने सेवकों को छोड़कर नये आनेवालों का सम्मान नहीं करना चाहिए। क्योंकि राज्य में भेद उत्पन्न करनेवाला इससे बड़ा और कोई भी दोष नहीं होता ॥ १२६ ॥

सिंहो ब्रूते—'किमाश्चर्यम्। मया यदभयवाचं दत्त्वाऽऽनीतः संवर्धितश्च तत्कथं मह्यं द्रुह्यति।' दमनको ब्रूते—'देव!

अभयवाचम्=अभयवचनम्, मह्यं द्रुह्यति=मां प्रति द्रोहं करोति, 'क्रुध-द्रुहेर्ष्या—' इति द्रुहधातोर्योगे मह्यमित्यत्र चतुर्थीविभक्तिः ॥

सिंह ने कहा—कितने आश्चर्य की बात है ? मैंने ही उसे अभयदान दिया, अपने पास बुलाया, और उसे आगे बढ़ाया फिर वह मुझसे द्रोह क्यों करने लगा ? दमनक ने कहा—

दुर्जनो नार्जवं याति सेव्यमानोऽपि नित्यशः ।
स्वेदनाभ्यञ्जनोपायैः श्वपुच्छमिव नामितम् ॥ १२७ ॥

अन्वयः—दुर्जनः स्वेदनाभ्यञ्जनोपायैः नामितम् श्वपुच्छम् इव नित्यशः सेव्यमानः अपि आर्जवम् न याति ॥ १२७ ॥

आर्जवम्=सरलताम्, स्वेदनाभ्यञ्जनोपायैः—स्वेदनम् = मन्दोष्णतैलादिना स्विन्नीकरणम्, अभ्यञ्जनम् = तैलमर्दनम्, उपायश्च = वृक्षादिस्कन्धद्वये संस्थाप्य बन्धनादिरूपश्च, तैः नामितम्=ऋजुत्वार्थं नम्रीकृतम् ॥

देव, नित्य सेवा करते रहने पर भी दुष्ट सीधा नहीं हो सकता। कुत्ते की टेढ़ी पूछ को सेंक कर कितना ही तेल लगाया जाय लेकिन वह सीधी नहीं होती ॥ १२७ ॥

अपरञ्च—

स्वेदितो मर्दितश्चैव रज्जुभिः परिवेष्टितः ।
मुक्तो द्वादशभिर्वर्षैः श्वपुच्छः प्रकृतिं गतः ॥ १२८ ॥

अन्वयः—स्वेदितः च मर्दितः एव रज्जुभिः परिवेष्टितः श्वपुच्छः द्वादशभिः वर्षैः मुक्तः (सन्) प्रकृतिं गतः (भवति) ॥ १२८ ॥

स्वेदितः = उष्णतैलादिना स्वेदयुक्तः—यथा वक्रगुल्मादिकमृजु कर्तुं तैलादिना सम्मर्द्य अग्नौ तापयित्वा ऋजु कुर्वन्ति, तथा कृत इति भावः। मर्दितः= तैलादिना कृत इति भावः। मर्दितः = तैलादिना कृतमर्दनः, रज्जुभिः = गुणैः, परिवेष्टितः = संवेष्टितः (रस्सियोंसे लपेटा गया), मुक्तः = त्यक्तः, श्वपुच्छः= कुक्कुरलाङ्गूलम्, प्रकृतिं गतः=पुनर्वक्र एव तिष्ठति ॥

और भी—कुत्ते की पूछ सेंकी गई, भली भाँति मली गई और बारह वर्षों तक सीधी करके बंधी रही, किंतु खोलने पर वह फिर टेढ़ी ही रह गयी ॥ १२८ ॥

अन्यच्च—

वर्धनं वाथ सम्मानं खलानां प्रीतये कुतः ।
फलन्त्यमृतसेकेऽपि न पथ्यानि विषद्रुमाः ॥ १२९ ॥

अन्वयः—वर्धनम् सम्मानं वा खलानाम् प्रीतये कुतः (भवति) अमृतसेके अपि विषद्रुमाः पथ्यानि न फलन्ति ॥ १२९ ॥

वर्धनम् = संवर्धनम् , सम्मानम् = आदरः, प्रीतये=प्रसन्नतायै, कुतः = कस्मात्कारणात् भवति । अमृतसेके = सुधया सेचने, पथ्यानि = मधुरफलानि, विषद्रुमाः = विषवृक्षाः ॥

और भी—उन्नति या सम्मान भला दुष्ट स्वभाववालों को प्रसन्न कर सकता है ? अमृत से सींचे जाने पर भी विष के वृक्ष सुखदायक फल नहीं दे सकते ॥ ११९ ॥

अतोऽहं ब्रवीमि—

> अपृष्टोऽपि हितं ब्रूयाद्यस्य नेच्छेत्पराभवम् ।
> एष एव सतां धर्मो विपरीतमतोऽन्यथा ॥ १४० ॥

अन्वय—(सत्सेवकः) यस्य पराभवम् न इच्छेत् (तेन) अपृष्ट अपि हितम् ब्रूयात्, एष एव सताम् धर्मः (अस्ति), अतः विपरीतम् अन्यथा (अस्ति) ॥ १४० ॥

हितम् = हितकर वचनम् , यस्य = स्वाम्यादेः , पराभवम् = पराजयम् , एष एव = अपृष्टेऽपि हितकृद्वाक्यकथनमेव । विपरीतमतो०—अस्मात्प्रतिकूल कथन सतामधर्मोऽस्तीत्यर्थः ॥

इसीलिए मैं कहता हूँ—

अगर कोई व्यक्ति किसी की हानि नहीं चाहता तो उसे उसके बिना पूछे ही हित की बातें बता देनी चाहिए । यही सज्जनों का मार्ग होता है । इसके विपरीत काम करना दुष्टों का काम है ॥ १४० ॥

तथा चोक्तम्—

> स स्निग्धोऽकुशलान्निवारयति यस्तत्कर्म यन्निर्मलं
> सा स्त्री यानुविधायिनी स मतिमान् यः सद्भिरभ्यर्च्यते ।
> सा श्रीर्या न मदं करोति स सुखी यस्तृष्णया मुच्यते
> तन्मित्रं यदकृत्रिमं स पुरुषो यः खिद्यते नेन्द्रियैः ॥ १४१ ॥

अन्वय—यः अकुशलात् निवारयति, सः स्निग्धः, यत् निर्मलम्, तत् एव कर्म, या अनुविधायिनी, सा स्त्री; यः सद्भिः अभ्यर्च्यते, स मतिमान् , या मदं न करोति, सा श्रीः , यः तृष्णया मुच्यते, स सुखी, यत् अकृत्रिमम् तत् मित्रम् ; यः इन्द्रियैः न खिद्यते, सः पुरुषः (अस्ति, अत्र यथायथं सर्वत्र अन्वयः) ॥ १४१ ॥

अकुशलात् = अमङ्गलात् , निवारयति = निवारणं करोति, निर्मलम्=निष्कलुषम् , अनुविधायिनी = अनुवर्तिनी, अभ्यर्च्यते = आद्रियते, मदम् = गर्वम् , तृष्णया = लोभेन, अकृत्रिमम् , न खिद्यते० = इन्द्रियपरवशो न भवति ॥

जैसा कि कहा भी गया है—

वही सच्चा प्रेमी है जो हानि से बचावे, कर्म वही है जो पवित्र हो, स्त्री वही है जो आज्ञा मानने वाली हो, बुद्धिमान वही है जो सज्जनों से पूजित हो, लक्ष्मी वही है, जो घमण्ड न उत्पन्न होने दे, सुखी वही है जो लालच से मुक्त हो, मित्र वही है जो स्वाभाविक हो, और पुरुष वही है जो इन्द्रियों द्वारा दुखी न बनाया जा सके ॥ १४१ ॥

यदि सञ्जीवकव्यसनादितोऽविज्ञापितोऽपि स्वामी न निवर्तते, तदीदृशि भृत्ये न दोषः। तथा च—

सञ्जीवकव्यसनात् = सञ्जीवकोपस्थमानविपद्', इतः = अतः, विज्ञापितः = निवेदितः, न निवर्तते = सञ्जीवकसंसर्गं न त्यजति, ईदृशे = एवंविधव्यसने ॥

मेरे इतना निवेदन करने पर भी यदि स्वामी सञ्जीवक के प्रेम से विरत नहीं होते तो इसमें सेवक का कोई भी दोष नहीं है। और भी—

नृपः कामासक्तो गणयति न कार्यं न च हितं
यथेष्टं स्वच्छन्दः प्रविचरति मत्तो गज इव।
ततो मानध्मातः स पतति यदा शोकगहने
तदा भृत्ये दोषान् क्षिपति न निजं वेत्त्यविनयम्' ॥ १४२ ॥

अन्वय.—कामासक्तः नृपः कार्यम् न गणयति, च हितम् न गणयति, (किन्तु) मत्तः गज इव यथेष्टम् स्वच्छन्द विचरति, ततः मानध्मातः सः यदा शोकगहने पतति, तदा भृत्ये दोषान् क्षिपति, निजम् अविनयम् न वेत्ति ॥ १४२ ॥

कामासक्त = कामवशीभूत', कार्यम् = कर्तव्यम्, यथेष्टम् = इच्छानुसारम्, स्वच्छन्दः = स्वतन्त्रः, माना ··गहने = दर्पोन्मत्तः महाशोकग्रस्तो भवति, भृत्ये दोषान् क्षिपति = भृत्यान् सदोषान् वदति, निजम् = स्वकीयम्, अविनयम् = औद्धत्यम् ॥

कामासक्त राजा न तो कार्य की ओर ध्यान देता है न अपना हित ही समझ पाता है वह स्वच्छंद मतवाले हाथी के समान मनमाने ढंग से विचरण करता है (जो भी चाहता है, वह करता है) किन्तु गर्वोन्मत्त हो कर शोकरूपी गड्ढेमें गिरने पर सारा दोष सेवकों के माथे मढ देता है, अपने दोषों की ओर उसका ध्यान ही नहीं जाता। अर्थात् राजाओं के पतन का कारण उनका अपना स्वच्छंद व्यवहार ही है ॥ १४२ ॥

पिङ्गलक (स्वगतम्)—

स्वगतम् = स्वचेतसि अन्यमश्रावयन्निरयर्थः।

न परस्यापराधेन परेषां दण्डमाचरेत्।
आत्मनाऽवगतं कृत्वा बध्नीयात्पूजयेच्च वा॥ १४३॥

अन्वय—(राजा) परस्य अपराधेन परेषाम् दण्डम् न आचरेत्, आत्मना अवगतम् कृत्वा (नरम्) बध्नीयात् वा पूजयेत्॥ १४३॥

परस्य = अन्यस्य, अपराधेन = दोषेण, परेषां ···चरेत् = परान्न दण्डयेत्। आत्मना = स्वयम्, अवगतं कृत्वा = ज्ञात्वा, बध्नीयात् = बन्धनं कुर्यात्, दण्डयेदित्यर्थः, पूजयेत् = आद्रियेत वा॥

पिंगलक ने—(मन ही मन कहा) किसी दूसरे के अपराध से दूसरों को दण्ड नहीं देना चाहिए। पहले अपने आप उसे भली भाँति समझ कर ही दण्डित या सम्मानित करना चाहिए॥ १४३॥

तथा चोक्तम्—

गुणदोषावनिश्चित्य विधिर्न ग्रहनिग्रहे।
स्वनाशाय यथा न्यस्तो दर्पात्सर्पमुखे करः॥ १४४॥

अन्वयः—गुणदोषौ अनिश्चित्य दोषाय ग्रहनिग्रहे न विधिः (कर्तव्यः), यथा दर्पात् सर्पमुखे न्यस्तः करः स्वनाशाय (भवति)॥ १४४॥

गुणदोषौ = गुणापराधौ, अनिश्चित्य = अनिर्णीय, गुणापराधयोर्निर्णयमकृत्वेत्यर्थः, ग्रहनिग्रहे = सम्ग्रहणम् (समादरः) दण्डश्च। स्वनाशाय = आत्मनो मरणाय, न्यस्तः = स्थापितः॥

जैसा कहा भी गया है—गुण या दोष का निश्चय किए बिना अनुगृहीत या दण्डित करना उचित नहीं है। ऐसा करना तो अभिमान में आकर अपना ही विनाश करने के लिए साँप के मुँह में हाथ डालने के समान है॥ १४४॥

प्रकाशं ब्रूते—'तदा संजीवकः किं प्रत्यादिश्यताम्।' दमनकः ससम्भ्रममाह—'देव, मा मैवम्। एतावता मन्त्रभेदो जायते। तथा ह्युक्तम्—

प्रत्यादिश्यताम् = बहिष्क्रियताम्, सेवेति शेषः, ससम्भ्रमम् = भयपूर्वकम्। मन्त्रभेदः = मन्त्रणायाः प्रकाशः, जायते = भवति, मन्त्रणा प्रकाशं गच्छति। इत्यर्थः॥

(प्रकट रूप से कहा)—तो क्या संजीवक को सेवा से अलग कर दिया जाय? दमनक ने घबड़ा कर कहा—'देव, ऐसा न करें, इससे मन्त्रभेद हो जायगा। जैसा कि कहा भी है—

मन्त्रबीजमिदं गुप्तं रक्षणीयं यथा तथा।
मनागपि न भिद्येत तद्भिन्नं न प्ररोहति ॥ १४५ ॥

अन्वय—गुप्तम् इदम् मन्त्रबीजम् (नृपेण) तथा रक्षणीयम्, यथा मनाक् अपि न भिद्येत, (यतः) भिन्नम् तद् न प्ररोहति ॥ १४५ ॥

मन्त्रबीजम् = मन्त्रणारूप बीजम्, गुप्तम् = अप्रकाशितम्, मनाक् = स्वल्पम्, तत् = मन्त्रबीजम्, भिन्नम् = प्रकाश गतम् स्फुटितम्। यथाऽस्फुटित मृदादौ गुप्तमेव बीजमङ्कुरितं भूत्वा पश्चात्फलद भवति, तथैव सुरक्षित मन्त्रमपि अन्यैर-ज्ञातं सत् फलप्रद भवतीत्याशयः ॥

मन्त्र (मन्त्री एवं राजा के बीच होने वाली राय बात) रूपी बीज को जैसे भी हो सके वैसे गुप्त ही रखना चाहिए। वह जरा भी फूटने न पाए, क्योंकि फूट जाने से वह फिर उग नहीं सकता ॥ १४५ ॥

किं च—

आदेयस्य प्रदेयस्य कर्तव्यस्य च कर्मणः।
क्षिप्रमक्रियमाणस्य कालः पिबति तद्रसम् ॥ १४६ ॥

अन्वय—क्षिप्रम् अक्रियमाणस्य आदेयस्य प्रदेयस्य च कर्तव्यस्य कर्मणः रसम् कालः पिबति ॥ १४६ ॥

आदेयस्य = ग्रहणीयस्य, प्रदेयस्य = दानयोग्यस्य, रसम् = फलम्, कालः = समयः। क्षिप्रमक्रियमाणानामादेयादीनां परिणामः न भवतीति तात्पर्यम् ॥

और भी—लेन, देन तथा कर्तव्य कार्य को शीघ्र ही न कर डालने से उनके रस को समय पी जाता है अर्थात् फिर उनके करने से कोई अच्छा परिणाम नहीं होता ॥ १४६ ॥

तदवश्यं समारब्धं महता प्रयत्नेन सम्पादनीयम्। किञ्च—

समारब्धम् = कृतारम्भं कार्यम्, सम्पादनीयम् = कर्तव्यम् ॥

इसलिए आरम्भ किए गये कार्य को अत्यंत परिश्रम के साथ पूरा करना चाहिए। और भी—

मन्त्रो योध इवाधीरः सर्वाङ्गैः संवृतैरपि।
चिरं न सहते स्थातुं परेभ्यो भेदशङ्कया ॥ १४७ ॥

अन्वय—संवृतैः अपि सर्वाङ्गैः उपलक्षितः अधीरः योधः इव (संवृतैः अपि सर्वाङ्गैः उपलक्षितः) मन्त्रः परेभ्यः भेदशङ्कया चिरं स्थातुम् न सहते ॥ १४७ ॥

मन्त्रः = रहसि द्वाभ्यां कृतो गुप्तविचारः, योधः = योद्धा, अधीरः = भीरुः, सर्वाङ्गैः = समस्तैर्हस्तपादस्यन्दाङ्गैः, पक्षे अमात्यादिद्वादशभिः राज्याङ्गैः, संवृत =

कवचादिनाऽऽच्छादितैः, पक्षे तृतीयेन जनेनाज्ञाततया सुरक्षितैः, परेभ्यः = अन्येभ्यः, शत्रुभ्यश्च, भेदशङ्कया=आघातभीत्या, पक्षे प्रकाशनभीत्या । यथा कवचादिना-च्छादितशरीरोऽपि भीरुर्योद्धा स्वाङ्गाघातभयाद् युद्धे चिरं न तिष्ठति, तथैव अमात्यादिद्वादशभी राज्याङ्गैः सुरक्षितोऽपि गुप्तपरामर्शः 'रिपवः ज्ञास्यन्ति' इति भयेन चिरकालं न तिष्ठति । अतः शीघ्रं तदनुसारं कार्यं करणीयमिति भावः ॥

सभी अंगों से ढके होने पर जिस प्रकार कायर योद्धा शत्रुओं से छिद जाने के भय से देर तक युद्धभूमि में टिक सकता, उसी प्रकार भली भांति गुप्त होने पर भी 'मन्त्र' फूट जाने के भय से अधिक समय तक टिक नहीं सकता ॥ १४७ ॥

यद्यसौ दृष्टदोषोऽपि दोषान्निवर्त्य संधातव्यस्तदतीवानुचितम् यतः—

यदि इसके दोषों को जान कर भी आप उन दोषों का ध्यान न करके इससे संधि करना चाहते हों तो यह तो अत्यन्त अनुचित है । क्योंकि—

सकृद्दुष्टं तु यो मित्रं पुनः सन्धातुमिच्छति ।
स मृत्युरेव गृह्णाति गर्भमश्वतरी यथा' ॥ १४८ ॥

अन्वयः—यः तु सकृद् दुष्टम् मित्रम् पुनः सन्धातुम् इच्छति, सः अश्वतरी गर्भम् यथा मृत्युम् इव गृह्णाति ॥ १४८ ॥

सकृद्दुष्टम्=एकवारविकृतम्, सन्धातुम्=सन्धिं कर्तुम्, अश्वतरी=वेसरी, खच्चरी इति यावत्, यथा=इव ॥

एक बार भी दुष्टता किए हुए मित्र से जो फिर मेल करना चाहता है वह मृत्यु को ग्रहण करता है जैसे खच्चरी गर्भ धारण करके मर जाता है ॥ १४८ ॥

सिंहो ब्रूते—'ज्ञायतां तावत्किमस्माकमसौ कर्तुं समर्थः ।' दमनक आह—"देव !—

सिंह ने कहा—'पहले यह मालूम करो कि यह हमारा क्या कर सकता है ?' दमनक ने कहा—'देव !

अङ्गाङ्गिभावमज्ञात्वा कथं सामर्थ्यनिर्णयः ।
पश्य टिट्टिभमात्रेण समुद्रो व्याकुलीकृतः' ॥ १४९ ॥

अन्वयः—अङ्गाङ्गिभावम् अज्ञात्वा सामर्थ्यनिर्णयः कथम् (कर्तुं शक्यते) पश्य, टिट्टिभमात्रेण समुद्रः व्याकुलीकृतः ॥ १४९ ॥

अङ्गाङ्गिभावम् = अङ्गाङ्गिनोः सम्बन्धम्, सामर्थ्यनिर्णयः = शक्तेः निश्चयः, टिट्टिभमात्रेण=केवलसाधारणेन टिट्टिभ (टिटहरी) पक्षिणैव ॥

परस्पर सम्बन्ध आदि (सहाय्य और सहायक) का ज्ञान किए बिना शक्ति का निर्णय कैसे हो सकता है ? देखो केवल एक टिटिहिरी ने ही समुद्र को व्याकुल कर दिया ॥१४९॥

सिंहः पृच्छति—'कथमेतत् ।' दमनकः कथयति—

सिंह ने पूछा—यह कैसे ? दमनक ने कहा—

कथा ९

दक्षिणसमुद्रतीरे टिट्टिभदंपती निवसतः । तत्र चासन्नप्रसवा टिट्टिभी भर्तारमाह—'नाथ, प्रसवयोग्यस्थानं निभृतमनुसन्धीयताम् ।' टिट्टिभोऽवदत्—भार्ये, नन्विदमेव स्थानं प्रसूतियोग्यम् ।' सा ब्रूते—'समुद्रवेलया व्याप्यते स्थानमेतम् ।' टिट्टिभोऽवदत्—'किमहं निर्बलः समुद्रेण निग्रहीतव्यः ।' टिट्टिभी विहस्याह—'स्वामिन्, त्वया समुद्रेण च महदन्तरम् । अथवा—

टिट्टिभदम्पती = जायापती टिट्टिभौ, 'दम्पती जम्पती जायापती' इत्यमरः । आसन्नप्रसवा = सन्निकटप्रसवसमया, भर्तारम् = टिट्टिभम्, प्रसवयोग्यस्थानम् = प्रसूत्यर्हं स्थानम्, निभृतम् = एकान्तम्, सुरक्षितमित्यर्थः ; अनुसन्धीयताम् = अन्विष्यताम्, त्वयेति शेषः । समुद्रवेलया = समुद्रतटपयसा (ज्वार भाठा से), व्याप्यते=व्याप्तं भवति, प्लाव्यते इत्यर्थः । निग्रहीतव्यः=पीडितव्यः ॥

दक्षिण समुद्र के किनारे टिटिहिरी का एक जोड़ा रहता था । वहां टिटिहिरी ने बच्चा पैदा करने का समय निकट आने पर अपने पति से कहा—स्वामी, बच्चा पैदा करने योग्य एकान्त स्थान की खोज कीजिए । टिट्टिभ ने कहा—प्रिये, यही स्थान बच्चा पैदा करने योग्य है । उसने कहा—यह स्थान समुद्र की लहरोंसे भर जाता है । टिटिहरे ने कहा—क्या मैं कमजोर हूँ जो समुद्र मुझे दण्ड देगा । टिटिहिरी ने हँसकर कहा—स्वामी आप और समुद्र में महान अन्तर है ।

पराभवं परिच्छेत्तुं योग्यायोग्यं च वेत्ति यः ।
अस्तीह यस्य विज्ञानं कृच्छ्रेणापि न सीदति ॥ १५० ॥

अन्वयः—यः (नरः) पराभवं परिच्छेत्तुम्, च योग्यायोग्यम् वेत्ति, इह यस्य विज्ञानम् (अस्ति, स नरः) कृच्छ्रेण अपि न सीदति ॥ १५० ॥

पराभवम् = पराभवकारणम् , परिच्छेत्तुम् = दूरीकर्तुम् , योग्यायोग्यम् = 'योग्यः अयोग्यो वा' इति निर्णयम् , वेत्ति = जानाति, विज्ञानम् = विशिष्टज्ञानम् , कृच्छ्रेण = महाकष्टेन, सीदति = दुःखितो भवति ॥

पराजय बचाने के लिए जो योग्य, अयोग्य का ध्यान रखता है और उचित अवसर का ध्यान होता है वह विपत्तियों से भी दुखी नहीं होता ॥ १५० ॥

अपि च—

अनुचितकार्यारम्भः स्वजनविरोधो बलीयसा स्पर्धा ।
प्रमदाजनविश्वासो मृत्योर्द्वाराणि चत्वारि' ॥ १५१ ॥

अन्वय —अनुचितकार्यारम्भः स्वजनविरोधः बलीयसा स्पर्धा प्रमदाजनविश्वासः (इति एतानि) चत्वारि मृत्योः द्वाराणि (सन्ति) ॥ १५१ ॥

अनुचितकार्यारम्भः—अनुचितस्य = अयोग्यस्य, कार्यस्य = कर्मणः, आरम्भः = आरम्भः, स्वजनविरोधः = स्वबान्धवादिना वैरम्, बलीयसा = अधिकबलवता, स्पर्धा = संघर्षः, प्रमदाजनविश्वासः = स्त्रीजनेषु विश्वासः ॥

और भी—अनुचित कार्य का आरम्भ, अपने लोगों से शत्रुता, बलवानों से स्पर्धा, और स्त्री का विश्वास—ये चारों मृत्यु के द्वार हैं ॥ १५१ ॥

ततः कृच्छ्रेण स्वामिवचनात्सा तत्रैव प्रसूता । एतत्सर्वं श्रुत्वा समुद्रेणापि तच्छक्तिज्ञानार्थं तदण्डान्यपहृतानि । ततष्टिट्टिभी शोकार्ता भर्तारमाह—'नाथ, कष्टमापतितम् । तान्यण्डानि मे नष्टानि ।' टिट्टिभोऽवदत्—'प्रिये, मा भैषीः ।' इत्युक्त्वा पक्षिणां मेलकं कृत्वा पक्षिस्वामिनो गरुडस्य समीपं गतः । तत्र गत्वा सकलवृत्तान्तं टिट्टिभेन भगवतो गरुडस्य पुरतो निवेदितम्—'देव, समुद्रेणाहं स्वगृहावस्थितो विनापराधेनैव निगृहीतः ।' ततस्तद्वचनमाकर्ण्य गरुत्मता प्रभुर्भगवान्नारायणः सृष्टिस्थितिप्रलयहेतुर्विज्ञप्तः । स समुद्रमण्डदानायादिदेश । ततो भगवदाज्ञां मौलौ निधाय समुद्रेण तान्यण्डानि टिट्टिभाय समर्पितानि । अतोऽहं ब्रवीमि—'अङ्गाङ्गिभावमज्ञात्वा' इत्यादि । राजाह—'कथमसौ ज्ञातव्यो द्रोहबुद्धिरिति ।' दमनको ब्रूते—'यदासौ सदर्पः शृङ्गाग्रप्रहरणाभिमुखश्चकितमिवागच्छति तदा ज्ञास्यति स्वामी ।' एवमुक्त्वा संजीवकसमीपं गतः । तत्र गतश्च मन्दं मन्दमुपसर्पन् विस्मितमिवात्मानमदर्शयत् । संजीवकेन सादरमुक्तम्—'भद्र ! कुशलं ते ।' दमनको ब्रूते—अनुजीविनां कुतः कुशलम् । यतः—

कृच्छ्रेण = अतिशयप्रबोधनादिना, प्रसूता = प्रसवं कृतवती । तच्छक्तिज्ञाना-

र्थम् = टिट्टिभसामर्थ्यज्ञानाय, तदण्डानि = टिट्टिभाण्डानि. अपहृतानि = जलतरङ्गप्लावनेन गृहीतानि । शोकार्ता = शोकपीडिता । कष्टमापतितम् = सहसा दुःखं समागतम् । पक्षिणां मेलकम् = पक्षिसम्मेलनम्, गरुडस्य = विष्णुवाहनस्य पक्षिराजस्य । सकलवृत्तान्तम् = समस्तवृत्तम्, पुरत. = अग्रे । स्वगृहावस्थः=आत्मनो गृहे स्थित , विनापराधेन = अपराध विनेत्यन्वय., निगृहीत. = पीडित. । तद्वचनम् = टिट्टिभकथनम् , आकर्ण्य = श्रुत्वा, गरुत्मता—गरुतौ = पक्षौ स्तः अस्य इति गरुत्मान् तेन = गरुडेन, प्रभुः = स्वामी, नारायण.=विष्णु., सृष्टिस्थितिप्रलयहेतु. = सृष्टि. = सर्गश्च, स्थितिः = पालनञ्च, प्रलय.=नाशश्चेति सृष्टिस्थितिप्रलयाः, तेषां हेतु = कारणम्=सृष्टिपालनप्रलयकारक इत्यर्थः। विज्ञप्त. = निवेदितः । अण्डदानाय=अण्डानि दातुम्, आदिदेश = आदिष्टवान् , मौलौ = मस्तके, निधाय = गृहीत्वा, विष्णोराज्ञां शिरोनमनपूर्वकं स्वीकृत्येत्यर्थः, असौ=सञ्जीवक., द्रोहबुद्धिः= विद्रोही, सदर्पः=गर्वेण सहितः, शृङ्गाग्रप्रहरणाभिमुखः = शृङ्गाग्रेण प्रहर्तुमुद्यतः, चकित.=सभयः । मन्द मन्दम्=शनैः, शनैः उपसर्पन् = निकट गच्छन् , विस्मितम् = भीतम् , आश्चर्यितम् , अदर्शयत् = प्रदर्शितवान् । अनुजीविनाम् = सेवकानाम् , कुतः=कस्मात् हेतोः, कुशलम्=शिवम् ॥

इसके पश्चात् स्वामी के कहे अनुसार बडी कठिनाई से उसने वही बच्चा पैदा किया । यह सब सुनकर समुद्र ने भी उसकी शक्ति जानने की इच्छा से उसके अडों को चुरा लिया अर्थात् लहरों से बहा दिया । तब टिटिहिरी ने शोक से व्याकुल होकर पति से कहा—'नाथ, अब तो विपत्ति आ गई, मेरे अडे नष्ट हो गए ।' टिटिहरे ने कहा— प्रिये, मत डरो, ऐसा कहकर वह पक्षियों को इकट्ठा करके उनके राजा गरुड के पास पहुचा । वहां उसने भगवान गरुड के सामने सारा समाचार कह सुनाया—देव, समुद्र ने बिना अपराध ही अपने घर में रहने वाले मुझको दड दिया है । उसकी बात सुनकर गरुड ने सृष्टि, पालन, तथा विनाश करने वाले भगवान नारायण से निवेदन किया । उन्होंने समुद्र को अडा देने का आदेश दिया । भगवान की आज्ञा मानकर समुद्रने सभी अडे टिटिहरे को दे दिये । इसी लिए मैं कह रहा हूँ—'परस्पर सबध आदि जाने बिना'— इत्यादि । राजा ने कहा—'यह कैसे जाना जाय कि वह मुझसे शत्रुता करता है ?' दमनक ने कहा—'जब वह अभिमान के साथ सींग की नोक से मारने के लिये तैयार जैसा, उतावला-सा होकर आप के सामने आएगा तो स्वामी समझ जायेंगे' ।' यह कह कर वह सजीवक के पास गया । वहां पहुँच कर धीरे धीरे चलते हुए उसने अपने को कुछ चकित रूप में प्रदर्शित किया । सजीवक ने आदर के साथ कहा कि—'भद्र, कुशल तो है न ।' दमनक ने कहा—'सेवकों का कुशल कहां है ?' क्योंकि—

सपत्तय. पराधीनाः सदा चित्तमनिर्वृतम् ।
स्वजीवितेऽप्यविश्वासस्तेषां ये राजसेवका' ॥ १५२ ॥

अन्वय —ये (नराः) राजसेवकाः सन्ति, तेषाम् (नराणाम्) सम्पत्तयः पराधीनाः, चित्तम् सदा अनिर्वृत्तम्, स्वजीविते अपि अविश्वासः (भवति) ॥ १५२ ॥

सम्पत्तयः = धनानि, पराधीनाः = राजाधीनाः, अनिर्वृतम् = सुखहीनम् ॥

राजसेवकों का धन सदा दूसरे के हाथ में होता है, चित्त चिन्ता में पड़ा रहता है और उन्हें अपने जीवन का भी विश्वास नहीं होता है ॥ १५२ ॥

अन्यच्च—

कोऽर्थान् प्राप्य न गर्वितो विषयिणः कस्यापदोऽस्तं गताः
स्त्रीभिः कस्य न खण्डितं भुवि मनः को वास्ति राज्ञां प्रियः ।
कः कालस्य भुजान्तरं न च गतः कोऽर्थी गतो गौरवं
को वा दुर्जनवागुरासु पतितः क्षेमेण यातः पुमान् ॥ १५३ ॥

अन्वय —कः अर्थान् प्राप्य न गर्वितः ? कस्य विषयिणः आपदः अस्तं गताः ? भुवि स्त्रीभिः कस्य मनः न खण्डितम् ? वा राज्ञाम् प्रियः कः अस्ति ? च कः कालस्य भुजान्तरम् न गतः ? कः अर्थी गौरवं गतः ? दुर्जनवागुरासु पतितः कः पुमान् क्षेमेण यातः ? ॥ १५३ ॥

अर्थान् = धनानि, गर्वितः = दर्पितः, विषयिणः = विषयासक्तस्य, आपदो० = विपदो नष्टा, विपत्तयो न भवन्ति, खण्डितम् = वशीकृतम्, कालस्य = मृत्योः भुजान्तरं गतः = आलिङ्गितः, कालेन मृतः इति यावत्, अर्थी = याचकः, गौरवम् =महत्त्वम् दुर्जनवागुरासु = दुर्जनजालेषु, क्षेमेण यातः = कुशली स्थितः, न कोऽपि इत्यर्थः ॥

और भी ऐसा कौन व्यक्ति है जो धन को पाकर अभिमानी न बने, ऐसा कौन विषयी है जिसकी आपत्तियाँ दूर हुई हों, इस संसार में ऐसा कौन है जिसका मन स्त्रियों से खण्डित न हुआ हो, कौन ऐसा है जो राजा को प्रिय हो, कौन मृत्यु के हाथों नहीं पड़ा, किस माँगने वाले ने बड़प्पन प्राप्त किया, और ऐसा कौन है, जो दुष्टों के जाल में फँसकर सुख से रहा हो ॥ १५३ ॥

सञ्जीवकेनोक्तम्—'सखे, ब्रूहि किमेतत् ।' दमनक आह—'किं ब्रवीमि मन्दभाग्यः । पश्य—

सञ्जीवक ने कहा—'मित्र, बताओ यह क्या है ?' दमनक ने कहा—'मैं अभागा क्या बताऊँ ? देखो—

मज्जन्नपि पयोराशौ लब्ध्वा सर्पावलम्बनम् ।
न मुञ्चति न चादत्ते तथा मुग्धोऽस्मि सम्प्रति ॥ १५४ ॥

अन्वयः—(यथा कश्चिन्नरः) पयोराशौ मज्जन् अपि सर्पावलम्बनम् लब्ध्वा न मुञ्चति च न आदत्ते, (अहम्) सम्प्रति तथा मुग्धः अस्मि ॥ १५४ ॥

मज्जन् = मुडन् , मग्ने, भवन् (डूबता हुआ), पयोराशौ = समुद्रे, सर्पावलम्बन लब्ध्वा = सर्पं गृहीत्वा, मुञ्चति = त्यजति, आदत्ते = धारयति, गृह्णाति· मुग्धः = मूढः ॥

जैसे समुद्र में डूबता हुआ मनुष्य साँप का सहारा पाकर न तो उसे छोड़ ही पाता है और न पकड़ ही पाता है वैसे ही इस समय मैं भी किंकर्तव्य विमूढ बन गया हूँ ॥१५४॥

यतः—

> एकत्र राजविश्वासो नश्यत्यन्यत्र बान्धवः ।
> किं करोमि क्व गच्छामि पतितो दुःखसागरे ॥ १५५ ॥

अन्वयः—एकत्र राजविश्वासः अन्यत्र बान्धवः नश्यति, दुःखसागरे पतितः किम् करोमि, क्व गच्छामि ? ॥ १५५ ॥

एकत्र=एकस्मिन् भागे (एक तरफ) राजविश्वास = नृपविश्वासः, नश्यति= विनष्टः भवति, (अन्यत्रेऽपि अन्वयः), बान्धव. = बन्धु , भवद्रूप सुस्वर्णः ॥

क्योंकि—एक ओर राजा का विश्वास नष्ट हो रहा है दूसरी ओर भाई का विनाश आ पहुँचा है । क्या करूं, कहाँ जाऊं ? मैं तो दुख के सागर में पड़ गया हूँ ॥ १५५ ॥

इत्युक्त्वा दीर्घं निःश्वस्योपविष्टः । सञ्जीवको ब्रूते—'मित्र, तथापि सविस्तरं मनोगतमुच्यताम् ।' दमनकः सुनिभृतमाह—'यद्यपि राजविश्वासो न कथनीयस्तथापि भवानस्मदीयप्रत्ययादागतः । मया परलोकार्थिनावश्यं तव हितमाख्येयम् । शृणु । अय स्वामी तवोपरि विकृतबुद्धी रहस्युक्तवान्—'सञ्जीवकमेव हत्वा स्वपरिवारं तर्पयामि ।' एतच्छ्रुत्वा सञ्जीवकः परं विषादमगमत् । दमनकः पुनराह—'अलं विषादेन । प्राप्तकालकार्यमनुष्ठीयताम् ।' सञ्जीवकः क्षणं विमृश्याह स्वगतम्—'सुष्ठु खल्विदमुच्यते । किं वा दुर्जनचेष्टितं न वेत्येतद् व्यवहारान्निर्णेतु न शक्यते । यतः—

सविस्तरम् = विस्तरेण सहितम् , मनोगतम् = हृदयस्य भावम् , सुनिभृतम् = श्रुत्वा गुप्तम् , अस्मदीयप्रत्ययात् = आवयोर्विश्वासात् , परलोकार्थिना= स्वर्गाभिलाषुकेन, हितम् = हितवचनम् , आख्येयम् = कथनीयम् । विकृतबुद्धिः= दुष्टबुद्धिः, रहसि = एकान्ते । स्वपरिवारम् = आत्मनो बन्धुवर्गम् , तर्पयामि = तृप्त करिष्यामि । परम् = अधिकम् , विषादम् = खेदम् । अलं विषादेन = विषादं

मा कुरु। प्राप्तकालकार्यम् = समयानुकूल कार्यम्। क्षणम् = क्षणमात्रम्, विमृश्य= विचार्य। सुष्ठु = समुचितम्। दुर्जनचेष्टितम् = दुष्टचेष्टा॥

ऐसा कहकर लम्बी सांस खींचते हुए बैठ गया। सञ्जीवक ने कहा—'फिर भी विस्तार के साथ अपने मन की सारी बातें बताओ।' दमनक ने बड़ी नम्रता से कहा—यद्यपि राजा के भेद की बात नहीं कहनी चाहिये, फिर भी आप हमारे विश्वास पर आए हैं। परलोक की अभिलाषा रखने वाला मैं आपके कल्याण की बात अवश्य बताऊंगा। सुनो। हमारे स्वामी इस पिंगलक की नीयत आप के प्रति खराब हो गई है। उन्होंने एकान्त में कहा है कि—'सञ्जीवक को ही मार कर अपने कुटुम्बियों को सन्तुष्ट करूंगा।' यह सुनकर संजीवक बहुत दुखी हुआ। दमनक ने फिर कहा-'आप दुःखी न हों। समय के अनुसार कार्य करें।' सञ्जीवक ने कुछ देर तक विचार करके मन ही मन कहा— यह बहुत ठीक कह रहा है, अथवा यह दुष्टों की चाल है या नहीं, यह तो व्यवहार से नहीं समझा जा सकता है। क्योंकि—

> दुर्जनगम्या नार्यः प्रायेणापात्रभृद्भवति राजा।
> कृपणानुसारि च धनं देवो गिरिजलधिवर्षी च॥ १५६॥

अन्वयः—प्रायेण नार्यः दुर्जनगम्या, राजा अपात्रभृत्, धनम् कृपणानुसारि च देवः गिरिजलधिवर्षी भवति। (अस्य क्रियापदस्य पूर्वस्मिन् वाक्ये 'भवन्ति' इति वचनविपरिणामेनान्वयः)॥ १५६॥

दुर्जनगम्या =दुष्टैर्भोग्या, नार्यः =स्त्रियः, अपात्रभृत् = कुपात्रपालकः, कृपणानुसारि=कृपणजनगतम्, देवः =मेघः, गिरिजलधिवर्षी=पर्वतसमुद्रयोः वृष्टिकारकः॥

स्त्रियाँ प्रायः दुर्जनों के पास ही पहुंचती हैं, राजा दुष्टों ही का पालन करने वाला होता है, धन कंजूसों के ही पास रहता है और बादल पहाड़ों पर तथा समुद्र में ही अधिक पानी बरसाते हैं॥ १५६॥

> कश्चिदाश्रयसौन्दर्याद्धत्ते शोभामसज्जनः।
> प्रमदालोचनन्यस्तं मलीमसमिवाञ्जनम्॥ १५७॥

अन्वयः—कश्चित् असज्जनः आश्रयसौन्दर्यात् प्रमदालोचनन्यस्तम् मलीमसम् अञ्जनम् इव शोभाम् धत्ते॥ १५७॥

आश्रयसौन्दर्यात्—आश्रयस्य = नृपादेः पक्षे नेत्रयोश्च, सौन्दर्यात् = सरलस्वभावत्वात्, पक्षे लावण्यात्, धत्ते=धारयति, शोभाम् = कान्तिम्, प्रमदालोचनन्यस्तम्=युवतिनेत्रार्पितम्, मलीमसम्=अतिशयेन मलिनम् अञ्जनम् = कज्जलम्॥

जैसे स्त्रियों की आंख में लगा हुआ काला भी अञ्जन आंख के सहारे ही शोभा पाता है उसी प्रकार कभी कभी दुष्ट भी अच्छा सहारा पाकर सुशोभित हो उठता है॥ १५७॥

तत्र विचिन्त्योक्तम् । कष्टं किमिदमापतितम् । यतः—

इस प्रकार देर तक सोच कर उसने कहा—इतनी बड़ी विपत्ति कैसे आ पड़ी। क्योंकि—

आराध्यमानो नृपतिः प्रयत्ना-
न्न तोषमायाति किमत्र चित्रम् ।
अयं त्वपूर्वप्रतिमाविशेषो
यः सेव्यमानो रिपुतामुपैति ॥ १५८ ॥

अन्वयः—प्रयत्नात् आराध्यमानः नृपतिः तोषम् न आयाति अत्र चित्रं किम् (अस्ति)? अयम् तु अपूर्वः प्रतिमाविशेषः (अस्ति), यः सेव्यमानः अपि रिपुतामुपैति ॥ १५८ ॥

आराध्यमानः=सेव्यमानः, प्रयत्नात् = प्रयत्नेन, तोषमायाति=प्रसन्नो भवति, अपूर्वप्रतिमाविशेषः=प्रागदृष्टमूर्तिविशेषः, रिपुताम्=शत्रुताम् , अयमाशयः—सेव्यमाना अन्या देवादिप्रतिमा प्रसन्ना भवति, किन्तु सेवनेऽपि शत्रुतया राजरूपेयं प्रतिमाऽदृष्टपूर्वेति भावः ॥

अत्यन्त परिश्रम के साथ आराधना करने पर भी यदि राजा सन्तुष्ट नहीं होता तो इसमें आश्चर्य ही क्या है। वह उनमें एक विचित्र विशेषता है कि सेवा करने पर भी वह शत्रुता मानता है ॥ १५८ ॥

तदयमशक्यार्थः प्रमेयः । यतः—

तत् = तस्मात्कारणात् , सेवनेऽपि शत्रुत्वागमहेतोः, अशक्यार्थः = कर्तुमशक्यः, प्रमेयः = विषयः ॥

अब इस बात का अनुमान लगाना भी शक्ति से बाहर है। क्योंकि—

निमित्तमुद्दिश्य हि यः प्रकुप्यति
ध्रुवं स तस्यापगमे प्रसीदति ।
अकारणद्वेषि मनस्तु यस्य वै
कथं जनस्तं परितोषयिष्यति ॥ १५९ ॥

अन्वयः—हि यः निमित्तम् उद्दिश्य प्रकुप्यति, सः तस्य अपगमे ध्रुवम् प्रसीदति, तु यस्य मनः अकारणद्वेषि (भवति), जनः तम् कथम् परितोषयिष्यति ? ॥१५९॥

निमित्तम्=कारणविशेषम् , उद्दिश्य = अभिलक्ष्य, प्रकुप्यति,=कुप्यति, ध्रुवम्= अवश्यम् , तस्य = निमित्तस्य, अपगमे = नाशे, प्रसीदति=प्रसन्नो भवति, अकारणद्वेषि = कारणं विना द्वेषयुक्तम् , परितोषयिष्यति = सन्तुष्टं करिष्यति न सन्तुष्टं करिष्यति इत्यर्थः ॥

जो व्यक्ति किसी कारण से नाराज होता है, वह उस कारण के दूर हो जाने पर प्रसन्न हो जाता है, किन्तु जिसका मन अकारण ही शत्रु बन जाता है, उसे भला कोई कैसे सन्तुष्ट कर सकता है॥ १५९॥

किं मयापकृतं राज्ञः। अथवा निर्निमित्तापकारिणश्च भवन्ति राजानः।' दमनको ब्रूते—'एवमेतत्। शृणु—

अपकृतम् = अपकारः कृतः, निर्निमित्तापकारिणः = निष्कारणमपकारकाः॥

मैंने राजा का क्या बिगाड़ा? अथवा राजा लोग अकारण ही बुराई करने वाले होते हैं।' दमनक ने कहा-'ऐसा ही है। सुनो—

विज्ञैः स्निग्धैरुपकृतमपि द्वेष्यतामेति कश्चित्
साक्षादन्यैरपकृतमपि प्रीतिमेवोपयाति।
चित्रं चित्रं किमथ चरितं नैकभावाश्रयाणां
सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः॥ १६०॥

अन्वय—कश्चित् विज्ञैः स्निग्धैः उपकृतम् अपि (अगणयित्वा) द्वेष्यताम् याति अन्यैः साक्षात् अपकृतम् अपि (विस्मृत्य) प्रीतिम् एव उपयाति, अथ नैकभावाश्रयाणाम् चरितम् चित्रं चित्रम् (अस्ति), परमगहनः सेवाधर्मः योगिनामप्यगम्यः (भवति)॥ १६०॥

विज्ञैः = चतुरैः, स्निग्धैः = स्नेहयुक्तैः, उपकृतम् = उपकारम्, द्वेष्यतामेति = द्विष्यति, द्वेषं करोति। साक्षात् = प्रत्यक्षम्, अपकृतम् = अपकारम्, चित्रं चित्रम् = अतिशयेन विचित्रम्, सम्भ्रमे द्विर्वचनम्, अथ = अथवा नैकभावाश्रयाणाम्—अत्र 'नैकधे'त्यादिवत् 'न' शब्देन समासः, न तु नञा, अन्यथाऽनेकभावाश्रयाणामित्येवमुच्येत = विविधभाववताम्, सेवाधर्मः=सेवनम्, परमगहनः= अतिकठिनः, योगिनाम् = अतीन्द्रियपदार्थानपि प्रत्यक्षं कुर्वताम्, अगम्यः = ज्ञातुमशक्यः॥

राजा बुद्धिमान तथा प्रेमी सेवक द्वारा उपकृत होने पर भी उससे शत्रुता करने लगता है और अन्य दूसरों द्वारा प्रत्यक्ष अपकार करने पर भी उससे प्रेम करता है, चञ्चल चित्तवालों के कार्य इसी प्रकार निश्चित होते हैं। इसी लिए सेवाधर्म बहुत ही अधिक होता है, जिसका पार पाना योगियों के लिए भी कठिन है॥ १६०॥

अन्यच्च—

कृतशतमसत्सु नष्टं सुभाषितशतं च नष्टमबुधेषु।
वचनशतमवचनकरे बुद्धिशतमचेतने नष्टम्॥ १६१॥

अन्वयः—असत्सु कृतशतम् नष्टम् (भवति), अबुधेषु सुभाषितशतम् नष्टम् (भवति), अवचनकरे वचनशतम् च अचेतने बुद्धिशतम् नष्टम् भवति ॥ १६१ ॥

कृतशतम् = कृताः शतसङ्ख्यकोपकाराः, असत्सु = असज्जनेषु, सुभाषितशतम् = शतसङ्ख्यकानि सुभाषितानि, अबुधेषु = मूर्खेषु, वचनशतम् = शतानि कथनानि, अवचनकरे = आज्ञाया अपालके, बुद्धिशतम् = शत बुद्धयः, अचेतने = चेतनाहीने, नष्टम् = निष्फलम् । 'शतसहस्रशब्दावसङ्ख्यवाचकौ' इति नियमेनात्र सर्वत्र 'शत'शब्दस्यासङ्ख्यवाचके प्रयोगो बोध्य. ॥

और भी—दुष्ट के प्रति किए गए सैकड़ों उपकार व्यर्थ हैं, मूर्खों के प्रति कहे गए सैकड़ों उपदेश व्यर्थ हैं, बात न मानने वालों के प्रति कही गई सैकड़ों बातें फिजूल हैं और अज्ञानी के प्रति सैकड़ों बुद्धि व्यर्थ ॥ १६१ ॥

किञ्च—

चन्दनतरुषु भुजङ्गा जलेषु कमलानि तत्र च ग्राहाः ।
गुणघातिनश्च भोगे खला न च सुखान्यविघ्नानि ॥ १६२ ॥

अन्वय —चन्दनतरुषु भुजङ्गाः, जलेषु कमलानि, च तत्र ग्राहाः, च भोगे गुणघातिनः खलाः (निवसन्ति, अत एव) सुखानि अविघ्नानि न (सन्ति) ॥१६२॥

भुजङ्गाः = सर्पाः ग्राहाः = मकरादयो दुष्टजलजन्तवः, भोगे = विषयादिभोगे, गुणघातिनः = गुणनाशकाः, गुणदूषका इत्यर्थः, खलाः = दुष्टाः सन्ति, सुखानि = शर्माणि, 'शर्मशातसुखानि च' इत्यमरः । अविघ्नानि = निर्विघ्नानि । न सन्तीति सम्बन्धः ॥

और भी—चन्दन में साँप लिपटा रहता है, जल में कमल के साथ घड़ियाल भी होता है, भोगों में गुण को नाश करने वाले दुष्ट भी हैं। अतः सुख कभी विघ्नों से रहित होता ही नहीं है ॥ १६२ ॥

मूलं भुजङ्गैः कुसुमानि भृङ्गैः
शाखाः प्लवङ्गैः शिखराणि भल्लैः ।
नास्त्येव तच्चन्दनपादपस्य
यन्नाश्रितं दुष्टतरैश्च हिंस्रैः ॥ १६३ ॥

अन्वय —चन्दनपादपस्य मूलम् भुजङ्गैः कुसुमानि भृङ्गैः शाखाः प्लवङ्गैः शिखराणि भल्लैः (आश्रितानि), चन्दनपादपस्य तत् न अस्ति एव, यत् दुष्टतरैः च हिंस्रैः न आश्रितम् (अस्ति) ॥ १६३ ॥

मूलम् = अधोभागाश्च, भुजङ्गैः = सर्पैः, कुसुमानि = पुष्पाणि, भृङ्गैः=भ्रमरैः, शाखा =लताः डाली, प्लवङ्गैः =वानरैः, शिखराणि = अग्रभागा , भल्लैः = भल्लुकैः, दुष्टतरैः = अतिशयेन दुष्टैः, हिस्रैः = हिंसकैः । सर्वत्र सज्जनानां निकटे दुष्टा वसन्तीति, तत्र सज्जनस्थितिरसम्भवेति भावः ॥

चन्दन वृक्ष का ऐसा कोई भी अङ्ग नहीं जिसमें दुष्टों का निवास न हो। उसकी जड़ में साँप, फूलों में भौंरे, डालियों पर बन्दर तथा चोटियों पर भालू निवास करते हैं ॥ १६३ ॥

अथ तावत्स्वामी वाचि मधुरो विषहृदयो ज्ञातः । यतः—

स्वामी=पिङ्गलकः, वाचि मधुरः = मधुरभाषी, विषहृदय = विषवद्दुष्टहृदयः ॥

यह स्वामी बात में मधुर किन्तु हृदय मे विष भरा हुआ प्रतीत होता है। क्योंकि—

दूरादुच्छ्रितपाणिरार्द्रनयनः प्रोत्सारितार्धासनो
गाढालिङ्गनतत्परः प्रियकथाप्रश्नेषु दत्तादरः ।
अन्तर्भूतविषो बहिर्मधुमयश्चातीव मायापटुः
को नामायमपूर्वनाटकविधिर्यः शिक्षितो दुर्जनैः ॥१६४॥

अन्वय —(आगच्छन्तं दृष्ट्वा) दूरात् उच्छ्रितपाणिः आर्द्रनयनः प्रोत्सारितार्धासनः गाढालिङ्गनतत्परः प्रियकथाप्रश्नेषु दत्तादरः, अन्तर्भूतविषः बहिः मधुमयः च अतीव मायापटुः अयम् कः अपूर्वनाटकविधिः दुर्जनैः शिक्षितः नाम ? ॥ १६४ ।

दूरात् = दूरतः आगच्छन्तं विलोक्य, उच्छ्रितपाणिः = (आह्वानाय) उत्तत्करः प्रोत्सारितार्धासनः = (तदुपवेशनाय) त्यक्तार्धासनभागः, गाढालिङ्गनतत्परः = निर्भराऽऽश्लेषायोद्यतः, प्रियकथाप्रश्नेषु प्रियचर्चावसरेषु, दत्तादरः=आदरेण कथायाः श्रोता, अन्तर्भूतविष =हृदि विषयुक्तः, बहिः=बाह्यप्रदेशे, मधुमयः = मधुरतापूर्णं, मायापटुः =मायावी, अपूर्वनाटकविधि =अदृष्टपूर्वनाटकाभिनयः ॥

आगत व्यक्ति का दूर ही से हाथ फैला कर स्वागत करना, आँखों में प्रेमाश्रु भर लेना, अपना आधा आसन बैठने के लिए खाली कर देना, प्रगाढ आलिङ्गन के लिए तत्पर हो जाना, आदर के साथ मधुर बातचीत तथा कुशल प्रश्न करना, भीतर से विषमय किन्तु बाहर से मधुरता दिखाना आदि कपट से भरा हुआ नाटक का कितना विचित्र रूप है जो दुर्जनों द्वारा बराबर खेला जाता है ॥ १६४ ॥

तथाहि—

पोतो दुस्तरवारिराशितरणे दीपोऽन्धकारागमे
निर्वाते व्यजनं मदान्धकरिणां दर्पोपशान्त्यै सृणिः ।

अन्वयः—असत्सु कृतशतम् नष्टम् (भवति), अबुधेषु सुभाषितशतम् नष्टम् (भवति), अवचनकरे वचनशतम् च अचेतने बुद्धिशतम् नष्टम् भवति ॥ १६१ ॥

कृतशतम् = कृताः शतसङ्ख्यकोपकाराः, असत्सु = असज्जनेषु, सुभाषितशतम् = शतसङ्ख्यकानि सुभाषितानि, अबुधेषु = मूर्खेषु, वचनशतम् = शतानि कथनानि, अवचनकरे = आज्ञाया अपालके, बुद्धिशतम् = शत बुद्धयः, अचेतने = चेतनाहीने, नष्टम् = निष्फलम् । 'शतसहस्रशब्दावसङ्ख्यवाचकौ' इति नियमेनात्र सर्वत्र 'शत'शब्दस्यासङ्ख्यवाचके प्रयोगो बोध्यः ॥

और भी—दुष्ट के प्रति किए गए सैकड़ों उपकार व्यर्थ हैं, मूर्खों के प्रति कहे गए सैकड़ों उपदेश व्यर्थ हैं, बात न मानने वालों के प्रति कही गई सैकड़ों बातें फिजूल हैं और अज्ञानी के प्रति सैकड़ों बुद्धि व्यर्थ ॥ १६१ ॥

किञ्च—

चन्दनतरुषु भुजङ्गा जलेषु कमलानि तत्र च ग्राहाः ।
गुणघातिनश्च भोगे खला न च सुखान्यविघ्नानि ॥ १६२ ॥

अन्वय —चन्दनतरुषु भुजङ्गाः, जलेषु कमलानि, च तत्र ग्राहाः, च भोगे गुणघातिन खलाः (निवसन्ति, अत एव) सुखानि अविघ्नानि न (सन्ति) ॥१६२॥

भुजङ्गाः = सर्पाः ग्राहाः = मकरादयो दुष्टजलजन्तवः, भोगे = विषयादिभोगे, गुणघातिनः =गुणनाशकाः, गुणदूषका इत्यर्थः, खलाः = दुष्टाः सन्ति, सुखानि = शर्माणि, 'शर्मसातसुखानि च' इत्यमरः । अविघ्नानि = निर्विघ्नानि । न सन्तीति सम्बन्धः ॥

और भी—चंदन में साँप लिपटा रहता है, जल में कमल के साथ घड़ियाल भी होता है, भोगों में गुण को नाश करने वाले दुष्ट भी हैं। अतः सुख कभी विघ्नों से रहित होता ही नहीं है ॥ १६२ ॥

मूलं भुजङ्गैः कुसुमानि भृङ्गैः
शाखाः प्लवङ्गैः शिखराणि भल्लैः ।
नास्त्येव तच्चन्दनपादपस्य
यन्नाश्रितं दुष्टतरैश्च हिंस्रैः ॥ १६३ ॥

अन्वय —चन्दनपादपस्य मूलम् भुजङ्गैः कुसुमानि भृङ्गैः शाखाः प्लवङ्गैः शिखराणि भल्लैः (आश्रितानि), चन्दनपादपस्य तत् न अस्ति एव, यत् दुष्टतरैः च हिंस्रैः न आश्रितम् (अस्ति) ॥ १६३ ॥

मूलम् = अधोभागाग्र., भुजङ्गैः = सर्पैः, कुसुमानि = पुष्पाणि, भृङ्गैः = भ्रमरैः, शाखा: = कक्षा. डाली, प्लवङ्गैः = वानरैः, शिखराणि = अग्रभागाः, भल्लैः = भल्लुकैः, दुष्टतरैः = अतिशयेन दुष्टैः, हिंस्रैः = हिंसकैः । सर्वत्र सज्जनानां निकटे दुष्टा वसन्तीति, तत्र सज्जनस्थितिरसम्भवेति भावः ॥

चन्दन वृक्ष का ऐसा कोई भी अङ्ग नहीं जिसमें दुष्टों का निवास न हो। उसकी जड़ में साँप, फूलों में भौंरे, डालियों पर बंदर तथा चोटियों पर भालू निवास करते हैं ॥ १६३ ॥

अथ तावत्स्वामी वाचि मधुरो विषहृदयो ज्ञातः । यतः—

स्वामी=पिङ्गलक., वाचि मधुर. = मधुरभाषी, विषहृदय. = विषवद्दुष्टहृदयः ॥
यह स्वामी बात में मधुर किन्तु हृदय में विष भरा हुआ प्रतीत होता है। क्योंकि—

दूरादुच्छ्रितपाणिरार्द्रनयन प्रोत्सारितार्धासनो
गाढालिङ्गनतत्पर प्रियकथाप्रश्नेषु दत्तादर ।
अन्तर्भूतविषो बहिर्मधुमयश्चातीव मायापटु
को नामायमपूर्वनाटकविधिर्यः शिक्षितो दुर्जनैः ॥१६४॥

अन्वय —(आगच्छन्त दृष्ट्वा) दूरात् उच्छ्रितपाणि. आर्द्रनयन प्रोत्सारितार्धासन गाढालिङ्गनतत्पर प्रियकथाप्रश्नेषु दत्तादरः, अन्तर्भूतविष बहि. मधुमय च अतीव मायापटु अयम् क. अपूर्वनाटकविधिः दुर्जनै. शिक्षितः नाम ? ॥ १६४ ।

दूरात् = दूरत आगच्छन्त विलोक्य, उच्छ्रितपाणि. = (आह्वानाय) उद्यत-कर प्रोत्सारितार्धासन = (तदुपवेशनाय) त्यक्तार्धासनभाग, गाढालिङ्गन-तत्पर = निर्भराऽऽश्लेषायोद्यतः, प्रियकथाप्रश्नेषु प्रियवार्तावसरेषु, दत्तादर.=आद-रेण कथायाः श्रोता, अन्तर्भूतविष =हृदि विषयुक्त., बहि.=बाह्यप्रदेशे, मधुमय. = मधुरतापूर्णं, मायापटु =मायावी, अपूर्वनाटकविधि =अदृष्टपूर्वनाटकाभिनय. ॥

आगत व्यक्ति को दूर ही से हाथ फैला कर स्वागत करना, आँखों में प्रेमाश्रु भर लेना, अपना आधा आसन बैठने के लिए खाली कर देना, प्रगाढ आलिङ्गन के लिए तत्पर हो जाना, आदर के साथ मधुर बातचीत तथा कुशल प्रश्न करना, भीतर से विषमय किन्तु बाहर से मधुरता दिखाना आदि कपट से भरा हुआ नाटक का कितना विचित्र रूप है जो दुर्जनों द्वारा बराबर खेला जाता है ॥ १६४ ॥

तथाहि—

पोतो दुस्तरवारिराशितरणे दीपोऽन्धकारागमे
निर्वाते व्यजनं मदान्धकरिणा दर्पोपशान्त्यै सृणिः ।

इत्थं तद्भुवि नास्ति यस्य विधिना नोपायचिन्ता कृता
मन्ये दुर्जनचित्तवृत्तिहरणे धातापि भग्नोद्यमः ॥ १६५॥

अन्वयः—दुस्तरवारिराशितरणे पोतः, अन्धकारागमे दीपः, निर्वाते व्यजनम्, मदान्धकरिणाम् दर्पोपशान्त्यै सृणिः (ब्रह्मणा रचिता.), इत्थम् भुवि तत् न अस्ति, यस्य उपायचिन्ता विधिना न कृता, (किन्तु) धाता अपि दुर्जनचित्तहरणे भग्नोद्यम. जात' (इति) मन्ये ॥ १६५ ॥

दुस्तरवारिराशितरणे = दुस्तरसमुद्रपारगमने, पोत. = जलयानम् (जहाज), अन्धकारागमे = अन्धकारे आगते, दीप. = दीपक', निर्वाते = वायोरभावे, व्यजनम् = तालवृन्तादिकम् (पङ्खा), मदान्धकरिणाम् = मदान्धगजानाम्, दर्पोपशान्त्यै = दर्पनाशाय, सृणिः = अङ्कुश.। विधिना = ब्रह्मणा, उपायचिन्ता = प्रतीकारचिन्ता, मन्ये=अहं जानामि, दुर्जनचित्तवृत्तिहरणे—दुर्जनानाम्=दुष्टानाम्, चित्तस्य = मनसः, वृत्तिः = व्यापारः = दुष्टतेत्यर्थ., तस्या. हरणे विनाशने, भग्नोद्यम. = नष्टोद्योग. ॥

जैसा कि—इस पृथ्वी पर ऐसी कोई भी वस्तु नहीं जिसका उपाय विधाता ने किया हो। उन्होंने गहरे समुद्र को पार करने के लिए जहाज, अधकार आने पर दीपक, हवा न चलने पर पखा, मद से मतवाले हाथियों को वश में रखने के लिए अकुश आदि का तो निर्माण कर दिया, किन्तु मैं ऐसा समझता हूँ कि दुष्टों का हृदय परिवर्तन करने में उनका भी साहस टूट चुका है ॥ १६५ ॥

संजीवक. पुनर्नि.श्वस्य—'कष्टं भोः, कथमहं सस्यभक्षकः सिंहेन निपातयितव्य । यत.—

निःश्वस्य = दीर्घश्वासं गृहीत्वा, सस्यभक्षकः = तृणखादक', निपातयितव्य. = हन्तव्य. ॥

सञ्जीवक ने फिर सांस ले कर कहा—'मैं तृणभोजी हो कर भी क्या सिंह द्वारा मार ही डाला जाऊँगा ?'

तयोरेव समं वित्तं ययोरेव समं बलम् ।
तयोर्विवादो मन्तव्यो नोत्तमाधमयो. क्वचित् ॥ १६६ ॥

अन्वय —ययोः एव समम् वित्तम् (भवति), ययो' एव समम् बलम् (भवति), तयो. (एव) विवाद मन्तव्य (भवति), उत्तमाधमयो (विवाद.) क्वचित् न (मन्तव्य भवति) ॥ १६६ ॥

समम् = तुल्यम्, वित्तम् = धनम्, विवाद = विरोध, मन्तव्य = माननीय., उचित इति यावत्, उत्तमाधमयो. = श्रेष्ठनीचयो, क्वचित् = कुत्रचित् ॥

जिनके धन में समानता है अथवा जिनके कुल भी समान हैं, उन्हीं दोनों में मित्रता या शत्रुता होती है। बड़े और छोटे के बीच न तो मित्रता ही होती है न शत्रुता ही ॥ १६६ ॥

(पुनर्विचिन्त्य) केनायं राजा ममोपरि विकारितः न जाने। भेद-मुपगताद्राज्ञः सदा भेतव्यम्। यतः—

विकारितः = विकारयुक्तः कृतः, भेदमुपगतात् = दुर्मन्त्रणया भिन्नात् (फोड़े गये) ॥

फिर विचार करके—नहीं मालूम किसने इस राजा को मेरे विरुद्ध कर दिया। फूटे हुए राजा से सर्वदा डरना चाहिए। क्योंकि—

मन्त्रिणा पृथिवीपालचित्तं विघटितं क्वचित्।
वलयं स्फटिकस्येव को हि संधातुमीश्वरः ॥ १६७ ॥

अन्वय—मन्त्रिणा क्वचित् विघटितम् पृथिवीपालचित्तम् स्फटिकस्य वलयम् इव कः सन्धातुम् ईश्वरः (अस्ति) ॥ १६७ ॥

मन्त्रिणा = यद्वा गुप्तमन्त्रणाकारकेण जनेन, पृथिवीपालचित्तम् = नृपतिमानसम्, विघटितम् = भिन्नं कृतम्, पक्षे स्फुटितम्, वलयम् = कङ्कणम्, स्फटिकस्य = स्फटिकमणेः सन्धातुम् = योजयितुम्, ईश्वरः = समर्थः। केनापि स्फुटितं स्फटिकमणिकङ्कणमिव मन्त्रणाकर्त्रा भिन्नं भूपतिचित्तं पुनर्योजयितुं कोऽपि समर्थो नास्तीत्याशयः ॥

जैसे स्फटिक मणि से बने हुए कंकण के टूट जाने पर उसे जोड़ नहीं जा सकता, उसी प्रकार मंत्री द्वारा तोड़े गये राजा के चित्त को फिर मिलाया नहीं जा सकता ॥ १६७ ॥

अन्यच्च—

वज्रं च राजतेजश्च द्वयमेवातिभीषणम्।
एकमेकत्र पतति पतत्यन्यत्समन्ततः ॥ १६८ ॥

अन्वय—वज्रम् च राजतेजः च (एतत्) द्वयम् एव अतिभीषणम् (अस्ति, किन्तु) एकम् एकत्र पतति, अन्यत् समन्ततः पतति ॥ १६८ ॥

वज्रम् = कुलिशम्, 'ह्लादिनी वज्रमस्त्री स्यात्कुलिशं भिदुरं पविः।' इत्यमरः, राजतेजः = नृपतितेजः, द्वयम् = उभयम्, अतिभीषणम् = अतिशयेन भयङ्करम्, एकम् = वज्रम्, एकत्र = एकस्मिन् स्थाने, अन्यत् = राजतेजः, समन्ततः = समन्तात्, सर्वत्र इत्यर्थः ॥

और भी—वज्र और राजा का तेज दोनों ही बड़े भयङ्कर होते हैं, किन्तु इनमें से एक अर्थात् वज्र तो एक ही जगह गिरता है किन्तु दूसरा तो सब जगह गिरता है ॥ १६८ ॥

ततः संग्रामे मृत्युरेव वरम्। इदानीं तदाज्ञानुवर्तनमयुक्तम्। यतः—

ततः = तस्मात्कारणात्, तदाज्ञानुवर्तनम् = पिङ्गलकादेशानुरूपाचरणम्, अनुचितम् = अयोग्यम् ॥

इसलिए युद्ध में मरना ही श्रेष्ठ है। इस समय उसकी आज्ञा पालन करना उचित नहीं है। क्योंकि—

मृतः प्राप्नोति वा स्वर्गं शत्रुं हत्वा सुखानि वा।
उभावपि हि शूराणां गुणावेतौ सुदुर्लभौ ॥ १६९ ॥

अन्वयः—वा मृतः स्वर्गम् प्राप्नोति, वा शत्रुम् हत्वा सुखानि प्राप्नोति, हि शूराणाम् एतौ उभौ अपि गुणौ सुदुर्लभौ (स्तः) ॥ १६९ ॥

मृतः = युद्धे हतः। उभौ अपि = द्वावपि, शूराणाम् = वीराणाम्, सुदुर्लभौ = अतिशयेन दुष्प्राप्यौ ॥

वीर या तो युद्ध में मर कर स्वर्ग पाता है अथवा शत्रु को मार कर सुख पाता है। वीरों के ये दोनों गुण अत्यन्त दुर्लभ होते हैं ॥ १६९ ॥

युद्धकालश्चायम्।

अब तो युद्ध का समय है—

यत्रायुद्धे ध्रुवं मृत्युर्युद्धे जीवितसंशयः।
तमेव कालं युद्धस्य प्रवदन्ति मनीषिणः ॥ १७० ॥

अन्वयः—यत्र अयुद्धे ध्रुवम् मृत्युः (भवति), युद्धे जीवितसंशयः (भवति) मनीषिणः युद्धस्य तम् एव कालम् प्रवदन्ति ॥ १७० ॥

अयुद्धे = युद्धाभावे, ध्रुवम्—निश्चितम्, जीवितसंशयः = जीवने सन्देहः, शत्रुं हत्वा पराजित्य वा जीविताशा भवेत्, मनीषिणः = विद्वांसः ॥

जब लड़ाई न करने में मृत्यु निश्चित हो तथा युद्ध में जीवन के प्रति सन्देह हो, तब बुद्धिमान लोग उसे ही युद्ध काल कहते हैं ॥ १७० ॥

यतः—

अयुद्धे हि यदा पश्येन्न किञ्चिद्धितमात्मनः।
युध्यमानस्तदा प्राज्ञो म्रियते रिपुणा सह ॥ १७१ ॥

अन्वयः—यदा प्राज्ञः अयुद्धे आत्मनः किञ्चित् हितम् न पश्येत्, तदा रिपुणा सह युध्यमानः म्रियते ॥ १७१ ॥

अयुद्धे = युद्धाकरणे, हितम् = कल्याणम्, युध्यमानः = युद्धं कुर्वन्, प्राज्ञः = बुद्धिमान्, रिपुणा = शत्रुणा ॥

क्योंकि—बुद्धिमान जब न लड़ने में कोई भी भलाई नहीं देखता तो वह शत्रु के साथ लड़ते हुए मर जाता है ॥ १७१ ॥

जये च लभते लक्ष्मीं मृते चापि सुराङ्गनाम् ।
क्षणविध्वंसिनः कायाः का चिन्ता मरणे रणे ॥ १७२ ॥

अन्वयः—(यदा योद्धा युद्धे) जये लक्ष्मीम्, मृतेन अपि सुराङ्गनाम् लभते, (यदा च) कायाः क्षणविध्वंसिनः (एव सन्ति, तदा) रणे मरणे का चिन्ता (अस्ति) ? ॥ १७२ ॥

जये = विजये, लभते = प्राप्नोति, सुराङ्गनाम् = देवाङ्गनाम्, अप्सरस कमल [illegible], क्षणविध्वंसिनः = क्षणभङ्गुराः, कायाः = देहाः ॥

जीतने पर लक्ष्मी प्राप्त करता है और मरने पर स्वर्ग में अप्सराएँ मिलती हैं। शरीर तो क्षण भर में ही नष्ट हो जाने वाला है फिर युद्ध में मरने की चिन्ता ही क्या ? ॥ १७२ ॥

एतच्चिन्तयित्वा सञ्जीवक आह—'भो मित्र, कथमसौ मां जिघांसुर्ज्ञातव्यः । दमनको ब्रूते—'यदासौ पिङ्गलकः समुन्नतलाङ्गूल उन्नतचरणो विवृतास्यस्त्वां पश्यति, तदा त्वमपि स्वविक्रमं दर्शयिष्यसि । यतः—

जिघांसुः=हन्तुमिच्छुः, ज्ञातव्यः=बोद्धव्यः । समुन्नतलाङ्गूलः = उपरिकृतपुच्छः उन्नतचरणः = उत्थापितपादः, विवृतास्यः = व्यात्ताननः (मुख बाया हुआ), स्वविक्रमम् = स्वसामर्थ्यम् ॥

यह सोच कर सञ्जीवक ने कहा—'मित्र यह कैसे मालूम होगा कि वह मुझे मार डालना चाहता है ?' दमनक ने कहा—जब पिंगलक पूछ ऊंचा करके पैरों को उठा कर अपना मुह खोले हुए तुम्हें देखे तो तुम्हें भी अपना बल दिखाना चाहिए । क्योंकि—

बलवानपि निस्तेजाः कस्य नाभिभवास्पदम् ।
निःशङ्कं दीयते लोकैः पश्य भस्मचये पदम् ॥ १७३ ॥

अन्वयः—निस्तेजाः बलवान् अपि कस्य अभिभवास्पदम् न (भवति) ? पश्य, लोकैः भस्मचये निःशङ्कम् पदम् दीयते ॥ १७३ ॥

बलवान् = शूरः, निस्तेजाः = तेजोहीनः, अभिभवास्पदम् = अनादरस्थानम्, लोकैः = जनैः, 'लोकस्तु भुवने जने' इत्यमरः, भस्मचये = क्षारराशौ ।

बलवान होते हुए भी तेजहीन व्यक्ति अनादर के पात्र बन जाते हैं। देखो, राख के ढेर में लोग निडर होकर पैर रखते हैं ॥ १७३ ॥

किंतु सर्वमेतत्सुगुप्तमनुष्ठातव्यम् । नो चेन्न त्वं नाहम् ।' इत्युक्त्वा दमनकः करटकसमीपं गतः करटकेनोक्तम्—'किं निष्पन्नम् ?' दमनकेनोक्तम्—'निष्पन्नोऽसावन्योन्यभेदः' ।

सुगुप्तम् = अतिगुप्तभावेन, अनुष्ठातव्यम् = कर्तव्यम्, नो चेत् = अन्यथा, सुगुप्तमननुष्ठाने सति, न त्वं नाहम् = त्वमहञ्च मरिष्यावः । निष्पन्नम् = सिद्धम् । असौ = अयम् , अन्योन्यभेदः = परस्परविरोधः ।

किंतु यह सभी छिपकर करना चाहिए । नहीं तो न तुम बचोगे और न मैं ही । ऐसा कह कर दमनक करटक के समीप गया । करटक ने कहा—'क्या किया ?' दमनक ने कहा-दोनों के बीच परस्पर भेद उत्पन्न कर दिया ।'

करटको ब्रूते—'कोऽत्र संदेहः । यतः—

करटकने कहा—'इसमें क्या सन्देह । क्योंकि—

बन्धुः को नाम दुष्टानां कुप्यते को न याचितः ।
को न दृप्यति वित्तेन कुकृत्ये को न पण्डितः ॥ १७४ ॥

अन्वय —दुष्टानाम् कः बन्धुः (अस्ति) ?, याचितः (सन्) कः न कुप्यते ? वित्तेन कः न दृप्यति, कुकृत्ये कः न पण्डितः (भवति) ? ॥ १७४ ॥

बन्धुः = बान्धवः, कुप्यते = कुप्यति, याचितः = अभ्यर्थितः, धनादिदानार्थं प्रार्थितः, दृप्यति = दर्पं करोति, कुकृत्ये = कुत्सितकर्मणि ॥

दुष्ट का भाई कौन होता है ? माँगने पर क्रुद्ध कौन नहीं होता ? धन से कौन अभिमान नहीं करता और कुकर्म में कौन पण्डित नहीं होता ? ॥ १७४ ॥

अन्यच्च—

दुर्वृत्तः क्रियते धूर्तैः श्रीमानात्मविवृद्धये ।
किं नाम खलसंसर्गः कुरुते नाश्रयाशवत् ॥ १७५ ॥

अन्वय —धूर्तैः आत्मविवृद्धये श्रीमान् दुर्वृत्तः क्रियते, खलसंसर्गः आश्रयाशवत् किम् न कुरुते नाम ? ॥ १७५ ॥

दुर्वृत्तः = दुराचारी, धूर्तैः = छलपरैर्दुष्टैः, श्रीमान् = धनवान् नृपादिः, खलसंसर्गः = दुर्जनसङ्गतिः , आश्रयाशवत्—आश्रयम् ॥ स्वावलम्बनं काष्ठादिकम्, अश्नाति = खादति, भस्मीकरोति इति आश्रयाशः—अग्निः, तेन तुल्यमिति आश्रयाशवत् 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' इति वतिप्रत्ययः ॥

और भी—धूर्त अपनी भलाई के लिए बड़ों को भी दुराचारी बना देते हैं । दुष्टों का सङ्ग अग्नि के समान क्या नहीं कर सकता ॥ १७५ ॥

ततो दमनकः पिङ्गलकसमीपं गत्वा 'देव, समागतोऽसौ पापाशयः। ततः सज्जीभूय स्थीयताम्' इत्युक्त्वा पूर्वोक्ताकारं कारयामास। सञ्जीवकोऽप्यागत्य तथाविधं विकृताकारं सिंहं दृष्ट्वा स्वानुरूपं विक्रमं चकार। ततस्तयोर्युद्धे सञ्जीवकः सिंहेन व्यापादितः।

असौ=सञ्जीवकः, पापाशयः=दुराशयः। ततः=तस्मात्, सज्जीभूय=तन्मारणाय सज्जो भूत्वा, पूर्वोक्ताकारम्=उपरिकृतलाङ्गूलपादव्यानमुखम्, विकृताकारम्=दूषिताकृतिम्, योद्धुं दूषितेनासनेन स्थितम्, स्वानुरूपम्=स्वानुकूलम्, विक्रमम्=पराक्रमम्। व्यापादितः=हतः॥

तब दमनक ने पिंगलक के पास जाकर कहा—'देव, वह पापी आया है। अतः आप तैयार हो जायें। ऐसा कहकर उसने सिंह का वही रूप करा दिया, जैसा उसने सञ्जीवक को बताया था। सञ्जीवकने भी आकर उस प्रकार के बिगड़े रूप वाले सिंह को देख कर अपनी शक्ति के अनुसार बल दिखाया। इसके बाद उन दोनों की लड़ाई में सञ्जीवक सिंह द्वारा मार डाला गया।

अथ संजीवकं सेवकं पिङ्गलको व्यापाद्य विश्रान्तः सशोक इव तिष्ठति। ब्रूते च—'किं मया दारुणं कर्म कृतम्। यतः—

व्यापाद्य=हत्वा, विश्रान्तः=विशेषेण श्रान्तः, सशोकः=शोकयुक्तः। दारुणम्=क्रूरम्॥

इसके बाद पिंगलक अपने सेवक संजीवक को मार कर थके एवं दुखी भाव से बैठ गया और उसने कहा—'मैंने यह कितना भयकर कार्य कर डाला। क्योंकि—

परैः संभुज्यते राज्यं स्वयं पापस्य भाजनम्।
धर्मातिक्रमतो राजा सिंहो हस्तिवधादिव॥ १७६॥

अन्वय—राज्यम् परैः संभुज्यते, धर्मातिक्रमतः राजा हस्तिवधात् सिंह इव स्वयम् पापस्य भाजनम् (भवति)॥ १७६॥

परैः=अन्यैर्जनैः, संभुज्यते=भोगः क्रियते, भाजनम्=पात्रम्, धर्मातिक्रमतः=धर्मोल्लङ्घनात्, तथा सिंहेन हतस्य हस्तिनो मांसमन्ये शृगालादयो भुञ्जते सिंहस्तु हस्तिवधजन्यपापभाङ्मात्रं भवति, तथैव राज्यभोक्तारः अमात्यादयः सन्ति अधर्मेण राज्यपालने तु राजैव पापभाग्भवति, नान्य इत्यर्थः॥

राजा धर्म का उल्लंघन करने के कारण स्वयं वैसे पाप का भागी बनता है जैसे सिंह हाथी को मार कर, किन्तु राज्य का सुख भोग तो दूसरे ही करते हैं॥ १७६॥

अपरं च—

भूम्येकदेशस्य गुणान्वितस्य
भृत्यस्य वा बुद्धिमतः प्रणाशः।
भृत्यप्रणाशो मरणं नृपाणां
नष्टापि भूमिः सुलभा न भृत्याः"॥ १७७ ॥

अन्वयः—गुणान्वितस्य भूम्येकदेशस्य वा बुद्धिमतः सेवकस्य प्रणाशे भृत्यप्रणाशः नृपाणाम् मरणम् (अस्ति, यतः) नष्टा अपि भूमिः सुलभा (भवति), (नष्टाः) भृत्याः सुलभाः (न भवन्ति) ॥ १७७ ॥

गुणान्वितस्य = सर्वरस्य, भूम्येकदेशस्य = पृथ्व्येकभागस्य, बुद्धिमतः = सुधियः, प्रणाशे = विनाशे, समुत्पन्ने इति शेषः, भृत्यप्रणाशः = सेवकमरणम् ॥

और भी—राज्य की उपजाऊ भूमि के किसी एक भाग तथा बुद्धिमान सेवक के विनाश में बुद्धिमान सेवक का विनाश राजा की मृत्यु के समान है। क्योंकि नष्ट हुई भूमि तो पुनः सुलभ हो सकती है लेकिन मरा हुआ सेवक नहीं मिल सकता ॥ १७७ ॥

दमनको ब्रूते—'स्वामिन्, कोऽयं नूतनो न्यायो यदरातिं हत्वा संतापः क्रियते। तथा चोक्तम्—

नूतनः = नवीनः, अरातिम् = शत्रुम्, संतापः क्रियते = संतप्यते ॥

दमनक ने कहा—स्वामी यह क्यों नई राजनीति है जो शत्रु को मार कर दुखी हो रहे हैं। जैसा कि कहा भी है—

पिता वा यदि वा भ्राता पुत्रो वा यदि वा सुहृत्।
प्राणच्छेदकरा राज्ञा हन्तव्या भूतिमिच्छता ॥ १७८ ॥

अन्वयः—यदि पिता वा, भ्राता वा, यदि पुत्रो वा सुहृदा (भवेत्, किन्तु) प्राणच्छेदकरा (एतेऽपि) भूतिम् इच्छता राज्ञा हन्तव्याः (सन्ति) ॥ १७८ ॥

प्राणच्छेदकरा = प्राणघातकाः, हन्तव्याः = वध्याः, भूतिम् = सम्पदम्, 'भूतिर्भस्मनि सम्पदि' इति विश्वः। इच्छता = अभिलषता ॥

यदि पिता, भाई, पुत्र या मित्र कोई भी राजा के प्राणों का घात करने वाला बन जाय तो कल्याण चाहने वाले राजा को चाहिए कि वह उसे मार डाले ॥ १७८ ॥

अपि च—

धर्मार्थकामतत्त्वज्ञो नैकान्तकरुणो भवेत्।
नहि हस्तस्थमप्यन्नं क्षमावान् भक्षितुं क्षमः ॥ १७९ ॥

अन्वय.—धर्मार्थकामतत्त्वज्ञः (जनः) एकान्तकरुणः न भवेत्, हि क्षमावान् (जनः) हस्तस्थम् अपि अन्नम् भक्षितुम् क्षमः न (भवति) ॥ १७९

धर्मार्थकामतत्त्वज्ञः—धर्मार्थकामानां सारस्य ज्ञाता, एकान्तकरुणः = अत्यन्त दयालुः, हस्तस्थम् = स्वकरस्थितम्, अन्नम्=भोज्यद्रव्यम्, क्षमावान्=क्षमाशीलः ॥

और भी—धर्म, अर्थ तथा काम के तत्त्वज्ञ को सर्वथा दयालु नहीं बनना चाहिए। क्योंकि अधिक क्षमाशील हाथ में रखा हुआ भी भोजन नहीं खा सकता ॥ १७९ ॥

किं च—

> क्षमा शत्रौ च मित्रे च यतीनामेव भूषणम्।
> अपराधिषु सत्त्वेषु नृपाणां सैव दूषणम् ॥ १८० ॥

अन्वय.—शत्रौ च मित्रे च क्षमा यतीनाम् एव भूषणम् (भवति), अपराधिषु सत्त्वेषु सा एव क्षमा नृपाणाम् दूषणम् (भवति) ॥ १८० ॥

क्षमा = शान्तिः, 'क्षान्तिः क्षमा तितिक्षा च' इत्यमरः। यतीनाम् = योगिनाम्, सन्यासिनामित्यर्थः, भूषणम् = अलङ्कारः। अपराधिषु = अपराधयुक्तेषु, सत्त्वेषु = जीवेषु, सा = क्षमा, दूषणम् = दोषः ॥

और भी—शत्रु तथा मित्र का क्षमा करना योगियों का ही आभूषण है। किन्तु अपराधी प्राणियों को क्षमा करना राजा का दोष है ॥ १८० ॥

अपरं च—

> राज्यलोभादहङ्कारादिच्छतः स्वामिनः पदम्।
> प्रायश्चित्तं तु तस्यैकं जीवोत्सर्गो न चापरम् ॥ १८१ ॥

अन्वय.—राज्यलोभात् अहङ्कारात् स्वामिनः पदम् इच्छतः तस्य तु एकं प्रायश्चित्तम् जीवोत्सर्गः (अस्ति), अपरम् न (अस्ति) ॥ १८१ ॥

राज्यलोभात् = राज्यतृष्णया, अहङ्कारात्=दर्पात्, इच्छतः =अभिलषतः, स्वामिनः = प्रभोः, पदम् = स्थानम्, 'पदं व्यवसितत्राणस्थानलक्ष्माङ्घ्रिवस्तुषु' इत्यमरः, प्रायश्चित्तम् = तारकम्, एकम् = केवलम्, जीवोत्सर्गः = प्राणत्यागः, मृत्युरित्यर्थः, अपरम् = अन्यत् ॥

और भी—राज्य लोभ अथवा अभिमान से स्वामी के पद की अभिलाषा करने वाले का मर जाना ही एकमात्र प्रायश्चित्त है ॥ १८१ ॥

अन्यच्च—

> राजा घृणी ब्राह्मणः सर्वभक्षी
> स्त्री चावशा दुष्प्रकृतिः सहायः।

प्रेष्यः प्रतीपोऽधिकृतः प्रमादी
त्याज्या इमे यश्च कृतं न वेत्ति ॥ १८२ ॥

अन्वय —घृणी राजा, सर्वभक्षी ब्राह्मण, च अवशा स्त्री, दुष्प्रकृतिः सहायः, प्रतीपः प्रेष्यः, प्रमादी अधिकृत (एते), च य कृतम् न वेत्ति, इमे त्याज्याः (सन्ति) ॥ १८२ ॥

घृणी = दयालु, सर्वभक्षी = सर्वभक्षक, अवशा = अवशवदा, दुष्प्रकृति = दुष्टस्वभाव, सहाय = सहायक, प्रेष्य = भृत्यः, प्रतीप = प्रतिकूल, प्रमादी = प्रमादयुक्त, अधिकृतः = अधिकारी, कृतम् = उपकारम् साधित कार्यं वा ॥

और भी—कृपालु राजा, सर्वभक्षी ब्राह्मण, स्वैरिणी स्त्री, दुष्ट सहायक, प्रतिकूल सेवक, भूल करने वाले अधिकारी और उपकार न मानने वाले व्यक्ति त्याज्य है ॥ १८२ ॥

विशेषतश्च—

सत्यानृता च परुषा प्रियवादिनी च
हिंस्रा दयालुरपि चार्थपरा वदान्या ।
नित्यव्यया प्रचुररत्नधनागमा च
वाराङ्गनेव नृपनीतिरनेकरूपा ॥ १८३ ॥

अन्वय —नृपनीति सत्यानृता च परुषा प्रियवादिनी च हिंस्रा दयालु अपि च अर्थपरा वदान्या च नित्यव्यया प्रचुररत्नधनागमा वाराङ्गना इव अनेकरूपा (भवति) ॥ १८३ ॥

सत्यानृता = सत्या असत्या च, परुषा = कठिना, प्रियवादिनी = मधुरभाषिणी, हिंस्रा = घातुका, दयालु = करुणावती; अर्थपरा = धनसंग्रहपरायणा, वदान्या = दानवीरा, वाराङ्गना = वेश्या, नृपनीति = राजनीतिः, अनेकरूपा = विविधस्वरूपा ॥

विशेष करके—कहीं झूठ कहीं सच तथा कहीं मधुर और कहीं कठोर बोलने वाली, कहीं हिंसक, कहीं दयालु, कहीं स्वार्थी, कहीं दानी, कहीं नित्य खर्चीली और कहीं अत्यधिक धन जोड़ने वाली वेश्या के समान राजनीति भी अनेक रूपों वाली होती है ॥ १८३ ॥

इति दमनकेन सन्तोषितः पिङ्गलकः स्वां प्रकृतिमापन्नः सिंहासने समुपविष्टः । दमनकः प्रहृष्टमना 'विजयतां महाराजः । शुभमस्तु सर्वजगताम्' इत्युक्त्वा यथासुखमवस्थितः ।

इति = पूर्वोक्त (१८१–१८२ श्लोकोक्त) प्रकारेण, स्वाम् = स्वकीयाम्, प्रकृतिम् = स्वभावम्, आपन्न = प्राप्त, स्वस्थ इत्यर्थः, प्रहृष्टमना = प्रसन्नचित्त

विजयताम्—'विपराभ्यां जे.' इति विपूर्वकात् 'जि'धातोरात्मनेपदम् = विजयं करोतु, महाराज = श्रीमान् पिङ्गलक, शुभम् = कल्याणम्, सर्वजगताम्=सर्वलोकानाम्, यथासुखम्=सुखपूर्वकम्, अवस्थित =स्थिरमान् ॥

इस प्रकार दमनक द्वारा समझाने पर पिंगलक स्वस्थ होकर सिंहासन पर बैठा दमनक प्रसन्न होकर 'महाराज की जय हो, सारे संसार का कल्याण हो' ऐसा कह कर सुख के साथ बैठ गया।

विष्णुशर्मोवाच—'सुहृद्भेदः श्रुतस्तावद्भवद्भिः। राजपुत्रा ऊचुः—'भवत्प्रसादाच्छ्रुत'। सुखिनो भूता वयम्।' विष्णुशर्माब्रवीत्–'अपरमपीदमस्तु—

भवत्प्रसादात् = भवतः कृपया, सुखिन' = कल्याणिन', भूताः = जाताः, वयम् = राजपुत्रा। अपरम् = अन्यत्, इदम् = वक्ष्यमाणम् ॥

विष्णुशर्मा ने कहा—'आप लोगों ने सुहृद्भेद सुन लिया न।' राजकुमारों ने कहा—'आपकी कृपा से सुन लिया। हम सभी सुखी हुए।' विष्णुशर्मा ने कहा—'तो इसके अतिरिक्त यह भी हो—

सुहृद्भेदस्तावद्भवतु भवतां शत्रुनिलये
खलः कालाकृष्ट प्रलयमुपसर्पत्वहरहः।
जनो नित्यं भूयात्सकलसुखसपत्तिवसतिः
कथारम्भे रम्ये सततमिह बालोऽपि रमताम्' ॥ १८४ ॥

इति हितोपदेशे सुहृद्भेदो नाम द्वितीय.
कथासग्रह समाप्त.।

अन्वय—सुहृद्भेद तावत् भवताम् शत्रुनिलये भवतु, कालाकृष्ट. खल' अहरहः प्रलयम् उपसर्पतु, जन नित्यम् सकलसुखसम्पत्तिवसति भूयात्, इह रम्ये कथारम्भे बाल अपि सततम् रमताम् ॥ १८४ ॥

सुहृद्भेद = मित्रेषु परस्पर विरोध, भवताम् = युष्माकम्, शत्रुनिलये = रिपुभवने। कालाकृष्ट.—कालेन = मृत्युना, आकृष्ट. = वशीकृत., प्रलयम् = नाशम्, उपसर्पतु = गच्छतु, अहरह प्रतिदिनम्, मृत्युवशगो दुष्टो जन नश्यतु इति भाव। जन = लोक' सकलसुखसम्पत्तिवसति = सकलानाम् =

सर्वेषाम्, सुखानाम् = शर्मणाम् 'शर्मशातसुखानि च' इत्यमरः, सम्पत्तीनाम् = सम्पदाञ्च, वसतिः = आश्रयः, लोकः, सदा समस्तसुखसम्पदाश्रयो भवत्वित्यर्थः। कथारम्भे = कथादौ, रम्ये = रमणीये, सततम् = सदा, बालः = शिशुः अपि—किं पुनर्युववृद्धो इत्यर्थः रमताम्, रमणं करोतु आनन्दतु इति तात्पर्यम् ॥

अङ्केन्दुखाक्षि (२०१९) वर्षेऽस्य निर्जलैकादशीव्रते।
'सुहृद्भेद'स्य सद्व्याख्या पूर्णा जाता 'मणिप्रभा' ॥ १ ॥
अनया 'हरगोविन्दशास्त्रि'कार्येऽसाधकः।
अन्नपूर्णाधवो नित्यं विश्वनाथः प्रसीदतु ॥ २ ॥

इति मिश्रोपाह्व'हरगोविन्दशास्त्रि'कृता हितोपदेशीयप्रकरणस्य
'सुहृद्भेद'स्य 'संस्कृत' व्याख्या समाप्ता ॥

॥ ॐ तत्सत् शिवार्पणमस्तु ॥

सुहृद्भेद आप लोगों के शत्रुओं के घर में हो, काल के वशीभूत हो दुष्ट प्रतिदिन नष्ट होते रहें, लोग नित्य सभी सुख-सम्पत्ति के घर बनें और मेरे इस रमणीय कथा के आरम्भ में बच्चे भी रमण करते रहें ॥ १८४ ॥

हितोपदेश में सुहृद्भेद नाम का दूसरा कथासंग्रह समाप्त हुआ।

श्लोकानुक्रमणिका

(सुहृद्भेदः)

	पृष्ठ०		पृष्ठ०
अङ्गाङ्गिभावमज्ञात्वा	८७	आकारैरिङ्गितैर्गत्या	२८
अञ्जनस्य क्षयं दृष्ट्वा	६	आज्ञाभङ्गो नरेन्द्राणाम्	४७
अतथ्यान्यपि तथ्यानि	६७	आज्ञाभङ्गकरान् राजा	५९
अतिव्ययोऽनवेक्षा	५४	आदित्यचन्द्रावनिलोऽनलश्च	६५
अत्युच्छ्रिते मन्त्रिणि	७७	आदेयस्य प्रदेयस्य	८६
अधोऽधः पश्यतः	२	आपद्युन्मार्गगमने	३४
अनाहूतो विशेद्यस्तु	२९	आराध्यमानो नृपतिः	९४
अनुचितकार्यारम्भः	८९	आरोप्यते शिला शैले	२७
अन्तर्दुष्टः क्षमायुक्तः	५६	आलस्यं स्त्रीसेवा	३
अपराधेऽपि निःशङ्को	५५	आश्रितानां भृतौ	१९
अपायसन्दर्शनजां	३२	आसन्नमेव नृपतिः	३१
अपृष्टोऽपि हितं ब्रूयात्	८३	आहारो द्विगुणः स्त्रीणाम्	७१
अप्राप्तकालवचनम्	३३	उदीरितोऽर्थः	२८
अप्रियाण्यपि कुर्वाणो	८०	उपकर्त्राधिकारस्थः	५६
अप्रियस्यापि पथ्यस्य	८१	उपांशुक्रीडितोऽमात्यः	,,
अबुधैरर्थलाभाय	१३	उपायेन हि यच्छक्यम्	७१
अयुद्धे हि यदा पश्येत्	१००	एकं भूमिपतिः करोति	७८
अरक्षितं तिष्ठति	९	एकस्य राजविश्वासो	९२
अलब्धं चैव लिप्सेत	४	एतावज्जन्मसाफल्यम्	१२
अवेक्ष्य धृतिमान्प्राज्ञः	३०	एहि गच्छ पतोत्तिष्ठ	,,
अवज्ञानाद्राज्ञो भवति	४०	कथं नाम न सेव्यन्ते	१५
अव्यवसायिनमलसम्	३	कदर्थितस्यापि च	३६
अव्यापारेषु व्यापारं	१५	कनकभूषणसंग्रहणोचितो	३८
अश्वः शस्त्रं शास्त्रम्	३९	कमण्डलूपमोऽमात्यः	५३
असेवकं चानुरक्तं	३२	क्षुद्रशत्रुर्भवेद्यस्तु	४५
अहितहितविचारशून्यबुद्धेः	२५	करोतु नाम नीतिज्ञः	७

कल्पयति येन वृत्तिं	३४
कश्चिदाश्रयसौन्दर्याद्	९३
कालयापनमाशानाम्	३२
किं चार्थेन कृतार्थैः	५६
किं भक्तेनासमर्थेन	३९
किमप्यस्ति स्वभावेन	२९
कुत सेवाविहीनानाम्	१५
कुर्वन्नपि व्यलीकानि	८०
कृतशतमसत्सु नष्टम्	९५
कोऽतिभारः समर्थानाम्	७
कोऽत्रेत्यहमिति ब्रूयात्	३०
कोऽर्थान् प्राप्य न	९१
क्षमा शत्रौ च मित्रे च	१०५
क्षिप्रमायमनालोच्य	५४
गुणदोषावनिश्चित्य	८५
चन्दनतरुषु भुजगाः	९६
जन जलपदा नित्यम्	४०
जये च लभते लक्ष्मीम्	१०१
जलबिन्दुनिपातेन	५
जीविते यस्य जीवन्ति	२१
तस्करेभ्यो नियुक्तेभ्यः	५९
तृणानि नोन्मूलयति	४९
त्रासहेतोर्विनीतिस्तु	७४
त्रिविधाः पुरुषा राजन्	३७
दन्तस्य निघर्षणकेन	३५
दानोपभोगरहिता	६
दुर्जनो नार्जवं याति	८२
दुर्जनगम्या नार्यः	९३
दुर्वृत्तः क्रियते धूर्तैः	१०२
दुष्टा भार्या शठं मित्रम्	८९
दूरादवेक्षण हास	२२
दूरादुच्छ्रितपाणिः	९७
दोषभीतेरनारम्भः	३१
धनेन किं यो न ददाति	५
धर्मार्थकामतत्त्वज्ञ	१०४
न कस्यचित्कश्चित्	२६
न परस्यापराधेन	८५
न सोऽस्ति पुरुषो लोके	७९
नाकाले म्रियते	९
नानिवेद्य प्रकुर्वीत	५२
नाभिषेको न संस्कारः	१०
निपीडिता वमन्त्युच्चैः	५८
नियोग्यर्थग्रहोपाय	५७
निमग्नस्य पयोराशौ	९
निमित्तमुद्दिश्य हि	९४
नियुक्तः क्षत्रियो द्रव्ये	५५
निरपेक्षो न कर्तव्यः	४४
निरुत्साहं निरानन्दम्	४
निर्विशेषो यदा राजा	३७
नृप कामासक्तः	८४
पञ्चभिर्याति दासत्वम्	२२
पराधिकारचर्चां यः	१७
पराभव परिच्छेत्तुं	८८
परै समुपयते राज्यम्	१०६
पिता वा यदि वा भ्राता	१०४
पृष्ठतः सेवयेदर्कम्	२०
पोतो दुस्तरवारिराशितरणे	९७
प्रणमत्युन्नतिहेतो	१४
प्रतिवाचमदत्त केशव	४८
प्रस्तावसदृशं वाक्यम्	२८
प्राज्ञार्थग्रहण	५७
बन्धुः को नाम दुष्टानाम्	१०२
बन्धुस्त्रीभृत्यवर्गस्य	४२
बलवानपि निस्तेजाः	१०१
बालोऽपि नावमन्तव्यः	४४
बालादपि ग्रहीतव्यम्	४०

बुद्धिमाननुरक्तोऽयम् ३९
बुद्धिर्यस्य बलं तस्य ७३
ब्रह्महापि नरः पूज्यः २
ब्राह्मणः क्षत्रियो बन्धुः ५५
भूम्येकदेशस्य १०४
भोगस्य भाजनं राजा ७६
मन्त्रबीजमिदं गुप्तम् ८६
मन्त्रिणा पृथिवीपालचित्तम् ९९
मंत्रो योध इवाधीर ८६
मज्जन्नपि पयोराशौ ९१
मणिर्लुठति पादेषु ३६
मतिरेव बलाद्गरीयसी ४८
मनुष्यजातौ तुल्यायां २२
मुकुटे रोपितः काचः ३८
मुहुर्वियोगिनो बाष्पा ५८
मूकं सुगन्धैः कुसुमानि ९६
मूलभृत्यान्परित्यज्य ८१
मृतः प्राप्नोति वा स्वर्गं १००
मौनान्मूर्खः ९३
यः कुर्यात्सचिवायत्ताम् ७९
यज्जीव्यते क्षणमपि २४
यथायुद्धे ध्रुव मृत्युः १००
ययोरेव समं वित्तम् ९८
यस्मिञ्जीवति जीवन्ति २१
यस्य यस्य हि यो भावः २९
यस्य प्रसादे पद्माऽऽस्ते ४३
यस्मिन्नेवाधिकं चक्षुः ८०
याचते कार्यकाले य १८
यात्यधोऽधः २७
या प्रकृत्यैव चपला १६
यो नात्मजे न च गुरौ २५
रजनीचरनाथेन ६४
राजा घृणी ब्राह्मण १०५
राज्यलोभादहङ्कारात् ११
लांगूलचालनमधः २४
वज्रं च राजतेजश्च १६८
वरं प्राणपरित्यागः ७६
वर्धनं वाथ सम्मानम् ८२
वर्धमानो महान् १
वाजिवारणलोहानां २२
विज्ञैः स्निग्धैरुपकृतमपि ९५
विषदिग्धस्य भक्तस्य ७८
विस्मयः सर्वथा हेयः ८
शक्यमाश्वास्य भेत्तव्यम् ७०
शीतवातातपक्लेशान् १२
सपदाय पराधीनाः ९०
सम्पदासु स्थिरमन्यो ३
सहृद्दुष्ट तु यो मित्रम् ८७
सत्यानृता च परुषा १०६
सदामात्यो न साध्य ५६
स स्निग्धोऽकुशलान्निवारयति ८३
स ह्यमात्यः सदा श्रेयान् ५३
सुहृद्भिर्भृत्यैर्वा १०३
सुहृदामुपकारकारणात् २१
सेवया धनमिच्छद्भि ११
स्तब्धस्य नश्यति यशः ५९
स्थान एव नियोज्यन्ते ३०
स्वर्णरेखामहं स्पृष्ट्वा ६०
स्वच्छन्दजातुचयसा २६
क्ष्वेडितो मर्दितश्चैव ८२

॥ श्रीः ॥

हरिदास संस्कृत ग्रन्थमाला
७७

श्रीमन्नारायणपण्डितसगृहीतः

हितोपदेशः

(विग्रह-सन्धि-रूपात्मको भागः)

'किरणावली' संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेतः

व्याख्याकार —
श्री पं० प्रद्युम्नपाण्डेयः
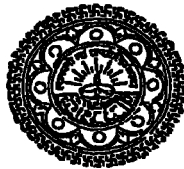
चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी
१९७९

सम्पादकीय

'विग्रह तथा सधि' व्यावहारिक, लौकिक और राजनैतिक उपदेशो से पूर्ण छोटी छोटी कथाओ से युक्त 'हितोपदेश' के अ तिम दो अंश हैं जिनमे दो राजाओ मे होने वाले युद्ध एव सधि का पूर्णतः विवेचन किया गया है। 'विग्रह' में युद्ध के कारणो, उपकरणो, सैनिकों, नियमो तथा उसके औचित्य पर बडे विस्तार के साथ छोटी छोटी कहानियो का दृष्टान्त देकर प्रकाश डाला गया है। इसी प्रकार 'सधि' मे सधि की आवश्यकताओं, प्रसगो, अधिकारियो और उसके ढंगो का विस्तृत विवेचन करके सभी प्रकार के सघर्षों को संधि द्वारा बचा लेने का उपदेश दिया गया है। मूल कथाओं के बीच मे अवान्तर कथाओ द्वारा अनेक व्यावहारिक तथा लौकिक प्रसंगों को लाकर राजनीति को सामान्य जीवन के स्तर पर मनोरम बना देने की कला ही इस 'हितोपदेश' की अपनी अनोखी विशेषता है और इसी कारण जहाँ यह एक ओर राजनीति-विशारदों का पथ-प्रदर्शन करता है वहीं दूसरी ओर बालकों तथा साधारण लोगों को मनोरंजन की सामग्री भी प्रस्तुत करता है।

विग्रह

कथासार

मूलकथा

कर्पूर द्वीप मे पद्मकेलि नाम का एक तालाब था। उसमे हिरण्यगर्भ नाम का राजहस रहता था। वह सभी पक्षियो द्वारा राजा बना दिया गया था। एक दिन एक बगुले ने आकर उससे कहा कि हे राजन्, जम्बू द्वीप मे विन्ध्याचल पर पक्षियो का राजा चित्रवर्ण मयूर रहता है। मै जिस समय दग्धारण्य मे भ्रमण कर रहा था उसी समय चित्रवर्ण के सेवको ने मुझे वहाँ देख कर पूछा कि तुम कौन हो और कहाँ से आए हो। मैंने कहा कि मैं चक्रवर्ती सम्राट् राजहस का सेवक हूँ और देशाटन करने आया हूँ। इस पर उन्होने कहा कि इन दोनो देशो मे कौन देश और किस देश का राजा अच्छा है। मैंने कहा कि कर्पूर देश स्वर्ग है और वहाँ का राजा दूसरा इन्द्र। भला उस देश और उस राजा के समान और कोई देश और राजा हो भी सकता है। मेरी इस बात पर वह क्रुद्ध हो गए, बात ही बात मे मुझे मारने के लिए झपटे। तब मैंने भी बलप्रयोग किया। इस पर राजहस ने कई प्रकार से प्रमाण देते हुए बगुले से कहा कि शत्रु के बलाबल का पूर्णत ज्ञान हो जाने पर ही बलप्रयोग उचित होता है। तब बगुले ने कहा कि राजन मैं करता ही क्या! वह सब तो मुझे चोचो से मार मार कर लुगदी बनाने लगे। अन्त मे वह सब मुझे पकड कर राजा चित्रवर्ण के पास ले गए और उनको मेरा परिचय दिया। तब उनके मन्त्री गृध्र ने मुझसे पूछा कि तुम्हारे देश का मुख्यमत्री कौन है! मैंने कहा कि सर्वज्ञ नाम के चक्रवाक हैं। इसी बीच वहाँ उपस्थित शुक ने कहा कि राजन् कपूर द्वीप आदि तो जम्बू-द्वीप के अन्तर्गत ही हैं इसलिए वहाँ भी तो आप ही का स्वामित्व होना चाहिए। राजा ने कहा हो सकता है। तब मैने कहा कि केवल कहने ही से यदि स्वामित्व मिल जाय तो जम्बूद्वीप पर हमारे राजा का स्वामित्व है।

इस पर शुक ने कहा कि इसका निर्णय कैसे हो ? मैंने कहा कि युद्ध द्वारा ही इसका निर्णय होगा। इस पर राजा ने कहा कि जाकर तुम अपने राजा को युद्ध के लिए तैयार करो। मैंने कहा कि आप अपना दूत भी भेज दें। उन्होने शुक को दूत बना कर भेजा है। वह आता ही होगा। अब श्रीमान् जैसा उचित समझें वैसा करें।

यह सुन कर मन्त्री चक्रवाक ने कहा कि राजन् इस दुष्ट बगुले ने विदेश मे जाकर अपनी दुष्टता से राज्य को युद्ध मे फँसा दिया है। अकारण लड़ाई मोल लेना तो मूर्खता है। राजा ने कहा कि खैर! जो हुआ सो हुआ अब जो सामने है उस पर विचार करो। चक्रवाक ने कहा कि मन्त्रणा एकान्त ही मे उचित है। तब राजा और मन्त्री वही बैठे रहे और दूसरे लोग दूसरी जगह चले गए। चक्रवाक ने कहा—राजन्, मुझे तो ऐसा लगता है कि किसी राज्य-कर्मचारी के उकसाने से ही बगुले ने ऐसा किया हे। राजा ने कहा—जो हो, इस समय तो कर्तव्य का निश्चय करो। चक्रवाक ने कहा—पहिले गुप्तचर भेज कर शत्रु की अभिलाषा और बलाबल का ज्ञान प्राप्त कीजिए। राजा ने कहा कि हमे तो बहुत ही अच्छा गुप्तचर मिल गया है। इसी बीच द्वारपाल ने शुक के आने की सूचना दी। चक्रवाक ने कहा कि उसे अतिथिशाला मे ठहरा दो। इसके बाद मन्त्री और राजा मे बहुत देर तक युद्ध न करने और करने के विषय मे विचार-विमर्श होता रहा। चक्रवाक ने कहा कि पहिले अपने किले को सुदृढ बनाना है तथा और भी तैयारियाँ करनी हैं इसलिए शुक को समझा बुझा कर अभी यही रोके रहना चाहिए। राजा ने मन्त्री से कहा कि ठीक हे। जैसा उचित समझो वैसा करो। इसी बीच द्वारपाल ने कौवे के आने की सूचना दी। राजा ने उसकी चतुराई का वर्णन करते हुए उसको आश्रय देने का प्रस्ताव किया। यद्यपि मन्त्री ने शत्रु पक्ष होने के कारण उसे आश्रय देने का विरोध किया किन्तु राजा ने उस पर ध्यान न देकर उसे आश्रय दे ही दिया।

चक्रवाक ने आकर कहा कि राजन् दुर्ग आदि सभी की व्यवस्था पूरी हो चुकी है अत अब शुक को बुला कर उससे बात हो जानी चाहिए। राजा ने सभा मे शुक को बुला भेजा। अभिमान से सिर उठाये हुए शुक ने आसन

पर बैठ कर कहा—हिरण्यगर्भ, महाराजाधिराज चित्रवर्ण ने आपको आदेश दिया है कि यदि आप इसी तरह कुशल-पूर्वक रहना चाहते हैं तो आकर मुझे प्रणाम करें अन्यथा दूसरे स्थान मे रहने की बात सोचें। यह सुन कर राजा ने क्रोध के साथ उसे सामने से हटा देने का आदेश दिया। चक्रवाक ने समझा बुझा कर राजा को शान्त किया और उपहारादि देकर शुक को विदा कर दिया।

शुक ने लौट कर चित्रवर्ण को नाना प्रकार का लोभ दिलाते हुए युद्ध के लिए तैयार हो जाने का आग्रह किया। चित्रवर्ण ने अपने सभी सभासदो को बुलाकर विचार किया। यद्यपि मत्री गृध्र ने समय और परिस्थितियो का वर्णन करते हुए युद्ध न करने का ही दृढ विचार प्रकट किया किन्तु चित्रवर्ण ने बिल्कुल ध्यान न देकर ज्योतिषी को बुला कर शुभ मुहूर्त निश्चित करा कर कर्पूर देश पर चढाई कर दी।

इसके पश्चात् प्रधान गुप्तचर द्वारा भेजे गए दूत ने आकार हिरण्यगर्भ से कहा—राजन् अब चित्रवर्ण आना ही चाहते है। आप अपने दुर्ग का हर समय निरीक्षण परीक्षण कराते रहे क्योकि बातचीत के प्रसग मे उसके मत्री गृध्र से मुझे ऐसा सकेत मिला है कि उमने गुप्त रूप से किसी को आपके किले मे प्रविष्ट कर दिया है। यह सुनकर मत्री चक्रवाक ने कहा—वह गुप्त दूत कौवा ही हो सकता है? राजा ने कहा नही ऐसा नही हो सकता। वह तो बडा ही स्वामिभक्त है। अत अब उपस्थित विषय पर विचार करो। चित्रवर्ण मलय चोटी पर डेरा डाले पडा है अब क्या करना चाहिए। मत्री चक्रवाक ने कहा—"राजन मैंने दूत के मुँह से सुना है कि चित्रवर्ण ने अपने मत्री गृध्र के उपदेशो का तिरस्कार कर दिया है अत वह जीता जा सकता है। इसलिए जब तक वह हमारे किले के द्वार को न घेर ले तब तक जगलो, नदियो और पहाडो के रास्तो मे उसकी सेना का विनाश करने के लिए सारस आदि सेनापतियो को नियुक्त कर दीजिए।" चक्रवाक की इस व्यवस्था से चित्रवर्ण के बहुतसे सेनापति तथा सैनिक मार डाले गए। तब दुखी हो कर चित्रवर्ण ने मत्री गृध्र से कहा कि तात! यह क्या हो रहा है? गृध्र ने कहा कि आप ने अपनी सेना और उमग को देख कर केवल साहस का सहारा लिया और मेरी गूढ नीतिकी उपेक्षा

इसीलिए यह फल भोगना पडा है। चित्रवर्ण ने कहा कि जो हुआ सो हुआ किन्तु अब तो कोई उपाय कीजिए। गृध्र ने कहा राजन् आप डरें न, धैर्य धारण कर और उपहारादि से सेनापतियो और सैनिको को तुष्ट कर दें। गृध्र ने इस प्रकार सैनिको और सेनापतियो को तुष्ट करके राजा हिरण्यगर्भ के किले पर घेरा डाल दिया।

इसी बीच चित्रवर्ण के कपट दूत कौवे ने हिरण्यगर्भ से कहा कि राजन् मैं अब अपना पौरुष दिखाना चाहता हूँ। चक्रवाक ने कहा कि किले के बाहर होकर युद्ध करना ठीक नही। किन्तु हिरण्यगर्भ कौवे की बात मे आकर सबको साथ लेकर दुर्ग द्वार पर महान् युद्ध मे सलग्न हो गए। दूसरे दिन चित्रवर्ण ने कहा कि मत्री अब आप अपनी प्रतिज्ञा पूरी कीजिए। मत्री गृध्र ने कहा कि राजन् आप शान्त रहे। सभी कुछ हो रहा है। और उसने राजा के कान मे कुछ कहा। दूसरे दिन सूर्य निकला भी नही था कि किले के चारो द्वारो पर भयकर युद्ध होने लगा। इसी बीच कौवे ने किले के भीतर आग लगादी। तब शत्रुसेना का कोलाहल सुनकर और किले की आग देख कर राजहस के सभी सैनिक शीघ्र ही तालाब मे घुस गए। स्वभाव से धीरे धीरे चलने वाला हिरण्यगर्भ अपने सेनापति सारस के साथ जाते समय चित्रवर्ण के सेनापपि मुर्गे के द्वारा घेर लिया गया और उस पर प्रहार कर दिया। किन्तु सारस ने स्वामी को जल मे प्रविष्ट करा दिया और स्वय मुर्गे से लडता हुआ मारा गया।

इसके पश्चात् चित्रवर्ण ससैन्य किले मे प्रविष्ट हुआ और वहाँ की बची हुई सभी सामग्री लेकर पडाव पर लौट गया। इस प्रकार दूरदर्शी मत्री चक्रवाक की बात न मान कर शत्रु के कपटदूत कौवे को आश्रय देने तथा किले से बाहर जाकर युद्ध करने के कारण राजहस पराजित हो गया।

प्रासंगिक कथाएँ

१ वानर-पक्षी कथा

नर्मदा के किनारे पहाड की तलहटी मे एक सेमल का पेड था। वहा घोसले बनाकर बहुत से पक्षी रहते थे। एक दिन गहरी वर्षा से भीग कर कांपते हुए उसी पेड के नीचे बैठे हुए वानरो को देख कर पक्षियो न कहा कि भाइयो

तुम लोग अपने लिए घर क्यो नही बना लेते ! इस पर सारे बन्दर क्रुद्ध हो गए और उन्होने सभी घोसलो को नष्ट कर दिया ।

२ रजक-गर्दभ कथा

हस्तिनापुर मे विलास नाम का धोबी था । उसका गधा बोझ ढोते ढोते दुबला हो गया था । इसलिए धोबी ने उसे बाघ के चमडे से ढक कर जगल के पास खेत मे छोड दिया । गदहा खा पीकर खूब मोटा हो गया । उसे दूर से देख-कर बाघ समझ कर खेत के मालिक भागने लगे । एक दिन एक खेत का रख-वाला मटमैला कम्बल ओढ कर धनुप चढाकर तथा शरीर को झुका कर एकान्त में बैठ गया । उसे देख कर गदहा उसको भी गदहा समझ कर रेंकने लगा और रखवाले के द्वारा मार डाला गया ।

३ गजयूथ-शशक कथा

कए बार पानी न बरसने से सभी हाथी प्यास से व्याकुल हो स्वामी से किसी जलमय स्थान में ले चलने की प्रार्थना करने लगे । स्वामी ने उन्हे एक तालाब दिखा दिया । वहाँ बहुत से खरगोश रहते थे जो हाथियो के पैरो तले कुचल कुचल कर मरने लगे । यह देख एक दिन विजय नामक बूढे खरगोश ने हाथियो के स्वामी से जाकर कहा कि मेरे स्वामी चन्द्रदेव ने मुझे आपके पास यह कहने के लिए भेजा है कि खरगोशो का इस प्रकार विनाश करना ठीक नही है । हाथियो के स्वामी ने कहा कि बडी भूल हुई अब हम लोग वहाँ नही जायँगे । इसके बाद उसने खरगोश के साथ तालाब के किनारे जाकर चन्द्रबिम्ब को प्रणाम किया और माफी माग ली ।

४ हस-काक-पथिक कथा

उज्जयिनी मे पाकड का एक पेड था । उस पर हस और कौवा रहते थे । एक दिन एक राही ने गर्मी से थक कर उसी पेड के नीचे आकर धनुष रख दिया और सो गया । कुछ देर बाद छाया हट जानेसे उसके मुँह पर धूप पडने लगी । तब हस ने अपने पखो को फैला कर उसके मुँह पर छाया कर दी । इधर राही ने सोने ही मे ज्यो ही मुँह खोला त्यों ही कौवा उसमे बीट कर के उड गया और बेचारा हस राही के द्वारा मार डाला गया ।

५ काक-वत्तक कथा

एक पेड पर कौवा और वत्तक साथ साथ रहते थे। एक ग्वाला सिर पर दहीका वर्तन रखे जा रहा था। कौवा बार बार दही खा लिया करता था। जब ग्वाले ने दही का वर्तन नीचे रख कर ऊपर देखा तो कौवा तो भाग गया और वेचारा वत्तक पकड लिया गया और मार डाला गया।

६ रथकार कथा

श्रीनगर मे एक बढई रहता था। वह अपनी पत्नी को कुलटा तो समझता था किन्तु उसने कभी उसे जार के साथ देखा नही था। एक दिन वह घर मे चारपाई के नीचे छिप गया। जिस समय जार उसी चारपाई पर सोकर उसकी पत्नी के साथ सभोग करने लगा उस समय उस स्त्री का कोई अग बढई से छू गया। वह यह जान कर उदास हो गई। जार ने जब उसकी उदासी का कारण पूछा तो वह अपने पति की प्रशसा और उसके वियोग मे दु खी होने की बात कहने लगी जिसे सुनकर बढई प्रसन्न हो गया और चारपाई को सिर पर उठा कर नाचने लगा।

७ नीलवर्ण शृगाल कथा

एक गीदड नगर के किनारे घूमता हुआ नील के भाँड मे गिर पडा। दूसरे दिन जब वह वन मे गया तो अपने बदले हुए रग को देख कर उसने गीदडो को बुलाकर कहा कि वनदेवियो ने अपने हाथ से मेरा रसौषधियो से अभिषेक किया है। गीदडो ने उसकी बात को सत्य मान कर उसे राजा मान लिया। धीरे धीरे वह सभी जगली पशुओ का राजा बन गया। वह व्याघ्र, सिंह आदि उत्तम सेवको को पाकर अपनी जाति वालो का तिरस्कार करने लगा। इससे सभी दुखी गीदडो ने सध्या समय इकट्ठा होकर बोलना प्रारभ किया। उस शब्द को सुन कर जाति स्वभाव से वह भी बोलने लगा और बाघ के द्वारा मार डाला गया।

८ वीरवर की कथा

एक दिन राजा शूद्रक के दरबार मे वीरवर नाम के राजकुमार ने आकर प्रतिदिन पाँच सौ स्वर्ण मुद्रा वेतन लेकर सेवा करने की प्रार्थना की। राजा ने मन्त्रियो के कहने से उसे सेवा मे नियुक्त कर लिया। एक दिन राजा को

सोते समय रोने की ध्वनि सुनाई पडी। उसने वीरवर को पता लगाने के लिए भेजा किन्तु स्वयं भी चुपचाप उसके पीछे चल पडा। वीरवर ने नगर के बाहर एक स्त्री को रोते हुए देखा। जो शूद्रक की राज्यलक्ष्मी थी। उसने वीरवर से कहा कि मैं जा रही हूँ इसलिए रो रही हूँ। यदि तुम मुझे रोकना चाहते हो तो अपने पुत्र की बलि चढा दो। वीरवर चुपचाप अपने घर गया और वहाँ से पुत्र तथा स्त्री के साथ देवी के मंदिर में पहुँचा। वहाँ उसने अपने पुत्रकी बलि दे दी। इसके बाद उसने अपना भी सिर काट दिया। पति और पुत्र को इस प्रकार मरा देख उसकी स्त्री ने भी वैसा ही किया। राजा यह सब छिप कर देख रहा था। उसने भी अपना सिर काटने के लिए ज्यो ही तलवार हाथ में ली त्यो ही देवी ने प्रकट होकर उसका हाथ पकड लिया और राज्यलक्ष्मी के स्थिर होने का वरदान देकर वीरवर को भी स्त्री-पुत्र के साथ जीवित कर दिया। राजा चुपके से अपने महल मे चला आया और जब दूसरे दिन उसने वीरवर से पूछा तो उसने कहा कि एक स्त्री रो रही थी और मुझे देखकर लुप्त हो गई। राजा बहुत प्रसन्न हुआ और सभा करके उसमें सारी बातें कह कर वीरवर को कर्नाटक देश का राजा बना दिया।

९ वित्तार्थी नापित कथा

अयोध्या में चूडामणि नाम का एक क्षत्रिय रहता था। उसने धन के लिए शंकर जी की बडी आराधना की। भगवान शंकर ने उसे स्वप्न में दर्शन देकर कहा कि आज प्रात काल बाल बनवा कर तुम डंडा लेकर अपने दरवाजे पर बैठे रहना और जब कोई भिक्षुक तुम्हारे द्वार पर आए तो तुम डंडे से उसे पीटना, जिससे वह भिक्षुक सोने का घडा बन जायगा। उस क्षत्रिय ने वैसा ही किया और भिक्षुक सोने का घडा बन गया। वहाँ बाल बनाने के लिए आए हुए नाई ने जब यह देखा तो उसने भी दूसरे दिन अपने घर आए हुए भिक्षुक को डंडे से मार डाला और इस अपराध में वह भी राजपुरुषो द्वारा मार डाला गया।

—o—

सन्धि

कथासार

मूलकथा

राजा हिरण्यगर्भ ने अपने मंत्री से पूछा कि मेरे किले मे आग किसने लगाई थी। मत्री चक्रवाक ने कहा कि उसी अकारण बन्धु बने हुए कौवे ने, जिसे आपने मेरे मना करने पर भी आश्रय दिया था। राजा ने कहा कि यह हमारा दुर्भाग्य था जो आपकी बात हमने नही सुनी। इसी बीच गुप्तचर ने आकर कहा कि 'वह कौवा आग लगा कर चित्रवर्ण के पास गया और उसने सारी बात कह सुनाई तो चित्रवर्ण ने उसे कर्पूर द्वीप का राजा बना देने का का प्रस्ताव किया। तब मंत्री गृध्र ने दृष्टान्त देते हुए उसका विरोध किया और कहा कि राजा राजहंस से सधि कर लेनी चाहिए। इस पर राजा चित्रवर्ण ने कहा कि आपने पहिले ही क्यो नही कहा। तब गृध्र ने कहा कि आपने मेरी बात ही कहाँ सुनी। मैं तो पहिले ही सधि के पक्ष में था। आपने ही अपने मद मे आकर लड़ाई ठानी। फिर भी जो हुआ सो हुआ, अब भी आपको राजहस जैसे राजा के साथ सधि कर लेनी चाहिए। किन्तु हे राजन् मत्री गृध्र के कहने पर भी प्राप्त विजय के अभिमान मे चित्रवर्ण सधि नही करना चाहता इसलिए अपने मित्र सिंहलद्वीप के राजा सारस को उसके प्रति भड़का देना चाहिए।' राजा हिरण्यगर्भ ने उसकी बात मानकर विचित्र नामक बगुले को गुप्त पत्र के साथ सिंहलद्वीप भेज दिया।

इसके बाद गुप्तचर ने आकर फिर कहा कि राजन् इस समय शत्रु पक्ष में जो हो रहा है उसे सुनिए। राजा चित्रवर्ण ने जब कौवे से आप के विषय में पूछा तो उसने आप की बड़ी प्रशसा की। इस पर मत्री गृध्र ने फिर कहा कि राजन् राजा राजहंस से सधि कर लेनी चाहिए। इस पर चित्रवर्ण ने कहा कि यह कैसे हो सकता है? हम विजयी हैं और वह पराजित है। इसी बीच चित्रवर्ण

के गुप्तचर शुक ने आकार कहा कि महावली मारस ने जम्बू द्वीप पर घेरा डाल दिया है। यह सुनते ही चित्रवर्ण क्रुद्ध हो गया और उससे लड़ने के लिए जाने को तैयार हो गया। इस पर मत्री गृध्र ने समझाया कि एक ही साथ प्रहार करने वाले बहुत से शत्रुओ के माथ राजा को कभी नही लडना चाहिए इसलिए यहाँ से बिना सधि किए जाना उचित नही है क्योंकि यह पीछे से हमलोगो पर आक्रमण कर देगा। इसलिए इस समय मेरी बात मानकर सधि करके ही यहाँ से चलना ठीक होगा। इसपर राजा चित्रवर्ण ने कहा कि अब यह कैसे होगा? मत्री गृध्र ने कहा—बहुत शीघ्र हो जायगा। राजा हिरण्यगर्भ धर्मात्मा और उनका मत्री चक्रवाक सर्वज्ञ है अत वह दोनो आसानी से प्रसन्न हो जायेंगे। तब राजा चित्रवर्ण ने कहा कि जैसा उचित समझो वैसा ही करो।

दूसरे दिन फिर गुप्तचर ने आकर राजा हिरण्यगर्भ से कहा कि 'राजन् सधि करने के लिए महामन्त्री गृध्र आ रहे है।' राजा हिरण्यगर्भ ने मन्त्री चक्रवाक मे कहा—मत्री क्या इसमे कोई रहस्य है। यह सुन कर मत्री ने कहा—राजन् डरने की बात नही है। उसके सत्कार के लिए रत्नादि उपहार सजा लेना चाहिए। ऐसा कहकर मत्री चक्रवाक ने दुर्ग द्वार पर जाकर मन्त्री गृध्र का सत्कार किया और उन्हे आदर के साथ राजा के पास लाकर आसन पर बिठाया। कुछ इधर उधर की बातें होने के बाद गृध्र ने कहा कि मैं आपसे सधि करके यहाँ से जाना चाहता हूँ। तब मत्री चक्रवाक ने कहा कि आप किस प्रकार की सधि करना चाहते हैं। गृध्र ने सभी प्रकार की सधियो का वर्णन करते हुए कहा कि मैंने सभी प्रकार की सन्धियाँ बता दी हैं अब आप जिस प्रकार की सधि चाहे, कर लें। अत मे यह निश्चय हुआ कि काचनाभिधान सधि कर ली जाय।

इसके पश्चात् राजा हिरण्यगर्भ ने वस्त्रालकार से गृध्र को प्रसन्न किया वह चक्रवाक को साथ लेकर अपने राजा चित्रवर्ण के पास गया। वहाँ राजा चित्रवर्ण ने गृध्र तथा चक्रवाक द्वारा बताई गई सन्धि को स्वीकार कर लिया और चक्रवाक को भेज दिया। तब गृध्र ने अपने राजा चित्रवर्ण से कहा कि राजन् हम लोगो की अभिलाषा पूरी हो गई। अब हमे अपने देश को लौट चलना चाहिए।

प्रासंगिक कथाएँ

१. कूर्मकथा

मगध देश मे एक तालाब था। वहाँ सकट-विकट नाम के हंस रहते थे। वही उनका मित्र कम्बुग्रीव कछुआ भी रहता था। एक दिन वहाँ कछुवो ने आकर कहा कि कल प्रात काल मछलियो और कछुओ का शिकार किया जायगा। यह सुनकर कछुवे ने हसो से कहा कि अब क्या करना चाहिए। उन्होंने कहा कि प्रात काल देखा जायगा। कछुवे ने कहा कि यह ठीक नही है, मैं एक उपाय बताता हूँ। उसी सहारे तुम दोनो मुझे दूसरे तालाब मे पहुँचा दो। मैं एक काठ अपने मुँह मे दवा लूँगा और तुम दोनो उसे लेकर उड चलना। हंसो ने कहा कि बोलना मत नही तो गिर पडोगे। कछुवे ने कहा कि मैं इतना मूर्ख नही हूँ। किन्तु जिस समय ये दोनो हंस एक नगर मे उडे जा रहे थे उस समय कछुवे को लटकता हुआ देखकर लोगो ने कोलाहल करना शुरू किया जिसे सुनकर कछुवा बोल पडा और जमीन पर गिर पडा।

२ त्रिमत्स्य कथा

एक तालाव मे तीन मछलियाँ रहती थी। एक दिन मछुओ को वहाँ आया हुआ देख कर एक मछली ने कहा कि मैं तो अब दूसरे तालाब मे जा रही हूँ। दूसरी ने कहा कि जब कोई बाधा होगी तो देखा जायगा। तीसरी ने कहा कि जो होगा वह होगा ही फिर डरने का क्या बात। प्रात काल दूसरी और तीसरी मछलियाँ जाल मे फँस गईं। दूसरी मछली ने तो अपने को मरा हुआ सा दिखाया जिससे मछुवे ने उसे फेंक दिया और वह कूद कर पानी मे चली गई किन्तु तीसरी मछुवो द्वारा मार डाली गई।

३ वणिग्भार्या कथा

त्रिविक्रमपुर मे समुद्रदत्त नाम का एक बनिया था। उसकी स्त्री रत्नप्रभा अपने सेवक के साथ भोग करती थी। एक बार वह सेवक को चुम्बन दे रही थी कि समुद्दत्त ने देख लिया। तब वह वनिए के पास जाकर वोली कि यह सेवक कपूर चुराकर खाता है। मैंने इसका मुँह सूँघ कर देखा है। सेवक ने कहा कि जिस घर मे ऐसी औरत हो वहा कोई सेवक कैसे रह सकता है। यह

कह कर वह चल पडा। तब वनिए ने उसे किसी प्रकार मना कर लौटाया और वह फिर सुख से रहने लगा।

४. वक-नकुल कथा

एक पाकड के पेड पर बहुत से बगुले रहते थे। उस पेड के नीचे बिल मे एक साँप रहता था। वह बगुलो के अंडो को खा जाया करता था। यह देख कर एक बूढे बगुले ने कहा कि साँप के बिल से नेवले के बिल तक मछलियाँ बिखेर दो जिससे नेवला आकर साँप को मार डालेगा। बगुलो ने वैसा ही किया जिसमे नेवले ने साँप को मार डाला किन्तु वृक्ष पर चढ कर वह बगुलो के बच्चो को खाने लगा।

५ मूषक-मुनि कथा

एक तपोवन मे गौतम नाम के मुनि थे। उन्होंने कौवे के मुँह से गिरे हुए एक चूहे के बच्चे को पाया और उसे पाल-पोस कर बडा किया। जब वह बिल्ली से डरने लगा तो उसे मुनि ने बिल्ली बना दिया, फिर जब वह कुत्ते से डरने लगा तो उसे कुत्ता बना दिया और जब वह बाघ से डरने लगा तो उसे बाघ बना दिया। लेकिन मुनि उसे चूहा ही समझते थे और दूसरे लोग भी उसके इस रूप-परिवतन का चर्चा किया करते थे। इसलिए वह मुनिको मार डालने के लिए झपटा जिसमे मुनि ने फिर उसे चूहा बना दिया।

६ वक-कर्कट कथा

मालव देश में एक तालाब के किनारे एक बगुला उदास होकर खडा था। एक बूढे केकडे ने उसे देखकर पूछा कि आप इस तरह खाना-पीना छोड कर यहाँ क्यो पडे है? बगुले ने कहा कि मछलियाँ मेरा भोजन हैं और उन्हे मछुवे पकड ले जायँगे इसीलिए मैंने आज ही से खाना-पीना छोड दिया है। मछलियो ने यह सुन कर कहा कि हमारी रक्षा कैसे हो सकती है। बगुले ने कहा कि मैं एक-एक करके तुम लोगो को दूसरे तालाब मे पहुँचा दूँगा। इस प्रकार वह एक-एक को ले जाकर खाने लगा। एक दिन उसने केकडे को खाना चाहा कि उसने बगुले का गला पकड लिया जिससे वह मर गया।

७ भग्नभांड ब्राह्मण कथा

देवकोट नगर मे देवशर्मा नाम का एक ब्राह्मण था। उसे सतुवा सक्रान्ति के दिन सतुवे से भरा एक घडा मिला। उसे वह लेकर कुम्हार के मडप मे सो गया जहाँ वहुत से बर्तन रखे हुए थे। ब्राह्मण हाथ मे एक डडा लेकर सोचने लगा कि इस सतुवे को बेंचकर दश कौडी प्राप्त करूँगा, उससे घडा आदि खरीद बेंच कर धन इकठ्ठा करके फिर सुपारी-वस्त्र आदि का व्यापार करके धनी वन जाऊँगा और चार स्त्रियो से विवाह करूँगा। जव वह झगडने लगगी तो इसी डडे से मारूँगा। ऐसा कह कर उसने डडा चला दिया जिससे कुम्हार के वहुत से बर्तन टूट गए जिसे देख कर कुम्हारने उसे अपने मडपसे बाहर निकाल दिया।

८ सुन्दोपसुन्द कथा

प्राचीन काल मे सुन्द उपसुन्द नाम के दो सगे भाइयो ने तीनो लोको के राज्य की कामना से शकर जी की आराधना की। जब शकर जी ने प्रसन्न होकर उनसे वर माँगने को कहा तो उन दोनो ने राज्य माँगने के वदले पार्वती को माँगा। शकर ने क्रुद्ध होकर पार्वती को दे दिया। लेकिन दोनो उन्हे अपना अपना वनाने के लिए आपस मे लड मरे।

९ धूर्त एवं ब्राह्मण कथा

गौतमारण्य मे एक ब्राह्मण रहता था। वह यज्ञ करने के लिए एक वकरा कंधे पर रखे लिए आ रहा था। रास्ते मे तीन धूर्तों ने उसे देखा और वकरा किसी प्रकार ले लेने का षड्यन्त्र किया। तीनो थोडो-थोडी दूर पर खडे हो गए। एक ने कहा कि ब्राह्मण देवता कुत्ता कधे पर रखे क्यो जा रहे हो। ब्राह्मण ने कहा यह कुत्ता नही यह तो यज्ञ का वकरा है। फिर थोडी दूर पर जाने पर दूसरे ने भी वही कहा तब ब्राह्मण ने वकरे को उतार कर भली भाँति देखा और फिर कधे पर रख कर चल दिया किंतु जव थोडी दूर जाने पर तीसरे ने भी उसे कुत्ता कहा, तो ब्राह्मण ने उसे वही छोड दिया और स्वय अपनी कुटी मे चला गया।

१० सिंह-व्याघ्र काक जम्बुक-कथा

एक जगल मे एक सिंह था। उसके कौवा, वाघ और गीदड तीन सेवक थे। उन्होने जगल मे भटका हुआ एक ऊँट देखा और उसे सिंह के पास पहुँचा दिया। सिंह ने उसे अभयदान देकर अपनी शरण मे रख लिया। एक वार

सिंह बीमारी तथा वर्षा के कारण भोजन न मिलने से बडा दुखी हो गया। तब उन्होंने आपस मे विचार किया कि ऐसा उपाय करना चाहिए कि जिससे स्वामी ऊँट को मार डाले। इसके बाद सब सिंह के पास गए और बाघ ने कहा कि आप मुझे मार कर खा जायें, फिर इसी प्रकार कौवे और बाघ ने कहा कि आप मुझे मार कर खा जायँ, फिर इसी प्रकार कौवे और बाघ ने कहा कि आप मुझे मार कर खा जायँ, फिर इसी प्रकार कौवे और गीदड ने भी कहा किन्तु सिंह ने किसी को नही मारा। तब ऊँट ने भी वही कहा। इस पर बाघ ने उसे मार डाला और सब ने खूब पेट भर मास खाया।

११ वृद्ध सर्प-मण्डूक कथा

एक पुराने बगीचे मे मन्दविष नाम का एक सॉप रहता था। वह बुढौती के कारण आहार खोजने मे असमर्थ होकर तालाब के किनारे पडा था। उसे देख कर एक मेढक ने पूछा कि आप भोजन क्यो नही ढूँढते। साप ने कहा कि मैने ब्रह्मपुर के एक ब्राह्मण के नौजवान लडके को काट लिया और वह मर गया। तब उसके पिता ने सन्यास ले लिया और मुझे मेढक ढोने का शाप दे दिया इसी लिए मैं यहाँ मेढको के लिए आया हूँ। मेढक ने जब अपने स्वामी से यह चर्चा की तो वह सॉप की पीठ पर चढ गया लेकिन जब दूसरे दिन उसने सॉप से पूछा कि तुम चल क्यो नही पा रहे हो तो उसने कहा कि भोजन न मिलने से मेरी यह दशा हो गई है। तब मेढको के स्वामी ने उसे मेढको को खाने का आदेश दे दिया। जब सारे मेढक खतम हो गए तो उसने मेढको के स्वामी को भी खा डाला।

१२ ब्राह्मण-नकुल कथा

उज्जैनी मे माधव नामका एक ब्राह्मण था। एक दिन उसकी पत्नी अपने बच्चे को ब्राह्मण को सौप कर स्नान करने गई। इसी बीच राजा ने ब्राह्मण को श्राद्ध कराने के लिए बुला भेजा ब्राह्मण ने अपने पालतू नेवले को बालक की रखवाली के लिए नियुक्त कर दिया और स्वय राजा के यहाँ चला गया। बालक के पास आने वाले सॉप को नेवले ने मार डाला और ब्राह्मण को आता देख खून भरे मुँह से उसके पास पहुँचा। ब्राह्मण ने समझा कि इसने लडके को ही खा लिया है जिससे उसने क्रुद्ध होकर नेवले को मार डाला। लेकिन जब उसने घर मे आकर बालक को सोया देखा तो वह अपने क्रोध पर पश्चात्ताप करने लगा।

॥ श्रीः ॥

हितोपदेशः

विग्रहः

अथ पुनः कथाऽऽरम्भकाले राजपुत्रा ऊचुः—'आर्य ! राजपुत्रा वयम्। तद्विग्रहं श्रोतुं नः कुतूहलमस्ति।' विष्णुशर्मणोक्तम्—'यदेवं भवद्भ्यो रोचते तत् कथयामि। विग्रहः श्रूयतां, यस्याऽयमाद्यः श्लोकः—

कथारम्भकाले = कथाप्रारम्भसमये। राजपुत्राः = राजकुमाराः। ऊचुः = उक्तवन्तः। विग्रहम् = युद्धम्। श्रोतुम् = आकर्णयितुम्। नः = अस्माकम्। कुतूहलम् = औत्सुक्यम्। श्रूयताम् = आकर्ण्यताम्। यस्य = विग्रहप्रसङ्गस्य। आद्यः = प्रथमः। श्लोकः = पद्यम्।

फिर कथा आरम्भ होने के समय राजकुमारों ने कहा—आर्य ! हमलोग राजकुमार हैं, अतः हमलोगों में विग्रह (युद्ध) सुनने की उत्सुकता हो रही है। विष्णुशर्माने कहा—'यदि आपलोगों की ऐसी रुचि है तो कह रहा हूँ। 'विग्रह' सुनिए, जिसका पहला श्लोक यह है—

'हंसैः सह मयूराणां विग्रहे तुल्यविक्रमे।
विश्वास्य वञ्चिता हंसाः काकैः स्थित्वाऽरिमन्दिरे' ॥ १ ॥

अन्वयः—हंसैः सह मयूराणाम् तुल्यविक्रमे विग्रहे अरिमन्दिरे स्थित्वा (हंसान्) विश्वास्य काकैः हंसाः वञ्चिताः ॥ १ ॥

हंसैः =मरालैः। सह=साकम्। मयूराणाम्=बर्हिणाम्। तुल्यविक्रमे=समानबले। विग्रहे=युद्धे। अरिमन्दिरे = शत्रुगृहे हंसभवने इत्यर्थः। स्थित्वा = निवासं कृत्वा। विश्वास्य = विश्वासं विधाय। काकैः = वायसैः। वञ्चिताः = प्रवञ्चनां प्रापिताः ॥१॥

समान बलवाले हंसों के साथ मोरों के युद्ध में कौवों ने शत्रु (हंसों) के घर में रह कर और उन्हें विश्वास दिला कर धोखा दे दिया अर्थात् उन्हें पराजित कर दिया ॥ १ ॥

राजपुत्रा ऊचुः— कथमेतत् ? विष्णुशर्मा कथयति—

'अस्ति कर्पूरद्वीपे पद्मकेलिनामधेयं सरः। तत्र हिरण्यगर्भो नाम राजहंसः प्रतिवसति। स च सर्वैर्जलचरैः पक्षिभिर्मिलित्वा पक्षिराज्येऽभिषिक्तः। यतः—

कर्पूरद्वीपे=तन्नामकद्वीपे। पद्मकेलिनामधेयम्=पद्मकेलिनाम। सरः=कासारः। तत्र=तस्मिन् सरसि। राजहंसः=हंसानां राजा। प्रतिवसति=निवसति। सर्वैः=समग्रैः। जलचरपक्षिभिः=जलचारिभिः खगैः। पक्षिराज्ये=पक्षिणां राजपदे। अभिषिक्तः=प्रतिष्ठापितः।

राजकुमारों ने कहा—'यह कैसे'। विष्णुशर्मा ने कहा—

'कर्पूरद्वीप में पद्मकेलि नाम का एक तालाब है, वहाँ हिरण्यगर्भनाम का राजहंस रहता था। वह सभी जलचारी पक्षियों द्वारा राजा बना दिया गया था। क्योंकि—

'यदि न स्यान्नरपतिः सम्यङ्नेता, ततः प्रजा।
अकर्णधारा जलधौ विप्लवेतेह नौरिव' ॥ २ ॥

अन्वय—यदि सम्यक् नेता नरपतिः न स्यात्, ततः प्रजा जलधौ अकर्णधारा नौः इव इह विप्लवेत ॥ २ ॥

यदि=चेत्। सम्यक्=सर्वप्रकारेण। नेता=अग्रणीः, रक्षकः इत्यर्थः। नराणां पतिः नरपतिः=राजा। ततः=तदा। प्रजा=लोकः। जलधौ=समुद्रे। न कर्णधारः यस्याः सा अकर्णधारा=अनाविका। नौः=तरणिः। इव=सदृशम्। इह=जगति। विप्लवेत=निमज्जेत्, विनश्येत् ॥ २ ॥

यदि कोई राजा प्रजा का अच्छा नेता न हो तो प्रजा उसी प्रकार दुखों में डूब जाती है जैसे बिना मल्लाह की नाव समुद्र में डूब जाती है ॥ २ ॥

अपरञ्च—

'प्रजां संरक्षति नृपः, सा वर्द्धयति पार्थिवम्।
वर्द्धनाद्रक्षणं श्रेयस्तदभावे सदप्यसत्' ॥ ३ ॥

अन्वय—नृपः प्रजाम् संरक्षति, सा पार्थिवम् वर्द्धयति, (किन्तु) वर्धनात् रक्षणम् श्रेयः (यतः) तदभावे सत् अपि असत् (भवति) ॥ ३ ॥

नृपः=राजा। प्रजाम्=लोकम्। संरक्षति=रक्षाम् करोति। सा=प्रजा। पार्थिवम्=नृपम्। वर्द्धयति=करदानादिना धनधान्यपूर्णं करोति। वर्द्धनात्=वर्धनमपेक्ष्य। रक्षणम्=पालनम्। श्रेयः=श्रेष्ठम्। तदभावे=रक्षणाभावे। सत् अपि=विद्यमानमपि। असत् एव=नष्टम् एव ॥ ३ ॥

और भी—राजा प्रजा की रक्षा करता है और प्रजा (धन धान्य से) राजा को समृद्धिशाली बनाती है। किन्तु किसी वस्तु को बढ़ाने से उसकी रक्षा करना ही श्रेष्ठ है, क्योंकि रक्षाके अभाव में विद्यमान वस्तु भी नष्ट हो जाती है ॥ ३ ॥

एकदाऽसौ राजहंसः सुविस्तीर्णकमलपर्यङ्के सुखाऽऽसीनः परिवारपरिवृतस्तिष्ठति। ततः कुतश्चिद्देशादागत्य दीर्घमुखो नाम बकः प्रणम्योपविष्टः। राजोवाच—'दीर्घमुख ! देशाऽन्तरादागतोऽसि, वार्तां कथय।' स ब्रूते—'देव ! अस्ति महती वार्ता। तामाख्यातुकाम एव सत्वरमागतोऽहम्। श्रूयताम्—

एकदा=एकस्मिन्काले। सुविस्तीर्णम् = अतिप्रफुल्लितम् यत् कमलम् = नीरजम् तदेव पर्यङ्कः=शय्या तस्मिन्। सुखेन=आनन्देन आसीनः = अधिष्ठितः। परिवारेण= स्वजनवर्गेण। परिवृतः=परिवेष्टितः। तिष्ठति=स्थितः अस्ति। कुतश्चिद् देशात्=कुतोऽपि विषयात्। प्रणम्य=नमस्कारं कृत्वा। उपविष्टः =पालनस्थो बभूव। देशान्तरात्= अन्यदेशात्। आगतोऽसि=आयातोऽसि। ब्रूते=उवाच। महती वार्ता=नितान्तगुर्वी वार्ता। ताम् = वार्ताम्। आख्यातुकामः = वक्तुकामः। सत्वरम् = शीघ्रम्।

एक बार वह राजहंस कमलों की विस्तृत शय्या पर आनन्द से बैठा हुआ था कि उसी समय किसी अन्य देश से आकर एक बगुला प्रणाम करके बैठ गया। राजाने कहा— 'दीर्घमुख, तुम दूसरे देश से आ रहे हो। अतः वहाँ की बातें बताओ।' उसने कहा— 'राजन् बहुत बड़ी बात है। उसी को सुनाने के लिए ही मैं शीघ्रता से आया हूँ। सुनिए—

'अस्ति जम्बूद्वीपे विन्ध्यो नाम गिरिः। तत्र चित्रवर्णो नाम मयूरः पक्षिराजो निवसति। तस्याऽनुचरैश्चरद्भिः पक्षिभिरहं दग्धाऽरण्यमध्ये चरन्नवलोकितः, पृष्टश्च—'कस्त्वम्? कुतः समागतोऽसि?।' तदा मयोक्तम्—कर्पूरद्वीपस्य राजचक्रवर्तिनो हिरण्यगर्भस्य राजहंसस्याऽनुचरोऽहं, कौतुकाद् देशाऽन्तरं द्रष्टुमागतोऽस्मि। एतच्छ्रुत्वा पक्षिभिरुक्तम्—'अनयोर्देशयोः को देशो भद्रतरो, राजा च?'।

गिरिः=पर्वतः। अनुचरैः=सेवकैः। चरद्भिः =भ्रमद्भिः। दग्धारण्यमध्ये=दग्धनामककाननान्तरे। चरन्=भ्रमन्। अवलोकितः =दृष्टः। कुतः =कस्मात् स्थानात्। समागतोऽसि = समायातोऽसि। राजचक्रवर्तिनः =मण्डलेश्वरस्य। अनुचरः= सेवकः। कौतुकात्=औत्सुक्यात्। द्रष्टुम्=अवलोकनार्थम्। एतत् श्रुत्वा = मद्वचनमाकर्ण्य। अनयोर्देशयोः = अनयोः द्वयोः देशयोः मध्ये। भद्रतरः = श्रेष्ठतरः।

जम्बूद्वीप में विन्ध्य नाम का पहाड है। वहाँ पक्षियों का राजा चित्रवर्ण नाम वाला मोर रहता है। मैं दग्धारण्य में भ्रमण कर रहा था कि उसके घूमने वाले सेवक पक्षियों ने मुझे देख लिया। उन्होंने मुझसे पूछा-'तुम कौन हो ?' 'और कहाँ से आए हो ?' तब मैंने कहा-'मैं कर्पूर द्वीप के चक्रवर्ती सम्राट् राजहंस हिरण्यगर्भ का सेवक हूँ। कुतूहलवश अन्यदेशों को देखने के लिए आया हूँ।' यह सुनकर उन पक्षियों ने कहा—'इन दोनों देशों में कौन देश और कौन राजा अच्छा है।'

ततो मयोक्तम्—'आः किमेवमुच्यते, महदन्तरम्। यतः कर्पूर द्वीपः स्वर्ग एव, राजहंसश्च द्वितीय स्वर्गपतिः, कथं वर्णयितुं शक्यते। अत्र मरुस्थले पतिता यूयं किं कुरुथ, अस्मद्देशे गम्यताम्।' ततोऽस्मद्वचनमाकर्ण्य सर्वे पक्षिणः सकोपा बभूवुः। तथा चोक्तम्—

किम् = कथम्। एवम् = अनेन प्रकारेण। उच्यते = कथ्यते। महदन्तरम् = महद्भिन्नत्वम्। द्वितीयः = अन्यः। स्वर्गपतिः = इन्द्रः। कथं = केन प्रकारेण। वर्णयितुम् = कथयितुम्। शक्यते = पार्यते। अत्र मरुस्थले = अस्मिन् वालुकामये प्रान्ते, नीरसे देशे इत्यर्थः। सकोपाः = सक्रोधाः।

मैंने कहा-क्यों ऐसा कह रहे हो। बहुत अन्तर है। कर्पूर देश स्वर्ग है और राजहंस दूसरे इन्द्र हैं। इस मरुभूमि में पडे हुए तुम लोग क्या कर रहे हो। हमारे देश में चलो।' तब मेरी बातें सुनकर सभी क्रुद्ध हो गए। जैसा कि कहा भी है—

'पयःपानं भुजङ्गानां केवलं विषवर्द्धनम्।
उपदेशो हि मूर्खाणां प्रकोपाय, न शान्तये' ॥ ४ ॥

अन्वय—भुजङ्गानाम् पयःपानम् केवलम् विषवर्धनम् (एव यथा भवति तथैव) मूर्खाणाम् उपदेशः हि प्रकोपाय (एव भवति) न शान्तये (भवति) ॥४॥

भुजङ्गानाम् = सर्पाणाम्। पयःपानम् = दुग्धपानम्। विषवर्धनम् = विषवृद्धेः कारणम्। मूर्खाणाम् = अज्ञानाम्। उपदेशः = शिक्षा। प्रकोपाय = क्रोधोत्पत्त्यै ॥४॥

जैसे साँपों को दूध पिलाना केवल उनके विष को बढाना ही है, उसी प्रकार मूर्खों को उपदेश देना क्रोध को बढाना है न कि शान्त करना ॥ ४ ॥

अन्यच्च—

'विद्वानेवोपदेष्टव्यो, नाऽविद्वांस्तु कदाचन।
वानरानुपदिश्याऽथ स्थानभ्रष्टा ययुः खगाः ॥ ५ ॥

राजोवाच—'कथमेतत्' ? दीर्घमुखः कथयति—

अन्वयः—विद्वान् एव उपदेष्टव्यः, अविद्वान् तु कदाचन न (उपदेष्टव्यः)। अथ खगाः वानरान् उपदिश्य स्थानभ्रष्टाः ययुः ॥ ५ ॥

विद्वान् = प्राज्ञः । एव । उपदेष्टव्यः = उपदेशयोग्यः । अविद्वान् = अज्ञः । तु । कदाचन = कदापि । न । खगाः = पक्षिणः । वानरान्=कपीन् । उपदिश्य = उपदेशं कृत्वा । स्थानभ्रष्टाः = गृहरहिताः । ययुः = जग्मुः ॥ ५ ॥

और भी समझदार को ही उपदेश देना चाहिए, मूर्ख को तो कभी उपदेश नहीं देना चाहिए । पक्षियों ने वानरों को उपदेश दिया जिससे उन्हें बेघरबार का होना पड़ा ॥ ५ ॥ राजा ने कहा—'यह कैसे ?' दीर्घमुखने कहा—

कथा १

अस्ति नर्मदातीरे पर्वतोपत्यकायां विशालः शाल्मलीतरुः । तत्र निर्मितनीडक्रोडे पक्षिणः सुखेन निवसन्ति । अथैकदा वर्षासु नील-पटैरिव जलधरपटलैरावृते नभस्तले, धाराऽऽसारैर्महती वृष्टिर्बभूव । ततो वानरांश्च तरुतलेऽवस्थिताञ्शीताऽऽकुलान्कम्पमानानवलोक्य, कृपया पक्षिभिरुक्तम्–'भो भो वानराः ! शृणुत—

नर्मदातीरे=नर्मदायास्तटे । पर्वतोपत्यकायाम्=अधित्यकासन्नभूम्याम् (तराई में) । विशालः =महान् । शाल्मलीवृक्षः = शाल्मलीतरुः (सेमल का पेड़) । निर्मितनीड क्रोडे = रचितकुलायोत्सङ्गे (घोंसले में) । सुखेन = आनन्देन । निवसन्ति = निवासं कुर्वन्ति । एकदा = एकस्मिन् काले । वर्षासु = वर्षाकाले 'प्रावृषि' । जलधर-पटलैः = मेघवृन्दैः । आवृते = आच्छादिते । नभस्तले = आकाशतले । धारासारैः = सवेगवातवर्षैः । महती वृष्टिः=अत्यन्तजलपातः । तरुतले = वृक्षतले । अवस्थितान्= स्थितान् । शीतेन = शैत्येन । आकुलान्=व्यग्रान् । कम्पमानान्=कम्पनं कुर्वाणान् । वानरान्=मर्कटान् । अवलोक्य=दृष्ट्वा । कृपया=करुणया । पक्षिभिः=खगैः । उक्तम्= कथितम् ।

नर्मदा के किनारे पहाड़ की तलहटी में सेमल का एक बहुत बड़ा पेड़ है । वहां घोंसले बना कर बहुत से पक्षी सुख से रहा करते थे । एक बार वर्षा ऋतु में आकाश बादलों से ढँक गया और मूसलाधार वर्षा होने लगी तब वृक्ष के नीचे बैठे हुए बन्दरों को ठंढ से व्याकुल एवं काँपते हुए देख कर पक्षियों को दया आगई । उन्हों ने कहा—अरे बन्दरो सुनो —

'अस्माभिर्निर्मिता नीडाश्चञ्चुमात्राऽऽहृतैस्तृणैः ।
हस्तपादाऽऽदिसंयुक्ता यूयं किमवसीदथ ?' ॥ ६ ॥

जम्बूद्वीप में विन्ध्य नाम का पहाड़ है। वहाँ पक्षियों का राजा चित्रवर्ण नाम वाला मोर रहता है। मैं दग्धारण्य में भ्रमण कर रहा था कि उसके घूमने वाले सेवक पक्षियों ने मुझे देख लिया। उन्होंने मुझसे पूछा—'तुम कौन हो?' 'और कहाँ से आए हो?' तब मैंने कहा—'मैं कर्पूर द्वीप के चक्रवर्ती सम्राट् राजहंस हिरण्यगर्भ का सेवक हूँ। कुतूहलवश अन्यदेशों को देखने के लिए आया हूँ।' यह सुनकर उन पक्षियों ने कहा—'इन दोनों देशों में कौन देश और कौन राजा अच्छा है।'

ततो मयोक्तम्—'आः किमेवमुच्यते, महदन्तरम्। यतः कर्पूरद्वीपः स्वर्ग एव, राजहंसश्च द्वितीयः स्वर्गपतिः, कथं वर्णयितुं शक्यते। अत्र मरुस्थले पतिता यूयं किं कुरुथ, अस्मद्देशो गम्यताम्।' ततोऽस्मद्वचनमाकर्ण्य सर्वे पक्षिणः सकोपा बभूवुः। तथा चोक्तम्—

किम् = कथम्। एवम् = अनेन प्रकारेण। उच्यते = कथ्यते। महदन्तरम् = महद्वैभिन्न्यम्। द्वितीयः = अन्यः। स्वर्गपतिः = इन्द्रः। कथ = केन प्रकारेण। वर्णयितुम् = कथयितुम्। शक्यते = पार्यते। अत्र मरुस्थले = अस्मिन् बालुकामये प्रान्ते, नीरसे देशे इत्यर्थः। सकोपाः = सक्रोधाः।

मैंने कहा—क्यों ऐसा कह रहे हो। बहुत अन्तर है। कर्पूर देश स्वर्ग है और राजहंस दूसरे इन्द्र हैं। इस मरुभूमि में पड़े हुए तुम लोग क्या कर रहे हो। हमारे देश में चलो।' तब मेरी बातें सुनकर सभी क्रुद्ध हो गए। जैसा कि कहा भी है—

'पयःपानं भुजङ्गानां केवलं विषवर्द्धनम्।
उपदेशो हि मूर्खाणां प्रकोपाय, न शान्तये' ॥ ४ ॥

अन्वय—भुजङ्गानाम् पयःपानम् केवलम् विषवर्धनम् (एव यथा भवति तथैव) मूर्खाणाम् उपदेशः हि प्रकोपाय (एव भवति) न शान्तये (भवति) ॥४॥

भुजङ्गानाम् = सर्पाणाम्। पयःपानम् = दुग्धपानम्। विषवर्धनम् = विषवृद्धेः कारणम्। मूर्खाणाम् = अज्ञानाम्। उपदेशः = शिक्षा। प्रकोपाय = क्रोधोत्पत्त्यै ॥४॥

जैसे साँपों को दूध पिलाना केवल उनके विष को बढ़ाना ही है, उसी प्रकार मूर्खों को उपदेश देना क्रोध को बढ़ाना है न कि शान्त करना ॥ ४ ॥

अन्यच्च—

'विद्वानेवोपदेष्टव्यो, नाऽविद्वांस्तु कदाचन।
वानरानुपदिश्याऽथ स्थानभ्रष्टा ययुः खगाः ॥ ५ ॥

राजोवाच—'कथमेतत्'? दीर्घमुखः कथयति—

अन्वयः—विद्वान् एव उपदेष्टव्यः, अविद्वान् तु कदाचन न (उपदेष्टव्यः)। अथ खगाः वानरान् उपदिश्य स्थानभ्रष्टाः ययुः ॥ ५ ॥

विद्वान् = प्राज्ञः। एव। उपदेष्टव्यः = उपदेशयोग्यः। अविद्वान् = अज्ञः। तु। कदाचन = कदापि। न। खगाः = पक्षिणः। वानरान् = कपीन्। उपदिश्य = उपदेश कृत्वा। स्थानभ्रष्टाः = गृहरहिताः। ययुः = जग्मुः ॥ ५ ॥

और भी समझदार को ही उपदेश देना चाहिए, मूर्ख को तो कभी उपदेश नहीं देना चाहिए। पक्षियों ने वानरों को उपदेश दिया जिससे उन्हें बेघरबार का होना पड़ा ॥ ५ ॥ राजा ने कहा—'यह कैसे ?' दीर्घमुखने कहा—

कथा १

अस्ति नर्मदातीरे पर्वतोपत्यकायां विशालः शाल्मलीतरुः। तत्र निर्मितनीडक्रोडे पक्षिणः सुखेन निवसन्ति। अथैकदा वर्षासु नील-पटैरिव जलधरपटलैरावृते नभस्तले, धाराऽऽसारैर्महती वृष्टिर्बभूव। ततो वानरांश्च तरुतलेऽवस्थिताञ्शीताऽऽकुलान्कम्पमानानवलोक्य, कृपया पक्षिभिरुक्तम्–'भो भो वानराः ! शृणुत—

नर्मदातीरे=नर्मदायास्तटे। पर्वतोपत्यकायाम्=अधःकासन्नभूम्याम् (तराई में)। विशालः=महान्। शाल्मलीवृक्षः=शाल्मलीतरुः (सेमल का पेड़)। निर्मितनीडक्रोडे=रचितकुलायोत्सङ्गे (घोंसले में)। सुखेन=आनन्देन। निवसन्ति=निवास कुर्वन्ति। एकदा=एकस्मिन् काले। वर्षासु=वर्षाकाले 'प्रावृषि'। जलधर-पटलैः=मेघवृन्दैः। आवृते=आच्छादिते। नभस्तले=आकाशतले। धारासारैः= सवेगवातवर्षैः। महती वृष्टिः=अत्यन्तजलपातः। तरुतले=वृक्षतले। अवस्थितान्= स्थितान्। शीतेन=शैत्येन। आकुलान्=व्यग्रान्। कम्पमानान्=कम्पनं कुर्वाणान्। वानरान्=मर्कटान्। अवलोक्य=दृष्ट्वा। कृपया=करुणया। पक्षिभिः=खगैः। उक्तम्= कथितम्।

नर्मदा के किनारे पहाड़ की तलहटी में सेमल का एक बहुत बड़ा पेड़ है। वहाँ घोंसले बना कर बहुत से पक्षी सुख से रहा करते थे। एक बार वर्षा ऋतु में आकाश बादलों से ढँक गया और मूसलाधार वर्षा होने लगी तब वृक्ष के नीचे बैठे हुए बन्दरों को ठंढ से व्याकुल एवं काँपते हुए देख कर पक्षियों को दया आगई। उन्हों ने कहा— अरे बन्दरो सुनो—

'अस्माभिर्निर्मिता नीडाश्चञ्चुमात्राऽऽहृतैस्तृणैः।
हस्तपादाऽऽदिसंयुक्ता यूयं किमवसीदथ ?' ॥ ६ ॥

जम्बूद्वीप में विन्ध्य नाम का पहाड है। वहाँ पक्षियों का राजा चित्रवर्ण नाम वाला मोर रहता है। मैं दग्धारण्य में भ्रमण कर रहा था कि उसके घूमने वाले सेवक पक्षियों ने मुझे देख लिया। उन्होंने मुझसे पूछा-'तुम कौन हो?' 'और कहाँ से आए हो?' तब मैंने कहा-'मैं कर्पूर द्वीपके चक्रवर्ती सम्राट् राजहंस हिरण्यगर्भ का सेवक हूँ। कुतूहलवश अन्यदेशों को देखने के लिए आया हूँ।' यह सुनकर उन पक्षियों ने कहा—'इन दोनों देशों में कौन देश और कौन राजा अच्छा है।'

ततो मयोक्तम्—'आः किमेवमुच्यते, महदन्तरम्। यतः कर्पूरद्वीपः स्वर्ग एव, राजहंसश्च द्वितीय स्वर्गपतिः, कथं वर्णयितुं शक्यते। अत्र मरुस्थले पतिता यूयं किं कुरुथ, अस्मद्देशो गम्यताम्।' ततोऽस्मद्वचनमाकर्ण्य सर्वे पक्षिणः सकोपा बभूवुः। तथा चोक्तम्—

किम् = कथम्। एवम् = अनेन प्रकारेण। उच्यते = कथ्यते। महदन्तरम् = महद्वैभिन्न्यम्। द्वितीयः = अन्यः। स्वर्गपतिः = इन्द्रः। कथं = केन प्रकारेण। वर्णयितुम् = कथयितुम्। शक्यते = पार्यते। अत्र मरुस्थले = अस्मिन् बालुकामये प्रान्ते, नीरसे देशे इत्यर्थः। सकोपाः = सक्रोधाः।

मैंने कहा-क्यों ऐसा कह रहे हो। बहुत अन्तर है। कर्पूर देश स्वर्ग है और राजहंस दूसरे इन्द्र हैं। इस मरुभूमि में पड़े हुए तुम लोग क्या कर रहे हो। हमारे देश में चलो।' तब मेरी बातें सुनकर सभी क्रुद्ध हो गए। जैसा कि कहा भी है—

'पयःपानं भुजङ्गानां केवलं विषवर्द्धनम्।
उपदेशो हि मूर्खाणां प्रकोपाय, न शान्तये' ॥ ४ ॥

अन्वय—भुजङ्गानाम् पयःपानम् केवलम् विषवर्धनम् (एव यथा भवति तथैव) मूर्खाणाम् उपदेशः हि प्रकोपाय (एव भवति) न शान्तये (भवति) ॥४॥

भुजङ्गानाम् = सर्पाणाम्। पयःपानम् = दुग्धपानम्। विषवर्धनम् = विषवृद्धेः कारणम्। मूर्खाणाम् = अज्ञानाम्। उपदेशः = शिक्षा। प्रकोपाय = क्रोधोत्पत्त्यै ॥४॥

जैसे साँपों को दूध पिलाना केवल उनके विष को बढ़ाना ही है, उसी प्रकार मूर्खों को उपदेश देना क्रोध को बढ़ाना है न कि शान्त करना ॥ ४ ॥

अन्यच्च—

'विद्वानेवोपदेष्टव्यो, नाऽविद्वांस्तु कदाचन।
वानरानुपदिश्याऽथ स्थानभ्रष्टा ययुः खगाः ॥ ५ ॥

राजोवाच—'कथमेतत्' ? दीर्घमुखः कथयति—

अन्वयः—विद्वान् एव उपदेष्टव्यः, अविद्वान् तु कदाचन न (उपदेष्टव्यः)। अथ खगाः वानरान् उपदिश्य स्थानभ्रष्टाः ययुः ॥ ५ ॥

विद्वान् = प्राज्ञ । एव । उपदेष्टव्य. = उपदेशयोग्य । अविद्वान् = अज्ञ । तु । कदाचन = कदापि । न । खगाः = पक्षिण । वानरान्=कपीन् । उपदिश्य = उपदेश कृत्वा । स्थानभ्रष्टा. = गृहरहिताः । ययु. = जग्मु ॥ ५ ॥

और भी समझदार को ही उपदेश देना चाहिए, मूर्ख को तो कभी उपदेश नहीं देना चाहिए । पक्षियों ने वानरों को उपदेश दिया जिससे उन्हें बेघरबार का होना पड़ा ॥ ५ ॥ राजा ने कहा—'यह कैसे ?' दीर्घमुखने कहा—

कथा १

अस्ति नर्मदातीरे पर्वतोपत्यकायां विशालः शाल्मलीतरुः । तत्र निर्मितनीडक्रोडे पक्षिणः सुखेन निवसन्ति । अथैकदा वर्षासु नील-पटैरिव जलधरपटलैरावृते नभस्तले, धाराऽऽसारैर्महती वृष्टिर्बभूव । ततो वानरांश्च तरुतलेऽवस्थिताञ्शीताऽऽकुलान्कम्पमानानवलोक्य, कृपया पक्षिभिरुक्तम्–'भो भो वानराः ! शृणुत—

नर्मदातीरे=नर्मदायास्तटे । पर्वतोपत्यकायाम्=अधकासन्नभूम्याम् (तराई में) । विशाल =महान् । शाल्मलीवृक्षः = शाल्मलीतरुः (सेमल का पेड़) । निर्मितनीड क्रोडे = रचितकुलायोत्सगे (घोंसले में) । सुखेन = आनन्देन । निवसन्ति = निवास कुर्वन्ति । एकदा = एकस्मिन् काले । वर्षासु = वर्षाकाले 'प्रावृषि' । जलधर-पटलैः =मेघवृन्दैः । आवृते = आच्छादिते । नभस्तले = आकाशतले । धारासारैः = सवेगवातवर्षैः । महती वृष्टिः=अत्यन्तजलपात । तरुतले = वृक्षतले । अवस्थितान्= स्थितान् । शीतेन = शैत्येन । आकुलान्=व्यग्रान् । कम्पमानान्=कम्पन कुर्वाणान् । वानरान्=मर्कटान् । अवलोक्य=दृष्ट्वा । कृपया=करुणया । पक्षिभि =खगैः । उक्तम्= कथितम् ।

नर्मदा के किनारे पहाड़ की तलहटी में सेमल का एक बहुत बड़ा पेड़ है । वहां घोंसले बना कर बहुत से पक्षी सुख से रहा करते थे । एक बार वर्षा ऋतु में आकाश बादलों से ढँक गया और मूसलाधार वर्षा होने लगी तब वृक्ष के नीचे बैठे हुए बन्दरों को ठंढ से व्याकुल एवं काँपते हुए देख कर पक्षियों को दया आगई । उन्हों ने कहा—अरे बन्दरो सुनो —

'अस्माभिर्निर्मिता नीडाश्चञ्चुमात्राऽऽहृतैस्तृणैः ।
हस्तपादाऽऽदिसंयुक्ता यूयं किमवसीदथ ?' ॥ ६ ॥

अन्वय —चञ्चुमात्राहृतैस्तृणैः अस्माभिः नीडाः निर्मिताः, हस्तपादादिसंयुक्ताः (सन्तः) यूयम् किम् अवसीदथ ॥ ६ ॥

चञ्चुमात्रेणैव = केवल चञ्च्वा एव । आहृतैः = आनीतैः तृणैः । अस्माभिः= खगैः । नीडाः = कुलायाः । निर्मिता = रचिताः । हस्तपादादिसंयुक्ताः = करचरणादियुताः=करचरणादियुक्ताः समर्थाः इत्यर्थः । सन्तः । यूय = भवन्त । किम् = कस्मात् । अवसीदथ = कष्टम् प्राप्नुथ ॥ ६ ॥

'हम लोगों ने केवल चोंच से तिनकों को ला ला कर घोंसले बना लिए और तुम लोग हाथ पांव रहते हुए भी क्यों दुख झेल रहे हो ?' ॥ ६ ॥

तच्छ्रुत्वा वानरैर्जाताऽमर्षैरालोचितम्—'अहो ! निर्वातनीडगर्भाऽवस्थिताः सुखिनः पक्षिणाऽस्मान्निन्दन्ति' । तद् भवतु तावद् वृष्टेरुपशम' । अनन्तरं शान्ते पानीयवर्षे, तैर्वानरैर्वृक्षमारुह्य, सर्वे नीडा भग्नाः, तेषामण्डानि चाऽधः पातितानि। अतोऽहं ब्रवीमि 'विद्वानेवोपदेष्टव्यः' इत्यादि ॥

राजोवाच- ततस्तैः पक्षिभिः किं कृतम् ?' ।

बकः कथयति—ततस्ते पक्षिभिः कोपादुक्तं—'केनाऽसौ राजहंसो राजा कृतः' ? । ततो मयोपजातकोपेनोक्तम्—'अयं युष्मदीयो मयूरः केन राजा कृतः ?' एतच्छ्रुत्वा ते पक्षिणो मां हन्तुमुद्यताः। ततो मयाऽपि स्वविक्रमो दर्शितः । यतः—

तच्छ्रुत्वा=तदाकर्ण्य । जातामर्षैः=उत्पन्नकोपैः । आलोचितम्=विचारितम् । निर्वातनीडस्य = वायुरहितकुलायस्य । गर्भे=मध्ये, अवस्थिताः=स्थिताः । निन्दन्ति = निन्दां कुर्वन्ति । वृष्टेः उपशम' = वृष्टिनिवृत्तिः । अनन्तरम् = पश्चात् । शान्ते = निवृत्ते । पानीयवर्षे = जलवृष्टौ । वृक्षमारुह्य=वृक्षोपरि आरोहण कृत्वा । भग्नाः=नष्टाः । अध पातितानि=भूमौ क्षिप्तानि ।

किं कृतम्=किमाचरितम् । कोपात्=क्रोधात् । उपजातकोपेन=सञ्जातक्रोधेन । युष्मदीय'=युष्माकम्। हन्तुमुद्यता=मारयितुम् उद्यताः । स्वविक्रमः=निजपराक्रमः । दर्शितः=प्रदर्शितः ।

यह सुन कर क्रुद्ध वानरों ने मन ही मन विचार किया 'वायुरहित घोसले में सुख से बैठे हुए ये पक्षी हमलोगों की निन्दा कर रहे हैं । अच्छा ! पानी बन्द होने दो !' इसके बाद पानी रुकते ही वे सभी बन्दर वृक्ष पर चढ गए उन्होंने घोसलों को तोड़ दिया और अडों को नीचे गिरा दिया । इसीलिए मैं कह रहा हूँ—'विद्वान् को ही उपदेश देना चाहिए' इत्यादि ।

राजाने कहा—'तब उन्होंने क्या किया।' बगुले ने कहा—तब उन क्रुद्ध पक्षियों ने कहा—किसने राजहंस को राजा बनाया है? तब मैंने भी क्रुद्ध होकर कहा—तुम्हारे मयूर को किसने राजा बनाया है। यह सुन कर वे सब मुझे मारने के लिए तैयार हो गए तब मैंने भी अपना बल दिखाया। क्योंकि—

'अन्यदा भूषणं पुंसः क्षमा लज्जेव योषितः।
पराक्रमः परिभवे, वैयात्यं सुरतेष्विव' ॥ ७ ॥

अन्वय—अन्यदा योषितः (भूषणम्) लज्जा इव, पुंसः भूषणम् क्षमा (अस्ति, तु) सुरतेषु वैयात्यम् इव परिभवे पराक्रमः (भूषणम् अस्ति) ॥ ७ ॥

अन्यदा=पराभवातिरिक्तकाले, सुरतातिरिक्तसमये। योषितः=नार्याः। लज्जा इव=त्रपा इव। पुंसः=पुरुषस्य। भूषणम्=अलङ्कारः। क्षमा=शान्तिः। सुरतेषु=रतिक्रीडायाम्। वैयात्यम्=धृष्टता इव। परिभवे=पराजयकाले। पराक्रमः=बलप्रदर्शनम् एव ॥ ७ ॥

अन्य समय में जैसे लज्जा स्त्रियों का आभूषण है उसी प्रकार क्षमा पुरुषों का आभूषण है। किन्तु रतिकाल में धृष्टता जैसे स्त्रियों की शोभा है उसी प्रकार अपमान के समय पराक्रम पुरुषों की शोभा है ॥ ७ ॥

राजा विहस्याऽऽह—

'आत्मनश्च परेषां च यः समीक्ष्य बलाऽबलम्।
अन्तरं नैव जानाति, स तिरस्क्रियतेऽरिभिः' ॥ ८ ॥

अन्वय—आत्मनः परेषाम् च बलाबलम् समीक्ष्य यः अन्तरम् नैव जानाति सः अरिभिः तिरस्क्रियते ॥ ८ ॥

आत्मनः=स्वस्य च। परेषाम् च=शत्रूणाम् च। बलाबलम्=सामर्थ्यमसामर्थ्यं च। समीक्ष्य=दृष्ट्वा यः। अन्तरम्=प्रभेदम्। नैव, जानाति=वेत्ति। अरिभिः=शत्रुभिः। सः, तिरस्क्रियते=पराजितो भवति ॥ ८ ॥

राजा ने हँस कर कहा—

अपने और शत्रु के बलाबल को देख कर भी जो उनके अन्तर को नहीं समझता वह शत्रुओं से अपमानित होता है ॥ ८ ॥

'सुचिरं हि चरन्नित्यं क्षेत्रे सस्यमबुद्धिमान्।
द्वीपिचर्मपरिच्छन्नो, वाग्दोषाद् गर्दभो हतः' ॥ ९ ॥

बकः पृच्छति—कथमेतत्? राजा कथयति—

अन्वय—क्षेत्रे सुचिरम् नित्यम् चरन् हि द्वीपिचर्मपरिच्छन्नः अबुद्धिमान् गर्दभः वाग्दोषात् हतः ॥ ९ ॥

क्षेत्रे = सस्योत्पत्तिस्थले । सुचिरम् = बहुकालपर्यन्तम् । नित्यञ्च = प्रतिदिनम् । चरन् = तृणं भक्षयन् । हि द्वीपिचर्मपरिच्छन्नः = व्याघ्रचर्माच्छादितः । अबुद्धिमान् = मूर्खः । गर्दभः = खरः । वाग्दोषात् = शब्ददोषात् । हतः = मृतः ॥ ९ ॥

और भी—बहुत दिनों तक नित्य ही खेत में चरने वाला व्याघ्र चर्म से ढका हुआ गदहा केवल अपने बोलने के दोष से ही मारा गया ॥ ९ ॥

बगुले ने पूछा—'यह कैसे ।' राजाने कहा—

कथा २

अस्ति हस्तिनापुरे विलासो नाम रजकः । तस्य गर्दभोऽतिभार-वहनाद् दुर्बलो मुमूर्षुरिवाऽभवत् । ततस्तेन रजकेनाऽसौ व्याघ्रचर्मणा प्रच्छाद्याऽरण्यकसमीपे सस्यक्षेत्रे विमुक्तः । ततो दूरात्तमवलोक्य व्याघ्रबुद्ध्या क्षेत्रपतयः सत्वरं पलायन्ते ।

हस्तिनापुरे=तन्नामनगरे । विलासो नाम=विलासाख्यः । रजकः=वस्त्रनिर्णेजकः । अस्ति = विद्यते । तस्य गर्दभः = तस्य खरः । अतिभारवहनात् = अत्यन्तभारधारणात् । दुर्बलः = शरीरतः क्षीणः । मुमूर्षुः इव = मृतकसदृशः । असौ = गर्दभः । व्याघ्रचर्मणा व्याघ्रत्वचा । प्रच्छाद्य = अवगुण्ठ्य । अरण्यसमीपे = वनस्य निकटे । सस्यक्षेत्रे = धान्यक्षेत्रे । नियुक्तः = नियोजितः । अवलोक्य=दृष्ट्वा । व्याघ्रबुद्ध्या = व्याघ्रमत्या, व्याघ्रोऽयम् इति मत्वा इत्यर्थः । क्षेत्रपतयः = क्षेत्रस्वामिनः । सत्वरम् = शीघ्रम् । पलायन्ते = पलायनं चक्रुः ।

हस्तिनापुर में विलास नाम का एक धोबी था । उसका गदहा बोझा से दुबला और मरने,मरने को हो गया । तब धोबी ने उसे बाघ के चमड़े से ढँक कर जगल के पास धान के खेत में छोड़ दिया । खेत के रक्षकों ने उसे दूर ही से देखकर बाघ समझ लिया और वे वहाँ से शीघ्र ही भाग खड़े हुए ।

अथैकदा केनाऽपि सस्यरक्षकेण धूसरकम्बलकृततनुत्राणेन धनुष्काण्डं सज्जीकृत्याऽऽनतकायेनैकान्ते स्थितम् । तं च दूराद् दृष्ट्वा गर्दभः पुष्टाङ्गो, यथेष्टसस्यभक्षणजातबलो, 'गर्दभोऽय'मिति मत्वोच्चैः शब्दं कुर्वाणस्तदभिमुखं धावितः । ततस्तेन सस्यरक्षकेण चीत्कार-शब्दाद् गर्दभोऽय'-मिति निश्चित्य, लीलयैव व्यापादितः । अतोऽहं ब्रवीमि—'सुचिरं हि चरन्नित्यम्'—इत्यादि ॥

सस्यरक्षकेण = धान्यरक्षकेण क्षेत्रस्वामिना । धूसरं धूम्रवर्णं यत् कम्बलम् तेन कृतम् विहितम् तनुत्राणम् देहावगुण्ठनं येन तेन । धनुष्काण्डम् = चाप-

चण्डम् । सज्जीकृत्य = यथायुक्त कृत्वा । आनतकायेन = सकुचितशरीरेण । एकान्ते = रहसि । स्थितम् = अवस्थितम् । त एव = क्षेत्ररक्षकम् एव । पुष्टांगः = परिपुष्टदेहः । यथेष्टसस्यभक्षणात् = यथेच्छधान्यचर्वणात् । उपजातबलः = उत्पन्नपराक्रमः । मत्वा = परिज्ञाय । तदभिमुखम् = क्षेत्ररक्षकं प्रति । धावितः = वेगेन चलित । निश्चित्य = निश्चयम् कृत्वा । लीलया एव = अप्रयासेनैव, सारल्येन इत्यर्थं । व्यापादितः = मृत्यु प्रापित. ।

एक दिन खेत का एक रखवाला मटमैले कम्बल को ओढ कर और धनुष पर डोरी चढाकर एकान्त में सिकुड कर बैठ गया उसे दूर ही से देख कर गदहे ने उसे भी गदहा समझ लिया । और वह इच्छानुसार धान चरने में बली और मोटा ताजा गदहा उसकी ओर चिल्लाते हुए दौड पडा । खेत के रखवाले उसके शब्द से उसे गदहा जानकर बडी आसानी से मार डाला । इसी लिए मैं कह रहा हूँ–'बहुत दिनों तक नित्य चरता हुआ' आदि ।

दीर्घमुखो ब्रूते—ततः पश्चात् तैः पक्षिभिरुक्तम्–'अरे पाप दुष्ट बक ! अस्माकं भूमौ चरन्नस्माकं स्वामिनमधिक्षिपसि ! । तन्न क्षन्तव्य मिदानीम्' । इत्युक्त्वा सर्वे मां चञ्चुभिर्हत्वा, सकोपा ऊचु —'पश्य रे मूर्ख ! स हंसस्तव राजा सर्वथा मृदुः । तस्य राज्याऽधिकारो नास्ति । यत एकान्तमृदुः करतलस्थमप्यर्थं रक्षितुमक्षम । स कथं पृथिवीं शास्ति ? राज्यं वा तस्य किम् ? । त्वं च कूपमण्डूकः, तेन तदाऽऽश्रयमुपदिशसि' । शृणु—

पाप = पापात्मन् । अस्माकम् भूमौ = पृथिव्याम् । चरन् = विचरन् । स्वामिनम् = राजानम् । अधिक्षिपसि = निन्दसि । इदानीम् = अस्मिन् काले । चञ्चुभि. = तुण्डै । हत्वा = प्रहारं कृत्वा । सर्वथा = सर्वप्रकारेण । मृदु = कोमल, पराक्रमहीन इत्यर्थं । तस्य = हसस्य । एकान्तमृदु = अत्यन्तकोमल, तेजोहीन इत्यर्थः । करतलस्थम् = हस्तगतम् । अर्थम् = धनम् । रक्षितुमक्षम. = रक्षणे अशक्त । शास्ति = रक्षति । कूपमण्डूक. = कूपमण्डूकतुल्य., स्वदेशातिरिक्तान्यदेशज्ञानरहित. । तदाश्रयम् = राजहसस्य आश्रयणम् ।

दीर्घमुख ने कहा—इसके बाद उन पक्षियों ने मुझसे कहा कि 'अरे पापी दुष्ट बगुले तुम हमारी ही भूमि में चरते हो और हमारे राजा की निन्दा करते हो । इसलिए अब हमलोग तुम्हें क्षमा नहीं करेंगे ।' ऐसा कह कर सभी मुझे चोंचों से मारने लगे और कहने लगे कि अरे दुष्ट तुम्हारा वह हंस अत्यंत निर्बल है इसलिए वह राज्य का अधिकार नहीं पा सकता, क्योंकि अत्यन्त निर्बल व्यक्ति हाथ में आई हुई वस्तु की भी रक्षा नहीं कर सकता

फिर वह पृथ्वी का शासन कैसे करेगा ? और उसका राज्य ही कैसा ? तुम कुएँ के मेढक की तरह अपने देश को छोड कर दूसरे देशों के बारे में कुछ जानते ही नहीं हो। इसीलिए अपने राजा के आश्रय में रहने का उपदेश दे रहे हो। सुनो—

'सेवितव्यो महावृक्षः फलच्छायासमन्वितः।
यदि दैवात्फलं नास्ति, च्छाया केन निवार्यते ?' ॥ १० ॥

अन्वय —फलच्छायासमन्वित महावृक्षः सेवितव्यः यदि दैवात् फलम् नास्ति (तर्हि) छाया केन निवार्यते ॥ १० ॥

फलच्छायासमन्वित.=फलच्छायायुक्तः। महावृक्ष=महातरुः। सेवितव्यः=सेव्य.। दैवात्=भाग्याद्। फलन्न नास्ति=तस्मिन् फलागमो न भवेद्। छाया=अनातप, केन निवार्यते=निषिध्यते ॥ १० ॥

'फल और छाया से युक्त बडे वृक्ष की ही सेवा करनी चाहिए। यदि दैवात् उससे फल नही मिला तो छाया कोन रोक सकता है ?' ॥ १० ॥

अन्यच्च—

'हीनसेवा न कर्त्तव्या, कर्त्तव्यो महदाश्रयः।
पयोऽपि शौण्डिकीहस्ते 'वारुणी'त्यभिधीयते' ॥ ११ ॥

अन्वय —हीनसेवा न कर्त्तव्या, महदाश्रय कर्तव्यः। शौण्डिकीहस्ते पयः अपि वारुणी इति अभिधीयते ॥ ११ ॥

हीनसेवा=तुच्छस्य सेवा। न कर्तव्या=न करणीया। महदाश्रयः=श्रीमतः सेवा। शौण्डिकीहस्ते=कल्यपालिकाकरे। पय. अपि=जलमपि। वारुणी.इति=मद्यम् इति। अभिधीयते=कथ्यते ॥ ११ ॥

और भी—'नीच की सेवा नहीं करनी चाहिए, बडों का ही सहारा लेना चाहिए। क्योंकि कलवारिन के हाथ में जल भी शराब ही समझा जाता है' ॥ ११ ॥

अन्यच्च—

'महानप्यल्पतां याति निर्गुणे गुणविस्तरः।
आधाराऽऽधेयभावेन गजेन्द्र इव दर्पणे' ॥ १२ ॥

अन्वय —निर्गुणे (स्थित) महान् गुणविस्तरः अपि आधाराधेयभावेन दर्पणे गजेन्द्र. इव अल्पताम् याति ॥ १२ ॥

निर्गुणे=गुणहीने, विद्यमान'। महान् अपि=अत्युत्कृष्टोपि। गुणविस्तरः=गुणप्रसर.। आधाराधेयभावेन=आश्रयाश्रयिभावेन, आश्रयस्य तुच्छतया। अल्पताम्=विस्तारशून्यताम्, सकोचमित्यर्थ.। याति=गच्छति। दर्पणे=आदर्शे गजेन्द्रः इव=करिराजतुल्य. ॥ १२ ॥

और भी—'निर्गुणी में रहने वाला महान गुण भी आधार के प्रभाव से तुच्छ बन जाता है जैसे गजराज भी शीशे में इसके प्रभाव से छोटा दिखाई पड़ता है' ॥ १२ ॥

किन्तु—

'अजा सिंहप्रसादेन वने चरति निर्भयम् ।
राममासाद्य लङ्कायां लेभे राज्यं विभीषणः' ॥ १३ ॥

अन्वयः—सिंहप्रसादेन अजा वने निर्भयम् चरति । विभीषण रामम् आसाद्य लङ्कायाम् राज्यम् लेभे ॥ १३ ॥

सिंहप्रसादेन = सिंहस्य कृपया । अजा = छागी । वने = अरण्ये । निर्भयम् = निःशङ्कम् । चरति = विचरति । विभीषणः = रावणस्य अनुज । राम = सीतापतिम् । आसाद्य = शरण प्राप्य । लङ्कायां = तन्नामकपुर्याम् । राज्य = राजपदम् । लेभे = प्राप्तवान् ॥ १३ ॥

किन्तु—'सिंह की कृपा से बकरी भी जंगल में निर्भय होकर चरती है । विभीषण ने राम का आश्रय लेकर ही लंका में राज्य प्राप्त किया था' ॥ १३ ॥

विशेषतश्च—

'व्यपदेशेऽपि सिद्धिः स्यादतिशक्ते नराधिपे ।
शशिनो व्यपदेशेन शशकाः सुखमासते' ॥ १४ ॥

मयोक्तं—कथमेतत् ? पक्षिणः कथयन्ति—

अन्वय —अतिशक्ते नराधिपे व्यपदेशे अपि सिद्धिः स्यात् । शशकाः शशिनः व्यपदेशेन सुखमासते ॥ १४ ॥

अतिशक्ते = बलशालिनि । नराधिपे = नृपे सति । व्यपदेशेऽपि = तस्य नामग्रहणे अपि । सिद्धिः = कार्यपूर्तिः । शशकाः = तन्नामका जन्तुविशेषा (खरगोश) । शशिनः = चन्द्रस्य । व्यपदेशेन = व्याजेन नाम्ना । सुखं = सानन्दम् । आसते = निवसन्ति ॥ १४ ॥

भाव —'कभी कभी अत्यन्त शक्तिशाली राजा के नाम से ही कार्य सिद्ध हो जाता है । जैसे खरगोशों ने चन्द्रमा का नाम लेकर सुख प्राप्त किया था' ॥ १४ ॥

कथा ३

कदाचिद्वर्षास्वपि वृष्टेरभावात्तृषार्तो गजयूथो यूथपतिमाह—'नाथ ! कोऽभ्युपायोऽस्माकं जीवनाय ? नाऽस्ति क्षुद्रजन्तूनाम् (अपि) निमज्जनस्थानम् । वयं च निमज्जनस्थानाऽभावान्मृताः, अन्धा

-कुर्व किं कुर्मः ?, क्व यामः ?' ततो हस्तिराजो नाऽतिदूरं गत्वा निर्मलं ह्रदं दर्शितवान्।

कदाचित् = कस्मिंश्चित् काले। वर्षास्वपि = प्रावृषि। वृष्टेरभावात् = जलवर्षणा-भावात्। तृषार्त्तः = पिपासाकुलः। गजयूथं = हस्तिसमूहः। यूथपतिम् = गज-नायकम्। आह = उक्तवान्। नाथ = स्वामिन्। अभ्युपायः=युक्तिः। जीवनाय = प्राणधारणाय। क्षुद्रजन्तूनाम् = स्वल्पानाम् जीवानाम्। निमज्जनस्थानम् = स्नान-योग्यः सरोवरं किं पुनः अस्मत्सदृशानां विशालकायानाम् इति शेषः। निमज्जन-स्थानाभावात् = सरोवरं विना। मृताः = मृततुल्याः॥ हस्तिराजः = गजाधिपः। नातिदूरं = समीपम्। निर्मलम् = अतिस्वच्छम्। ह्रदम् = सरोवरम्।

एक बार वर्षा ऋतु में भी पानी न बरसने के कारण प्यास से व्याकुल हाथियों के झुण्ड ने अपने स्वामी से कहा—'स्वामी! हम लोगों के जीवन का कोई उपाय है? छोटे छोटे जन्तुओं के स्नान करने योग्य भी कोई जगह नहीं है। हमलोग तो स्नान करने की जगह के बिना मृतक तुल्य हो गए हैं। अब हम अन्धों की तरह क्या करें? कहाँ जाय?' तब हाथियों के राजा ने थोड़ी दूर जाकर उन्हें एक निर्मल तालाब दिखाया।

ततो दिनेषु गच्छत्सु तत्तीरावस्थिताः क्षुद्रशशका गजपादाऽऽ-हतिभिश्चूर्णिताः। अनन्तरं शिलीमुखो नाम शशकश्चिन्तयामास-'अनेन गजयूथेन पिपासाऽऽकुलितेन प्रत्यहमत्रागन्तव्यम्, ततो विनष्टमस्मत्कुलम्।'

ततो विजयो नाम वृद्धशशकोऽवदत्—'मा विषीदत, मयाऽत्र प्रतीकारः कर्त्तव्यः।' ततोऽसौ प्रतिज्ञाय चलितः। गच्छता च तेना-ऽऽलोचितम्—'कथं मया गजयूथनाथसमीपे स्थित्वा वक्तव्यम्'?।

दिनेषु गच्छत्सु = कतिपयदिवसातिक्रान्तेषु। तत्तीरावस्थिताः = सरोवरतट-निवासिनः। क्षुद्रशशकाः = स्वल्पदेहाः शशकाः। गजपादाहतिभिः = हस्तिचरण-ताडनैः। चूर्णिताः = नष्टाः। अनन्तरम्=तत्पश्चात्। चिन्तयामास = विचारयामास। पिपासाकुलितेन=तृषार्तेन। प्रत्यहम्=प्रतिदिनम्। कुलम्=वंशः। अवदत्=उक्तवान्। मा विषीदत = विषाद न कुरुत। प्रतीकारः = रक्षाया उपायः। प्रतिज्ञाय = प्रतिज्ञां कृत्वा। चलितः = प्रस्थितः। आलोचितम् = विचारितम्। गजयूथनाथसमीपे = हस्तियूथाधिपनिकटे।

कुछ समय बाद तालाब के किनारे रहने वाले छोटे खरगोश हाथियों के पैरों से दब कर कुचल गए। इसके पश्चात् शिलीमुख नाम के खरगोश ने विचार किया—प्यास से

व्याकुल हाथियों का झुण्ड तो यहाँ प्रतिदिन आयेगा। इससे तो हमारा सारा वश ही नष्ट हो जायगा' तब विजय नाम के एक बूढ़े खरगोश ने कहा—'डरो मत, मैं विपत्ति को दूर करने का उपाय करूगा।' तब वह प्रतिज्ञा करके चला। चलते चलते उसने विचार किया कि मैं हाथियों के झुण्ड के स्वामी के पास खड़ा हो कर कैसे बातचीत करूगा? क्योंकि—

यतः—

'स्पृशन्नपि गजो हन्ति, जिघ्रन्नपि भुजङ्गमः।
पालयन्नपि भूपालः, प्रहसन्नपि दुर्जन'॥ १५॥

अन्वय —गज. स्पृशन् अपि हन्ति, भुजङ्गमः जिघ्रन् अपि (हन्ति) भूपालः पालयन् अपि (हन्ति) दुर्जनः प्रहसन् अपि (हन्ति)॥ १५॥

गज =करी। स्पृशन् अपि=स्पर्शमात्रेणापि। हन्ति=प्राणान्त करोति। भुजङ्गम =सर्प.। जिघ्रन् अपि=आघ्राणं कुर्वन्नपि (सूघते ही)। भूपाल'=नृपति'। पालयन् अपि =पोषयन् अपि। दुर्जनः=दुष्टः। प्रहसन् अपि=हसन् अपि। स्वप्रसन्नता प्रकटीकुर्वन् अपि (हन्ति)॥ १५॥

छूने मात्र से हाथी, सूघने मात्र से सर्प, पालन करते हुए भी राजा, और हसते हुए भी दुर्जन प्राणों का घातक बन जाता है॥ १५॥

अतोऽहं पर्वतशिखरमारुह्य यूथनाथं संवादयामि।' तथाऽनुष्ठिते सति यूथनाथ उवाच—'कस्त्वम्? कुतः समायातः?'।

स ब्रूते—'शशकोऽहम्, भगवता चन्द्रेण भवदन्तिकं प्रेषितः।' यूथपतिराह-'कार्यमुच्यताम्'। विजयो ब्रूते—

आरुह्य=आरोहण कृत्वा। संवादयामि=वार्तालाप करोमि। तथाऽनुष्ठिते=पूर्वोक्तप्रकारेण कृते सति। समायातः=आगतोऽसि। भवदन्तिकम्=त्वत्पार्श्वम्, विजय'=वृद्धशशकः।

इसलिए मैं पहाड़ की चोटी पर चढ कर हाथियों के स्वामी से बातचीत करूँगा।, ऐसा करने के बाद गजस्वामी ने कहा—'तुम कौन हो? कहाँ से आए हो।' उसने कहा—'मैं खरगोश हूँ। भगवान चन्द्रदेव ने मुझे आप के पास भेजा है।' गजपति ने कहा-'बताओ, किस काम के लिए भेजा है।' तब विजय ने कहा—

'उद्यतेष्वपि शस्त्रेषु दूतो वदति नाऽन्यथा।
सदैवाऽवध्यभावेन यथार्थस्य हि वाचक.'॥ १६॥

अन्वय —शस्त्रेषु उद्यतेषु अपि दूत अन्यथा न वदति। हि अवध्यभावेन (निर्भयः स) सदैव यथार्थस्य वाचक (भवति)॥ १६॥

शस्त्रेषु उपतेषु अपि = अस्त्रप्रहारकरणाय तत्परेषु अपि, प्राणभयेनापि इत्यर्थः। दूतः = वार्त्ताहरः। अन्यथा = असत्यम्। न वदति = न कथयति। हि = निश्चयेन। अवध्यभावेन = अहं तु अवध्यः इत्यनेन मनसः निश्चयेन। यथार्थस्य = सत्यस्य। वाचकः = वक्ता ॥ १६ ॥

'दूत अपने ऊपर हथियारों का प्रहार करने लिए तैयार होने पर भी झूठ नहीं बोलता, क्योंकि अवध्य होने के कारण वह सदा सत्य ही बोलने वाला होता है' ॥ १६ ॥

तदहं तदाज्ञया ब्रवीमि, शृणु—यदेते चन्द्रसरोरक्षकाः शशकास्त्वया निःसारितास्तदनुचितं कृतम्। ते शशकाश्चिरमस्माकं रक्षिताः। अत एव मे 'शशाङ्क' इति प्रसिद्धिः।'

एवमुक्तवति दूते यूथपतिर्भयादिदमाह—'प्रणिधे! इदमज्ञानतः कृतम्, पुनर्न तत्र गमिष्यामि'।

दूत उवाच—'यद्येवं तदत्र सरसि कोपात्कम्पमानं भगवन्तं शशाङ्कं प्रणम्य, प्रसाद्य च गच्छ।'

ततस्तेन रात्रौ यूथपतिं नीत्वा, तत्र जले चञ्चलं चन्द्रबिम्बं दर्शयित्वा, स यूथपतिः प्रणामं कारितः।

उक्तश्च तेन—'देव! अज्ञानादनेनाऽपराधः कृतः ततः क्षम्यताम्, नैवं वारान्तरं विधास्यते।' इत्युक्त्वा प्रस्थापितः। अतो वयं ब्रूमः—'व्यपदेशेऽपि सिद्धिः स्यात्' इति ॥

तदाज्ञया = स्वामिनः चन्द्रस्यादेशेन। ब्रवीमि = कथयामि। चन्द्रसरोरक्षकाः = चन्द्रसरोवरस्य रक्षायाम् नियुक्ताः। निःसारिताः = निष्कासिताः। अनुचितं कृतम् = अन्याय्यं विहितम्। चिरम् = बहुकालात्। रक्षिताः = पालिताः। शशाङ्कः = शशलाञ्छनः। एवमुक्तवति = अनेन प्रकारेण कथितवति। आह = उक्तवान्। प्रणिधे = दूत!। अज्ञानतः = ज्ञानाभावात्। कोपात् = क्रोधात्। कम्पमानम् = वेपमानम्। शशांकम् = चन्द्रम्। प्रणम्य = प्रणामं कृत्वा। प्रसाद्य = प्रसन्नं कृत्वा। चन्द्रबिम्बम् = शशिमण्डलम्। तेन = शशकेन। क्षम्यताम् = क्षमा क्रियताम्। वारान्तरम् = पुनरपि। विधास्यते = करिष्यते।

इसलिए मैं उनकी आज्ञा से कह रहा हूँ। सुनो—'यह जो तुमने चन्द्रसरोवर के रक्षक खरगोशों को निकाल दिया है वह बड़ा ही अनुचित किया है। क्योंकि वे खरगोश बहुत दिनों से मेरे द्वारा रक्षित हैं, इसीलिए मैं शशांक (खरगोश है जिसकी गोद में) नाम से प्रसिद्ध हूँ।' दूत के ऐसा कहने पर गजपति ने भयभीत होकर कहा—'क्षमा करो। मैंने यह काम अनजाने ही किया है। फिर वहाँ नहीं जाऊँगा।' दूत ने कहा—'यदि ऐसी बात

हैं तो इस तालाब में क्रोध से कांपते हुए भगवान चन्द्रदेव को प्रमाण करके और प्रसन्न करके चले जाओ।'

तब दूत ने गजपति को रात में लेजाकर जल मे चन्द्रमा की छाया दिखाई और उसे प्रणाम कराया। उसने कहा—'देव, अनजान में ही इन्होंने यह अपराध किया है। इसलिए क्षमा करें। अब आगे ऐसा नहीं करेंगे।' ऐसा कह कर उसे भेज दिया। इसीलिए मैं कह रहा हूँ कि 'बड़ों के बताने से सिद्धि हो जाती है' इत्यादि।

ततो मयोक्तम्—'स एवाऽस्मत्प्रभू राजहंसो महाप्रतापोऽतिसमर्थः। त्रैलोक्यस्याऽपि प्रभुत्वं तत्र युज्यते, किं पुना राज्यम्—' इति। तदाऽहं तैः पक्षिभिः—'दुष्ट! कथमस्मद्भूमौ चरसि'—इत्यभिधाय, 'राज्ञश्चित्रवर्णस्य समीपं नीतः। ततो राज्ञः पुरो मां प्रदर्श्य तैः प्रणम्योक्तम्-देव! अवधीयताम्, एष दुष्टोऽस्मद्देशे चरन्नपि देवपादानाधिक्षिपति'।।

राजाऽऽह—'कोऽयम्?, कुतः समायातः।' ते ऊचुः—'हिरण्यगर्भनाम्नो राजहंसस्याऽनुचरः कर्पूरद्वीपादागत।'

अथाऽहं गृध्रेण मन्त्रिणा पृष्टः—'कस्तत्र मुख्यो मन्त्रीति?'। मयोक्तम्—'सर्वशास्त्रार्थपारग. सर्वज्ञो नाम चक्रवाक।'

गृध्रो ब्रूते—'युज्यते। स्वदेशजोऽसौ'। यतः—

मया = बकेन। महाप्रताप = अमिततेजाः। अतिसमर्थः = महाशक्तः। त्रैलोक्यस्य=त्रिलोक्याः। अपि प्रभुत्वम्=स्वामित्वम्। युज्यते=योग्यमस्ति। इत्यभिधाय = इत्युक्त्वा। राज्ञ. पुर = नृपस्य सम्मुखे। प्रदर्श्य = उपस्थित कृत्वा। अवधीयताम्= सावधानतया श्रूयताम्। देवपादान्=महाराजान्। अधिक्षिपति=निन्दति। समायात =समागत। तत्र=कर्पूरद्वीपे। सर्वशास्त्रपारग.=सर्वशास्त्रकुशलः। स्वदेशज =स्वदेशोत्पन्नः।

तब मैंने कहा—'वह हमारे स्वामी राजहस बड़े प्रतापी और शक्तिशाली हैं। उनके लिए तीनों लोकों का प्रभुत्व उचित है फिर पक्षियों के राजा बनने की तो बात ही क्या।' तब उन पक्षियों ने मुझसे कहा कि 'तुम हमारे राज्य में क्यों घूम रहे हो?' ऐसा कहकर वे मुझे पकड़ कर राजा चित्रवर्ण के पास ले गए। उन्होंने मुझे राजा के सामने उपस्थित किया और उन्हें प्रणाम करके कहा—राजन्, सावधानी से सुनिए हमारे ही देश में विचरण करता हुआ यह बगुला आप की निन्दा करता है।'

राजा ने कहा—'यह कौन है और कहाँ से आया है।' उन्होंने कहा—'यह हिरण्यगर्भ नाम राजहस का सेवक है और कर्पूर द्वीप से आया है।'

तब मन्त्री गृद्ध्र ने मुझ से पूछा-'वहाँ मुख्य मन्त्री कौन है ?' मैंने कहा-'सभी शास्त्र में कुशल सर्वज्ञ नाम का चकवा है।'

गृध्र ने कहा बिल्कुल ठीक। यह राजहंस के देश में ही पैदा हुआ है। क्योंकि—

'स्वदेशजं, कुलाऽऽचारविशुद्धमुपधाशुचिम्।
मन्त्रज्ञमव्यसनिनं, व्यभिचारविवर्जितम् ॥ १७॥
अधीतव्यवहाराऽर्थं मौलं, ख्यातं, विपश्चितम्।
अर्थस्योत्पादकं चैव, विदध्यान्मन्त्रिणं नृपः' ॥ १८॥

अन्वय—नृप' स्वदेशजम्, कुलाचारविशुद्धम्, उपधाशुचिम्, मन्त्रज्ञम्, अव्यसनिनम्, व्यभिचारवर्जितम्, अधीतव्यवहारार्थम्, मौलम्, ख्यातम्, विपश्चितम्, अर्थस्योत्पादकम् च एव मन्त्रिणम् विदध्यात् ॥ १७–१८॥

स्वदेशजम् = स्वदेशोत्पन्नम्। कुलाचारविशुद्धम् = कुलाचारेण = कुलव्यवहारेण, विशुद्धम्, उत्तमकुलोत्पन्नम् इत्यर्थः। उपधाशुचिम् = धर्मपरीक्षासु पवित्रम् 'लोभादिप्रसंगेषु अनुल्लङ्घितस्वमर्यादम्' इत्यर्थः। मन्त्रज्ञम् = मन्त्रणातत्त्ववेत्तारम्। अव्यसनिनम् = मद्यद्यूतादिव्यापारशून्यम्। व्यभिचारवर्जितम्= परधनदारादिग्रहणे अनभिलाषुकम्। अधीतव्यवहारार्थम्=धर्मशास्त्रोक्ताचारेषु च निष्णातम्। मौलम् = वंशपरम्परागतम्। ख्यातम्=स्वगुणैः लोकवर्गे प्रसिद्धम्। विपश्चितम्=पण्डितम्। अर्थस्योत्पादकम् = वित्तोपार्जकम्। विदध्यात् = नियुक्त कुर्यात् ॥ १७–१८॥

अपने ही राष्ट्र में उत्पन्न होने वाले, कुलीन, आचरणों से पवित्र, धार्मिक परीक्षणों में उत्तीर्ण, राजनीति के ज्ञाता, किसी भी प्रकार के व्यसन (मद्यपानादि) से रहित, व्यभिचार से हीन अर्थात् सदाचारी, व्यवहारकुशल, कुलक्रमागत प्रसिद्ध, विद्वान् तथा धनोपार्जन में निपुण व्यक्ति को ही मन्त्रीपद पर नियुक्त करना चाहिए ॥ १७–१८॥

अत्राऽन्तरे शुकेनोक्तम्—'देव! कर्पूरद्वीपादयो लघुद्वीपा जम्बूद्वीपान्तर्गता एव, तत्राऽपि देवपादानामेवाऽधिपत्यम्। ततो राज्ञाऽप्युक्तम्—'एवमेव'। यतः—

अत्रान्तरे=अस्मिन्नेव समये। लघुद्वीपाः=क्षुद्रद्वीपाः। जम्बूद्वीपान्तर्गताः= जम्बूद्वीपस्य मध्ये स्थिताः। तत्रापि = लघुद्वीपेऽपि। देवपादानाम् = भवताम्। आधिपत्यम् = स्वामित्वम्।

इसी बीच सुग्गे ने कहा-'राजन्, कर्पूर द्वीप आदि छोटे छोटे द्वीप जम्बू द्वीप के ही अन्तर्गत हैं। इसलिए वहा भी आप का ही स्वामित्व है।' तब राजा ने कहा-हां, ऐसा ही है। क्योंकि—

'राजा, मत्त., शिशुश्चैव प्रमदा, धनगर्वितः ।
अप्राप्यमपि वाञ्छन्ति, किं पुनर्लभ्यतेऽपि यत्' ॥ १९ ॥

अन्वय—राजा, मत्त, शिशु, च एव प्रमदा, धनगर्वित., अप्राप्यम् अपि, वाञ्छन्ति, किं पुन यत् लभ्यते अपि ॥ १९ ॥

राजा = नृप. । मत्त = उन्मादग्रस्त । शिशु = बालक । प्रमदा = कामोन्मत्ता युवति । धनगर्वित. = धनावलेपी । अप्राप्यम् अपि = अलभ्यमपि । वाञ्छन्ति = इच्छन्ति । लभ्यते = प्राप्यते ॥ १९ ॥

राजा, पागल, बालक, मतवाली स्त्री और धन के अभिमानी व्यक्ति अप्राप्य वस्तु की भी अभिलाषा करते रहते हैं, फिर जो वस्तु प्राप्त हो सकती है उसकी तो चर्चा ही क्या है ? अर्थात् उसे तो वह अवश्य ही चाहेंगे ॥ १९ ॥

ततो मयोक्तम्—'यदि वचनमात्रेणैवाऽऽधिपत्यं सिद्ध्यति, तदा जम्बूद्वीपेऽप्यस्मत्प्रभोर्हिरण्यगर्भस्य स्वाम्यमस्ति ।' शुको ब्रूते—'कथमत्र निर्णय ?' । मयोक्तम्—'संग्राम एव ।'

राजा विहस्योक्तम्—'स्वस्वामिनं गत्वा सज्जीकुरु ।' तदा मयोक्तम्—'स्वदूतोऽपि प्रस्थाप्यताम्' । राजोवाच—'कः प्रयास्यति दौत्येन ? । यत एवम्भूतो दूतः कार्यः'—

वचनमात्रेणैव = कथनमात्रेणैव । स्वाम्यम् = आधिपत्यम् । संग्राम. = युद्धम् । सज्जीकुरु = युद्धाय सन्नद्धं कुरु । एवम्भूत = एवंविध ।

तब मैंने कहा—'यदि केवल कहने से ही स्वामित्व मिल जाय तो जम्बूद्वीप पर भी हमारे राजा हिरण्यगर्भ का प्रभुत्व है ।' सुग्गे ने कहा—'तो इसका निर्णय कैसे हो ?' मैंने कहा—'युद्ध द्वारा ही इसका निर्णय होगा ।'

राजा ने हँस कर कहा—'तो जाकर अपने राजा को (युद्ध के लिए) तैयार करो ।' तब मैंने कहा—'आप अपना दूत भी भेज दें ।' राजा ने कहा 'दूत बनकर कौन जायगा ?' क्योंकि दूत इस प्रकार का होना चाहिए ।

'भक्तो, गुणी, शुचिर्दक्ष, प्रगल्भोऽव्यसनी क्षमी ।
ब्राह्मणः, परमर्मज्ञो, दूत स्यात्प्रतिभानवान्' ॥ २० ॥

अन्वय—दूत, भक्त, गुणी, शुचि., दक्ष., प्रगल्भ', अव्यसनी, क्षमी, ब्राह्मण, परमर्मज्ञ, प्रतिभानवान्, स्यात् ॥ २० ॥

भक्त = स्वस्वामिनम् प्रति श्रद्धालु । गुणी = सर्वगुणोपेत. । शुचि = व्यवहारशुद्ध । दक्ष = विचक्षण । प्रगल्भ = वाक्पटु । अव्यसनी = व्यसनरहितः । क्षमी=

तब मन्त्री गृद्ध्र ने मुझ से पूछा—'वहाँ मुख्य मन्त्री कौन है ?' मैंने कहा—'सभी शास्त्रों में कुशल सर्वज्ञ नाम का चकवा है।'

गृध्र ने कहा बिल्कुल ठीक। यह राजहस के देश में ही पैदा हुआ है। क्योंकि—

'स्वदेशजं, कुलाऽऽचारविशुद्धमुपधाशुचिम्।
मन्त्रज्ञमव्यसनिनं, व्यभिचारविवर्जितम् ॥ १७ ॥
अधीतव्यवहाराऽर्थं मौलं, ख्यातं, विपश्चितम्।
अर्थस्योत्पादकं चैव, विदध्यान्मन्त्रिणं नृपः' ॥ १८ ॥

अन्वय—नृप स्वदेशजम्, कुलाचारविशुद्धम्, उपधाशुचिम्, मन्त्रज्ञम्, अव्यसनिनम्, व्यभिचारवर्जितम्, अधीतव्यवहारार्थम्, मौलम्, ख्यातम्, विपश्चितम्, अर्थस्योत्पादकम् च एव मन्त्रिणम् विदध्यात् ॥ १७–१८ ॥

स्वदेशजम् = स्वदेशोत्पन्नम्। कुलाचारविशुद्धम् = कुलाचारेण = कुलव्यवहारेण, विशुद्धम्, उत्तमकुलोत्पन्नम् इत्यर्थः। उपधाशुचिम् = धर्मपरीक्षासु पवित्रम् 'लोभादिप्रसंगेषु अनुल्लङ्घितस्वमर्यादम्' इत्यर्थः। मन्त्रज्ञम् = मन्त्रणातत्त्ववेत्तारम्। अव्यसनिनम् = मद्यद्यूतादिव्यापारशून्यम्। व्यभिचारवर्जितम् = परधनदाराऽभिग्रहणे अनभिलाषुकम्। अधीतव्यवहारार्थम् = धर्मशास्त्रोक्ताचारेषु च निष्णातम्। मौलम् = वंशपरम्परागतम्। ख्यातम् = स्वगुणेन लोकवर्गे प्रसिद्धम्। विपश्चितम् = पण्डितम्। अर्थस्योत्पादकम् = वित्तोपार्जकम्। विदध्यात् = नियुक्त कुर्यात् ॥ १७–१८ ॥

अपने ही राष्ट्र में उत्पन्न होने वाले, कुलीन, आचरणों से पवित्र, धार्मिक परीक्षणों में उत्तीर्ण, राजनीति के ज्ञाता, किसी भी प्रकार के व्यसन (मद्यपानादि) से रहित, व्यभिचार से हीन अर्थात् सदाचारी, व्यवहारकुशल, कुलक्रमागत प्रसिद्ध, विद्वान् तथा धनोपार्जन में निपुण व्यक्ति को ही मन्त्रीपद पर नियुक्त करना चाहिए ॥ १७–१८ ॥

अत्राऽन्तरे शुकेनोक्तम्—'देव! कर्पूरद्वीपादयो लघुद्वीपा जम्बूद्वीपान्तर्गता एव, तत्राऽपि देवपादानामेवाऽधिपत्यम्। ततो राज्ञाऽप्युक्तम्—'एवमेव'। यतः—

अत्रान्तरे = अस्मिन्नेव समये। लघुद्वीपाः = क्षुद्रद्वीपाः। जम्बूद्वीपान्तर्गताः = जम्बूद्वीपस्य मध्ये स्थिताः। तत्रापि = लघुद्वीपेऽपि। देवपादानाम् = भवताम्। आधिपत्यम् = स्वामित्वम्।

इसी बीच सुग्गे ने कहा—'राजन्, कर्पूर द्वीप आदि छोटे छोटे द्वीप जम्बू द्वीप के ही अन्तर्गत हैं। इसलिए वहा भी आप का ही स्वामित्व है।' तब राजा ने कहा—हाँ, ऐसा ही है। क्योंकि—

'राजा, मत्त., शिशुश्चैव प्रमदा, धनगर्वित' ।
अप्राप्यमपि वाञ्छन्ति, किं पुनर्लभ्यतेऽपि यत्' ॥ १९ ॥

अन्वय—राजा, मत्त, शिशु, च एव प्रमदा, धनगर्वित., अप्राप्यम् अपि, वाञ्छन्ति, किं पुन यत् लभ्यते अपि ॥ १९ ॥

राजा = नृप. । मत्त = उन्मादग्रस्त । शिशु = बालक । प्रमदा = कामोन्मत्ता युवति । धनगर्वित = धनावलेपी । अप्राप्यम् अपि = अलभ्यमपि । वाञ्छन्ति = इच्छन्ति । लभ्यते = प्राप्यते ॥ १९ ॥

राजा, पागल, बालक, मतवाली स्त्री और धन के अभिमानी व्यक्ति अप्राप्य वस्तु की भी अभिलाषा करते रहते हैं, फिर जो वस्तु प्राप्त हो सकती है उसकी तो चर्चा ही क्या है ? अर्थात् उसे तो वह अवश्य ही चाहेंगे ॥ १९ ॥

ततो मयोक्तम्—'यदि वचनमात्रेणैवाऽऽधिपत्यं सिद्ध्यति, तदा जम्बूद्वीपेऽप्यस्मत्प्रभोर्हिरण्यगर्भस्य स्वाम्यमस्ति ।' शुको ब्रूते—'कथमत्र निर्णय' ?' । मयोक्तम्—'संग्राम एव ।'

राज्ञा विहस्योक्तम्—'स्वस्वामिनं गत्वा सज्जीकुरु ।' तदा मयोक्तम्—'स्वदूतोऽपि प्रस्थाप्यताम्' । राजोवाच—'कः प्रयास्यति दौत्येन ? । यत एवम्भूतो दूत' कार्य.'—

वचनमात्रेणैव = कथनमात्रेणैव । स्वाम्यम् = आधिपत्यम् । संग्राम. = युद्धम् । सज्जीकुरु = युद्धाय सन्नद्ध कुरु । एवम्भूत = एवंविध ।

तब मैंने कहा—'यदि केवल कहने से ही स्वामित्व मिल जाय तो जम्बूद्वीप पर भी हमारे राजा हिरण्यगर्भ का प्रभुत्व है ।' सुग्गे ने कहा—'तो इसका निर्णय कैसे हो ?' मैंने कहा—'युद्ध द्वारा ही इसका निर्णय होगा ।'

राजा ने हँस कर कहा—'तो जाकर अपने राजा को (युद्ध के लिए) तैयार करो ।' तब मैंने कहा—'आप अपना दूत भी भेज दें ।' राजा ने कहा 'दूत बनकर कौन जायगा ?' क्योंकि दूत इस प्रकार का होना चाहिए ।

'भक्तो, गुणी, शुचिर्दक्ष., प्रगल्भोऽव्यसनी क्षमी ।
ब्राह्मणः, परमर्मज्ञो, दूत स्यात्प्रतिभानवान्' ॥ २० ॥

अन्वय—दूत, भक्त, गुणी, शुचि., दक्ष., प्रगल्भ', अव्यसनी, क्षमी, ब्राह्मण, परमर्मज्ञ, प्रतिभानवान्, स्यात् ॥ २० ॥

भक्त = स्वस्वामिनम् प्रति श्रद्धालु । गुणी = सर्वगुणोपेत । शुचि = व्यवहारशुद्ध । दक्ष = विचक्षण । प्रगल्भ = वाक्पटु । अव्यसनी = व्यसनरहित. । क्षमी =

क्षमाशीलः, परमर्मज्ञः = अन्यस्य रहस्यविज्ञः । प्रतिभानवान् = प्रतिभाशील' । दूत. = सन्देशहरः । स्यात् = भवेत् ॥ २० ॥

स्वामी के प्रति श्रद्धालु, गुणवान् , पवित्र, चतुर, निडर, व्यसनरहित, क्षमाशील तथा दूसरों के मर्म को समझने में बुद्धिमान, पटु एव ब्राह्मण (त्यागी तथा निर्लोभी) व्यक्ति को ही दूत बनाना चाहिए ॥ २० ॥

गृध्रो वदति—सन्त्येव दूता बहवः, किन्तु ब्राह्मण एव कर्त्तव्यः । यतः—

गृद्ध ने कहा-'यों तो दूत बहुत से हैं किन्तु ब्राह्मण को ही दूत बनाना चाहिये । क्योंकि—

'प्रसादं कुरुते पत्युः, सम्पत्तिं नाऽभिवाञ्छति ।
कालिमा कालकूटस्य नाऽपैतीश्वरसङ्गमात्' ॥ २१ ॥

अन्वय —(ब्राह्मणः) पत्युः प्रसादम् कुरुते (तस्य) सम्पत्तिम् न अभिवाञ्छति (यथा) कालकूटस्य कालिमा ईश्वरसङ्गमात् न अपैति ॥ २१ ॥

पत्युः = प्रभोः, राज्ञश्च । प्रसादम् = प्रसन्नताम् । सम्पत्तिम् = ऐश्वर्यम् । न अभिवाञ्छति = अभिलषति । कालकूटस्य कालिमा = विषस्य कालुष्यम् । ईश्वरसङ्गमात् = शम्भुकण्ठसंसर्गात् । न अपैति = न अपगच्छति । ब्राह्मण. स्वनिर्लोभत्वम् कदापि न जहाति यत. तदेव तत्प्रकृति. इत्यर्थ. ॥ २१ ॥

ब्राह्मण स्वामी को प्रसन्न रखता है और किसी भी प्रकार की सम्पत्ति की अभिलाषा नहीं रखता (नि स्वार्थ भाव से स्वामी की प्रसन्नता का ध्यान रखता है ।) शंकर का सहवास पाकर भी विष की कालिमा दूर नहीं होती । [अर्थात् ब्राह्मण सम्पत्ति के बीच में रहकर भी अपनी निर्लोभी प्रकृति का परित्याग नहीं करता] ॥ २१ ॥

राजाऽऽह—'ततः शुक एव व्रजतु । शुक ! त्वमेवाऽनेन सह तत्र गत्वाऽस्मदभिलषितं ब्रूहि ।' शुको ब्रूते—'यथाऽऽज्ञापयति देवः । किन्त्वयं दुर्जनो बकः, तदनेन सह न गच्छामि' । तथा चोक्तम्—

शुक' एव = पण्डितु ब्राह्मण. शुक' एव । व्रजतु = गच्छतु । अनेन सह = बकेन सार्द्धम् । अभिलषितम् = अभीष्टम् । दुर्जन. = दुष्टस्वभाव. ।

राजा ने कहा—'तो यह सुग्गा ही दूत बन कर जाये । सुग्गे, इसके साथ जाकर (राजहंस से) हमारी इच्छा कह सुनाओ ।' सुग्गे ने कहा—'स्वामी की जैसी आज्ञा । किन्तु यह बगुला बड़ा दुष्ट है । इसलिए इसके साथ नहीं जाऊँगा ।' जैसा कि कहा भी गया है—

'खलः करोति दुर्वृत्तं, नूनं फलति साधुषु।
दशाननोऽहरत्सीतां, बन्धनं स्यान्महोदधेः' ॥ २२ ॥

अन्वय —खल दुर्वृत्तम् करोति (किन्तु तत्) साधुषु नूनम् फलति। (यथा) दशानन· सीताम् अहरत् (किन्तु) महोदधे· बन्धनम् स्यात् ॥ २२ ॥

खल =दुर्जन । दुर्वृत्तम् =दुश्चरित्रम् । करोति =आचरति । साधुषु = सद्वृत्तेषु । नूनम् = निश्चयेन । फलति =फलदायक· भवति । दुष्टस्य दुराचारेण सज्जनोपि प्रभावितो भवति इत्यर्थः । दशानन· =रावण· । सीताम् = जानकीम् । अहरत् =अपहृतवान् । महोदधे =सागरस्य । रावणस्य दुष्कृत्येन सागर· अमर्यादितोऽभूत् इत्यर्थः· ॥ २२ ॥

दुष्टता तो दुष्ट करता है किन्तु उसका फल सज्जन को भोगना पड़ता है । सीता का हरण रावण ने किया था किन्तु बाँधा गया बेचारा समुद्र ॥ २२ ॥

अपरञ्च —

'न स्थातव्यं, न गन्तव्यं दुर्जनेन समं क्वचित् ।
काकसङ्गाद्धतो हंसस्तिष्ठन् गच्छंश्च वर्त्तक·' ॥ २३ ॥

राजोवाच —'कथमेतत् ?' । शुक· कथयति —

अन्वय —दुर्जनेन समम् क्वचित् न स्थातव्यम् न गन्तव्यम् , काकसंसर्गात् तिष्ठन् हंस· गच्छन् च वर्तक हत· ॥ २३ ॥

दुर्जनेन =दुष्टेन । समम् =सार्द्धम् । क्वचित् =कदापि । न स्थातव्यम् = न वस्तव्यम् । न गन्तव्यम् =न गमनीयम् । काकसंसर्गात् =काकेन सह संगमात् । तिष्ठन् =वसन् । वर्तक· (बत्तक) पक्षिविशेष· । हत· = व्यापादित· ॥ २३ ॥

और भी—'दुष्ट के साथ न तो रहना चाहिए और न तो कहीं जाना ही चाहिए । कौवे के साथ रहने से हंस और साथ जाने से बत्तक मारा गया' ॥ २३ ॥

राजा ने कहा—'यह कैसे हुआ ?' सुग्गे ने कहा—

कथा ४

अस्त्युज्जयिनीवर्त्मप्रान्तरे प्लक्षतरु । तत्र हंस काकौ निवसतः । कदाचित् ग्रीष्मसमये परिश्रान्त कश्चित्पथिकस्तत्र तरुतले धनुष्काण्डं संनिधाय सुप्तः । तत्र क्षणाऽन्तरे तन्मुखाद् वृक्षच्छायाऽपगता । तत· सूर्यतेजसा तन्मुखं व्याप्तमवलोक्य, तद्वृक्षस्थितेन पुण्यशीलेन शुचिना राजहंसेन कृपया पक्षौ प्रसार्य पुनस्तन्मुखे

छाया कृता। ततो निर्भरनिद्रासुखिना पथिभ्रमणपरिश्रान्तेन पान्थेन मुखव्यादानं कृतम्।

अथ परसुखमसहिष्णुः स्वभावदौर्जन्येन स काकस्तस्य मुखे पुरीषोत्सर्गं कृत्वा पलायितः। ततो यावदसौ पान्थ उत्थायोर्ध्वं निरीक्षते तावत्तेनाऽवलोकितो हंस काण्डेन हतो, व्यापादितः। अतोऽहं ब्रवीमि-'न स्थातव्य'मिति ॥ ॐ ॥

'देव ! वर्त्तककथामपि कथयामि। श्रूयताम्—

उज्जयिनीवर्त्मप्रान्तरे = उज्जयिनीदूरशून्यमार्गे। प्लक्षतरुः = पर्कटीवृक्षः। तत्र = तस्मिन्वृक्षे। कदाचित् = कस्मिंश्चित् काले। ग्रीष्मसमये = ग्रीष्मर्तौ। परिश्रान्त = मार्गश्लान्त (थका हुआ) धनुष्काण्डम् = धनुर्दण्डम्। सन्निधाय = शिरस्तले कृत्वा। सुप्तः = सुप्तवान्। क्षणान्तरे = मुहूर्तान्तरे। तन्मुखात् = पथिकस्य आननात्। अपगता = दूरीभूता। सूर्यतेजसा = रश्म्यातपेन। व्याप्तम् = परिपूर्णम्। पुण्यशीलेन = पुण्यस्वभावेन। शुचिना = पवित्राचरणेन। कृपया = दयया। पक्षौ प्रसार्य = पक्षप्रसारणं विधाय। तन्मुखे = पथिकानने। निर्भरनिद्रासुखिना (निर्भरा निर्भया या निद्रा तस्याम् सुखी य स तेन) = निःशंकनिद्रासुखं लभमानेन। तेन = पान्थेन। मुखव्यादानम् = मुखविवरणम्। परसुखमसहिष्णु = अन्यानन्दसहने अशक्तः। स्वभावदौर्जन्येन = प्रकृतिदुष्टत्वेन। पुरीषोत्सर्गम् = विष्ठात्यागम्। पलायित = पलायनम् कृतवान्। उत्थाय = विद्रं स्यक्त्वा। ऊर्ध्वं = वृक्षोपरि। निरीक्षते = पश्यति। अवलोकित = दृष्ट। काण्डेन = दण्डेन। हत = ताडितः। व्यापादित = मारितः।

उज्जयिनी जाने वाले मार्ग में एक पाकड़ का वृक्ष है। वहां हंस और कौवा एक साथ रहते थे। एकबार गर्मी के मौसम में कोई थका हुआ राही उस वृक्ष के नीचे धनुष को रख कर सो गया। कुछ ही देर में उसके मुख के ऊपर से पेड़ की छाया हट गयी। उसके मुख पर पड़ती हुई सूर्य की धूप को देखकर उसी वृक्ष पर बैठे हुए हंस ने दया करके अपने पखों को फैलाकर फिर उसके मुँह पर छाया कर दी। नींद में सुख से निश्चिन्त सोए हुए राही ने अपना मुँह खोल दिया। दूसरों के सुखको न सहन कर सकने वाले तथा स्वभाव ही से दुष्ट कौवे ने उसके मुख में बीट कर दिया और वहां से उड़ भी गया। जब उस राही ने उठकर ऊपर देखा तो उसने हंस को देखा और उसे धनुष के डंडे से मार डाला। इसलिए मैं कह रहा हूँ कि 'नहीं रहना चाहिए' इत्यादि। राजन्, बत्तक की भी कहानी सुना रहा हूँ। सुनिए—

कथा ५

एकत्र वृक्षे काकवर्त्तकौ सुखं निवसतः। एकदा भगवतो गरुडस्य यात्राप्रसङ्गेन सर्वे पक्षिणः समुद्रतीरं गताः। ततः काकेन सह वर्त्तकश्चलितः। अथ गच्छतो गोपालस्य मस्तकावस्थितदधिभाण्डाद्वारं वारं तेन काकेन दधि खाद्यते। ततो यावदसौ दधिभाण्डं भूमौ निधायोर्ध्वमवलोकते, तावत्तेन काकवर्त्तकौ दृष्टौ। ततस्तेन दृष्टः काकः पलायितः। वर्त्तकः स्वभावनिरपराधो, मन्दगतिस्तेन प्राप्तो, व्यापादितः। अतोऽहं ब्रवीमि—'न गन्तव्यम्' इत्यादि ॥ ॥

ततो मयोक्तम्—'भ्रातः शुक! किमेवं ब्रवीषि? मां प्रति यथा श्रीमद्देवपादास्तथा भवानपि।' शुकेनोक्तम्—'अस्त्वेवम्'। किन्तु—

एकदा = एकस्मिन् काले। यात्राप्रसङ्गेन = दर्शनप्रसङ्गेन। पक्षिणः = खगाः। समुद्रतीरम् = सागरस्य तटम्। गताः = प्राप्ताः। गोपालस्य = गोपस्य। मस्तकावस्थितदधिभाण्डात् = (मस्तके अवस्थितम् यत् दधिभाण्डम् तस्मात्) शिरःस्थित दधिपात्रात्। असौ = गोपः। स्वभावनिरपराधः = प्रकृत्या दोषरहितः। मन्दगतिः (मन्दा गतिर्यस्य सः) = मन्दं मन्दम् सञ्चरणशीलः। श्रीमद्देवः = अस्मत्प्रभुः।

एक वृक्ष पर कौवा और बत्तक एक साथ सुख से रहते थे। एक बार घूमते घामते हुए सारे पक्षी समुद्र के किनारे भगवान् गरुड का दर्शन करने चले। उस समय कौवे के साथ बत्तक भी चला। कौवा रास्ते में जाते हुए ग्वाले के दही के बर्तन से बार बार दही खा लिया करता था। जब उसने दही का बर्त्तन जमीन पर रखकर ऊपर देखा तब उसे कौवा और बत्तक दोनों दिखाई पडे। उसने दोनों को दौडाया, लेकिन कौवा तो भाग गया और स्वभाव से ही भोला भाला तथा धीरे धीरे चलने वाला बत्तक पकडा गया और मार डाला गया। इसी लिए मैं कह रहा हूँ कि—'न चलना चाहिए' इत्यादि। तब मैंने कहा—'भाई सुग्गे, ऐसा क्यों कह रहे हो। मेरे लिए जैसे महाराज हैं वैसे ही तुम भी हो।' सुग्गे ने कहा—'ऐसा हो सकता है' किन्तु—

'दुर्जनैरुच्यमानानि संमतानि, प्रियाण्यपि।
अकालकुसुमानीव भयं सञ्जनयन्ति हि' ॥ २४ ॥

अन्वय—संमतानि प्रियाणि अपि दुर्जनैः उच्यमानानि अकालकुसुमानि इव हि भयं सञ्जनयन्ति ॥ २४ ॥

सम्मतानि = अभीष्टानि । प्रियाणि = मधुराणि । दुर्जनैः = दुष्टैः । उच्यमानानि = कथ्यमानानि । वचनानि । अकालकुसुमानि इव = असमयपुष्पाणि इव । भय = भीतिम् । सजनयन्ति = उत्पादयन्ति ॥ २४ ॥

दुर्जनों की कही हुई मीठी बातें अनुकूल तथा प्रिय होने पर भी असमय के फूल के समान भय उत्पन्न करने वाली होती हैं ॥ २४ ॥

'दुर्जनत्वं च भवतो वाक्यादेव ज्ञातं, यदनयोर्भूपालयोर्विग्रहे भवद्वचनमेव निदानम्' । पश्य—

दुर्जनत्वम् = दुष्टता । भवत' वाक्यात् = तव वचनात् । अनयोर्भूपालयोः = अनयोर्नृपयो. हसमयूरयो. । विग्रहे = युद्धे । निदानम् = आदि कारणम् ।

दुष्टता तो तुम्हारी बात से ही टपक रही है क्योंकि इन दोनों राजाओं में युद्ध का आदि कारण तुम्हारी बात ही है । देखो—

'प्रत्यक्षेऽपि कृते दोषे, मूर्खः सान्त्वेन तुष्यति ।
रथकारो निजां भार्यां सजारां शिरसाऽकरोत्' ॥ २५ ॥

राज्ञोक्तम्—कथमेतत् ? शुकः कथयति—

अन्वय —मूर्खः प्रत्यक्षेऽपि कृते दोषे सान्त्वेन तुष्यति । (यथा) रथकार सजाराम् निजाम् भार्याम् शिरसा अकरोत ॥ २५ ॥

मूर्खः = अज्ञ' प्रत्यक्षेऽपि = नेत्रसम्मुखेऽपि । कृते दोषे = विहिते अवगुणेऽपि । सान्त्वेन = सान्त्वनाया. वचनेन । तुष्यति = संतोषमायाति । रथकारः = रथनिर्माता, वर्द्धकि । सजाराम् = जारसहिताम् । निजाम् = स्वकीयाम् । भार्याम् = पत्नीम् । शिरसा अकरोत् = मूर्ध्नाऽवहत् ॥ २५ ॥

प्रत्यक्ष दोष देखकर भी मूर्ख सान्त्वना की बातों से प्रसन्न हो जाता है । जैसे बढई ने जार के साथ सोई हुई अपनी स्त्री को सिर पर उठा लिया था ॥ २५ ॥

राजा ने कहा—यह कैसे ? सुग्गे ने कहा—

कथा ६

अस्ति यौवनश्रीनगरे मन्दमतिर्नाम रथकार' । स च स्वभार्यां बन्धकीं जानाति । किन्तु जारेण समं स्वचक्षुषा नैकस्थाने पश्यति । ततोऽसौ रथकारः 'अहमन्यं ग्रामं गच्छामी' इत्युक्त्वा चलित । स कियद्दूरं गत्वा पुनरागत्य पर्यङ्कतले स्वगृहे निभृतं स्थितः । 'अथ रथकारो ग्रामान्तरं गत' इत्युपजातविश्वासः स जारः सन्ध्याकाल

एवाऽऽगत.। पश्चात्तेन जारेण समं तस्मिन् पर्यङ्के निर्भरं क्रीडन्ती, पर्यङ्कतलस्थितस्य भर्तुः किञ्चिदङ्गस्पर्शात्स्वामिनं मायाविनं विज्ञाय, मनसि सा विषण्णाऽभवत् ।

ततो जारेणोक्तम्—'किमिति त्वमद्य मया सह निर्भरं न रमसे ?। विस्मितेव प्रतिभासि मे त्वम् ?।' अथ तयोक्तम्—अनभिज्ञोऽसि, योऽसौ मम प्राणेश्वरो—येन ममाऽऽकौमारं सख्य, सोऽद्य ग्रामाऽन्तरं गतः। तेन विना सकलजनपूर्णोऽपि ग्रामो मां प्रत्यरण्यवत्प्रति॰भाति। किं भावि ? तत्र परस्थाने किं खादितवान् ?। कथं वा प्रसुप्त ' ?—इत्यस्मद्हृदयं विदीर्यते ।

जारो ब्रूते—'तव किमेवंविधा स्नेहभूमी रथकारः ?।'

बन्धक्यवदत्—रे बर्बर ! किं वदसि ?। शृणु—

बन्धकीं = कुलटाम् । जारेण समम् = जारेण सह । स्वचक्षुषा = स्वनेत्रेण । एकस्थाने = एकस्मिन् स्थले, एकान्ते इत्यर्थं । कियद्दूरम् = किञ्चित् मार्गम् । पर्यङ्कतले = शय्यातले । निभृतम् = प्रच्छन्नम् । ग्रामान्तरम् = अन्यग्रामम् । उपजातविश्वास. = विश्वस्त. सन् । आगत. = रथकारस्य गृहे आगतवान् । क्रीडन्ती=विनोद कुर्वन्ती । पर्यङ्कतलस्थितस्य = शय्यातले उपविष्टस्य । भर्तुः = स्वस्वामिन' । अङ्गस्पर्शात् = अंगसंगात् । मायाविनम् = कपटकारिणम् । विज्ञाय = ज्ञात्वा । विषण्णा= नितान्तम् उदासीना । निर्भरम् = भृशम् , एकचित्तेन इत्यर्थ. । विस्मिता इव = चकिता इव । अनभिज्ञ = अज्ञः। आकौमारम् सख्यम् = कौमार्यावस्थायाः आरभ्य अद्यावधि प्रीतिः । सकलजनपूर्णः = मनुष्यसकुलः अपि । अरण्यवत् = काननवत् निर्जन. । प्रतिभाति = ज्ञायते । किं भावि = किं भविष्यति। परस्थाने = अन्यस्थाने । स्नेहभूमि. = स्नेहस्थानम् , प्रिय इत्यर्थः।

यौवनश्रीनगर में मदमति नाम का एक बढई रहता था, वह अपनी पत्नी को दुराचारिणी तो समझता था किन्तु उसने अपनी आंखों से उसे जार के साथ कभी नहीं देखा था। एक दिन वह—'मैं दूसरे गाँव में जा रहा हूं' ऐसा कह कर चला गया किन्तु दूर जा कर वह फिर लौट आया और अपने घर ही में चारपाई के नीचे चुपचाप बैठ गया। 'बढई तो दूसरे गाँव में चला गया है'—इस विचार से निश्चित होकर वह जार शाम ही को आ गया। इसके बाद चारपाई पर उसके साथ उपभोग करते समय बढई की स्त्री का कोई अंग चारपाई के नीचे पड़े हुए पति के शरीर से छूता था। उसने छल करने वाले स्वामी को पहिचान लिया और वह उदास हो गई। तब जार ने कहा—'आज तुम निश्चिन्त होकर

मेरे नाथ क्यों नहीं रमण कर रही हो। आज तुम मुझे कुछ चकित सी दिखाई पड़ रही हो।' तब उसने कहा—'क्या तुम नहीं जानते हो कि कुमारावस्था ही से प्रिय, मेरे स्वामी आज दूसरे गाँव गए हैं। सभी लोगों से भरा हुआ यह गांव आज मुझे जगल जैसा लग रहा है। दूसरी जगह पता नहीं कहाँ होंगे, क्या खाये होंगे, कैसे सोए होंगे।' यह सोच कर मेरा हृदय फट रहा है। जार ने कहा—'क्या वह बढ़ई तुम्हें इतना प्रिय है।' उस कुल्टाने कहा—'रे जगली क्या कह रहा है ? सुनो—

'परुषाण्यपि या प्रोक्ता, दृष्टा या क्रोधचक्षुषा।
सुप्रसन्नमुखी भर्तु., सा नारी धर्मभाजनम्' ॥ २६ ॥

अन्वय —या (नारी पत्या) परुषाणि अपि प्रोक्ता, क्रोधचक्षुषा दृष्टा भर्तु. (अग्रे) प्रसन्नमुखी (दृश्यते) सा (नारी) धर्मभाजनम् (भवति) ॥ २६ ॥

परुषाणि = कठोराणि वचनानि। क्रोधचक्षुषा = क्रोधपूर्णनेत्रेण। भर्तुं = स्वामिनः अग्रे। प्रसन्नमुखी = प्रसन्नवदना। धर्मभाजनम् = धर्मभागिनी ॥ २६ ॥

पति द्वारा कठोर बातें कहने पर और क्रोध भरी आँखोंसे देखनेपर भी जो स्त्री प्रसन्न-मुख रहती है वही धर्मभागिनी होती है ॥ २६ ॥

अपरञ्च—

'नगरस्थो, वनस्थो वा, पापो वा, यदि वा शुचिः।
यासां स्त्रीणां प्रियो भर्त्ता, तासां लोका महोदया.' ॥ २७ ॥

अन्वय —नगरस्थ. वनस्थ. वा, पापः वा यदि वा शुचिः भर्ता यासाम् स्त्रीणाम् प्रिय' तासाम् महोदया. लोकाः (भवन्ति) ॥ २७ ॥

नगरस्थः = नगरे स्थित। वनस्थ. = अरण्ये स्थित.। पापः=पापाचारी। शुचिः= सच्चरित्र'। भर्त्ता=पतिः। प्रिय'=प्रियतरः। महोदया = सम्पूर्णसुखदा'। लोकाः = स्वर्गादय' ॥ २७ ॥

और भी—चाहे नगरों में रहने वाला हो या जगल में, चाहे पापी हो या पुण्यात्मा, फिर भी जो स्त्री अपने पति से प्रेम करती है वह उत्तम लोकों (स्वर्गादि) को प्राप्त करती है ॥ २७ ॥

अन्यच्च—

'भर्त्ता हि परमं नार्या भूषणं भूषणैर्विना।
एषा विरहिता तेन शोभनापि न शोभते' ॥ २८ ॥

अन्वय —भूषणै विना (अपि) भर्ता हि नार्या. परमम् भूषणम् (अस्ति) तेन विरहिता (भूषणैः) शोभनापि एषा न शोभते ॥ २८ ॥

भूषणैः विना = अलङ्कारैः रहिता। भर्ता = पतिः। नार्याः = ललनायाः। परमम् = भूषणम् = सर्वोत्कृष्टालङ्कारः। तेन विरहिता = भर्त्रा हीना। शोभना = सुशोभिता। एषा = नारी। न शोभते = शोभा न धत्ते॥ २८॥

और भी—चाँदी सोने के गहनों से रहित होने पर भी पति ही स्त्री का सबसे श्रेष्ठ आभूषण होता है क्योंकि गहनों से लदी होने पर भी पतिहीना स्त्री सुशोभित नहीं होती है॥ २८॥

त्वञ्च जारः पापमतिः, मनोलौल्यात्पुष्पताम्बूलसदृशं कदाचित् सेव्यसे, कदाचिन्न सेव्यसे च। स च पुनर्मे स्वामी, मां विक्रेतुं, देवेभ्यो, ब्राह्मणेभ्यो वा दातुमीश्वरः। किं बहुना? 'तस्मिञ्जीवति जीवामि, तन्मरणे चाऽनुमरणं करिष्यामी'ति प्रतिज्ञा वर्त्तते। यतः—

जारः = परदारोपभोगी। पापमतिः = दुष्टबुद्धिः। मनोलौल्यात् = चित्तचाञ्चल्यात्। पुष्पताम्बूलसदृशः = कुसुमनागवल्लीपत्रसदृशः। सेव्यसे = उपभुज्यसे। ईश्वरः = प्रभुः समर्थश्च। तस्मिन् = पत्यौ। जीवति = प्राणधारणं कुर्वति सति। अनुमरणम् = तस्यानुगमनम्।

तुम जार और पापी हो। मन की चञ्चलता से फूल पान की तरह कभी स्त्री का भोग करते कभी नहीं करते हो। वह मेरा पति मुझे बेंच भी सकता है तथा देवताओं और ब्राह्मणों को दे भी सकता है। अधिक क्या कहें। यह मेरी प्रतिज्ञा है कि 'उसके जीते जी जीती रहूँगी और मरने पर सती हो जाऊँगी।' क्योंकि—

'तिस्रः कोट्योऽर्धकोटी च यानि लोमानि मानवे।
तावत्कालं वसेत्स्वर्गे भर्त्तारं योऽनुगच्छति'॥ २९॥

अन्वयः—या (नारी) भर्त्तारम् अनुगच्छति सा, मानवे यानि तिस्रः कोट्यः अर्धकोटी च लोमानि तावत् कालम् स्वर्गे वसेत्॥ २९॥

भर्त्तारम् = स्वामिनम्। अनुगच्छति = अनुसरति। मानवे = मनुष्यदेहे। तिस्रः कोट्यः अर्धकोटी च = (सार्धकोटित्रयमितानि) साढ़े तीन करोड़। लोमानि = रोमाणि। तावत्कालम् = तावत्कालपर्यन्तम्, सार्धत्रिकोटिवर्षपर्यन्तम्॥ २९॥

जो स्त्री स्वामी के मरने पर सती हो जाती है वह मनुष्य शरीर में जो साढे तीन करोड़ रोएँ होते हैं उतने ही अर्थात् साढे तीन करोड़ वर्ष तक स्वर्ग में निवास करती है॥ २९॥

अन्यच्च—

'व्यालग्राही यथा व्यालं बलादुद्धरते बिलात्।
तद्वद्भर्त्तारमादाय स्वर्गलोके महीयते'॥ ३०॥

अन्वय —यथा व्यालग्राही बिलात् व्यालम् बलात् उद्धरते तद्वत् (नारी) भर्तारम् । (नरकात्) आदाय स्वर्गलोके महीयते ॥ ३० ॥

व्यालग्राही = सर्पग्राही (सँपेरा) । व्यालम् = सर्पम् । बलात् = हठात् । तद्वत् = तेन प्रकारेणैव । आदाय = नरकात् उद्धृत्य । महीयते = पूज्यते ॥ ३० ॥

और भी—जैसे सँपेरा बलपूर्वक बिल से साँप को खींच कर अपने साथ ले जाता है उसी प्रकार सती स्त्री भी अपने स्वामी को नरक से खींच कर अपने साथ स्वर्ग ले जाती है ॥ ३० ॥

अपरञ्च—

'चितौ परिष्वज्य विचेतनं पतिं,
प्रिया हि या मुञ्चति देहमात्मनः ।
कृत्वाऽपि पापं शतलक्षमप्यसौ,
पतिं गृहीत्वा सुरलोकमाप्नुयात्' ॥ ३१ ॥

अन्वय —या हि प्रिया चितौ विचेतनम् पतिम् परिष्वज्य आत्मनः देहम् मुञ्चति असौ शतलक्षम् पापम् कृत्वापि पतिं गृहीत्वा सुरलोकमाप्नुयात् ॥ ३१ ॥

या हि प्रिया=या स्त्री । चितौ = चितायाम् । विचेतनम् = मृतम् । पतिं=स्वामिनम् । परिष्वज्य = आलिङ्गन कृत्वा । आत्मनः=स्वस्य । देहम्=शरीरम् । मुञ्चति = त्यजति । असौ = सती नारी । पतिं गृहीत्वा = भर्तारमादाय । सुरलोकम् = स्वर्गम् । आप्नुयात् = गच्छेत् ॥ ३१ ॥

और भी—

इसके अतिरिक्त भी चिता पर मरे हुए पति को छाती से लगा कर जो स्त्री अपने शरीर का परित्याग कर देती है वह सैकड़ों पाप करने पर भी पति को लेकर स्वर्ग चली जाती है ॥ ३१ ॥

यतः—

'यस्मै दद्यात्पिता त्वेनां, भ्राता वाऽनुमते पितुः ।
तं शुश्रूषेत जीवन्तं, संस्थितञ्च न लङ्घयेत्' ॥ ३२ ॥

अन्वय —पिता वा पितुः अनुमते भ्राता यस्मै एनाम् दद्यात् (नारी) जीवन्तम् तं शुश्रूषेत, संस्थितञ्च न लङ्घयेत् ॥ ३२ ॥

पितुः अनुमते = पितुः अनुमोदिते सति । यस्मै = पुरुषाय । एनाम् = कन्याम् । जीवन्तम् = श्वसन्तम् । तम् = पुरुषम् पतिमित्यर्थः । शुश्रूषेत = सेवेत । संस्थितञ्च = मृतम् च । न लङ्घयेत् = न अतिचरेत् । तमनुम्रियेत इत्यर्थः ॥ ३२ ॥

क्योंकि—

'स्त्री को चाहिए कि उसका पिता, या पिता की राय से भी उसे जिस पुरुष को समर्पित कर दे, उसकी वह जीवन भर सेवा करे और उसके मरने पर भी उसका साथ न छोड़े' ॥ ३२ ॥

एतत्सर्वं श्रुत्वा मन्दमतिः स रथकारः—'धन्योऽहं यस्येदृशी प्रियवादिनी, स्वामिवत्सला च भार्ये'ति मनसि निधाय, तां खट्वां स्त्रीपुरुषसहितां मूर्ध्नि कृत्वा, सानन्दं ननर्त। अतोऽहं ब्रवीमि—'प्रत्यक्षेऽपि कृते दोषे'—इत्यादि ॥

ततोऽहं तेन राज्ञा यथाव्यवहारं सम्पूज्य प्रस्थापितः। शुकोऽपि मम पश्चादागच्छन्नास्ते। एतत्सर्वं परिज्ञाय यथाकर्त्तव्यमनुसन्धीयताम्।

चक्रवाको विहस्याऽऽह—'देव! बकेन तावद् देशान्तरमपि गत्वा यथाशक्ति राजकार्यमनुष्ठितम्। किन्तु देव! स्वभाव एष मूर्खाणाम्'।

मन्दमतिः=कुण्ठितबुद्धिः। धन्योऽहम्=प्रशस्योऽहम्। प्रियवादिनी=मधुरभाषिणी। स्वामिवत्सला=पतिप्रेमकारिणी। निधाय=संस्थाप्य, विचार्येत्यर्थः। स्त्रीपुरुषसहिताम्=निजपत्नीजारसंयुक्ताम्। मूर्ध्नि कृत्वा=शिरसि आदाय। सानन्दम्=सहर्षम्। ननर्त=नृत्यं कृतवान्। ततः=तदनन्तरम्। तेन राज्ञा=मयूरनृपेण। यथाव्यवहारम्=यथायोग्यम्। सपूज्य=सम्मान्य। प्रस्थापित=प्राहिणोत्। परिज्ञाय=विमृश्य। यथाकर्तव्यम्=यथाकरणीयम्। अनुसंधीयताम्=विचार्यताम्। देशान्तरमपि गत्वा=अन्यदेशमपि प्राप्य। राजकार्यमनुष्ठितम्=राजकार्यम् कृतम्। अत्र व्यङ्ग्योक्तिः स्वदौर्जन्येन भवान् विग्रहे निपातितः बकेनेत्यर्थः।

यह सब सुन कर उस बढ़ई ने कहा—'मैं धन्य हूँ। जिससे इतनी मधुरभाषिणी और पतिप्रिया स्त्री प्राप्त हुई है।' वह मन में इस प्रकार सोचते हुए स्त्री पुरुष सहित चारपाई को सिर पर उठा कर नाचने लगा। इसीलिए मैं कह रहा हूँ—'प्रत्यक्ष दोष करने पर भी' इत्यादि।

इसके बाद राजा चित्रवर्ण ने मेरा यथोचित सम्मान करके मुझे विदा किया। सुग्गा भी मेरे पीछे आ रहा है। यह सब जानकर अब क्या करना चाहिए, इस पर आप विचार करें।

चकवे ने हँस कर कहा—'देव! इस बगुले ने विदेश में जाकर भी यथाशक्ति राज्यकार्य ही किया है। (अपनी दुष्टता से राज्य को युद्ध में फँसा दिया)। किन्तु हे राजन्, मूर्खों का तो स्वभाव ही यही है। क्योंकि—

यतः—

'शतं दद्यान्न विवदे'दिति विज्ञस्य संमतम् ।
विना हेतुमपि द्वन्द्वमेतन्मूर्खस्य लक्षणम्' ॥ ३३ ॥

अन्वय —शत दद्यात् (किन्तु) न विवदेत् इति विज्ञस्य समतम् । हेतु विनापि द्वन्द्वम् एतत् मूर्खस्य लक्षणम् (अस्ति) ॥ ३३ ॥

न विवदेत् = विवाद न कुर्यात । विज्ञस्य=विदुषः । समतम्=सिद्धान्त. अस्ति । हेतु विनापि = कारणम् विनापि । द्वन्द्वम् = कलह. ॥ ३३ ॥

नीतिज्ञों का यह सिद्धान्त है कि सैकड़ों देकर भी झगडा नहीं करना चाहिए और अकारण ही संघर्ष करना तो मूर्खों का काम है ॥ ३३ ॥

राजाऽऽह—'अलमनेनाऽतीतोपालम्भनेन, प्रस्तुतमनुसन्धीयताम् ।' चक्रवाको ब्रूते— देव ! विजने ब्रवीमि' । यत —

अतीतोपालम्भेन = अतीतस्य=व्यतीतस्य, उपालम्भेन=निन्दया । प्रस्तुतम् = यदुपस्थितम् । विजने = एकान्ते । ब्रवीमि=कथयामि ।

राजा ने कहा—'बीती हुई बात पर किसी को उलाहना देना ठीक नहीं । अब जो सामने है उस पर विचार करो ।' चक्रवाक ने कहा—'देव मैं एकान्त में कहूगा ।' क्योंकि—

'वर्णा-ऽऽकार-प्रतिध्वानैर्नेत्र वक्त्रविकारतः ।
अप्यूहन्ति मनो धीरास्तस्माद्रहसि मन्त्रयेत्' ॥ ३४ ॥

अन्वय —धीरा वर्णाकारप्रतिध्वानै. नेत्रवक्त्रविकारत. मनः अपि ऊहन्ति तस्मात् रहसि मन्त्रयेत् ॥ ३४ ॥

वर्णाकारप्रतिध्वानैः = वर्णै = रङ्गै , आकारै.=आकृतिभि. । प्रतिध्वानै =शब्दैः । नेत्रवक्त्रविकारत. = नयनमुखभङ्गीभेदेन । धीरा. = परेङ्गितज्ञानकुशला. । मन. = मनोगतम् भावम् । ऊहन्ति = कल्पयन्ति । रहसि = एकान्ते । मन्त्रयेत् = मन्त्रणाम् कुर्यात् ॥ ३४ ॥

रूप-रग, आकृति, शब्द और आँख मुँह का बनना बिगडना देख कर गम्भीर व्यक्ति मन की थाह पा जाता है अत विचार-विमर्श एकान्त में करना चाहिए ॥ ३४ ॥

ततो राजा, मन्त्री च तत्र स्थितौ, अन्येऽन्यत्र गता' । चक्रवाको ब्रूते—'देव ! अहमेवं जानामि—'कस्याऽप्यस्मन्नियोगिन. प्रेरणया बकेनेदमनुष्ठितम्' । यतः—

अन्ये = अपरजना'। एवं जानामि = एव तर्कयामि। अस्मिन्नियोगिन = अस्म- द्राजकर्मचारिणः। प्रेरणया = उत्तेजनया। इदम् = विग्रह.। अनुष्ठितम् = कृतम्।

राजा और मन्त्री वहीं बैठे रहे और दूसरे लोग दूसरी जगह चले गए। चकवे ने कहा—'राजन् , मुझे तो ऐसा लगता है कि किसी राज्य कर्मचारी के उकसाने से ही बगुले ने ऐसा किया है।' क्योंकि—

'वैद्यानामातुरः श्रेयान् , व्यसनी यो नियोगिनाम् ।
विदुषां जीवनं मूर्खः, सद्वर्णो जीवनं सताम्'॥ ३५॥

अन्वय —वैद्यानाम् आतुर नियोगिनाम् य. व्यसनी (स नृप) श्रेयान्। मूर्ख' विदुषाम् जीवनम् (अस्ति) सद्वर्ण सताम् जीवनम् (अस्ति) ॥ ३५ ॥

आतुर = रोगी। नियोगिनाम् = राजपुरुषाणाम्। य. = नृप। व्यसनी = विपत्तिग्रस्त, मद्यमृगयादिव्यसनेषु आसक्तश्च। श्रेयान् = श्रेष्ठ, जीविकादानेन सुखद' इत्यर्थं। विदुषाम् = विद्यावताम्। जीवनम् = वृत्तिप्रदानेन जीवनदायक.। सताम् = सज्जनानाम्। सद्वर्णं = ब्राह्मण-क्षत्रियादिवर्ण' ॥ ३५ ॥

वैद्यों के लिए रोगी, कर्मचारियों के लिए स्वामी का आपत्तियों में फसना, विद्वानों के लिए मूर्ख, सज्जनों के लिए कुलीन ही उनका जीवन होता है ॥ ३५ ॥

राजाऽब्रवीत्—'भवतु, कारणमत्र पश्चान्निरूपणीयम्, सम्प्रति यत्कर्त्तव्यं तन्निरूप्यताम्।' चक्रवाको ब्रूते—'देव! प्रणिधिस्तावत्तत्र प्रहीयताम्। ततस्तदनुष्ठानं, बलाऽबलं च जानीम'। तथाहि—

अत्र = अस्मिन् उपस्थिते विषये। कारणम् = हेतु, निरूपणीयम् = विचारणीयम्। सम्प्रति = अधुना। यत्कर्तव्यम् = यदाचरणीयम्। निरूप्यताम् = उच्यताम्। प्रणिधि = गुप्तचर। प्रहीयताम् = प्रेष्यताम्। तत् = तस्य शत्रो। अनुष्ठानम् = अभिमतम् कर्तव्यम् वा।

राजा ने कहा—'अच्छा, जो हो, किंतु कारण पर पीछे विचार करो। इस समय क्या करना चाहिए उसे निश्चय करो।' चकवे ने कहा—'राजन् पहले गुप्तचर भेजिए। जिससे शत्रु की अभिलाषा और उसकी सबलता तथा निर्बलता को हम लोग जान लें।' जैसा कि—

'भवेत्स्व पर-राष्ट्राणां कार्याऽकार्याऽवलोकने।
चारश्चक्षुर्महीभर्त्तुर्यस्य नास्त्यन्ध एव सः'॥ ३६॥

अन्वय —स्वपरराष्ट्राणाम् कार्याकार्यावलोकने (नृप.) चारचक्षु (भवति) यस्य महीभर्तु (तत् चक्षु) नास्ति स अन्ध' एव (भवति) ॥ ३६ ॥

स्वपरराष्ट्राणाम् = निजशत्रुराज्यानाम् । कार्याकार्यावलोकने = कार्यस्य अनुचितकर्तव्यस्य, अवलोकने = दर्शने । चारचक्षु' = चरनेत्रः । महीभर्तु' = नृपस्य । अन्ध. = नेत्रहीनः । चाररहितो नृपः नेत्रहीनः अन्धः इव लोकदर्शनेऽशक्तः इत्यर्थः ॥ ३६ ॥

राजा अपने देश तथा अन्य देशों के अच्छे बुरे कार्यों का ज्ञान गुप्तचर रूपी आँख से ही प्राप्त करता है। अत जिस राजा के पास गुप्तचर नहीं होता वह आख होते हुए भी अंधा होता है ॥ ३६ ॥

स च द्वितीयं विश्वासपात्रं गृहीत्वा यातु । तेनाऽसौ स्वयं तत्राऽवस्थाय, द्वितीयं तत्रत्यमन्त्रकार्यं सुनिभृतं निश्चित्य, निगद्य, प्रस्थापयति । तथा चोक्तम्—

द्वितीयम् = अन्यम् गुप्तचरम् । विश्वासपात्रम् = विश्वासयोग्यम् । यातु = गच्छतु । असौ = गुप्तचरः । तत्र = शत्रुराज्ये । अवस्थाय = वसतिं कृत्वा । तत्रत्यमन्त्रकार्यम् = शत्रुनृपस्य मन्त्रणादीनि, तेन निश्चितानि कार्याणि च । सुनिभृतम् = अतिगोप्येन । निश्चित्य=निश्चय कृत्वा । निगद्य=उक्त्वा । प्रस्थापयति=प्रेषयति ।

वह एक दूसरे विश्वासपात्र गुप्तचर को अपने साथ लेकर जाय। वह तो वहीं स्वयम् रहे और वहां के सभी कार्यों को छिप कर भली भाति समझ कर दूसरे सहायक को समझा कर वहां भेज दे। जैसा कि कहा भी है—

'तीर्था-ऽऽश्रम-सुरस्थाने शास्त्रविज्ञानहेतुना ।
तपस्विव्यञ्जनोपेतै. स्वचरै. सह संवसेत्' ॥ ३७ ॥

अन्वय —तीर्थाश्रमसुरस्थाने शास्त्रविज्ञानहेतुना तपस्विव्यञ्जनोपेतैः स्वचरैः सह सवसेत ॥ ३७ ॥

तीर्थे = पुण्यस्थाने । आश्रमे = तपोवने । सुरस्थाने = देवालये । शास्त्रविज्ञान हेतुना = शास्त्रकलाकौशलादिशिक्षणस्य व्याज कृत्वा । तपस्विव्यञ्जनं. = मुनिजनोचितलक्षणमभि. । उपेतै' = युक्तै. । स्वचरै = निजप्रणिधिभि. । सह = सार्धम् । संवसेत् = निवास कुर्यात् ॥ ३७ ॥

तीर्थ स्थान में, किसी साधु के आश्रम में अथवा देवालय में तपस्वियों का वेश धारण करके शास्त्र का ज्ञान प्राप्त करने के बहाने प्रधान गुप्तचर को अपने सहायक गुप्तचरों के साथ निवास करना चाहिए ॥ ३७ ॥

गूढचारश्च—यो जले, स्थले च चरति । ततोऽसावेव बको

नियुज्यताम् । एतादृश एव कश्चिद्बको द्वितीयत्वेन प्रयातु । तद्गृह-लोकाश्च राजद्वारे तिष्ठन्तु । किन्तु एतदपि सुगुप्तमनुष्ठातव्यम्' ।

गूढचार =गुप्तदूत । जले स्थले = सर्वत्र समानतया । चरति = गच्छति । नियुज्यताम् = चारकर्मणि नियुक्तः क्रियताम् । द्वितीयत्वेन = सहायरूपेण । प्रयातु = गच्छतु । तद्गृहलोका = तयो स्वजना । राजद्वारे = राजगृहे । तिष्ठन्तु = निवास कुर्वन्तु । एतत् अपि = चरप्रेषणमपि । सुगुप्तम् = सुनिभृतम् । अनुष्ठातव्यम् = कर्तव्यम् ।

गुप्तचर वही हो सकता है जो जल और स्थल में समान रूप से आ जा सके। इसलिए इसी बगुले को ही गुप्तचर नियुक्त करें। ऐसा ही एक दूसरा बगुला भी इसके साथ जाय और इसके घर के लोग राजदरबार में आकर रहें किन्तु राजन्, यह सभी गुप्त रूप से होना चाहिए। क्योंकि—

यतः—

'षट्कर्णो भिद्यते मन्त्रस्तथा प्राप्तश्च वार्त्तया' ।
इत्यात्मना द्वितीयेन मन्त्रः कार्यो महीभृता ॥ ३८ ॥

अन्वय.—षट्कर्णः तथा वार्त्तया प्राप्तश्च मन्त्र भिद्यते (अत) महीभृता आत्मना द्वितीयेन मन्त्रः कार्यः ॥ ३८ ॥

षट्कर्ण =त्रिभिः जनैः कृतः । वार्त्तया प्राप्त = पुरुषान्तरेण संदिष्टः । मन्त्रः = मन्त्रणा । भिद्यते = भेदमुपयाति । इति = इति हेतोः । आत्मना = निजेन, द्वितीयेन येन सह मन्त्रः कार्यः तेन, द्वाभ्यामेवेति भाव । महीभृता = नृपेण ॥३८॥

छ कानों में पड़ी हुई तथा सन्देश रूप से कहलाई गई मन्त्रणा प्रकट हो जाती है। अत राजा को चाहिए कि वह स्वयं अपने निजी आदमी के साथ विचार विमर्श करे ॥३८॥

पश्य—

'मन्त्रभेदे हि ये दोषा भवन्ति पृथिवीपतेः ।
न शक्यास्ते समाधातुमिति नीतिविदां मतम्' ॥ ३९ ॥

अन्वय —मन्त्रभेदे (सति) पृथिवीपते ये दोषा भवन्ति ते समाधातुम् न शक्याः इति नीतिविदाम् मतम् ॥ ३९ ॥

मन्त्रभेदे = मन्त्रस्य भेदमुपगते । पृथिवीपते = भूपते ये दोषा = विपत्यादय । समाधातुम् = समाधानम् कर्तुम् न शक्या = न योग्याः । नीतिविदाम् = नीतिज्ञ-पुरुषाणाम् । मतम् = विचार ॥ ३९ ॥

देखो—

नीतिज्ञों का यह दृढ विचार है कि मन्त्रणा के फूट जाने से जो दोष राजा में आ जाते हैं उनका समाधान किसी भी प्रकार नहीं किया जा सकता ॥ ३९ ॥

राजा विमृश्योवाच—'प्राप्तस्तावन्मयोत्तम प्रणिधिः ।' मन्त्री ब्रूते-'देव ! सङ्ग्रामे विजयोऽपि प्राप्तः ।'

विमृश्य = विचार्य । उत्तम = श्रेष्ठ गुप्तचर. । प्राप्तः = लब्ध., पूर्वमेव नियुक्त. इत्यर्थ. ।

राजा ने विचार करके कहा कि—'मुझे अच्छा गुप्तचर मिल गया है ।' मन्त्री ने कहा-'तो संग्राम में विजय भी प्राप्त होगी ।'

अत्राऽन्तरे प्रतीहारः प्रविश्य प्रणम्योवाच—'देव ! जम्बूद्वीपादागतो द्वारि शुकस्तिष्ठति ।' राजा चक्रवाकमालोकते ।

चक्रवाकेणोक्तम्—'कृताऽऽवासे तावद् गत्वा तिष्ठतु, पश्चादानीय द्रष्टव्यः ।' 'यथाऽऽऽज्ञापयति देव.' इत्यभिधाय प्रतीहार. शुकं गृहीत्वा तमावासस्थानं गतः । राजाऽऽह-'विग्रहस्तावत्समुपस्थितः ।' चक्रवाको ब्रूते—'देव ! तथापि प्रागेव विग्रहो न विधि.' । यत.—

अत्रान्तरे = अस्मिन्नेव काले । प्रतीहार. = द्वारपालः । प्रविश्य = तत्रागत्य । आगत = आयातः । आलोकते = 'किं विधेयम्' इत्याशयेन पश्यति । आवासे = अतिथिगृहे । तिष्ठतु = आवासं करोतु । विग्रह = युद्धम् । उपस्थित = सम्मुखं गत. । प्रागेव = प्रथममेव । न विधि' = नोचित ।

इसी बीच द्वारपाल ने आकर राजा को प्रणाम किया और कहा—'राजन् जम्बूद्वीप से आया हुआ सुग्गा द्वार पर खड़ा है ।' राजा ने चकवे की ओर देखा ।

चकवे ने कहा—'ले जाकर अतिथिशाला में ठहरा दो । फिर ले आकर दर्शन कराना ।' 'जैसी श्रीमान् की आज्ञा' यह कह कर द्वारपाल उसे लेकर अतिथिशाला में चला गया । राजा ने कहा—'अब तो युद्ध सामने आ गया ।' चकवे ने कहा—'देव, पहले ही युद्ध करना उचित नहीं है ।' क्योंकि—

'स किंभृत्य स किंमन्त्री य आदावेव भूपतिम् ।'
युद्धोद्योगं, स्वभृत्यागं निदिशत्यविचारितम्' ॥ ४० ॥

अन्वय —य आदावेव भूपतिम् युद्धोद्योगम् स्वभूत्यागम् निर्दिशति सः किं भृत्यः स किंमन्त्री (भवति) ॥ ४० ॥

यः=भृत्यः मन्त्री च । आदावेव=प्रथममेव, अन्योपाये विद्यमाने सति प्रथममेव इत्यर्थः । भूपतिम्=नृपतिम् । अविचारितम्=विचार विनैव । युद्धोद्योगम्=विग्रहाय प्रयत्नम् । स्वभूत्यागम्=स्वदेशात् पलायनम् । निर्दिशति=उपदिशति । किंभृत्यः=कुत्सितः सेवकः । किंमन्त्री=अयोग्योऽमात्यः ॥ ४० ॥

बिना सोचे समझे पहले ही राजा को लड़ाई करने अथवा देश त्याग की राय देने वाला मन्त्री दुष्ट मन्त्री और सेवक दुष्ट सेवक होता है ॥ ४० ॥

अपरं च—

'विजेतुं प्रयतेताऽरीन्न युद्धेन कदाचन ।
अनित्यो विजयो यस्माद् दृश्यते युध्यमानयोः' ॥ ४१ ॥

अन्वय—कदाचन युद्धेन अरीन् विजेतुम् न प्रयतेत । यस्मात् युद्ध्यमानयोः विजयः अनित्यः दृश्यते ॥ ४१ ॥

कदाचन=जातुचित् । युद्धेन=विग्रहेण । अरीन्=शत्रून् । विजेतुम्=विजय कर्तुम् । प्रयतेत=प्रयत्नम् कुर्यात् । यस्मात्=यतः । युद्ध्यमानयोः=युद्ध कुर्वाणयोः । विजयः=विजयलाभः । अनित्यः=अनियतः । दृश्यते=अवलोक्यते ॥ ४१ ॥

इसके अतिरिक्त—युद्ध द्वारा शत्रु को जीतने का प्रयत्न कभी नहीं करना चाहिए, क्योंकि दोनों लड़ने वाले की विजय अनिश्चित दिखाई देती है (जीतने वाला भी पीछे हार सकता है अतः विजय अनिश्चित होती है) ॥ ४१ ॥

अन्यच्च—

'साम्ना, दानेन, भेदेन, समस्तैरथवा पृथक् ।
साधितुं प्रयतेताऽरीन्, न युद्धेन कदाचन' ॥ ४२ ॥

अन्वय—साम्ना दानेन भेदेन समस्तैः अथवा पृथक् अरीन् साधयितुम् प्रयतेत, किन्तु युद्धेन कदाचन न ॥ ४२ ॥

साम्ना=सान्त्वेन । दानेन=धनादिप्रदानेन । भेदेन=शत्रुसहायकेषु भेदोत्पादनेन । एभिः त्रिभिः उपायैः, समस्तैः=सर्वोपायैः । अथवा पृथक्=एकैकेनोपायेन । अरीन्=शत्रून् । साधयितुम्=वशीकर्तुम् । प्रयतेत=प्रयत्नम् कुर्यात् ॥ ४२ ॥

और भी—

शत्रु को युद्ध द्वारा नहीं बल्कि साम, दान, भेद—तीनों अथवा अलग अलग उपायों से जीतने का प्रयत्न करना चाहिए ॥ ४२ ॥

३ हि

अपरञ्च—

'सर्वं एव जनः शूरो ह्यनासादितविग्रहः ।
अदृष्टपरसामर्थ्यः सदर्पः को भवेन्न हि' ? ॥ ४३ ॥

अन्वय —अनासादितविग्रहः सर्वं एव जनः शूरः (भवति)। अदृष्टपरसामर्थ्यः हि कः सदर्पः न भवेत् ॥ ४३ ॥

अनासादितविग्रहः=अप्राप्तयुद्धः। सर्वं एव जनः=सर्वं एव लोकः। शूरः= वीरः। अदृष्टपरसामर्थ्यः=अनवलोकितशत्रुबलः। सदर्पः=गर्वयुक्तः ॥ ४३ ॥

जब तक युद्ध सिर पर नहीं आ जाता तब तक सभी अपने को बहादुर समझते हैं। दूसरे की शक्ति को बिना देखे कौन अभिमानी नहीं होता है ॥ ४३ ॥

किञ्च—

'न तथोत्थाप्यते ग्रावा प्राणिभिर्दारुणा यथा ।
अल्पोपायान्महासिद्धिरेतन्मन्त्रफलं महत्' ॥ ४४ ॥

अन्वय —यथा प्राणिभिः दारुणा ग्रावा उत्थाप्यते तथा (तेन दारुणा विना) न (उत्थाप्यते एवमेव) अल्पोपायात् महासिद्धिः (भवेत्)। एतत् महत् मन्त्रफलम् (अस्ति) ॥ ४४ ॥

यथा = येन प्रकारेण अनायासेनेत्यर्थः। प्राणिभिः = जनैः। दारुणा = काष्ठखण्डेन। ग्रावा = प्रस्तरः। तथा = तेन प्रकारेण। न उत्थापयितुं शक्यते। अल्पोपायात् = स्तोकोद्यमात्। महासिद्धिः = महाकार्यस्य सफलता। महत् = श्रेष्ठम्। मन्त्रफलम् = मन्त्रस्य-परिणामः ॥ ४४ ॥

इसके अतिरिक्त और भी—

पत्थर की चट्टान लकडी द्वारा जितनी सरलता से उठाई जा सकती है उतनी अन्य किसी भी साधन से नहीं। इसलिए थोडे प्रयत्न से बडी सफलता ही मन्त्रणा का महान फल है ॥ ४४ ॥

किन्तु विग्रहमुपस्थितं विलोक्य व्यवह्रियताम्। यतः—

विग्रहम् = युद्धम्। उपस्थितम् = सम्मुखागतम्। विलोक्य = दृष्ट्वा। व्यवह्रियताम् = उपायः क्रियताम्।

किन्तु युद्ध सामने आया हुआ जान कर उपाय ढूँढो। क्योंकि—

'यथा कालकृतोद्योगात्कृषिः फलवती भवेत् ।
तद्वन्नीतिरियं देव ! चिरात्फलति, न क्षणात्' ॥ ४५ ॥

अन्वय—हे देव, यथा कृषिः कालकृतोद्योगात् फलवती भवेत् तद्वत् इयं नीतिः रक्षणात् चिरात्फलति ॥ ४५ ॥

देव = राजन् । काले = समये । कृतः = विहितः । यः उद्योगः = प्रयत्नः । तस्मात् । फलवती = सफला । तद्वत् = एवमेव । इयं नीतिः = इयं राजनीतिः । रक्षणात् = सम्यक् रूपेण पालनात् । चिरात् = कियता कालेन । फलति = सफला भवति ॥ ४५ ॥

जैसे समय पर किए गए प्रयत्न से खेती कुछ समय बाद होती है, उसी प्रकार नीति की समय पर उचित रक्षा करने से वह देर में फल देती है न कि तत्काल ही ॥ ४५ ॥

अपरं च—

'दूरे भीरुत्वमासन्ने शूरता महतो गुणः ।
विपत्तौ हि महाँल्लोके धीरत्वमधिगच्छति' ॥ ४६ ॥

अन्वय—दूरे भीरुत्वम् (किन्तु) आसन्ने शूरता महतः गुणः । लोके विपत्तौ च महान् धीरत्वम् अनुगच्छति ॥ ४६ ॥

दूरे भीरुत्वम् = भये दूरे सति भीरुता । आसन्ने = निकटे सति । शूरता = शौर्यम् । महतः = महापुरुषस्य । गुणः = विशेषता । लोके = जगति । विपत्तौ = विपदि । महान् = महापुरुषः । धीरत्वम् = धैर्यम् । अनुगच्छति = अनुव्रजति ॥ ४६ ॥

और भी—

विपत्तियों को दूर देख कर डरना किन्तु निकट आ जाने पर पराक्रम दिखाना बड़े लोगों का गुण होता है । इसीलिए बड़े लोग संसार में विपत्ति के समय धैर्य का आश्रय लेते हैं ॥ ४६ ॥

अन्यच्च—

'प्रत्यूहः सर्वसिद्धीनामुत्तापः प्रथमः किल ।
अतिशीतलमप्यम्भः किं भिनत्ति न भूभृतः ?' ॥ ४७ ॥

विशेषतश्च देव ! महाबलोऽसौ चित्रवर्णो राजा । यतः—

अन्वय—उत्तापः सर्वसिद्धीनाम् प्रथमः प्रत्यूहः । अतिशीतलमपि अम्भः किं भूभृतः न भिनत्ति ॥ ४७ ॥

उत्तापः = क्रोधः । सर्वसिद्धीनाम् = सर्वकार्यसफलतानाम् । प्रथमः = मुख्यः । प्रत्यूहः = विघ्नः । अतिशीतलमपि = अत्यन्तहिममपि । अम्भः = जलम् । भूभृतः = पर्वतान् । न भिनत्ति = न विदारयति, विदारयति एवेत्यर्थः ॥ ४७ ॥

और भी—

प्रारम में ही गरम हो जाना (क्रुद्ध हो जाना) सभी प्रकार की सफलताओं की बहुत बडी बाधा है। क्या अत्यत ठडा पानी पहाड को नहीं तोड देता है? अर्थात् क्रोध के स्थान पर शान्ति से भी सफलता मिल सकती है ॥ ४७ ॥

विशेषकर यह राजा चित्रवर्ण महान बली है। क्योंकि—

'बलिना सह योद्धव्य'मिति नाऽस्ति निदर्शनम्।
तद्युद्धं हस्तिना सार्द्धं नराणां मृत्युमावहेत्' ॥ ४८ ॥

अन्वयः—बलिना सह योद्धव्यम् इति निदर्शनम् नास्ति। हस्तिना सार्द्धम् नराणाम् युद्धम् मृत्युम् आवहेत् ॥ ४८ ॥

बलिना सह = बलशालिना सह। योद्धव्यम् = विग्रहः करणीयः इति = एवम्। निदर्शनम् = प्रमाणम्। हस्तिना सार्द्धम् = गजेन सह। नराणाम् = मनुष्याणाम्। युद्धम् = विग्रह.। मृत्युम् = मरणम्। आवहेत् = धारयेत् ॥ ४८ ॥

बलवान के साथ युद्ध करना नीति नहीं है क्योंकि मनुष्य का हाथी के साथ लडना अपनी मौत को बुलाना है ॥ ४८ ॥

अन्यच्च—

'स मूर्खः कालमप्राप्य योऽपकर्त्तरि वर्त्तते।
कलिर्बलवता सार्धं कीटपक्षोद्गमो यथा' ॥ ४९ ॥

अन्वय·—यः कालमप्राप्य अपकर्तरि वर्तते स मूर्ख· बलवता सार्धम् कलिः कीटपक्षोद्गमः यथा (भवति) ॥ ४९ ॥

यः = पुरुषः। कालमप्राप्य = अवसरं विनैव। अपकर्तरि = शत्रौ। वर्तते = विद्यते, शत्रुणा सह कलह करोति इत्यर्थः। सः मूर्खः=स' अज्ञः। बलवता सार्द्धम् = बलशालिना सह। कलिः = कलहः। कीटपक्षोद्गमः = कीटानाम् पक्षो· द्गमः (फतिंगों के पंख आने) यथा = इव ॥ ४९ ॥

और भी—

जो उपयुक्त समय देखे बिना ही शत्रु पर चढाई करता है वह मूर्ख होता है। और बलवान के साथ लडना तो फतिङ्गों के पर निकलने के समान है ॥ ४९ ॥

किञ्च—

'कौर्मं सङ्कोचमास्थाय प्रहारमपि मर्षयेत्।
प्राप्तकाले तु नीतिज्ञ उत्तिष्ठेत्क्रूरसर्पवत्' ॥ ५० ॥

अन्वयः—नीतिज्ञः कौर्मम् संकोचमास्थाय प्रहारमपि मर्षयेत् (किन्तु) प्राप्त· काले तु क्रूरसर्पवत् उत्तिष्ठेत् ॥ ५० ॥

नीतिज्ञः = नीतिकुशलः कौर्मम् = कच्छपसम्बन्धिनम् । संकोचम् = अंगसकोचनम्, क्रोधसङ्कोचञ्च । आस्थाय = आश्रित्य । प्रहारमपि = शत्रुणा कृतम् आघातमपि । मर्षयेत् = सहेत । प्राप्तकाले = लब्धावसरे । क्रूरसर्पवत् = दुष्टसर्पतुल्यः । उत्तिष्ठेत् = उत्थानम् कुर्यात् ॥ ५० ॥

अत —

जिस प्रकार कछुआ (समय पर) अपने अगों को समेट कर अपने ऊपर होने वाली चोट को भी सहन कर लेता है उसी प्रकार नीतिज्ञ को समयानुसार सब सहन करना चाहिए । और समय पाकर ही क्रुद्ध सर्प के समान उठ खड़ा होना चाहिए ॥ ५० ॥

'महत्यल्पेऽप्युपायज्ञः सममेव भवेत्क्षमः ।
समुन्मूलयितुं वृक्षांस्तृणानीव नदीरयः' ॥ ५१ ॥

अन्वय —उपायज्ञः महति अल्पे (शत्रौ) अपि समम् एव क्षमः भवेत् । वृक्षांस्तृणानि, समुन्मूलयितु नदीरयः इव ॥ ५१ ॥

उपायज्ञः = विधिज्ञः । महति = बलशालिनि शत्रौ । अल्पे = अल्पबले शत्रौ । सममेव = तुल्यमेव । वृक्षांस्तृणानि = महतः वृक्षान् अल्पानि तृणानि । समुन्मूलयितुम् = उत्पाटयितुम् । नदीरयः = सरिद्वेगः । इव = तुल्यः । क्षमः = समर्थः भवेत् ॥ ५१ ॥

उपाय का जानने वाला बड़ी छोटी सभी प्रकार की कठिनाइयों (बड़े छोटे शत्रुओं) को दूर करने में उसी प्रकार समर्थ होता है जैसे नदी की धारा वृक्षों और तृणों को समान रूप से उखाड़ने में समर्थ होती है ॥ ५१ ॥

अतो दूतोऽयं शुकोऽत्राऽऽश्वास्य तावद्ध्रियतां यावद्दुर्गं सज्जीक्रियते । यत —

अतः = अस्मात्कारणात् । दूत = मयूरेण प्रेषितः शुकः । आश्वास्य = सामवचनैः आश्वासनम् विधाय । ध्रियताम् = अत्रैव स्थाप्यताम् ।

इसलिए जब तक किले की तैयारी हो तब तक दूत को समझा बुझा कर रोके रहें । क्योंकि—

'एकः शतं योधयति प्राकारस्थो धनुर्धरः ।
शतं शतसहस्राणि, तस्माद् दुर्गं विशिष्यते' ॥ ५२ ॥

अन्वय —एकः प्राकारस्थः धनुर्धरः शतम् योधयति (एवम्) शतं शतसहस्राणि (योधयन्ति) तस्मात् दुर्गम् विशिष्यते ॥ ५२ ॥

प्राकारस्थ = दुर्गस्य समन्तात् यः प्राचीरस्तस्याभ्यन्तरे स्थितः । एकः धनुर्धरः =

एकः भटः। शतम् = शतसंख्यकान् भटान्। योधयति = योद्धुं शक्नोति। शतं शत सहस्राणि = लक्षाणि। विशिष्यते = प्रशस्यते॥ ५२॥

किले की दीवारों के भीतर रहने वाला एक ही धनुर्धारी वीर सैकड़ों वीरों तथा सौ वीर लाखों वीरों के साथ युद्ध कर सकता है। इसीलिए युद्ध में किले का विशेष महत्त्व है॥ ५२॥

किञ्च—

'अदुर्गविषयः कस्य नाऽरेः परिभवाऽऽस्पदम्।
अदुर्गोऽनाश्रयो राजा पोतच्युतमनुष्यवत्'॥ ५३॥

अन्वयः—अदुर्गविषयः (नृपः) कस्य अरेः परिभवास्पदम् न (भवति) अदुर्गः अनाश्रयः राजा पोतच्युतमनुष्यवत् (भवति)॥ ५३॥

अदुर्गविषयः = दुर्गरहितदेशः। कस्य अरेः = कस्य शत्रोः। परिभवास्पदम् = पराजयस्थानम्, पराजेयः इत्यर्थः। न भवति = भवत्येवेत्यर्थः। अदुर्गः = दुर्गरहितः। अनाश्रयः = अतएव आश्रयहीनः। राजा = नृपः। पोतच्युतमनुष्यवत् = जलवाहनात्पतितपान्थवत्, यथा पोतच्युतः सांयात्रिकः जले निमज्जति तथैव राजापि विपत्तिसागरे निमग्नो भवति॥ ५३॥

किला रहित किस राजा का देश शत्रु द्वारा विजित नहीं हो जाता? दुर्ग तथा आश्रयके विना राजा जहाज से गिरे हुये मनुष्य के समान डूब जाता है॥ ५३॥

'दुर्गं कुर्यान्महाखातमुच्चप्राकारसंयुतम्।
सयन्त्रं, सजलं, शैल-सरिन्-मरु-वनाऽऽश्रयम्'॥ ५४॥

अन्वय.—महाखातम्, उच्चप्राकारसंयुतम्, सयन्त्रम्, सजलम्, शैल सरिन्-मरु-वनाश्रयम्, दुर्गम्, कुर्यात्॥ ५४॥

महाखातम् = महापरिखोपेतम्। उच्चप्राकारसंयुतम् = उच्चप्राचीरेण समन्ताद्वेष्टितम्। सयन्त्रम् = युद्धोपयोगिभिः यन्त्रैः युक्तम्। सजलम् = जलाशययुक्तम्। शैलसरिन्मरुवनाश्रयम् = पर्वतनदीमरुभूमिकाननादिदुर्गमभूमिसस्थितम्। दुर्गं कुर्यात् = दुर्गस्य निर्माणम् कारयेत्॥ ५४॥

किला बहुत बड़ी खाई से घिरा हुआ, ऊँची चहार दीवारी, युद्धके यन्त्रों एवं जल (कुओं, बावली आदि) से युक्त तथा पहाड़, नदी अथवा मरुभूमि के किनारे बनवाना चाहिए॥ ५४॥

'विस्तीर्णताऽतिवैषम्यं, रसधान्येध्मसंग्रहः।
प्रवेशश्चाऽपसारश्च सप्तैता दुर्गसम्पदः'॥ ५५॥

अन्वयः—विस्तीर्णता, अतिवैषम्यम्, रसधान्येध्मसंग्रहः, प्रवेशः, अपसारश्च एताः सप्त दुर्गसम्पदः (सन्ति) ॥ ५५ ॥

विस्तीर्णता = आयामः विशालता च । अतिवैषम्यम् = अत्यन्तदुर्गमत्वम् । रसधान्येध्मसंग्रहः = जलान्नेन्धनसंग्रहः । प्रवेशः = निगूढनानाप्रवेशपथः । अपसारः = निगूढनिर्गमनमार्गः । दुर्गसम्पदः = दुर्गसम्पत्तयः ॥ ५५ ॥

विस्तीर्णता (काफी लम्बाई चौड़ाई) अत्यन्त दुर्गमता (पहुँचने की कठिनाई), रस, अन्न और लकड़ी का संग्रह तथा आने जाने के गुप्त मार्ग—किले की यह सात विशेषताएं होती हैं ॥ ५५ ॥

राजाऽऽह—'दुर्गाऽनुसन्धाने को नियुज्यताम् ? ।' चक्रवाको ब्रूते—

दुर्गानुसन्धाने = दुर्गपरीक्षणे । नियुज्यताम् = नियुक्तः क्रियताम् ।

राजा ने कहा—'दुर्ग का अन्वेषण करने के लिए किसे नियुक्त करना चाहिए ।' चकवे ने कहा—

'यो यत्र कुशलः कार्ये तं तत्र विनियोजयेत् ।
कर्मस्वदृष्टकर्मा यः शास्त्रज्ञोऽपि विमुह्यति' ॥ ५६ ॥

अन्वय—यः यत्र कार्ये कुशलः तं तत्र विनियोजयेत् (यतः) कर्मसु यः अदृष्टकर्मा (भवति स) शास्त्रज्ञः अपि विमुह्यति ॥ ५६ ॥

यः = पुरुषः । यत्र कार्ये = यस्मिन्कर्मणि । कुशलः = चतुरः । तं = पुरुषम् । तत्र = तस्मिन् कार्ये । विनियोजयेत् = नियुक्तं कुर्यात् । कर्मसु = कर्तव्यकार्येषु । अदृष्टकर्मा = अनवलोकितकार्यः । शास्त्रज्ञः = शास्त्रेषु कुशलः । विमुह्यति = मोहं गच्छति, व्याकुलो भवतीत्यर्थः ॥ ५६ ॥

जो व्यक्ति जिस कार्य में कुशल हो उसे वहीं नियुक्त करना चाहिए क्योंकि शास्त्र का ज्ञाता होने पर भी किसी कार्य में अनुभव न होने से वह उस कार्य में मूर्ख बन जाता है ॥

'तदाहूयतां सारसः ।' तथाऽनुष्ठिते सति समागतं सारसमवलोक्य राजोवाच—'भोः सारस ! त्वं सत्वरं दुर्गमनुसन्धेहि ।'

सारसः प्रणम्योवाच—'देव ! दुर्गं तावदिदमेव चिरात्सुनिरूपितमास्ते महत्सरः । किन्त्वेतन्मध्यद्वीपे द्रव्यसंग्रहः क्रियताम्' । यतः—

सत्वरम् = शीघ्रम् । अनुसन्धेहि = अनुसन्धानम् कुरु, 'कुत्र दुर्गम् निर्मेयम्' इति परीक्षणम् कुरु इति भावः । चिरात् = बहुकालात् । सुनिरूपितम् = सुपरीक्षितम् । महत्सरः = महान् सरोवरः । मध्यवर्तिद्वीपे = मध्यभागे स्थिते भूभागे । द्रव्यसंग्रहः = वस्तुसंग्रहः, धान्येन्धनादिसंग्रहः ।

इसलिए सारस को बुलाइए।' ऐसा करने पर आए हुए सारस को देख कर राजा ने कहा-'सारस, तुम शीघ्र ही किले की छान-बीन कर डालो।'

सारस ने प्रणाम करके कहा-राजन् बहुत दिनों से देखा भाला हुआ यह तालाब ही हम लोगों का किला है। किन्तु इसके बीच के टापू पर सभी द्रव्यों (अन्न, लकड़ी आदि) को इकट्ठा कर लेना चाहिए। क्योंकि--

'धान्यानां सङ्ग्रहो राजन्नुत्तमः सर्वसङ्ग्रहात्।
निक्षिप्तं हि मुखे रत्नं न कुर्यात्प्राणधारणम्' ॥ ५७ ॥

अन्वय —हे राजन्! धान्यानाम् संग्रहः सर्वसंग्रहात् उत्तमः (यतः) हि मुखे निक्षिप्तम् रत्नम् प्राणधारणम् न कुर्यात् ॥ ५७ ॥

धान्यानाम् = अन्नानाम्। सग्रहः = आकलनम्। सर्वसंग्रहात् = = संपूर्णवस्तु सग्रहात्। उत्तमः = श्रेष्ठ.। मुखे निक्षिप्तम्=आनने स्थापितम्। प्राणधारणम्=उदर-पूर्त्या प्राणरक्षणम् ॥

हे राजन्, सभी वस्तुओं के सग्रह से अन्न का सग्रह करना उत्तम है, क्योंकि मुख में पड़ा हुआ रत्न भी प्राणों की रक्षा नहीं कर सकता ॥ ५७ ॥

किञ्च—

'ख्यातः सर्वरसानां हि लवणो रस उत्तमः।
गृह्णीयात्तं, विना तेन व्यञ्जनं गोमयायते' ॥ ५८ ॥

अन्वय.—सर्वरसानाम् लवण. उत्तम. ख्यात.। तेन विना गृहीत व्यञ्जनम् गोमयायते ॥ ५८ ॥

सर्वरसानाम् = षड्रसानाम्। उत्तमः = श्रेष्ठः। ख्यात. = प्रसिद्ध। तेन विना = लवणम् विना। व्यञ्जनम् = भोज्यवस्तु। गोमयायते = गोमय. (गोबर) इव आस्वादरहितम् भवति ॥

और भी—

सभी रसों में नमक सबसे प्रसिद्ध और उत्तम रस कहा जाता है। अत. उसका सग्रह अवश्य करना चाहिए। क्योंकि उसके बिना अच्छे से अच्छा भोजन भी गोबर के समान लगता है ॥ ५८ ॥

राजाऽऽह—'सत्वरं गत्वा सर्वमनुष्ठीयताम्।' पुनः प्रविश्य प्रतीहारो ब्रूते—'देव! सिंहलद्वीपादागतो मेघवर्णो नाम वायस. सपरिवारो द्वारि वर्त्तते। स च देवपादान् द्रष्टुमिच्छति।' राजाऽऽह-काकः प्राज्ञो, बहुदृश्वा च, तद्भवति स संग्राह्य.।

चक्रवाको ब्रूते—'देव ! अस्त्येवं, किन्तु अस्मद्विपक्षः काकः स्थलचरः । तेनाऽस्मद्विपक्षपक्षे नियुक्तः कथं सङ्गृह्यते ? तथा चोक्तम्—

सर्वमनुष्ठीयताम् = सर्वम् क्रियताम् । आगतः = आयातः । वायसः = काकः । देवपादान् = श्रीमतः । द्रष्टुमिच्छति = दर्शनमभिवाञ्छति । प्राज्ञः = पण्डितः । बहुदृश्वा = बहुश्रुत । सङ्ग्राह्यः = स्वाश्रये रक्षणीयः । स्थलचरः = स्थलवासी । विपक्षपक्षे नियुक्तः = शत्रुपक्षे अनुरक्त ।

राजा ने कहा—'तो शीघ्र ही जाकर सभी आवश्यक कार्य करो ।' फिर द्वारपाल ने आकर कहा–राजन् सिंहल द्वीप से आया हुआ मेघवर्ण नाम का एक कौवा अपने परिवार के साथ द्वार पर खड़ा है । वह आप का दर्शन करना चाहता है । राजा ने कहा 'कौवे एक तो सभी बातों को जानने वाले, दूसरे बहुत सी वस्तुओं को देखने वाले होते हैं । इसलिए मेरी राय है कि उसे रख लेना चाहिए ।'

चकवे ने कहा—'राजन्, यह तो ठीक है किन्तु कौवा भूमि का पक्षी है । इसलिए वह हमारे शत्रु के पक्ष का है अत उसे किस प्रकार रखा जाये ? कहा भी है—

'आत्मपक्षं परित्यज्य, परपक्षेषु यो रतः ।
स परैर्हन्यते मूढो, नीलवर्णश्रृगालवत्' ॥ ५९ ॥

राजोवाच—'कथमेतत् ?' । मन्त्री कथयति—

अन्वय —यः आत्मपक्षम् परित्यज्य परपक्षेषु रतः सः मूढः नीलवर्णश्रृगालवत् परैः हन्यते ॥ ५९ ॥

आत्मपक्षम् = स्वपक्षम् । परित्यज्य = त्यक्त्वा । परपक्षेषु = शत्रुपक्षेषु । रतः = अनुरक्त । मूढ = मूर्ख । परैः = शत्रुभि । हन्यते = म्रियते ॥ ५९ ॥

अपने पक्ष को छोड़ कर जो दूसरे पक्ष वालों से अनुराग करता है वह मूर्ख नीलवर्ण गीदड़ के समान दूसरों (शत्रुओं) से अवश्य मारा जाता है ॥ ५९ ॥

राजा ने कहा—'यह कैसे ?' मत्री ने कहा—

कथा ७

[अस्त्यरण्ये] कश्चिच्छृगालः स्वेच्छया नगरोपान्ते भ्राम्यन् नीलीभाण्डे निपतित । पश्चात्तत उत्थातुमसमर्थः, प्रातरात्मानं मृतवत्सन्दर्श्य स्थित । अथ नीलीभाण्डस्वामिना 'मृत' इति ज्ञात्वा, तस्मात्समुत्थाप्य, दूरे नीत्वाऽ परित्यक्तः, तस्मात्पलायितः ।

अरण्ये = कानने। स्वेच्छया = यदृच्छया। नगरोपान्ते = नगरस्य सन्निकटे। भ्राम्यन् = विचरन्। नीलीभाण्डे = नीलीरागनिर्माणपात्रे। ततः = तस्माद् भाण्डात्। उत्थातुम् = बहिरागन्तुम्। असमर्थः = अशक्तः। आत्मानम् = स्वम्। मृतवत् संदर्श्य = मृतकतुल्यम् प्रदर्श्य। ज्ञात्वा = अवगत्य। समुत्थाप्य = बहिः कृत्वा। परित्यक्तः = अपसारितः।

एक जंगल में एक गीदड़ था। वह नगर के किनारे इच्छानुसार घूम रहा था कि एक नील के बर्तन में गिर पड़ा। वहां से निकलने में असमर्थ होने के कारण वह प्रातःकाल मरा हुआ सा उसी में पड़ा रहा। उस नील के बर्तन के स्वामी ने उसे मरा हुआ समझ कर दूर ले जाकर फेंक दिया। तब वह वहाँ से भाग गया।

ततोऽसौ वने गत्वा आत्मानं नीलवर्णमवलोक्याऽचिन्तयत्—'अहमिदानीमुत्तमवर्णः, तदहं स्वकीयोत्कर्षं किं न साधयामि'—इत्यालोच्य शृगालानाहूय, तेनोक्तम्—'अहं भगवत्या वनदेवतया स्वहस्तेनाऽरण्यराज्ये सर्वौषधिरसेनाऽभिषिक्तः। [पश्यन्तु मम वर्णम्]। तदद्यारभ्याऽस्मदाज्ञयाऽस्मिन्नरण्ये व्यवहारः कार्यः।'

शृगालाश्च तं विशिष्टवर्णमवलोक्य, साष्टाङ्गपातं प्रणम्योचुः—'यथाऽऽज्ञापयति देवः' इति। अनेनैव क्रमेण सर्वेष्वरण्यवासिष्वाधिपत्यं तस्य बभूव। ततस्तेन स्वज्ञातिभिरावृतेनाऽऽधिक्यं साधितम्। ततस्तेन व्याघ्रसिंहादीनुत्तमपरिजनान् प्राप्य, सदसि शृगालानवलोक्य लज्जमानेनाऽवज्ञया स्वज्ञातयः सर्वे दूरीकृताः। ततो विषण्णान् शृगालानवलोक्य केनचिद् वृद्धशृगालेनैतत्प्रतिज्ञातं—'मा विषीदत, यदनेनाऽनीतिज्ञेन वयं मर्मज्ञाः। [स्वसमीपात्] परिभूतास्तद्यथाऽयं नश्यति तथा विधेयम्। यतोऽमी व्याघ्रादयो वर्णमात्रविप्रलब्धाः शृगालमज्ञात्वा राजानमिमं मन्यन्ते। तद्यथाऽयं परिचीयते तथा कुरुत। तत्र चैवमनुष्ठेयं, यथा वदामि-सर्वे सन्ध्यासमये तत्सन्निधाने महारावमेकदैव करिष्यथ। ततस्तं शब्दमाकर्ण्य जातिस्वभावात्तेनापि शब्दः कर्त्तव्यः'। यतः—

असौ = शृगालः। नीलवर्णम् = नीलरागम्। इदानीम् = साम्प्रतम्। उत्तमवर्णः = श्रेष्ठरागः। स्वकीयोत्कर्षम् = स्वोन्नतिम्। आलोच्य = विचार्य। वनदेवतया = वनदेव्या। स्वहस्तेन = स्वकरेण। अरण्यराज्ये = काननराज्ये। अभिषिक्तः = राज्ये स्थापितः। व्यवहारः = विवाद निर्णय (मुकद्दमा)। साष्टाङ्गपातम् = साष्टाङ्गप्रणा-

मम् । अरण्यवासिषु = काननचारिषु जीवेषु । आधिपत्यम् = प्रभुत्वम् । स्वज्ञातिभि' = स्वपरिवारैः । आवृतेन = परिवेष्टितेन । आधिक्यम् = स्वजातिश्रेष्ठत्वम् । साधितम् = अधिगतम् । उत्तमपरिजनान् = जात्या श्रेष्ठान् अनुचरान् । तेन = शृगालेन । सदसि=सभायाम् । लज्जमानेन = लज्जामनुभवता । अवज्ञया = अपमानेन । दूरीकृताः = निष्कासिता० । विषण्णान् = दु खितान् । प्रतिज्ञातम् = प्रतिज्ञा कृता । अनीतिज्ञेन = अज्ञेन । मर्मज्ञाः = स्वरहस्यविद् । परिभूता० = अपमानिताः । विधेयम् = करणीयम् । वर्णमात्रविप्रलब्धा' = वर्णपरिवर्तनमात्रेण वञ्चिता० । इमम् = नीलवर्णम् , शृगालम् । परिचीयते = व्याघ्रादिभि० स्वशृगालरूपतः ज्ञायते । तत् सन्निधाने = तत्समीपे । महारावम् = महान्त शब्दम् । जातिस्वभावात् = जातिप्रकृत्या ॥

इसके बाद जगल में जाकर उसने अपने नीले रग को देखकर विचार किया—'मै अब उत्तम वर्ण का हो गया हूँ। इसलिए मैं इससे अपनी उन्नति क्यों न कर लूँ।' ऐसा सोचकर उसने गीदड़ों को बुला कर कहा—'मुझे भगवती वनदेवी ने अपने हाथ से सभी औषधियों एव रसों से नहला कर मेरा राज्याभिषेक किया है। इसलिए आज से इस जगल में मेरी आज्ञा के अनुसार ही सभी काम किए जायँ।'

गीदड़ों ने उसके विशेष रग को देखकर प्रणाम करते हुए कहा—'राजन् आप की आज्ञा शिरोधार्य है।' इस प्रकार धीरे धीरे वह सभी जगली जानवरों का राजा बन गया। इसके पश्चात् वह अपने को अपनी जाति वालों के बीच में उत्तम समझने लगा। और सिंह, व्याघ्र आदि उत्तम कुल के परिजनों को पाकर तथा अपनी सभा में गीदड़ों को देख कर वह लज्जित हो गया। तब उसने अपनी जाति के सभी लोगों को अपमानित करके वहाँ से निकाल दिया। इस पर गीदड़ों को दुखी देख कर एक बुड्ढे गीदड़ ने कहा—तुम लोग दुखी मत बनो। इस मूर्ख ने हम मर्मज्ञों को अपने पास से अपमानित करके हटा दिया है इस लिए मैं वही करूगा जिससे इसका विनाश हो। क्योंकि ये बाघ आदि इसके रग के धोखे में आकर इसे गीदड़ नहीं समझ रहे हैं इसी लिए इसे राजा मानते हैं।' इसलिए ऐसा काम करो जिससे यह परिचित हो जाय (इसे सब गीदड़ जान जायँ)। तुम लोग अब ऐसा करो कि सध्या के समय सभी लोग इसके पास इकट्ठे होकर एक ही साथ चिल्लाना शुरू करो। जिससे उस शब्द को सुन कर जाति स्वभाव से यह भी चिल्लाने लगेगा। ऐसा होने पर इसे सभी पहचान लेंगे। क्योंकि—

'य. स्वभावो हि यस्याऽस्ति स नित्यं दुरतिक्रमः ।
श्वा यदि क्रियते राजा , तत्किं नाऽश्नात्युपानहम्' ॥ ६० ॥

अन्वय .—यस्य य' स्वभाव' अस्ति स नित्यम् दुरतिक्रमः (भवति) श्वा यदि राजा क्रियते तत्किम् उपानहम् न अश्नाति ॥ ६० ॥

पस्य = पुरुषस्य । यः स्वभावः = या प्रकृतिः । दुरतिक्रमः = दुर्लंघ्यः । श्वा= कुक्कुरः । उपानहम् = चर्मणा निर्मितम् पादत्राणम् । न अश्नाति=न भक्षयति ? ॥

जिसका जो स्वभाव है वह सर्वदा रहने वाला तथा अमिट होता है । यदि कुत्ते को राजा बना दिया जाय तो क्या वह जूता नहीं चबाएगा ? ॥ ६० ॥

तत शब्दादभिज्ञाय स व्याघ्रेण हन्तव्यः । ततस्तथाऽनुष्ठिते सति तद् वृत्तम् । तथा चोक्तम्—

शब्दात = तस्य रावात् । अभिज्ञाय=शृगालः अयम् इति परिज्ञाय । हन्तव्यः= व्यापादितव्यः ।

इसके बाद शब्द द्वारा पहचाने जाने पर बाघ उसे मार डालेगा । जैसा कि कहा भी गया है—

'छिद्रं, मर्म च, वीर्यं च, सर्वं वेत्ति निजो रिपुः ।
दहत्यन्तर्गतश्चैव शुष्कं वृक्षमिवाऽनलः' ॥ ६१ ॥

अन्वय —(यः) निजः रिपुः, छिद्रम् , मर्म, वीर्यम् , च सर्वम् , वेत्ति (सः) अन्तर्गतश्च शुष्कवृक्षम् अनलः इव दहति ॥ ६१ ॥

निजः = स्वजनः । रिपुः = शत्रुः । छिद्रम्=रन्ध्रम् , दौर्बल्यञ्च । मर्म=रहस्यम् । वीर्यम् = पराक्रमम् । सर्वम् वेत्ति = सर्वम् जानाति । अन्तर्गतः = अन्तः स्थितः । अनलः = अग्निः । इव = सदृशः । यथा वृक्षमध्ये स्थितः अग्नि वृक्षम् दहति तथैव राज्ञः स्वजनो भूत्वा शत्रुरपि राजानम् नाशयति ॥

जो व्यक्ति अपनी दुर्बलता, अपने रहस्य, बल और मित्र तथा शत्रु सभी को भलीभांति समझ लेता है वह शत्रु के भीतर प्रवेश करके उसे उसी प्रकार जला देता है जैसे काठ के भीतर रहने वाली आग उसे जला देती है ॥ ६१ ॥

अतोऽहं ब्रवीमि—'आत्मपक्षं परित्यज्य' इत्यादि ॥ ॐ ॥

राजाऽऽह—'यद्येवं तथापि दृश्यतां तावदयं दूरादागतः । तत्संग्रहे विचारः कार्यः' । चक्रो ब्रूते—'देव ! प्रणिधिस्तावत् प्रहितो, दुर्गञ्च सज्जीकृतम् । अतः शुकोऽप्यानीय प्रस्थाप्यताम् । किन्तु योधबलसमन्वितो भूत्वा, दूरादेव तमवलोकय' । यतः—

दृश्यताम् = विलोक्यताम् । दूरादागत = दूरेणायातः । तस्यातिथ्य करणीयम् पश्चात् संग्रहविषये विचारणीयम् इत्यर्थं । प्रणिधिः=गुप्तचरः । प्रहितः = प्रेषितः । सज्जीकृतम्=आवश्यकद्रव्यैः पूरितम् । आनीय = सभायाम् उपस्थाप्य । योधबल समन्वितः = स्वसैनिकबलयुक्तः । तम् = दूतम् ॥

इसलिए मैं कह रहा हूं—'अपने पक्ष को छोड़कर' इत्यादि। राजा ने कहा—यद्यपि यह ठीक है फिर भी यह दूर से आ रहा है, अत इससे मिलना आवश्यक है और इसे अपने पास रखने का विचार भी जरूरी है। चकवे ने कहा—राजन्, दूत भेज दिया गया और किला भी तैयार हो गया अत सुग्गे को भी अब यहाँ बुला लेना चाहिए। किन्तु अपने सैनिक आदि दल बल के साथ आप उससे दूर ही से बात करें। क्योंकि—

'नन्दं जघान चाणक्यस्तीक्ष्णदूतप्रयोगत ।
तद् दूरान्तरितं दूतं पश्येद्वीरसमन्वितः' ॥ ६२ ॥

अन्वय—चाणक्य. तीक्ष्णदूतप्रयोगतः नन्द जघान तत् (नृप.) वीरसमन्वित. दूरान्तरितम् दूतम् पश्येत् ॥ ६२ ॥

चाणक्य:=कौटिल्यः। तीक्ष्णदूतप्रयोगत.= कपटवेशधारिवलिष्ठच्छद्मदूतप्रयोगेण। नन्दम्=तन्नामान नृपम्। जघान=मारयति स्म। तत्=तस्मात् कारणात्। वीरसमन्वितः=वीरैः परिवेष्टित. सन्। दूरान्तरितम्=दूरेस्थितम् ॥ ६२ ॥

चाणक्य ने तीक्ष्ण कपट दूत के द्वारा नद को मार डाला था अत आप उसे दूर ही रख कर मन्त्रियों से युक्त होकर उसे देखें ॥ ६२ ॥

ततः सभां कृत्वाऽऽहूतः शुक', काकश्च। शुक' किञ्चिदुन्नतशिरा दत्ताऽऽसने उपविश्य ब्रूते—'भो हिरण्यगर्भ! त्वां महाराजाधिराज. श्रीमच्चित्रवर्ण' समाज्ञापयति—'यदि जीवितेन, श्रिया' वा प्रयोजनमस्ति, तदा सत्वरमागत्याऽस्मच्चरणौ प्रणम। नो चेदवस्थातुं स्थानान्तरं परिचिन्तय'। राजा सकोपमाह—'आः, सभायामस्माकं न कोऽपि विद्यते य एनं गलहस्तयति ?।' तत उत्थाय मेघवर्णो ब्रूते—'देव! आज्ञापय, हन्मि चैनं दुष्टशुकम्।' सर्वज्ञो राजानं, काकं च सान्त्वयन् ब्रूते—'भद्र! मा मैवं। शृणु तावत्—

उन्नतशिरा.=गर्वोन्नतमस्तक'। दत्तासने=दत्तकुविष्टरे। समाज्ञापयति=समादिशति। जीवितेन=प्राणै.। श्रिया=राजलक्ष्म्या। प्रयोजनम्=कार्यम्। सत्वरम्=शीघ्रमेव। अवस्थातुम्=निवासार्थम्। स्थानान्तरम्=अन्यत् स्थानम्। परिचिन्तय=विचारय। एनम्=दूतम्, शुकम्। गलहस्तयति=बहिः निष्कासयति। आज्ञापय=आदेशय। सर्वज्ञ=तन्नामा चक्रवाक.।

इसके पश्चात् राजहंस ने सभा करके सुग्गे और कौवे को वहाँ बुलवाया। अभिमान से सिर उठाये हुए, सुग्गे ने दिए हुए आसन पर बैठकर कहा—'हे हिरण्यगर्भ, महाराजाधिराज श्रीमान चित्रवर्ण ने आप को आदेश दिया है कि यदि प्राणों और राज्यलक्ष्मी से

आपको मतलब हो तो शीघ्र ही आकर तुम मेरे चरणों में प्रणाम करो। नहीं तो दूसरे स्थान पर रहने की बात सोचो।' राजा ने क्रुद्ध होकर कहा—'अरे यहां ऐसा कोई नहीं है जो इसके गर्दन में हाथ लगा कर मेरे सामने से इसे हटा दे।' मेघवर्ण ने उठकर कहा—'राजन्, आज्ञा दीजिए। मैं इस दुष्ट सुग्गे को मारूँगा।' सर्वज्ञ नामके चकवे ने राजा और कौवे को शान्त करते हुए कहा—थोडा सुनिए तो सही।

'न सा सभा, यत्र न सन्ति वृद्धा,
वृद्धा न ते, ये न वदन्ति धर्मम्।
धर्मं स नो, यत्र न सत्यमस्ति,
सत्यं न तद्यच्छलमभ्युपैति' ॥ ६३ ॥

अन्वय—यत्र वृद्धाः न सन्ति सा सभा न, ये धर्मम् न वदन्ति ते वृद्धा न यत्र सत्यम् न अस्ति स धर्मः न यत् छलमभ्युपैति स सत्यं न (भवति)॥ ६३॥

यत्र=यस्याम् सभायाम्। सा सभा न=सा सभा नोच्यते। धर्मम्=धर्मवचनम्। न वदन्ति=न कथयन्ति। यत्र सत्यम्=यस्मिन् धर्मे तत्वम्। छलमभ्युपैति=कपटेन युक्तः भवति॥ ६३॥

वह सभा, सभा नहीं है जिसमें वृद्ध न हों, वह वृद्ध, वृद्ध नहीं जो धर्म की बातें न कहता हो, वह धर्म धर्म भी नहीं, जिसमें सत्य न हो और वह सत्य, सत्य भी नहीं जो कपट से भरा हुआ हो॥ ६३॥

यतो राजधर्मश्चैषः—

'दूतो म्लेच्छोऽप्यवध्यः स्याद्राजा दूतमुखो यतः।
उद्यतेष्वपि शस्त्रेषु दूतो वदति नाऽन्यथा' ॥ ६४ ॥

अन्वय—म्लेच्छः अपि दूतः अवध्यः यत. राजा दूतमुख. स्यात्। शस्त्रेषु उद्यतेषु अपि दूतः अन्यथा न वदति॥ ६४॥

म्लेच्छः=हीनजाति. अस्पृश्य. अपि। अवध्यः=हन्तुमयोग्य.। दूतमुख.=दूतेन स्वाज्ञाप्रेषक.। उद्यतेषु=उत्थापितेषु। शस्त्रेषु अन्यथा=असत्यम्। न वदति=नोच्चारयति॥ ६४॥

क्योंकि यही राजधर्म है—

जाति से म्लेच्छ (नीच वर्ण का) होने पर भी दूत अवध्य होता है। क्योंकि राजा दूतमुख (दूत द्वारा अपनी बातें कहलाने वाला) होता है। इसीलिए उठे हुए हथियारों के बीच भी दूत झूठी बातें नहीं कहता है॥ ६४॥

अन्यच्च—

'स्वाऽपकर्षं, परोत्कर्षं दूतोक्तैर्मन्यते तु कः' ?।
सदैवाऽवध्यभावेन दूतः सर्वं हि जल्पति' ॥ ६५ ॥

अन्वय—दूतोक्तैः स्वापकर्षम्, परोत्कर्षम् तु कः मन्यते। दूतः सदैव अवध्य-भावेन सर्वं जल्पति ॥ ६५ ॥

दूतोक्तैः = दूतवचनैः । स्वापकर्षम् = निजावनतिम् । परोत्कर्षम् = अन्यस्य शत्रोरुन्नतिम् । कः मन्यते = कः स्वीकरोति । अवध्यभावेन = निर्भयः सन् । सर्वम् = उत्कर्षापकर्षञ्च निन्दास्तुतिम् वा । जल्पति = कथयति ॥ ६५ ॥

और भी—दूत के मुँह से अपनी तुच्छता और शत्रु की उच्चता सुन कर भला कौन राजा उस पर ध्यान देता है ? क्योंकि अवध्य होने के नाते निर्भय होकर दूत अच्छी बुरी सभी बातें कहता है ॥ ६५ ॥

ततो राजा, काकश्च स्वां प्रकृतिमापन्नौ। शुकोऽप्युत्थाय चलितः। पश्चाच्चक्रवाकेणाऽऽनीय, प्रबोध्य, कनकाऽलङ्कारादिकं दत्त्वा, सम्प्रेषितः स्वदेशं ययौ। शुकोऽपि विन्ध्याऽचलं गत्वा, स्वस्य राजानं चित्रवर्णं प्रणतवान्।

तं विलोक्य राजोवाच—'शुक! का वार्त्ता ?, कीदृशोऽसौ देशः ?'।

शुको ब्रूते—'देव! संक्षेपादियं वार्त्ता,—सम्प्रति युद्धोद्योगः क्रियताम्। देशश्चाऽसौ कर्पूरद्वीपः स्वर्गैकदेशो, राजा च द्वितीयः स्वर्गपतिः कथं वर्णयितुं शक्यते।' ततः सर्वाञ्छिष्टानाहूय राजा मन्त्रयितुमुपविष्टः। आह च तान्—'सम्प्रति कर्त्तव्ये विग्रहे यथा-कर्त्तव्यमुपदेशं ब्रूत। विग्रहः पुनरवश्यं कर्त्तव्यः'। तथा चोक्तम्—

प्रकृतिमापन्नौ = शान्तिं प्राप्तौ। प्रबोध्य = सान्त्ववचनैः आश्वास्य। सम्प्रेषितः = संप्रहितः। ययौ = गतवान्। विन्ध्याचलम् = विन्ध्यप्रदेशम्। प्रणतवान् = ननाम।

सम्प्रति = इदानीम्। युद्धोद्योगः = युद्धाय प्रयत्नः। स्वर्गैकदेशः = स्वर्गस्य एकांशः। द्वितीयः = अपरः। स्वर्गपतिः = इन्द्रः। शिष्टान् = सभ्यान्। मन्त्रयितुम् = मन्त्रणां कर्तुम्। कर्तव्यविग्रहे = करणीययुद्धे। यथाकर्तव्यम् = यथाकरणीयम्। उपदेशम् = उपायवचनम्।

तब राजा और कौवा शान्त हुए। सुग्गा भी उठकर चला। किन्तु चकवे ने उसे बुला कर सोने के आभूषण आदि देकर विदा किया और वह चला गया। सुग्गे ने जाकर विन्ध्याचल के राजा चित्रवर्ण को प्रणाम किया।

राजा ने उसे देखकर कहा—'क्या समाचार है ? वह देश कैसा है ?'

सुग्गे ने कहा—राजन्, थोडे में समाचार यह है कि इस समय आप युद्ध की तैयारी करें। कर्पूरद्वीप स्वर्ग का एक टुकडा है और राजा दूसरा इन्द्र है। उसका वर्णन नहीं किया जा सकता।' तब सभी सभासदों को बुलाकर राजा ने विचार करना प्रारम किया। और उसने कहा—इस समय किए जाने वाले युद्ध में क्या करना चाहिए। उसे आप लोग बतायें। लडाई तो अवश्य ही करनी है। जैसा कि कहा भी गया है—

'असन्तुष्टा द्विजा नष्टाः, सन्तुष्टाश्च महीभुजः।
सलज्जा गणिका नष्टा, निर्लज्जाश्च कुलाङ्गनाः' ॥ ६६ ॥

अन्वय—असंतुष्टा द्विजाः, सन्तुष्टाः च महीभुजः, नष्टाः। सलज्जाः गणिकाः, निर्लज्जाः कुलस्त्रियः च नष्टाः ॥ ६६ ॥

असंतुष्टाः = संतोषमनापन्नाः। द्विजाः = ब्राह्मणाः। सतुष्टाः = स्ववैभवेन तुष्टिं गताः। महीभुजः = नृपाः। नष्टाः = नष्टप्रायाः। सलज्जा. = लज्जाशीला.। गणिका. = वेश्याः। निर्लज्जाः = लज्जाहीनाः। कुलस्त्रियः=कुलकामिन्यः ॥ ६६ ॥

'असतुष्ट ब्राह्मण, सतुष्ट (जितना है उतना बहुत है, ऐसा सोचने वाला) राजा, लज्जा करने वाली वेश्या तथा निर्लज्ज कुलीन स्त्री अवश्य नष्ट हो जाती है' ॥ ६६ ॥

दूरदर्शी नाम गृध्रो मन्त्री ब्रूते-'देव! व्यसनितया विग्रहो न विधिः'। यतः—

व्यसनितया = प्रजा परिजनादिविरुद्धत्वात् आपद्ग्रस्ततया। विग्रहः=युद्धं। न विधिः = नोचित'।

दूरदर्शी नाम के गृद्ध्र ने कहा—राजन्, व्यसन के समय—(मित्र, प्रजा, मन्त्री तथा अधिकारी आदि के अनुकूल न होने पर) युद्ध करना ठीक नहीं है क्योंकि—

'मित्राऽमात्यसुहृद्वर्गा यदा स्युर्दृढभक्तयः।
शत्रूणां विपरीताश्च, कर्त्तव्यो विग्रहस्तदा' ॥ ६७ ॥

अन्वय—यदा मित्रामात्यसुहृद्वर्गाः दृढभक्तयः शत्रूणाम् विपरीताश्च स्युः तदा विग्रह. कर्तव्य. ॥ ६७ ॥

यदा = यस्मिन्काले। मित्रामात्यसुहृद्वर्गा' = मित्रमंत्रिस्वजनवर्गाः। दृढभक्तयः = स्वराष्ट्रे नृपे च दृढानुरक्ता', विपरीताः = विरुद्धाः। तदा = तस्मिन्काले। विग्रह. = युद्ध। कर्तव्यः = करणीयः ॥ ६७ ॥

मित्र, मंत्री, संबंधी लोग जब राजा के प्रति दृढ भाव से श्रद्धा करते हों और शत्रु के विपरीत हों उस समय युद्ध करना चाहिए ॥ ६७ ॥

अन्यच्च—

'भूमिर्मित्रं, हिरण्यं च, विग्रहस्य फलं त्रयम् ।
यद्वैतन्निश्चितं भावि, कर्त्तव्यो विग्रहस्तदा' ॥ ६८ ॥

अन्वय—भूमिः मित्रं हिरण्य च विग्रहस्य त्रयम् फलम्। यदा एतत् निश्चितम् भावि तदा विग्रहः कर्तव्यः ॥ ६८ ॥

भूमिः=भूभागः। मित्रम्=सुहृत्। हिरण्यम्=सुवर्णम्। विग्रहस्य=युद्धस्य। एतत्=भूम्यादि त्रयम्। निश्चितम्=अवश्यमेव प्राप्तव्यम्। भावि=स्यात्॥ ६८ ॥

भूमि प्राप्त करना, मित्र प्राप्त करना तथा धन प्राप्त करना यही तीन लड़ाई के फल होते हैं—जब इन तीनों की प्राप्ति निश्चित हो तभी युद्ध करना चाहिए ॥ ६८ ॥

राजाऽऽह—'मद्बलं तावदवलोकयतु मन्त्री। तदेतेषामुपयोगो ज्ञायताम्। एवमाहूयतां मौहूर्त्तिकः। स यात्रार्थं शुभलग्नं निर्णीय ददातु'। मन्त्री ब्रूते—'देव! तथाऽपि सहसा यात्राकरणमनुचितम्'। यतः—

मद्बलम्=मत्सैन्यम्। अवलोकयतु=निरीक्षणम् करोतु। तदा=तत्पश्चात्। उपयोगः=युद्धप्रयोगविधिः। मौहूर्तिकः=ज्योतिषिकः। निर्णीय=शास्त्रदृष्ट्या निर्णय कृत्वा। शुभलग्नम्=मङ्गलकालम्। यात्राकरणम्=युद्धाय प्रस्थानम्।

राजा ने कहा—'मंत्री, पहले आप मेरी सेना का निरीक्षण कर लें और उसके उपयोग की व्यवस्था भी जान लें। फिर शुभ दिन का निश्चय करने वाले ज्योतिषी को बुलावें। वह निर्णय करके शुभ मुहूर्त बता दे' मन्त्री ने कहा—'फिर भी जल्दी में यात्रा करना अनुचित है'। क्योंकि—

'विशन्ति सहसा मूढा येऽविचार्य द्विषद्बलम्।
खड्गधारापरिष्वङ्गं लभन्ते ते सुनिश्चितम्' ॥ ६९ ॥

अन्वय—ये मूढा द्विषद्बलम् अविचार्य सहसा विशन्ति ते सुनिश्चितम् खड्गधारापरिष्वङ्गम् लभन्ते ॥ ६९ ॥

ये मूढा=विचारशून्याः। द्विषद्बलम्=शत्रुपराक्रमम्। अविचार्य=अनालोच्य। विशन्ति=शत्रुदेशे, सेनायाम् विग्रहे वा प्रविशन्ति। ते=मूढाः। सुनिश्चितम्=ध्रुवम्। खड्गधारापरिष्वङ्गम्=कृपाणधाराश्लिष्टम् मृत्युमित्यर्थः। लभन्ते=प्राप्नुवन्ति ॥ ६९ ॥

'जो मूर्ख शत्रु की सेना अथवा बल का विचार किए बिना ही उसके देश में घुस जाते हैं वे निश्चय ही तलवार की धार का आलिंगन पाते हैं अर्थात् तलवार से काट दिए जाते हैं' ॥ ६९ ॥

राजाऽऽह—'मन्त्रिन्! ममोत्साहभङ्गं सर्वथा मा कृथाः। विजिगीषुर्यथा परभूमिमाक्रामति तथा कथय।' गृध्रो ब्रूते—'देव! तत्कथयामि। किन्तु तदनुष्ठितमेव फलप्रदम्'। तथा चोक्तम्—

ममोत्साहभङ्ग.=ममोत्साहस्य विरोधः। सर्वथा=केनापि हेतुना। मा कृथाः=मा कार्षीः। विजगीषुः=विजयाभिलाषी। यथा=येन प्रकारेण। परभूमिम्=शत्रुदेशम्। आक्रामति=स्वाधीनताम् नयति। तदनुष्ठितम्=तस्यानुसारेण कृतम् एव। फलप्रदम्=सफलम्॥

राजा ने कहा—'मन्त्री अब किसी भी प्रकार से मेरे उत्साह को नष्ट न करो। विजय चाहनेवाला जिन उपायों से शत्रुदेश को प्राप्त करता है उन्हें बताओ।' गृद्ध ने कहा—'उसे कह रहा हूँ। किन्तु उसके अनुसार काम करने से ही लाभ होगा।' जैसा कि कहा भी गया है—

'किं मन्त्रेणाऽननुष्ठाने शास्त्रवित्पृथिवीपतेः।
न ह्यौषधपरिज्ञानाद्व्याधेः शान्तिः क्वचिद्भवेत्॥ ७०॥

अन्वय.—शास्त्रवित्पृथिवीपतेः अननुष्ठाने मन्त्रेण किम् (प्रयोजनम्) हि औषधपरिज्ञानात् क्वचित् व्याधेः शान्ति. न भवेत्॥ ७०॥

शास्त्रवित्पृथ्वीपतेः=शास्त्रज्ञस्य राज्ञः अपि। अननुष्ठानेन=अनाचरितेन। मंत्रेण=परामर्शेन। किम्=किम् फलम्, किमपि नेत्यर्थः। औषधपरिज्ञानात्=औषधस्य ज्ञानात्। व्याधे.=रोगस्य। शान्तिः=शमनम्॥ ७०॥

'यदि शास्त्रों का ज्ञाता होते हुए भी राजा मन्त्रणा के अनुसार कार्य न करे तो उससे उसे क्या लाभ होगा। भला औषधि का ज्ञान होने से ही कहीं रोग दूर हो सकता है?॥ ७०॥

राजाऽऽदेशश्चानतिक्रमणीयः। —इति यथाश्रुतं निवेदयामि। शृणु—'देव!

राजादेश.=राजाज्ञा। अनतिक्रमणीयः=नोल्लङ्घनीय.। यथाश्रुतं=यथा-वर्णितम्। निवेदयामि=कथयामि।

राजा की आज्ञा का उल्लंघन नहीं करना चाहिए। इसलिए मैंने जैसा सुना है वैसा कह रहा हूँ। सुनिए—

'नद्यद्रि-वन दुर्गेषु यत्र यत्र भयं नृप!।
तत्र तत्र च सेनानीर्यायाद्व्यूहीकृतैर्बलैः'॥ ७१॥

अन्वय—हे नृप, नदी-अद्रि वन-दुर्गेषु यत्र यत्र भयम् (अस्ति) तत्र तत्र व्यूहीकृतैः बलैः (सह) सेनानीः यायात्॥ ७१॥

यत्र यत्र = यस्मिन् यस्मिन् स्थाने। नद्यद्रिवनदुर्गेषु = सरित्पर्वतकाननादिदुर्गमस्थलेषु। व्यूहीकृतैः = आकृतिविशेषेण सज्जितैः। बलैः = सैन्यैः सह। सेनानीः = सेनापतिः। यायात् = गच्छेत् ॥ ७१ ॥

'नदी, पहाड, जंगल आदि भयकर स्थानों में जहाँ-जहाँ भय का कारण हो, हे राजन्! वहाँ-वहाँ मोर्चेबन्दी से व्यवस्थित सेनाओं के साथ सेनापति चले जायँ' ॥ ७१ ॥

'बलाध्यक्षः पुरो यायात्प्रवीरपुरुषाऽन्वितः।
मध्ये कलत्रं, स्वामी च, कोशः, फल्गु च यद्बलम्' ॥ ७२ ॥

अन्वयः—प्रवीरपुरुषान्वितः बलाध्यक्षः पुरः यायात् मध्ये कलत्रं, स्वामी, कोशः, यत् फल्गुबलम् च (यायात्) ॥ ७२ ॥

प्रवीरपुरुषान्वितः—श्रेष्ठवीरयोद्धृसमन्वितः। बलाध्यक्षः = सेनापतिः। पुरः = अग्रे। कलत्रम् = राजान्तःपुरम्। स्वामी = राजा। फल्गुबलम् = अल्पबलसैन्यम् ॥ ७२ ॥

'बडे-बडे योद्धा पुरुषों के साथ प्रधान सेनापति सेना के आगे रहे, बीच में स्त्रियाँ, राजा, खजाना और अल्प बलवाली सेना रहे' ॥ ७२ ॥

'पार्श्वयोरुभयोरश्वा, अश्वानां, पार्श्वतो रथाः।
रथानां पार्श्वतो नागा, नागानां च पदातयः' ॥ ७३ ॥

अन्वयः—उभयोः पार्श्वयोः अश्वाः, अश्वानाम् पार्श्वतो रथाः, रथानाम् पार्श्वतो नागाः, नागानाम् च पार्श्वतो पदातयः ॥ ७३ ॥

उभयोः—द्वयोः। पार्श्वयोः = (बगल में)। अश्वाः = घोटकाः। नागाः = गजाः। पदातयः—पत्तिसैनिकाः (पैदल सैनिक) ॥ ७३ ॥

'उसके दोनों ओर (दाएँ बाएँ) घोडे, घोडों के बगल में रथ और रथों के बगल में हाथी तथा हाथियों के बगल में पैदल सैनिक रहें' ॥ ७३ ॥

'पश्चात्सेनापतिर्यायात्खिन्नानाश्वासयञ्छनैः।
मन्त्रिभिः सुभटैर्युक्तः प्रतिगृह्य बलं नृपः—॥' ७४ ॥

अन्वयः—पश्चात् सेनापतिः खिन्नान् शनैः आश्वासयन् यायात् (तत्पश्चात्) मन्त्रिभिः सुभटैः युक्तः नृपः बलम् प्रतिगृह्य (यायात्) ॥ ७४ ॥

खिन्नान् = श्रान्तान् सैनिकान्। शनैराश्वासयन् = मृदुवचनैः सान्त्वयन्। यायात् = गच्छेत्। नृपः = राजा। मन्त्रिभिः = सचिवैः। सुभटैः = सुशूरैः। युक्तः = सहितः। बलम् = सेनाम्। प्रगृह्य = समादाय ॥ ७४ ॥

'उसके पीछे थके हुए लोगों को मीठी मीठी बातों से धैर्य देते हुए सेनापति चले और उसके पीछे मन्त्रियों और अच्छे-अच्छे वीरों से युक्त सेना लिए हुए राजा चले' ॥ ७४ ॥

'समेयाद्विषमं नागैर्जलाऽऽढ्यं समहीधरम् ।
सममश्वैर्जलं नौभिः, सर्वत्रैव पदातिभिः' ॥ ७५ ॥

अन्वय.—विषमम् = (स्थलम्) जलाढ्यम् समहीधरम् (स्थलम्) च नागैः, समम् (भूमिम्) अश्वैः, जलम् नौभिः, पदातिभिः सर्वत्रैव समेयात् ॥ ७५ ॥

विषमम् = उच्चावचम् प्रदेशम् । जलाढ्यम् = जलपूर्णम् । समहीधरम्=पर्वतीयाम् भूमिम् । गजैः = नागैः । समम् = समतलम् । अश्वैः = घोटकैः । जलम् = सजलम् , नद्यादिप्रदेशम् । पदातिभिः = पत्तिभिः । सर्वत्र = समम् विषमम् वा प्रदेशम् ॥ ७५ ॥

'ऊँची नीची, जल से भरी हुई तथा पहाड़ियों से घिरी हुई भूमि पर हाथियों से, समतल भूमि पर घोड़ों से, नदी आदि जल प्रदेश में नाव से तथा सभी जगहों में पैदल सैनिकों द्वारा यात्रा करनी चाहिए' ॥ ७५ ॥

'हस्तिनां गमनं प्रोक्तं प्रशस्तं जलदाऽऽगमे ।
तदन्यत्र तुरङ्गाणां, पत्तीनां सर्वदैव हि' ॥ ७६ ॥

अन्वयः—जलदागमे हस्तिनाम् गमनम् प्रशस्तम् प्रोक्तम् तदन्यत्र तुरङ्गाणाम् , सर्वदैव हि पत्तीनाम् (गमनम् प्रशस्तम्) ॥ ७६ ॥

जलदागमे = वर्षारम्भे । हस्तिनाम् = गजानाम् । गमनम् = यात्राकरणम् । प्रशस्तम् = श्रेष्ठतरम् । प्रोक्तम् = कथितम् । तदन्यत्र = वर्षाकालातिरिक्ते । तुरङ्गाणाम् = अश्वानाम् । पत्तीनाम् = पदातीनाम् । सर्वदैव = सर्वकालेषु एव ॥ ७६ ॥

'वर्षा के समय हाथियों से यात्रा करना उत्तम है । और अन्य समय में घोड़ों से तथा पैदल तो हर समय यात्रा अच्छी होती है' ॥ ७६ ॥

'शैलेषु, दुर्गमार्गेषु विधेयं नृपरक्षणम् ।
स्वयोधै रक्षितस्याऽपि शयनं योगनिद्रया' ॥ ७७ ॥

अन्वय —शैलेषु दुर्गमार्गेषु नृपरक्षणम् विधेयम् । स्वयोधैः रक्षितस्यापि (राज्ञः) योगनिद्रया शयनम् (उचितम्) ॥ ७७ ॥

शैलेषु = पर्वतेषु । दुर्गमार्गेषु = अगम्यमार्गेषु । नृपरक्षणम् = राज्ञः रक्षाकरणम् । विधेयम् = उचितम् । स्वयोधैः = स्वभटैः । रक्षितस्यापि = पालितस्यापि । योगनिद्रया = अप्रगाढनिद्रया । शयनम् = शयनम् उचितम् ॥ ७७ ॥

पर्वतों और बीहड़ रास्तों में राजा की रक्षा होनी चाहिए और राजा को अपने वीरों द्वारा रक्षित होने पर भी योगनिद्रा से (उखड़ी उखड़ी नींद अर्थात् सावधानी से) ही सोना चाहिए ॥ ७७ ॥

नाशयेत्कर्षयेच्छत्रून् दुर्ग कण्टक-मर्दनैः ।
परदेशप्रवेशे च कुर्यादाटविकान्पुरः ॥ ७८ ॥

अन्वय :—दुर्गकन्टकमर्दनैः शत्रून् नाशयेत् कर्षयेत् वा । परदेशप्रवेशे आटविकान् पुरः कुर्यात् ॥ ७८ ॥

दुर्गकंटकमर्दनैः = दुर्गबाधाविनाशनैः । शत्रून् = रिपून् । नाशयेत् = विनाशयेत् । कर्षयेत् = क्लेशयेत् । परदेशप्रवेशे = शत्रुदेशप्रवेशे । आटविकान् = वनेचरान् किरातादीन् इत्यर्थः । पुरः = अग्रे ॥ ७८ ॥

किले को तोड-फोड कर और रास्ते की रुकावटों को कुचल कर शत्रुओं का विनाश करना चाहिए तथा उन्हें कष्ट पहुँचाना चाहिए और शत्रुदेश में घुसने के पहिले आगे-आगे जंगली व्यक्तियों को रास्ता बताने के लिए नियुक्त कर देना चाहिए ॥ ७८ ॥

'यत्र राजा तत्र कोशो, विना कोशं न राजता ।
सुभटेभ्यस्ततो दद्यात्, को हि दातुर्न युध्यते' ॥ ७९ ॥

अन्वय —यत्र राजा (विद्यते) तत्र कोश (स्थाप्यः) कोशं विना राजता न । तत. सुभटेभ्यः दद्यात्, दातु को हि न युध्यते ॥ ७९ ॥

यत्र राजा = यस्मिन् स्थाने राजा विद्यते । तत्र=तस्मिन् स्थाने । कोशः = कोशः सस्थाप्य. । राजता = नृपत्वम् । तत. = कोशात् । सुभटेभ्य. = वीरसैनिकेभ्यः । दातु = दातुः अर्थे । न युध्येत् = युद्ध न करोति ॥ ७९ ॥

जहाँ राजा रहता है वहाँ खजाना भी रहता है क्योंकि खजाने के बिना राजा का राजत्व व्यर्थ है । राजा को चाहिए कि उस खजाने से सेवकों को खूब धन दे क्योंकि दाता राजा के लिए कौन नहीं लड़ाई करता अर्थात् सभी करते हैं ॥ ७९ ॥

यतः—

'न नरस्य नरो दासो, दासस्त्वर्थस्य भूपते ! ।
गौरवं लाघवं वाऽपि धनाऽधननिबन्धनम्' ॥ ८० ॥

अन्वय —हेभूपते नर. नरस्य दास' न (अपितु) अर्थस्य दास. भवति । गौरवम् लाघवम् वापि धनाधननिबन्धनम् (भवति) ॥ ८० ॥

भूपते = राजन् । नर = मनुष्य । नरस्य = मनुष्यस्य । दासः न = सेवकः न । अर्थस्य = धनस्य । गौरवम् = महत्त्वम् । लाघवम् = लघुत्वम् च । धनाधननिबन्धनम् = धनधनाभावहेतुकम् ॥ ८० ॥

क्योंकि हे राजन्, मनुष्य मनुष्य की चाकरी नहीं करता बल्कि वह धन का गुलाम होता है । और बड़ाई छोटाई भी धन के आधार पर ही निश्चित की जाती है ॥ ८० ॥

'अभेदेन च युध्येत, रक्षेच्चैव परस्परम् ।
फल्गु सैन्यं च यत्किञ्चिन्मध्ये व्यूहस्य कारयेत्' ॥ ८१ ॥

अन्वयः—परस्परम् अभेदेन युध्येत रक्षेत् च यत्किञ्चित् फल्गु सैन्यं च (तत्) व्यूहस्य मध्ये कारयेत् ॥ ८१ ॥

परस्परम्=स्वभटाः अन्योन्यम् । अभेदेन=मिलित्वा । युध्येत=युद्धं कुर्यात् । रक्षेत्=रक्षणं कुर्यात् । फल्गु=निस्तत्त्वम् निर्बलमित्यर्थः । सैन्यम्=बलम् । व्यूहस्य=बलविन्यासस्य (मोर्चाबन्दी) । मध्ये=अन्तराले । कारयेत्=स्थापयेत् ॥ ८१ ॥

सैनिकों को परस्पर मिल कर लड़ना तथा एक दूसरे की रक्षा करनी चाहिए । और निर्बल सेना को व्यूह (मोर्चेबन्दी) के बीच में रखना चाहिए ॥ ८१ ॥

'पदातींश्च महीपालः पुरोऽनीकस्य योजयेत् ।
उपरुध्याऽरिमासीत, राष्ट्रं चाऽस्योपपीडयेत्' ॥ ८२ ॥

अन्वयः—महीपालः पदातीन् च अनीकस्य पुरः योजयेत् । अरिम् उपरुध्य आसीत अस्य राष्ट्रं च उपपीडयेत् ॥ ८२ ॥

महीपालः=नृपः । पदातीन्=पदिकान् । अनीकस्य=सेनायाः । पुरः=अग्रे । योजयेत्=स्थापयेत् । अरिम्=शत्रुम् । उपरुध्य=समन्तात् अवरोधम् कृत्वा । आसीत=तिष्ठेत् । अस्य=शत्रोः । राष्ट्रम्=राज्यम् । उपपीडयेत्=क्लेशयेत् ॥ ८२ ॥

राजा को चाहिए कि वह पैदल सेना को अन्य सेना के आगे रखे, शत्रु को चारों ओर से घेर ले (घेरा डाले) तथा उसके राज्य को (लूट पाट तथा फसल आदि नष्ट करके) पीड़ा पहुँचाये ॥ ८२ ॥

'स्यन्दनाऽश्वैः समे युध्येदनूपे नौ-द्विपैस्तथा ।
वृक्षगुल्माऽऽवृते चापैरसिचर्माऽऽयुधैः स्थले' ॥ ८३ ॥

अन्वयः—समे स्यन्दनाश्वैः, अनूपे नौद्विपैः, वृक्षगुल्मावृते चापैः, तथा स्थले असिचर्मायुधैः युद्ध्येत ॥ ८३ ॥

समे=समप्रदेशे । स्यन्दनाश्वैः=रथघोटकैः । अनूपे=जलप्राये । नौद्विपैः=नौकाभिः गजैश्च । वृक्षगुल्मावृते=तरुवीरुदाच्छादिते प्रदेशे । चापैः=धनुर्भिः । स्थले=भूमौ । असिचर्मायुधैः=खड्गचर्मप्रभेदिकाभिः । युध्येत्=युद्ध कुर्यात् ॥

समतल भूमि पर रथ और घोड़ों से, जलयुक्त स्थान में नावों तथा हाथियों से, वृक्ष और झाड़ियों से ढके हुए स्थान पर धनुष तथा स्थल भूमि पर तलवार और खांडे से युद्ध करना चाहिए ॥ ८३ ॥

'दूषयेच्चास्य सततं यवसाऽन्नोदकेन्धनम् ।
भिन्द्याच्चैव तडागानि, प्राकारान्परिखास्तथा' ॥ ८४ ॥

अन्वय —अस्य यवसान्नोदकेन्धनम् सततम् दूषयेत् तडागानि तथा प्राकारान् परिखाः च भिन्द्यात् एव ॥ ८४ ॥

अस्य = शत्रोः । यवसम् = घासम् । अन्नम् = भोज्यपदार्थम् । उदकम् = जलम् । इन्धनम् = इन्धनम् । सततम् = निरन्तरम् । दूषयेत् = विषादिप्रयोगेण दूषितम् कुर्यात् । तडागानि = सरांसि । प्राकारान् परिखाः = सालान् खेयानि च (किले की चहारदिवारी और खाई) भिन्द्यात् = नष्टं कुर्यात् ॥ ८४ ॥

शत्रु की घास, अन्न तथा जल आदि को (विषादि प्रयोगों से) दूषित कर देना चाहिए, तालाबों किले की चहार दीवारों और खाइयों को तोड फोड देना चाहिए ॥ ८४ ॥

'बलेषु प्रमुखो हस्ती, न तथाऽन्यो महीपतेः ।
निजैरवयवैरेव मातङ्गोऽष्टायुधः स्मृतः' ॥ ८५ ॥

अन्वय —महीपतेः बलेषु (यथा) हस्ती प्रमुखः तथा अन्यः न (प्रमुखः) निजैः अवयवैः मातङ्गः अष्टायुधः स्मृतः ॥ ८५ ॥

महीपतेः = नृपस्य । बलेषु = सैन्येषु । हस्ती = गजः । प्रमुखः = मुख्यः । निजैः = स्वकीयैः । अवयवैः = अङ्गैः । मातङ्गः = गजः । अष्टायुधः = शुण्डपुच्छदन्तद्वयपाद-चतुष्टयैः अवयवैः युद्धं करोति अतः अष्टायुधः कथ्यते ॥ ८५ ॥

राजा की सेना में हाथी जितना प्रधान होता है उतना और कोई नहीं, क्योंकि अपने अंगों (१ सूँड, १ पूँछ, २ दाँत, तथा ४ पैर) के कारण हाथी आठ हथियारों वाला कहा जाता है ॥ ८५ ॥

'बलमश्वश्च सैन्यानां प्राकारो जङ्गमो यतः ।
तस्मादश्वाधिको राजा विजयी स्थलविग्रहे' ॥ ८६ ॥

अन्वय —सैन्यानाम् बलम् अश्वः यतः (सः) जंगमः प्राकारः । तस्मात् अश्वाधिकः राजा स्थलविग्रहे विजयी (भवति) ॥ ८६ ॥

सैन्यानाम् = सैनिकानाम् । अश्वः = घोटकः । जंगमः = गमनशीलः । प्राकारः = सालः । अश्वाधिकः = अश्वसेनाबहुलः । स्थलविग्रहे = स्थलयुद्धे । विजयी = जयम् लभेत ॥ ८६ ॥

घोडा भी सेना का मुख्य बल होता है क्योंकि वह एक चलती फिरती दीवार है । इसलिए स्थल की लडाई में अधिक घोडों वाला राजा अवश्य विजयी होता है ॥ ८६ ॥

'तथा चोक्तं—

'युध्यमाना हयाऽऽरूढा देवानामपि दुर्जयाः ।
अपि दूरस्थितास्तेषां वैरिणो हस्तवर्त्तिनः' ॥ ८७ ॥

अन्वयः—हयारूढाः युध्यमानाः देवानाम् अपि दुर्जयाः (भवन्ति) तेषाम् दूरस्थिताः वैरिणः अपि हस्तवर्तिनः भवन्ति ॥ ८७ ॥

हयारूढाः = अश्वारूढाः । युध्यमानाः = युद्धं कुर्वाणाः । देवानाम् = सुराणाम् । दुर्जयाः = जेतुमशक्याः । तेषाम् = अश्वारूढानाम् । दूरस्थिताः = दूरस्थाः । वैरिणः = शत्रवः । हस्तवर्तिनः = करागताः इव भवन्ति ॥ ८७ ॥

और भी कहा गया है—

घोडे पर चढ कर युद्ध करने वाले राजा को देवता भी नहीं जीत सकते हैं । क्योंकि बहुत दूरी पर रहने वाला शत्रु भी मानो उसके हाथ में ही स्थित होता है ॥ ८७ ॥

'प्रथमं युद्धकारित्वं, समस्तबलपालनम् ।
दिङ्मार्गाणां विशोधित्वं, पत्तिकर्म प्रचक्षते' ॥ ८८ ॥

अन्वयः—प्रथमम् युद्धकारित्वम्, समस्तबलपालनम्, दिङ्-मार्गाणाम् विशोधित्वम् पत्तिकर्म प्रचक्षते ॥ ८८ ॥

प्रथमम् = अग्रतः । युद्धकारित्वम् = योधनम् । समस्तबलपालनम् = सम्पूर्णसैन्यरक्षणम् । दिङ्मार्गाणाम् = समस्तदिक्पथानाम् । विशोधित्वम् = परिष्करणम् । पत्तिकर्म = पदातिकार्यम् । प्रचक्षते = कथ्यते ॥ ८८ ॥

सभी सेनाओं के आगे होकर युद्ध करना, सारी सेना की रक्षा करना तथा सभी ओर के रास्तों को साफ करना पैदल सेना के काम हैं ॥ ८८ ॥

'स्वभावशूरमस्त्रज्ञमविरक्तं, जितश्रमम् ।
प्रसिद्धक्षत्रियप्रायं बलं श्रेष्ठतमं विदुः' ॥ ८९ ॥

अन्वयः—स्वभावशूरम् अस्त्रज्ञम् अविरक्तम्, जितश्रमम् प्रसिद्धक्षत्रियप्रायम् बलम् श्रेष्ठतमम् विदुः ॥ ८९ ॥

स्वभावशूरम् = प्रकृत्या वीरम् । अस्त्रज्ञम् = अस्त्रज्ञानयुक्तम् । अविरक्तम् = स्वपक्षम् प्रति अनुरक्तम् । जितश्रमम् = श्रमशीलम् । प्रसिद्धक्षत्रियप्रायम् = ख्यातक्षत्रियबहुलम् । बलम् = सैन्यम् । श्रेष्ठतमम् = उत्कृष्टम् । विदुः = जानीयात् ॥ ८९ ॥

स्वभाव से ही वीर, हथियार चलाने में निपुण, राजा के प्रति श्रद्धा रखने वाली, सभी प्रकार के परिश्रम को सहन करने वाली प्रसिद्ध क्षत्रियों से भरी हुई सेना श्रेष्ठ मानी जाती है ॥ ८९ ॥

'यथा प्रभुकृतान्मानाद्युध्यन्ते भुवि मानवाः ।
न तथा बहुभिर्दत्तैर्द्रविणैरपि भूपते' ॥ ९० ॥

अन्वय —हे भूपते यथा प्रभुकृतात् मानात् भुवि मानवाः युध्यन्ते तथा वृत्तैः बहुभिः द्रविणैः अपि न (युध्यते) ॥ ९० ॥

हे भूपते = हे राजन् । यथा=येन प्रकारेण । प्रभुकृतात्=स्वामिकृतात् । मानात्= सम्मानात् । भुवि = जगति । मानवाः = मनुष्याः । द्रविणैः = धनैः ॥ ९० ॥

इस ससार में मनुष्य राजा से सम्मान पाकर जितना युद्ध करते हैं उतना अत्यधिक धन देने पर भी नहीं करते ॥ ९० ॥

'वरमल्पबलं सारं न कुर्यान्मुण्डमण्डलीम् ।
कुर्यादसारभङ्गो हि सारभङ्गमपि स्फुटम्' ॥ ९१ ॥

अन्वय —सारम् अल्पबलम् वरम् (अतः) मुण्डमण्डलीम् न कुर्यात् (यत.) असारभङ्गः सारभङ्गमपि स्फुटम् कुर्यात् ॥ ९१ ॥

सारम् = तत्त्वयुक्तम् , दृढपराक्रमम् । अल्पबलम् = लघुसैन्यम् । वरम् = श्रेष्ठम् । मुण्डमण्डलीम् = निर्बलमनुष्यमुण्डमण्डलम् निर्बलानाम् आधिक्येन सग्रहणम् इत्यर्थ. । असारभङ्ग = निर्बलसैन्यपराजय । सारभङ्गम् = सबलशूरसैन्य पराजयम् । स्फुटम् = निश्चितम् ॥ ९१ ॥

तत्त्वयुक्त (बलवानों से पूर्ण) छोटी सेना अच्छी होती है अत सिर गिनाने के लिए व्यर्थ बहुत से साधारण व्यक्तियों को सेना में नहीं रखना चाहिए। क्योंकि बलहीन सेना के टूट जाने पर (हार कर भाग जाने पर) बलवान सेना भी तितर बितर हो जाती है ॥ ९१ ॥

'अप्रसादोऽनधिष्ठानं, देयांशहरणं च यत् ।
कालयापोऽप्रतीकारस्तद्वैराग्यस्य कारणम् ॥ ९२ ॥

अन्वय —अप्रसाद', अनधिष्ठानम् देयांशहरणम् , कालयाप' अप्रतीकार. च तत् वैराग्यस्य कारणम् (भवति) ॥ ९२ ॥

अप्रसाद =सैनिकान् प्रति राज्ञः अकृपा, सुष्ठुकार्यकरणेऽपि पारितोषिकादिभि· सम्मानाभाव· । अनधिष्ठानम् = योग्यबलाध्यक्षाभावः । देयांशहरणम् = देयवेतनादिसङ्कोच' । कालयापः = वेतनादिदाने विलम्ब । अप्रतीकारः = सैन्यक्लेशदूरीकरणे अशक्ति· । तत्=त प्रति । वैराग्यकारणम् = सैन्यानाम् उदासीनताया' हेतुः ॥ ९२ ॥

१ अप्रसाद (अच्छा कार्य करने पर भी सैनिकों को पुरस्कृत न करना), २ योग्य सेनापति की कमी, ३. दिए हुए धन को पुन छीन लेना, ४ कुछ देने में समय गवाना (टाल मटोल करना) ५. सैनिकों के कष्ट निवारण का उपाय न करना—यही पांच सैनिकों के असतोष के कारण होते हैं ॥ ९२ ॥

'अपीडयन् बलं शत्रून् जिगीषुरभिषेणयेत् ।
सुखसाध्यं द्विषां सैन्यं दीर्घयानप्रपीडितम्' ॥ ९३ ॥

अन्वय.—जिगीषुः बलम् अपीडयन् शत्रून् अभिषेणयेत् (यतः) दीर्घयान-प्रपीडितम् द्विषाम् सैन्यम् सुखसाध्यम् (भवति) ॥ ९३ ॥

जिगीषुः = विजयेच्छु । बलम् = सैन्यम् । अपीडयन् = अक्लेशयन् । शत्रून् = अरीन् । अभिषेणयेत् = अभियायात् (आक्रमण करे) दीर्घयानप्रपीडितम् = दीर्घमार्गपरिश्रान्तम् । द्विषाम् = शत्रूणाम् । सैन्यम् = बलम् । सुखसाध्यम् = अनायासेन जेतुं शक्यम् ॥ ९३ ॥

विजय की इच्छा रखने वाले राजा को चाहिए कि थोडी थोडी दूर चलकर वह अपनी सेना को विना कष्ट पहुँचाए हुए ही शत्रु पर चढाई करे । क्योंकि बहुत दूरी से आने के कारण थकी हुई शत्रु की सेना आसानी से पराजित की जा सकती है ॥ ९३ ॥

'दायादादपरो यस्मान्नास्ति भेदकरो द्विषाम् ।
तस्मादुत्थापयेद्यत्नाद्दायादं तस्य विद्विषः' ॥ ९४ ॥

अन्वय —द्विषाम् भेदकरः दायादात् अपरः मंत्रः नास्ति तस्मात् तस्य विद्विषः दायादम् यत्नात् उत्थापयेत् ॥ ९४ ॥

द्विषाम् = शत्रूणाम् । भेदकरः = विघटनकारक. । दायादात् = सपिण्डात् (पट्टीदार) अपर. मन्त्र. = अन्य उपायः । विद्विषः = शत्रो. । दायादम्=सपिण्डम् । यत्नात् = प्रयत्नात् । उत्थापयेत् = तेन सह विरोधम् कारयेत् ॥ ९४ ॥

शत्रु के हिस्सेदारों के अतिरिक्त उनमें फूट उत्पन्न करने वाला कोई दूसरा उत्तम उपाय नहीं होता । इस लिए बड़े प्रयत्न के साथ शत्रु के हिस्सेदारों को उसके विपरीत खडा कर देना चाहिए ॥ ९४ ॥

'सन्धाय युवराजेन, यदि वा मुख्यमन्त्रिणा ।
अन्त.प्रकोपणं कुर्यादभियोक्ता स्थिरात्मन' ॥ ९५ ॥

अन्वय —युवराजेन यदि वा मुख्यमन्त्रिणा संधाय स्थिरात्मन. अभियोक्तु अन्तः-प्रकोपणम् कार्यम् ॥ ९५ ॥

युवराजेन = राजकुमारेण । यदि वा = अथवा । मुख्यमन्त्रिणा = प्रधानामात्येन । संधाय = गुप्तसंधिम् विधाय । स्थिरात्मनः = दुर्गबलाद्याश्रयेण सुदृढस्य । अभियोक्तुः युध्यमानस्य शत्रोः । अन्त.प्रकोपणम् = गृहयुद्धम् , विद्रोहम् वा । कार्यम् = करणीयम् ॥ ९५ ॥

राजकुमार अथवा मन्त्री के साथ गुप्त सधि करके किले आदि में दृढ स्थिति वाले युद्ध में सलग्न शत्रु के घर में ही विद्रोह करा देना चाहिए ॥ ९५ ॥

'क्रूराऽमित्रं रणे चापि भङ्गं दत्त्वा विघातयेत्।
अथवा गोग्रहाऽऽकृष्ट्या, तन्मुख्याऽऽश्रितबन्धनात्' ॥९६॥

अन्वय —क्रूरामित्रम् रणे भङ्गम् दत्त्वा विघातयेत् अथवा तन्मुख्याश्रितबन्धनात् गोग्रहाकृष्ट्या (विघातयेत्) ॥ ९६ ॥

क्रूरामित्रम् = दुष्टशत्रुम्। रणे = युद्धे। गोग्रहाकृष्ट्या = वत्सबन्धनेन गोग्रहणवत्। तन्मुख्याश्रितबन्धनात् = दारपुत्रादिबन्धनात्। भङ्गम् = पराजयम्। विघातयेत् = हन्यात् ॥ ९६ ॥

दुष्ट शत्रु को युद्ध में पराजित करके मार डालना चाहिए अथवा जैसे बछड़ा पकड़ लेने से गाय स्वयम् पास आजाने से पकड़ ली जाती है उसी प्रकार शत्रु के सम्बन्धियों को पकड़ कर उसे अपने वश में करके मरवा देना चाहिए ॥ ९६ ॥

'स्वराज्यं वासयेद्राजा परदेशाऽपहरणात्।
अथवा दान मानाभ्यां वासितं धनदं हि तत्' ॥ ९७ ॥

अन्वय —परदेशापहरणात् राजा स्वराज्यम् वासयेत् अथवा दानमानाभ्याम् (वशीकृत्य वासयेत्)। तत् वासितम् धनदम् हि भवति ॥ ९७ ॥

परदेशापहरणात् = शत्रुदेशम् उद्वास्य। स्वराज्यम् = स्वराष्ट्रम्। दानमानाभ्याम् = शत्रुजनान् अभय दान सम्मानादिभिः। तत् = दानमानाभ्याम् पुरस्कृतम्। धनदम् = लाभकरम् ॥ ९७ ॥

राजा को चाहिए कि शत्रु देश को उजाड़ कर वहाँ के लोगों को अपने देश में ले आकर बसाए। अथवा उन्हें धन तथा सम्मान के लोभ से अपने देश में ले आए। क्योंकि इस प्रकार बसाए गए लोगों से धन की प्राप्ति होती है ॥ ९७ ॥

अथवा किं बहुनोदितेन—

आह = उक्तवान्। बहुनोदितेन = प्रलापाधिकेन।

अथवा, अधिक कहने से क्या लाभ ?

'आत्मोदयः, परग्लानिर्द्वयं नीतिरितीयती।
तदूरीकृत्य कृतिभिर्वाचस्पत्यं प्रतायते ॥ ९८ ॥

अन्वय —आत्मोदयः परग्लानिः इतीयती द्वयम् नीतिः तद् ऊरीकृत्य कृतिभिः वाचस्पत्यम् प्रतायते ॥ ९८ ॥

आत्मोदयः = स्वोन्नतिः। परग्लानिः = शत्रुहानिः। इतीयती = (इति + इयती) एतावन्मात्रमेव। नीतिः = राजनीतिसारम्। तत् = उक्तद्वयम् नीतितत्त्वम्।

ऊरीकृत्य = स्वीकृत्य । कृतिभिः = विद्वद्भिः । वाचस्पत्यम् = पांडित्यम् । प्रतायते = प्रख्याप्यते ॥ ९८ ॥

अपनी उन्नति और शत्रु की अवनति—यही दो प्रधान नीति हैं । इन्हीं को ग्रहण करके विद्वान अपनी विद्वत्ता प्रकट करते हैं ॥ ९८ ॥

राज्ञा विहस्योक्तं—'सर्वमेतद्विशेषतश्चोच्यते' । किन्तु—

'अन्यदुच्छृङ्खलं सत्त्वमन्यच्छास्त्रनियन्त्रितम् ।
सामानाधिकरण्यं हि तेजस्तिमिरयोः कुतः' ? ॥ ९९ ॥

अन्वय —उच्छृङ्खलं सत्त्वम् अन्यत् शास्त्रनियन्त्रितम् (सत्त्वम् अन्यत्) तेजस्तिमिरयोः सामानाधिकरण्यं हि कुतः (भवेत्) ॥ ९९ ॥

उच्छृङ्खलम् = मर्यादाहीनम् स्वेच्छया प्रवर्तितम् इति भाव. । सत्त्वम् = पराक्रमः । अन्यत् = अन्यविधम् । शास्त्रनियन्त्रितम् = शास्त्रविधिना मर्यादितम् । तेजस्तिमिरयोः = प्रकाशान्धकारयोः । सामानाधिकरण्यम् = सहावस्थितिः । कुतः= कथम् ॥ ९९ ॥

राजा ने हँस कर कहा—'विशेषत. यह सभी ठीक है । किन्तु—

किसी प्रकार की मर्यादा न रखने वाला पराक्रम और होता है तथा शास्त्र द्वारा नियन्त्रित बल दूसरा होता है । भला प्रकाश और अन्धकार दोनों की एकत्र स्थिति कैसे हो सकती है ?' ॥ ९९ ॥

तत उत्थाय राजा मौहूर्तिकाऽऽवेदितलग्ने प्रस्थितः ।

तत. = तदनन्तरम् । राजा = नृपः । उत्थाय = सभायाः उत्थानम् कृत्वा । मौहूर्तिकावेदितलग्ने = ज्योतिषिकोक्तशुभमुहूर्ते प्रस्थित. = युद्धाय चलितः ।

इसके बाद राजा ने उठकर ज्योतिषियों द्वारा बताए गए शुभ लग्न में प्रस्थान किया ।

अथ प्रहितप्रणिधिश्चरो हिरण्यगर्भमागत्य प्रणम्योवाच—'देव ! समागतप्रायो राजा चित्रवर्णः । सम्प्रति मलयपर्वताऽधित्यकायां समावासितकटको वर्त्तते । दुर्गशोधनं प्रतिक्षणमनुसन्धातव्यम् । यतोऽसौ गृध्रो महामन्त्री । किं च केनचित्सह तस्य विश्वासकथाप्रसङ्गेनैतदिङ्गितमवगतं मया, यत्—'अनेन कोऽप्यस्मद्दुर्गे प्रागेव नियुक्तः ।' चक्रवाको ब्रूते—'देव ! काक एवाऽसौ सम्भवति ।'

प्रहितप्रणिधिः = प्रेषितप्रधानगुप्तचर. । हिरण्यगर्भम् = तन्नामानम् राजहंसम् । उवाच = उक्तवान् । सम्प्रति = इदानीम् । मलयपर्वताधित्यकायाम् = मलयाचलस्य ऊर्ध्वप्रदेशे । समावासितकटकः = स्थापितसैन्यः (डेरा डाले हुए) । वर्तते =

विद्यते । दुर्गशोधनम् = दुर्गान्वेषणम् । अनुसन्धातव्यम् = अन्वेषणीयम् । महामन्त्री = कूटनीतिज्ञः । विश्वासकथाप्रसङ्गेन = गुप्तवार्ताप्रकरणेन । तदिङ्गितम् = गूढ्भ्रस्य संकेतम् । अवगतम् = ज्ञातम् । प्रागेव = अभियानात्पूर्वमेव । कोऽपि = गुप्तचरः । नियुक्तः = वस्तुं प्रेषितः ।

इसके पश्चात् प्रधान गुप्तचर द्वारा भेजे गए दूत ने हिरण्यगर्भ के पास आकर कहा—राजन् राजा चित्रवर्ण अब यहाँ आना ही चाहते हैं। इस समय मलय पहाड पर डेरा डाले सेना के साथ पडे हैं। आप अपने दुर्ग का निरीक्षण हर क्षण कराते रहें। क्योंकि उसका मन्त्री गीध है। उसके किसी गुप्त बातचीत के प्रसंग से मुझे उसका यह संकेत मालूम हुआ है कि उसने हमारे किले में किसी को पहले से ही नियुक्त कर रखा है।' चकवे ने कहा—'राजन्, वह गुप्त दूत यह कौवा ही हो सकता है।'

राजाऽऽह—'न कदाचिदेतत् । यद्येवं तदा कथं तेन शुकस्याऽभिभवोद्योगः कृतः ? । अपरञ्च शुकस्याऽऽगमनात्तस्य विग्रहोत्साहः । स च चिरादत्राऽऽस्ते ।' मन्त्री ब्रूते—'तथाऽप्यागन्तुकः शङ्कनीयः ।' राजाऽऽह—आगन्तुका अपि कदाचिदुपकारका दृश्यन्ते । शृणु—

अभिभवोद्योगः = तिरस्करणाय प्रयत्नः । विग्रहोत्साहः = युद्धोत्साहः । स च = काकः । चिरात् = बहुकालात् । अत्रास्ते=अत्रैव वर्तते । आगन्तुः = अज्ञातकुलशीलः आगन्तुकः ।

राजा ने कहा—'यह कभी नहीं हो सकता है। यदि ऐसा होता तो वह सुग्गे को अपमानित करने का प्रयत्न ही क्यों करता ? इसके अतिरिक्त तोते के आने के समय से ही उसमें (राजा चित्रवर्ण में) युद्ध करने का उत्साह हुआ है। यह कौवा तो यहाँ बहुत दिनों से है।' मन्त्री ने कहा—'फिर भी आगन्तुक संदेहास्पद होता है।' राजा ने कहा—'कभी-कभी आने वाले बडे ही लाभदायक होते हैं। सुनो—

'परोऽपि हितवान्बन्धुर्बन्धुरप्यहितः परः ।
अहितो देहजो व्याधिर्हितमारण्यमौषधम्' ॥ १०० ॥

अन्वय—हितवान्परः अपि बन्धुः, अहितः बन्धुः अपि परः (भवति यतः) देहजः व्याधिः अहितः, आरण्यम् औषधम् हितमेव ॥ १०० ॥

हितवान् = शरीरोत्पन्नः । व्याधिः = रोगः । अहितः = क्षतिकारकः । परः = शत्रुः । देहजः = शरीरोत्पन्नः । व्याधिः = रोगः । अहितः=क्षतिकारकः । आरण्यम्= वनोद्भवम् । औषधम् = भेषजम् । हितम् = हितकारकम् ॥ १०० ॥

भलाई चाहने वाला शत्रु भी अपना भाई तथा नुकसान चाहने वाला भाई भी शत्रु

होता है। शरीर से ही उत्पन्न होने वाला रोग अकल्याणकारी होता है किन्तु जंगल में पैदा होने वाली दवा लाभदायक होती है ॥ १०० ॥

अपरञ्च—

'आसीद्वीरवरो नाम शूद्रकस्य महीभृतः।
सेवकः, स्वल्पकालेन स ददौ सुतमात्मनः' ॥ १०१ ॥

अन्वय—महीभृतः शूद्रकस्य वीरवरः नाम सेवकः आसीत् स स्वल्पकालेन आत्मनः सुतम् ददौ ॥ १०१ ॥

महीभृत.=राज्ञ.। सेवकः=अनुचरः। स्वल्पकालेन=स्वल्पकालमात्र-परिसेवनेन। आत्मनः=स्वस्य। सुतम्=पुत्रम्। ददौ=नृपहिताय बलिं कृतवान् ॥ १०१ ॥

और भी—

राजा शूद्रक का वीरवर नामक एक सेवक था जिसने थोड़े ही समय में राजा की भलाई के लिए अपने पुत्र को भी दे दिया था ॥ १०१ ॥

चक्रवाकः पृच्छति—'कथमेतत्?' राजा कथयति—

चकवे ने कहा—'यह कैसे।' राजा ने कहा—

कथा ८

अहं पुरा शूद्रकस्य राज्ञ. क्रीडासरसि कर्पूरकेलिनाम्नो राज-हंसस्य पुत्र्या कर्पूरमञ्जर्या सहाऽनुरागवानभवम्। राजद्वारमुपगम्य, नाम [महान्] राजपुत्रः कुतश्चिद्देशादागत्य, राजद्वारमुपगम्य, प्रतीहारमुवाच—'अहं तावद्वर्त्तनार्थी राजपुत्रः, मां राजदर्शनं कारय।' ततस्तेनाऽसौ राजदर्शनं कारितो ब्रूते—'देव! यदि मया सेवकेन प्रयोजनमस्ति, तदाऽस्मद्वर्त्तनं क्रियताम्'।

क्रीडासरसि=खेलासरोवरे। अनुरागवान्=अनुरक्तः। प्रतीहारम्=द्वाररक्षकम्। वेतनार्थी=आजीवार्थी। राजपुत्र.=राजकुमार.। वर्तनम्=वेतनम्।

आज से बहुत दिनों पहिले मैं राजा शूद्रक के क्रीडासरोवर में रहने वाले कर्पूर-केलि नाम के राजहंस की पुत्री कर्पूरमञ्जरी से प्रेम करने लगा था। (इसलिए वहीं रहता भी था) एक दिन वीरवर नाम का एक राजकुमार कहीं से आया और राज-द्वार पर पहुँच कर उसने द्वारपाल से कहा—'मैं जीविका का इच्छुक एक राजकुमार हूँ, अतः तुम मुझे राजा का दर्शन करा दो।' द्वारपाल ने उसे राजा का दर्शन करा

दिया तब राजकुमार ने कहा—'राजन् यदि आप मुझे अपनी सेवा में रखना चाहते हों तो मेरा वेतन निश्चित कर दीजिए।'

शूद्रक उवाच—किं ते वर्त्तनम् ? ।' वीरवरो ब्रूते—'प्रत्यहं सुवर्णपञ्चशतानि देहि'। राजाऽऽह— 'का ते सामग्री ?।' वीरवरो ब्रूते—'द्वौ बाहू, तृतीयश्च खड्गः।' राजाऽऽह—'नैतच्छक्यम्।'

प्रत्यहम् = प्रतिदिनम्। सुवर्णपञ्चशतानि = पञ्चशतानि दीनाराणि। सामग्री = सेवासाधनम्। एतत् = एतावत् वेतनम्।

शूद्रक ने कहा—'तुम्हारा वेतन क्या होगा ?' वीरवर ने कहा—'प्रतिदिन पाँच सौ मुद्रा दीजिए'। राजा ने कहा—'तुम्हारे पास सेवा के साधन क्या है ?' वीरवर ने कहा—'दो भुजाएँ तथा तीसरी तलवार।' राजा ने कहा—'इतना वेतन तो नहीं दिया जा सकता है।'

तच्छ्रुत्वा वीरवरः प्रणम्य चलितः। अथ मन्त्रिभिरुक्तम्—'देव ! दिनचतुष्टयस्य वर्त्तनं दत्त्वा ज्ञायतामस्य स्वरूपं, किमुपयुक्तोऽयमेतावद् वर्त्तनं गृह्णाति, अनुपयुक्तो वे'ति ?।' ततो मन्त्रिवचनादाहूय वीरवराय ताम्बूलं दत्त्वा पञ्चशतानि सुवर्णानि दत्तानि।

अस्य स्वरूपम् = वीरवरस्य अन्तस्तत्त्वम्, वेतनयोग्यम् गुणमित्यर्थः। उपयुक्तः = उचितः। ताम्बूलम् दत्त्वा = (पान देकर) तस्य सेवाम्, वर्तनम् च स्वीकृत्य।

यह सुनकर वीरवर प्रणाम करके चल दिया। इसके पश्चात् मन्त्रियों ने कहा—'राजन्, चार दिन का वेतन देकर इसकी वास्तविकता समझिए कि यह इतना वेतन उचित ढग से ले रहा है अथवा अनुचित ढग से।' तब मन्त्रियों की बात मान कर राजा ने वीरवर को बुलवाया और उसे पान देकर पाँच सौ अशरफियाँ दे दीं।

वर्त्तनविनियोगश्च राज्ञा सुनिभृतं निरूपितः। तदर्धं वीरवरेण देवेभ्यो, ब्राह्मणेभ्यो दत्तम्। स्थितस्याऽर्द्धं दुःखितेभ्यः, तदवशिष्टं भोज्यविलासव्ययेन। एतत्सर्वं नित्यकृत्यं कृत्वा, राजद्वारमहर्निशं खड्गपाणिः सेवते। यदा च राजा स्वयं समादिशति तदा स्वगृहमपि याति।

तद्विनियोगः = गृहीतवेतनव्ययप्रकारः। सुनिभृतम् = प्रच्छन्नम्। निरूपितः = ज्ञातः। तदर्धम् = प्राप्तवेतनार्धम्। स्थितस्यार्धम् = शेषस्यार्धम्। भोज्यव्ययविलासव्ययेन = भोजनामोदादिव्ययेन। नित्यकृत्यम् = नित्याचरणम्। अहर्नि-

याम =अहोरात्रम् । खड्गपाणिः=कृपाणहस्तः । सेवते=राजानम् अनुचरति । समादिशति = आज्ञापयति ।

राजा ने गुप्त रूप से उस वेतन के खर्च का ब्योरा भी जान लिया । वीरवर ने उसका आधा देवताओं तथा ब्राह्मणों के लिए खर्च किया । शेष का आधा दुखियों को दे दिया और उससे बचे हुए धन को भोजन तथा विलास में खर्च किया । इसी प्रकार प्रतिदिन व्यय करके वह रातदिन हाथ में तलवार लिए हुए राजद्वार पर खड़ा रहता था । जब राजा स्वयम् आज्ञा देता था तभी वह अपने घर भी जाता था ।

अथैकदा कृष्णचतुर्दश्यां रात्रौ स राजा सकरुणक्रन्दनध्वनिं शुश्राव । तच् श्रुत्वा राजा ब्रूते—'कः कोऽत्र द्वारि तिष्ठति' ? ।

सकरुणम् = सदयम् । क्रन्दनध्वनिम् = रोदनशब्दम् । शुश्राव = अशृणोत् । कः कः अत्र द्वारि = कः कः द्वाररक्षकः अत्र वर्तते ।

एक बार कृष्णपक्ष की चतुर्दशी की आधी रात के समय राजा ने अत्यन्त करुणा से भरी रोने की ध्वनि सुनी ? शूद्रक ने कहा—'द्वार पर कौन है ?'

तदा तेनोक्तं—'देव ! अहं वीरवरः ।' राजोवाच-'क्रन्दनाऽनुसरणं क्रियताम् ।' वीरवरोऽपि-'यथाऽऽज्ञापयति देवः' इत्युक्त्वा चलितः ।

क्रन्दनानुसरणम् = रोदनानुसन्धानम् ।

उसने कहा—'राजन् , मैं वीरवर हूँ ।' राजा ने कहा—'जाकर रोने का पता लगाओ ।' 'श्रीमान की जैसी आज्ञा'—यह कह कर वीरवर वहां से चल पड़ा ।

राज्ञा च चिन्तितम्-'अयमेकाकी राजपुत्रो मया सूचीभेद्ये तमसि प्रहितः । नैतदुचितम् । तदहमपि गत्वा 'किमेत'दिति निरूपयामि ।'

ततो राजाऽपि खड्गमादाय तदनुसरणक्रमेण नगराद्बहिर्निर्जगाम । गत्वा (च) वीरवरेण रुदती, रूपयौवनसम्पन्ना, सर्वालङ्कारभूषिता काचित्स्त्री दृष्टा, पृष्टा च—'का त्वम् ?, किमर्थं रोदिषि ?' इति । स्त्रियोक्तम्-'अहमेतस्य शूद्रकस्य राजलक्ष्मीः, चिरादेतस्य भुजच्छायायां महता सुखेन विश्रान्ता, इदानीमन्यत्र गमिष्यामि ।' वीरवरो ब्रूते—'यत्राऽपायः सम्भवति, तत्रोपायोऽप्यस्ति, तत्कथं स्यात्पुनरिहाऽऽवासो भवत्याः ? ।'

चिन्तितम् = मनस्यालोचितम् । नैतद् उचितम् = तस्य प्रेषणम् अनुचितम् । सूचीभेद्ये = अतिघने । तमसि = अन्धकारे । प्रहितः = प्रेषितः । तदनु गत्वा =

वीरवरमनुसृत्य । तदनुसरणक्रमेण = वीरवरमनुसरन् । रुदती = रोदनम् कुर्वन्ती । रूपयौवनसंपन्ना = सौन्दर्यतारुण्ययुक्ता । सर्वालङ्कारभूषिता = सर्वाभूषणैः सुशोभिता । रोदिषि = रोदन करोषि । भुजच्छायायाम् = आश्रये । सुखेन विश्रान्ता = आनन्देनावस्थिता । अपाय. = तत्र निवसने विपत्तिः । उपाय' = तत्रावस्थातुं साधनम् । इहावासः = अत्र स्थिति. ।

राजा ने विचार किया—'यह मैंने ठीक नहीं किया जो इस राजकुमार को इस घने अन्धकार में अकेले ही भेज दिया। इसलिए इसके पीछे पीछे चलकर देखूँ कि क्या बात है।'

तब राजा भी हाथ में तलवार लेकर उसके पीछे पीछे चलता हुआ नगर के बाहर पहुँचा। वीरवर ने आगे जाकर सभी गहनों से सुशोभित किसी सुन्दरी युवती स्त्री को रोते हुए देखा और पूछा 'तुम कौन हो? और क्यों रो रही हो?।' स्त्री ने कहा—'मैं इस शूद्रक की राज्यलक्ष्मी हूँ। बहुत दिनों तक इसकी भुजाओं की छाया में सुख से निवास करती रही। अब दूसरी जगह चली जाऊँगी।' वीरवर ने कहा—'जहाँ बाधा होती है, वहीं उसके दूर करने का उपाय भी होता है। तो आप किस उपाय से फिर यहाँ रह सकती हैं?'

लक्ष्मीरुवाच—'यदि त्वमात्मनः पुत्रं शक्तिधरं द्वात्रिंशल्लक्षणोपेतं भगवत्याः सर्वमङ्गलाया उपहारीकरोषि, तदाऽहं पुनरत्र सुचिरं निवसामि'। इत्युक्त्वाऽदृश्याऽभवत् ।

द्वात्रिंशल्लक्षणोपेतम् = महापुरुषाणाम् द्वात्रिंशल्लक्षणैः युक्तम् । सर्वमङ्गलायाः = दुर्गायाः ।

लक्ष्मी ने कहा—'यदि तुम बत्तीस लक्षणों से युक्त अपने पुत्र शक्तिधर को भगवती दुर्गा के लिए भेंट चढा दो तो मैं फिर यहाँ बहुत दिनों तक रह सकती हूँ।' ऐसा कह कर वह अदृश्य हो गयी।

ततो वीरवरेण स्वगृहं गत्वा, निद्रायमाणा स्ववधूः प्रबोधिता, पुत्रश्च। तौ निद्रां परित्यज्योत्थायोपविष्टौ। वीरवरस्तत्सर्वं लक्ष्मीवचनमुक्तवान्। तच्छ्रुत्वा साऽऽनन्द' शक्तिधरो ब्रूते—'धन्योऽहमेवंभूत', स्वामिराज्यरक्षार्थं यस्योपयोगः। तात! तत्कोऽधुना विलम्बस्य हेतुः?। एवंविधे कर्मणि देहस्य विनियोगः श्लाघ्यः। यतः—

निद्रायमाणा = निद्रालसा । स्ववधू = स्वपत्नी । प्रबोधिता = उत्थापिता । देहस्य = शरीरस्य । विनियोगः = व्यय. । श्लाघ्य. = प्रशस्यः ।

तब वीरवर ने घर आकर सोते हुए अपने स्त्रीपुत्र को जगाया। वह दोनों नींद छोड़ कर उठ बैठे। वीरवर ने लक्ष्मी द्वारा कही गई सारी बातें उन्हें सुना दी। उसे सुन कर आनन्द के साथ शक्तिधर ने कहा—'मैं अत्यन्त धन्य हूँ क्योंकि आज स्वामी के राज्य की रक्षा में मेरे इस शरीर का इतना प्रशंसनीय उपयोग हो रहा है। तो फिर विलम्ब क्यों हो रहा है। इस प्रकार के कार्य में इस शरीर का लग जाना अत्यन्त प्रशंसनीय है। क्योंकि—

'धनानि, जीवितञ्चैव परार्थे प्राज्ञ उत्सृजेत् ।
तन्निमित्तो वरं त्यागो, विनाशे नियते सति' ॥ १०२ ॥

अन्वय —प्राज्ञः धनानि जीवितं चैव परार्थे उत्सृजेत्, विनाशे नियते सति तन्निमित्तः त्यागः वरम् ॥ १०२ ॥

प्राज्ञः = बुद्धिमान् । धनानि = द्रव्याणि । जीवितम् = प्राणांश्च । परार्थे = परहिताय । उत्सृजेत् = त्यजेत् । विनाशे नियते = विनाशे निश्चिते । तन्निमित्तः = परहिताय । वरम् = श्रेष्ठम् ॥ १०२ ॥

बुद्धिमान धन तथा जीवन दोनों ही दूसरों की भलाई के लिए समर्पित कर देते हैं। जब इस शरीर का विनाश निश्चित है ही तो परोपकार के लिए इसे त्याग देना ही श्रेष्ठ है ॥ १०२ ॥

शक्तिधरमातोवाच-'यद्येतन्न कर्त्तव्यं, तत्केनाऽन्येन कर्मणा गृहीतस्य महावर्त्तनस्य निष्क्रयो भविष्यति।' इत्यालोच्य सर्वे सर्वमङ्गलायाः स्थानं गताः। तत्र सर्वमङ्गलां सम्पूज्य, वीरवरो ब्रूते—'देवि! प्रसीद, विजयतां शूद्रको महाराजः, गृह्यतामयमुपहारः!'—इत्युक्त्वा पुत्रस्य शिरश्चिच्छेद। ततो वीरवरश्चिन्तयामास-'गृहीतराजवर्त्तनस्य निस्तारः कृतः। अधुना निष्पुत्रस्य मे जीवनेनाऽलम्' । इत्यालोच्याऽऽत्मनः शिरश्चिच्छेद।

एतत् न कर्त्तव्यम् = स्वामिहिताय पुत्रोत्सर्गः न कार्यः। महावर्त्तनस्य = बहुमूल्यवेतनस्य । निष्क्रयः = निस्तारः। आलोच्य = विचार्य । प्रसीद = प्रसन्ना भव । उपहारः = बलि । निस्तारः = आनृण्यम् । निष्पुत्रस्य = पुत्रहीनस्य ।

शक्तिधर की माता ने कहा—'यदि यह कार्य नहीं किया जायगा तो फिर अन्य किस कार्य द्वारा इतने बड़े वेतन लेने का बदला चुकाया जा सकेगा?' ऐसा विचार कर सभी भगवती दुर्गा के मन्दिर में गये। वहाँ देवी की पूजा करके वीरवर ने कहा—'देवि, प्रसन्न हो जाओ, महाराज शूद्रक की जय हो। यह भेंट स्वीकार करें।' ऐसा

कह कर उसने पुत्र का सिर काट दिया। इसके बाद वीरवर ने विचार किया कि राजा द्वारा प्राप्त वेतन का ऋण चुका दिया। अब पुत्रहीन जीवन तो व्यर्थ है ऐसा सोच कर उसने अपना सिर भी काट दिया।

ततः स्त्रियाऽपि स्वामि-पुत्रशोकाऽऽर्त्तया तदनुष्ठितम्। तत्सर्वं दृष्ट्वा राजा साऽऽश्चर्यं चिन्तयामास—

स्वामिपुत्रशोकार्तया = पतिपुत्रशोकव्यग्रया। तदनुष्ठितम् = स्वशिरश्छेदनम् विहितम्। चिन्तयामास = विचारितवान्।

तब उसकी स्त्री ने भी पति-पुत्र के शोक से दुखी होकर वही किया (अपना सिर काट दिया)। यह सब देखकर आश्चर्य में पड़े हुए राजा ने विचार किया—

'जायन्ते च, म्रियन्ते च मद्विधाः क्षुद्रजन्तवः।
अनेन सदृशो लोके न भूतो, न भविष्यति'॥ १०२॥

अन्वय—मद्विधाः क्षुद्रजन्तवः जायन्ते म्रियन्ते च (किन्तु) अनेन सदृशः लोके न भूतः न भविष्यति॥ १०२॥

मद्विधाः = मत्सदृशाः। जायन्ते = उत्पद्यन्ते। म्रियन्ते = मरणं प्राप्नुवन्ति। क्षुद्रजन्तवः = क्षुद्रजीवाः। अनेन = वीरवरेण। सदृशः = तुल्यः॥ १०२॥

'मेरे जैसे तुच्छ प्राणी ही जन्म लेते और मरते रहते हैं किन्तु इसके समान न तो कोई हुआ न होगा'॥ १०२॥

तदेतत्परित्यक्तेन मम राज्येनाऽपि किं प्रयोजनम्।' ततः शूद्रकेणापि स्वशिरश्छेत्तुं खड्गः समुत्थापितः। अथ भगवत्या सर्वमङ्गलया प्रत्यक्षभूतया राजा हस्ते धृतः, उक्तश्च—'पुत्र! प्रसन्नाऽस्मि ते, एतावता साहसेनाऽलम्। जीवनान्तेऽपि तव राजभङ्गो नास्ति।'

तदेतेन = तत् वीरवरेण परित्यक्तेन = विरहितेन। समुत्थापितः = समुत्तोलितः। साहसेनालम् = साहसं मा कुरु। राजभङ्गः = राज्यविनाशः।

अतः इसे छोड़ कर मैं अब राज्य लेकर क्या करूंगा।' तब शूद्रक ने भी अपना सिर काटने के लिए तलवार उठा ली। इसी बीच भगवती दुर्गा ने राजा का हाथ पकड़ते हुए कहा—'पुत्र' मैं तुम पर प्रसन्न हूँ। अब इतने साहस की आवश्यकता नहीं। तुम्हारे जीवन का अंत हो जाने पर भी तुम्हारे राज्य का विनाश नहीं होगा।'

राजा च साष्टाङ्गपातं प्रणम्योवाच—'देवि! किं मे राज्येन?, जीवितेन वा किं प्रयोजनम्?। यद्यहमनुकम्पनीयस्तदा ममाऽऽयुःशेषेणाप्ययं सदारपुत्रो वीरवरो जीवतु। अन्यथाऽहं यथाप्राप्तां गतिं

गच्छामि।' भगवत्युवाच—पुत्र! अनेन ते सत्त्वोत्कर्षेण, भृत्य-वात्सल्येन च सर्वथा संतुष्टाऽस्मि। गच्छ विजयी भव। अयमपि सपरिवारो राजपुत्रो जीवतु।' इत्युक्त्वा देव्यदृश्याऽभवत्। ततो वीरवरः सपुत्रदारः प्राप्तजीवनः स्वगृहं गतः। राजाऽपि तैरलक्षितः सत्वरमन्तःपुरं प्रविष्टः।

जीवितेन = प्राणैः। किं प्रयोजनम् = किं फलम्। अनुकम्पनीयः = कृपापात्रः। सदारपुत्रः = पत्नीपुत्रसहितः। यथाप्राप्तां गतिम् = वीरवरेण प्राप्तदशाम् मृत्युमित्यर्थः। सत्त्वोत्कर्षेण = औदार्यातिशयेन। भृत्यवात्सल्येन सेवकप्रेम्णा। सर्वथा = सर्वप्रकारेण। संतुष्टा = प्रसन्ना। तैः = वीरवरादिभिः। अलक्षितः = प्रच्छन्नः। अन्तःपुरम् = स्वावासगृहे (रनिवास)।

राजा ने साष्टाङ्ग प्रणाम करके कहा—'देवि, मुझे राज्य अथवा अपने जीवन से भी कोई प्रयोजन नहीं है। यदि आप मेरे ऊपर कृपा ही करना चाहती हैं तो मेरी बची हुई आयु से पत्नी पुत्र के साथ यह वीरवर जीवित हो जाए। नहीं तो मैं भी इसी की गति प्राप्त करूंगा (मैं भी अपना सिर काट डालूंगा)।' देवी ने कहा—'पुत्र मैं तुम्हारे इस अत्यन्त उत्कृष्ट साहस और सेवक के प्रति प्रदर्शित प्रेम से अत्यन्त प्रसन्न हूं। जाओ। विजयी बनो। यह राजकुमार भी सपरिवार जीवित हो जाय।' ऐसा कहकर देवी अदृश्य हो गई। फिर वीरवर भी स्त्री पुत्र के साथ घर चला गया। राजा भी उनसे छिप कर शीघ्र ही राजमहल में चला गया।

अथ प्रभाते वीरवरो द्वारस्थः पुनर्भूपालेन पृष्टः सन्नाह—'देव! सा रुदती मामवलोक्याऽदृश्याऽभवत्। न काऽप्यन्या वार्त्ता विद्यते।' तद्वचनमाकर्ण्य सन्तुष्टो राजा साश्चर्यं चिन्तयामास—'कथमयं श्लाघ्यो महासत्त्वः'। यतः—

इसके पश्चात् प्रातःकाल द्वार पर स्थित वीरवर ने राजा के फिर पूछने पर कहा—'राजन् वह रोने वाली मुझे देखकर अदृश्य हो गयी। और कोई दूसरी बात नहीं है।' उसकी बात सुनकर राजा ने विचार किया—यह महापुरुष कितना प्रशंसनीय है। क्योंकि—

'प्रियं ब्रूयादकृपणः, शूरः स्यादविकत्थनः।
दाता नाऽपात्रवर्षी च, प्रगल्भः स्यादनिष्ठुरः' ॥ १०४ ॥

अन्वयः—अकृपणः प्रियम् ब्रूयात्, शूरः अविकत्थनः स्यात्, दाता अपात्रवर्षी न, प्रगल्भः च अनिष्ठुरः स्यात् ॥ १०४ ॥

अकृपणः = दानशीलः। प्रियम् ब्रूयात् = मधुर वचनम् उच्चरेत्। शूरः = वीरः अविकत्थनः = आत्मश्लाघारहितः। स्यात् = भवेत्। अपात्रवर्षी = कुपात्रप्रदः। प्रगल्भः = तेजसान्वित.। अनिष्ठुर. = अक्रूरः॥ १०४॥

उदार को प्रिय बोलना चाहिए, वीर को आत्मश्लाघी नहीं होना चाहिए, दानी को अपात्र (अयोग्य) व्यक्ति के लिए दान नहीं देना चाहिए तथा प्रगल्भ को निष्ठुर नहीं होना चाहिए॥ १०४॥

एतन्महापुरुषलक्षणमेतस्मिन्सर्वमस्ति।' ततः स राजा प्रातः शिष्टसभां कृत्वा, सर्वं वृत्तान्तं प्रस्तुत्य, प्रसादात्तस्मै कर्णाटराज्यं ददौ। तत्किमागन्तुको जातिमात्राद् दुष्टः ?। तत्राप्युत्तमाऽधममध्यमाः सन्ति। चक्रवाको ब्रूते—

एतस्मिन् = वीरवरे। शिष्टसभाम् = शिष्टानाम् सभाम्। सर्वं वृत्तान्तम् = वीरवरेण राज्ञो यत्कृतम्। तत्सर्वम्। प्रस्तुत्य = समक्ष कृत्वा। आगन्तुकः = अतिथिः। तत्रापि = आगन्तुकेषु अपि।

इसमें ये सभी महापुरुष के लक्षण वर्तमान हैं।' इसके पश्चात् प्रात काल राजा ने शिष्टों की सभा करके सभी घटना कह सुनाई और प्रसन्न होकर उसे कर्नाटक का राज्य दे दिया। तो क्या आगन्तुक जातिमात्र से ही दुष्ट होते हैं। उसमें भी उत्तम, मध्यम और अधम हैं।' चकवे ने कहा—

'योऽकार्यं कार्यवच्छास्ति स किंमन्त्री नृपेच्छया।
वरं स्वामिमनोदुःखं, तन्नाशो न त्वकार्यतः॥ १०५॥

अन्वय —य (मन्त्री) नृपेच्छया अकार्यम् कार्यवत् शास्ति स किंमन्त्री। स्वामिमनोदुःखम् वरम् (किन्तु) अकार्यत. तन्नाश. न वरम्॥ १०५॥

नृपेच्छया = राज्ञ इच्छानुसारेण। अकार्यम्=अनुचितम् कार्यमपि। कार्यवत्= उचितकार्यसदृशम्। शास्ति = उपदिशति। स किंमन्त्री = सः कुमन्त्री भवति। स्वामिमनोदु.खम्=राजहृदयपीडा। वरम् = श्रेय। अकार्यतः=अकार्यस्य करणाय उपदेशात्। तन्नाश. = नृपविनाश॥ १०५॥

जो मन्त्री केवल राजा की इच्छा से ही न करने योग्य कार्य को भी करणीय कार्य के समान बताता है वह दुष्ट होता है। स्वामी का मन दु खी हो जाना तो ठीक है किन्तु बुरे कर्म के उपदेश से उसका विनाश करा देना ठीक नहीं॥ १०५॥

'वैद्यो, गुरुश्च, मन्त्री च, यस्य राज्ञः प्रियंवदाः।
शरीर-धर्म-कोशेभ्यः क्षिप्रं स परिहीयते' ॥ १०६ ॥

अन्वय—यस्य राज्ञः वैद्यः, गुरुः मन्त्री च प्रियंवदाः भवन्ति सः (राजा) शरीरधर्मकोशेभ्यः क्षिप्रम् परिहीयते ॥ १०६ ॥

यस्य राज्ञः = नृपस्य। वैद्यः = चिकित्सकः। गुरुः = उपदेशकः। प्रियंवदाः = राज्ञः हृदयानुसारेण प्रियवक्तारः। शरीरधर्मकोशेभ्यः = देहधर्मकोशेभ्यः। क्षिप्रम् = शीघ्रम्। परिहीयते = हीनो भवति ॥ १०६ ॥

जिस राजा के वैद्य, गुरु तथा मन्त्री सर्वदा उसकी प्रिय बातों का ही ध्यान रखते हैं, वह शरीर, धर्म और खजाने से शीघ्र ही रहित हो जाता है ॥ १०६ ॥

शृणु—देव !

'पुण्याल्लब्धं यदेकेन तन्ममाऽपि भविष्यति।
हत्वा भिक्षुं यतो मोहान्निध्यर्थी नापितो हतः' ॥ १०७ ॥

राजा पृच्छति—'कथमेतत् ?'। मन्त्री कथयति—

अन्वय—एकेन पुण्यात् यत् लब्धम् तत् ममापि भविष्यति—(इति) निध्यर्थी नापितः यतः मोहात् भिक्षु हत्वा (स्वयं) हतः ॥ १०७ ॥

एकेन = केनापि पुरुषेण। पुण्यात् = निजपूर्वजन्मकृतात् कर्मणः। यत्—लब्धम् = यत्प्राप्तम्। निध्यर्थी = धनार्थी। हतः = मृतः ॥ १०७ ॥

हे राजन्, सुनो—

किसी ने पुण्य से कुछ पा लिया तो वैसा ही मेरे लिए भी हो जायगा। ऐसा ही सोच कर धन के अभिलाषी नाई ने लोभ में आकर भिक्षुक को मार डाला जिससे स्वयम् भी मारा गया ॥ १०७ ॥

राजा ने पूछा—यह कैसे हुआ। मन्त्री ने कहा—

कथा ९

अस्त्ययोध्यायां पुरि चूडामणिर्नाम क्षत्रियः। तेन धनाऽर्थिना महता क्लेशेन भगवांश्चन्द्रार्धचूडामणिश्चिरमाराधितः। ततः क्षीणपापोऽसौ स्वप्ने दर्शनं दत्त्वा, भगवदादेशाद्यक्षेश्वरेणाऽऽदिष्टो यत्—त्वमद्य प्रातः क्षौरं कारयित्वा, लगुडहस्तः सन् स्वगृहद्वारि निभृतं स्थास्यसि, ततो यमेवाऽऽगतं भिक्षुकं प्राङ्गणे पश्यसि, तं निर्दयं-

लगुडप्रहारेण हनिष्यसि। ततोऽसौ भिक्षुकस्तत्क्षणात् सुवर्णकलसो भविष्यति। तेन त्वया यावज्जीवं सुखिना भवितव्यम्। ततस्तथाऽनुष्ठिते तद् वृत्तम्।

धनार्थिना = द्रव्याकांक्षिणा। क्लेशेन = कष्टकरेण साधनेन। चन्द्रार्धचूडामणिः = भगवान् शिवः। आराधितः = सेवितः पूजितश्च। क्षीणपापः = नष्टदुष्कर्मा। यक्षेश्वरेण = कुबेरेण। लगुडं हस्ते कृत्वा = यष्टिम् गृहीत्वा। आदिष्टं = आज्ञप्तं। निभृतम् = प्रच्छन्नो भूत्वा। समागतम् = समायातम्। हनिष्यसि = ताडयिष्यसि। तथानुष्ठिते = भिक्षुके हते सति। तद्वृत्तम् = तथैव भूतम्।

अयोध्या में चूडामणि नाम का एक क्षत्रिय था। उसने धन की अभिलाषा से बडे कष्ट के साथ बहुत दिनों तक शंकर जी की आराधना की। तब उसके सारे पाप नष्ट हो गए और एक दिन भगवान शंकर की आज्ञा से कुबेर ने उसे स्वप्न में दर्शन देकर कहा–'आज तुम बाल बनवाकर, हाथ में लाठी लेकर घर में छिपकर बैठ जाना। तब आँगन में आए हुए भिक्षुक को देख कर जब उसे निर्दयता के साथ डंडे से मारोगे तो वह सोने का कलश हो जायगा। जिससे तुम अपने जीवन भर के लिए सुखी बन जाओगे।' उसके ऐसा करने पर सचमुच वही हुआ।

तत्र क्षौरकरणायाऽऽनीतेन नापितेन तत्सर्वमालोक्य चिन्तितम्–'अये निधिप्राप्तेरयमुपायः!। तदहमप्येवं किं न करोमि?'। ततः प्रभृति स नापितः प्रत्यहं तथाविधो लगुडहस्तः सुनिभृतं भिक्षोरागमनं प्रतीक्षते। एकदा तेन प्राप्तो भिक्षुर्लगुडेन व्यापादितः। तस्मादपराधात्सोऽपि नापितो राजपुरुषैर्व्यापादितः। अतोऽहं ब्रवीमि—'पुण्याल्लब्धं यदेकेने'–त्यादि ॥ * ॥

निधिप्राप्तेः = धनागमस्य। सुनिभृतम् = प्रच्छन्नो भूत्वा। प्रतीक्षते = प्रतीक्षां करोति। व्यापादितः = हतः।

वहाँ बाल बनाने के लिए लाए गए नाई ने सोचा–धन प्राप्त करने का यह तो अच्छा उपाय है। मैं भी ऐसा ही क्यों न करूँ। उसी दिन से नाई प्रति दिन उसी प्रकार हाथ में डंडा लिए हुए छिप कर भिक्षुक के आने की प्रतीक्षा करता था। एक दिन उसे भिक्षुक मिल ही गया और उसने उसे डंडे से मार डाला। इस अपराध के कारण उसे भी राजपुरुषों ने मार डाला। इसीलिए मैं कह रहा हूँ–'एक ने जो पुण्य से प्राप्त किया' इत्यादि।

अन्यच्च—

'अवस्कन्दभयाद्राजा प्रजागरकृतश्रमम् ।
दिवा सुप्तं समाहन्यान्निद्राव्याकुलसैनिकम्' ॥ ११३ ॥

अन्वय—राजा अवस्कन्दभयात् प्रजागरकृतश्रमम् दिवासुप्तम् निद्राव्याकुलसैनिकम् समाहन्यात् ॥ ११३ ॥

अवस्कन्दभयात् = आकस्मिकाक्रमणशंकया । प्रजागरकृतश्रमम् = प्रजागरणे परिश्रान्तम् । दिवासुप्तम् = दिवसनिद्रितम् । निद्राव्याकुलसैनिकम् = निद्राभ्रमसेनाजनान् । समाहन्यात् = विनाशम् कुर्यात् ॥ ११३ ॥

राजा को चाहिए कि वह आक्रमण के भय से रात भर जागने के कारण थकी हुई, दिन में ही सोई हुई तथा नींद से व्याकुल शत्रु सेना को मार डाले ॥ ११३ ॥

अतस्तस्य प्रमादिनो बलं गत्वा यथावकाशं दिवानिशं घ्नन्त्वस्मत्सेनापतय ।' तथाऽनुष्ठिते चित्रवर्णस्य सैनिकाः, सेनापतयश्च बहवो निहताः । ततश्चित्रवर्णो विषण्णः स्वमन्त्रिणं दूरदर्शिनमाह—'तात ! 'किमित्यस्मदुपेक्षा क्रियते ? किं क्वाप्यविनयो ममाऽस्ति ? । तथा चोक्तम्—

प्रमादिनः = असावधानस्य । बलम् = सैन्यम् । यथावकाशम् = यथावसरम् । घ्नन्तु = मारयन्तु । तथाऽनुष्ठिते = एव सहसाभियाने कृते सति । निहताः = मृताः । विषण्ण. = दुःखितः । आह = उक्तवान् । अस्मदुपेक्षा = अस्मत्तिरस्कारः । किम् = कस्मात् हेतो. । अविनयः = धृष्टता ।

इस लिए पहुँच कर हमारे सेनापति यथावकाश रात दिन उस प्रमादी की सेना का विनाश करें । ऐसा किए जाने पर चित्रवर्ण के बहुत से सेनापति तथा सैनिक मार डाले गए । तब दुखी हो कर चित्रवर्ण ने अपने मंत्री दूरदर्शी नाम के गृध्र से कहा—तात, मेरी उपेक्षा क्यों कर रहे हैं । क्या मुझसे कोई धृष्टता हुई है । जैसा कि कहा भी गया है—

'न राज्यं प्राप्त'मित्येव वर्तितव्यमसाम्प्रतम् ।
श्रियं ह्यविनयो हन्ति जरा रूपमिवोत्तमम्' ॥ ११४ ॥

अन्वय—'राज्यम् प्राप्तम्'इत्येव (विचार्य) असाम्प्रतम् न वर्तितव्यम् हि अविनय तथा श्रियम् हन्ति (यथा) जरा उत्तमम् रूपम् (हन्ति) ॥ ११४ ॥

राज्यम् प्राप्तम् = राज्यमधिगतम् । असाम्प्रतम् = अनुचितम् । न वर्तितव्यम् = नाचरणीयम् । अविनय = धाष्टर्यम् । श्रियम् = राज्यसम्पदम् । हन्ति = विनाशयति । जरा = वृद्धावस्था । उत्तम रूपम् = उत्कृष्ट सौन्दर्यम् ॥ ११४ ॥

अब राज्य तो मुझे मिल ही गया, ऐसा सोचकर राजा को अनुचित आचरण नहीं करना चाहिए। क्योंकि धृष्टता राज्यलक्ष्मी का उसी प्रकार विनाश कर डालती है जैसे बुढ़ापा उत्कृष्ट सौन्दर्य को ॥ ११४ ॥

अपि च—

'दक्षः श्रियमधिगच्छति, पथ्याशी कल्यतां, सुखमरोगी।
उद्युक्तो विद्याऽन्तं, धर्मार्थयशांसि च विनीतः' ॥ ११५ ॥

अन्वय—दक्ष श्रियम्, पथ्याशी कल्यताम्, अरोगी सुखम्, उद्युक्तः विद्यान्तम्, विनीतः धर्मार्थयशांसि च अधिगच्छति ॥ ११५ ॥

दक्षः=चतुर.। श्रियम्=लक्ष्मीम्। पथ्याशी=पथ्यभोक्ता। कल्यताम्=आरोग्यम्। अरोगी=रोगरहितः। सुखम्=आनन्दम्। उद्युक्तः=उद्योगशीलः। विद्यान्तम्=विद्यायाः पर्यवसानम्। विनीतः=विनम्रः। धर्मार्थयशांसि=धर्मधनकीर्तीः। अधिगच्छति=प्राप्नोति ॥ ११५ ॥

और भी—चतुर लक्ष्मी को, पथ्य (उचित) भोजन करने वाला आरोग्य, नीरोग सुख, परिश्रमी विद्या की पूर्णता तथा विनम्र स्वभाव वाला धर्म, धन और कीर्ति को प्राप्त करते हैं ॥ ११५ ॥

गृध्रोऽवदत्—'देव! शृणु

'अविद्वानपि भूपालो विद्यावृद्धोपसेवया।
परां श्रियमवाप्नोति जलाऽऽसन्नतरुर्यथा' ॥ ११६ ॥

अन्वय—अविद्वान् अपि भूपालः विद्यावृद्धोपसेवया जलासन्नतरुर्यथा परां श्रियमवाप्नोति ॥ ११६ ॥

अविद्वान्=मूर्ख.। भूपालः=नृपः। विद्यावृद्धोपसेवया=विदुषाम् सेवनेन। जलासन्नतरु.=जलनिकटस्थवृक्षः। यथा=इव। परां=श्रेष्ठाम्। श्रियम्=लक्ष्मीम्, उन्नतिञ्च। अवाप्नोति=लभते ॥ ११६ ॥

विद्या का ज्ञाता न होते हुए भी राजा विद्वान की सेवा से उसी प्रकार लक्ष्मी को प्राप्त करता है जैसे जल के समीप रहने वाला वृक्ष उन्नति को प्राप्त करता है ॥ ११६ ॥

अन्यच्च—

'पानं, स्त्री, मृगया, द्यूतमर्थदूषणमेव च।
वाग्दण्डयोश्च पारुष्यं, व्यसनानि महीभुजाम्' ॥ ११७ ॥

अन्वय—पान·· ···· महीभुजाम् व्यसनानि (सन्ति) ॥ ११७ ॥

पानम् = सुरासेवनम् । मृगया = आखेटः । द्यूतम् = अक्षक्रीडा । अर्थदूषणम् = अर्थाशुद्धिः, बलात् धनापहरणम् । वाग्दण्डयोः = कथने दण्डदाने च । पारुष्यम् = नैष्ठुर्यम् । महीभुजाम् = नृपाणाम् । व्यसनानि = दोषाः ॥ ११७ ॥

और भी—शराब पीना, स्त्री में आसक्त रहना, जुआ खेलना, बुरे ढग से धन एकत्रित करना और बोलने तथा दड देने में निष्ठुर होना—राजाओं के दुर्गुण हैं ॥ ११७ ॥

किञ्च—

'न साहसैकाऽन्त-रसा ऽनुवर्त्तिना,
न चाप्युपायोपहताऽन्तरात्मना ।
विभूतयः शक्यमवाप्तुमूर्जिता,
नये च, शौर्ये च वसन्ति सम्पदः' ॥ ११८ ॥

अन्वय—साहसैकान्तरसानुवर्तिना उपायोपहतान्तरात्मना ऊर्जिताः विभूतयः अवाप्तुम् न शक्यम् (यतः) संपदः नये शौर्ये च वसन्ति ॥ ११८ ॥

साहसैकान्तरसानुवर्तिना = साहसैकपरायणेन । उपायोपहतान्तरात्मना = उद्योगचिन्तारहितेन । ऊर्जिताः = वृद्धिंगताः । विभूतयः = सम्पदः । अवाप्तुम् = प्राप्तुम् । न शक्यम् = न शक्याः । सम्पदः = श्रियः । नये = नीतौ । शौर्ये = पराक्रमे च । वसन्ति = निवसन्ति ॥ ११८ ॥

क्योंकि—एकमात्र साहस का ही सहारा लेने वाले तथा केवल उपायमात्र का चिंतन करने वाले बढी हुई विभूतियों को प्राप्त नहीं कर सकते । क्योंकि सम्पत्ति नीति और पराक्रम अर्थात् नीतियुक्त वीरता में ही निवास करती है ॥ ११८ ॥

त्वया स्वबलोत्साहमवलोक्य, साहसैकरसिकेन मयोपन्यस्तेष्वपि मन्त्रेष्वनवधानं, वाक्पारुष्यं च कृतम् । अतो दुर्नीतेः फलमिदमनुभूयते । तथा चोक्तम्—

स्वबलोत्साहम् = स्वपराक्रमोल्लसनम् । अवलोक्य = दृष्ट्वा । साहसैकरसिकेन = केवलसाहसानुरागेण । मयोपन्यस्तेषु = मया विचार्य प्रस्तावितेषु । मन्त्रेषु = नीतिविधिषु । अनवधानम् = असावधानता, अनादरश्च ।

तुमने अपनी सेना और उमग को देखकर केवल साहस का सहारा लिया और मेरे प्रस्तावित नीतियुक्त मत्रों के प्रति असावधानी बरती तथा कठोर शब्दों का उच्चारण भी किया । इसीलिए बुरी नीति का फल भोगना पड़ा है । जैसा कि कहा भी गया है—

'दुर्मन्त्रिणं कमुपयान्ति न नीतिदोषाः ?
सन्तापयन्ति कमपथ्यभुजं न रोगाः ? ।

कं श्रीर्न दर्पयति, कं न निहन्ति मृत्युः ?
कं स्त्रीकृता न विषयाः परितापयन्ति ?' ॥ ११९ ॥

अन्वय — कम् दुर्मन्त्रिणम् नीतिदोषाः न उपयान्ति, कम् अपथ्यभुजम् रोगाः न सन्तापयन्ति, श्रीः कम् न दर्पयति, मृत्युः कं न निहन्ति, स्त्रीकृताः विषयाः कं न परितापयन्ति ॥ ११९ ॥

दुष्टमन्त्रिणम्=दुष्टमन्त्रियुक्त राजानम् । नीतिदोषाः=मन्त्रदोषाः । अपथ्यभुजम्=कुपथ्याशिनम् । संतापयन्ति=पीडयन्ति । श्रीः=लक्ष्मीः । दर्पयति=मदयति । स्त्रीकृता=स्त्रीसम्पन्धिनः । विषयाः=भोगाभिलाषाः । परितापयन्ति=संक्षोभयन्ति ॥ ११९ ॥

दुष्ट मन्त्री वाले किस राजा में नीतिसंबंधी दोष नहीं आ जाते हैं ? अपथ्य भोजन करने वाले किस व्यक्ति को रोग कष्ट नहीं पहुँचाते हैं ? लक्ष्मी किसे अभिमानी नहीं बनाती है, मृत्यु किसका विनाश नहीं करती है ? और स्त्रीसंबंधी विषय किसे पीडित नहीं करते हैं ? ॥ ११९ ॥

अपरं च—

'मुदं विषादः, शरदं हिमागम-
स्तमो विवस्वान्, सुकृतं कृतघ्नता ।
प्रियोपपत्तिः शुचमापदं नयः,
श्रियः समृद्धा अपि हन्ति दुर्नयः' ॥ १२० ॥

अन्वय —विषादः मुदम्, हिमागमः शरदम्, विवस्वान् तमः, कृतघ्नता सुकृतम्, प्रियोपपत्तिः शुचम्, नयः आपदम्, दुर्नयः समृद्धाः अपि श्रियः हन्ति ॥ १२० ॥

मुदम्=हर्षम् । विषादः=शोकः । शरदम्=शरदृतुम् । हिमागमः=हेमन्तः । विवस्वान्=रविः । तमः=अन्धकारम् । प्रियोपपत्तिः=इष्टप्राप्तिः । शुचं=शोकम् । आपदम्=विपत्तिम् । नयः=नीतिः । दुर्नयः=दुर्नीतिः । समृद्धाः=उन्नताः । श्रियः=लक्ष्मीः । हन्ति=विनाशयति ॥ १२० ॥

और भी—विषाद आनन्द को, शीतऋतु शरद् को, सूर्य अन्धकार को, कृतघ्नता सत्कर्म को, प्रियवस्तुओं का लाभ शोक को, नीति विपत्ति को, तथा बुरी नीति ऐश्वर्यपूर्ण लक्ष्मी को नष्ट कर देती है ॥ १२० ॥

ततो मयाऽप्यालोचितम्—'प्रज्ञाहीनोऽयं राजा, न चेत्कथं नीतिशास्त्रकथाकौमुदीं वागुल्काभिस्तिमिरयति । यतः—

मयापि = गृध्रेणापि । आलोचितम् = निरूपितम् । प्रज्ञाहीनः = बुद्धिरहितः । नीतिशास्त्रकथाकौमुदीम् = नीतिशास्त्रकथाज्योत्स्नाम् । वागुल्काभिः = वचनोल्काभिः । तिमिरयति = आच्छादयति ।

तब मैंने भली भाँति जान लिया कि यह राजा बुद्धिहीन है, नहीं तो अपने व्यर्थ के वाग्जालरूपी उल्का से नीतिशास्त्र की वार्तारूपी चाँदनी को क्यों आच्छादित करता ! क्योंकि—

'यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा शास्त्रं तस्य करोति किम् ? ।
लोचनाभ्यां विहीनस्य दर्पणः किं करिष्यति ?' ॥ १२१ ॥

अन्वय —यस्य स्वयं प्रज्ञा नास्ति तस्य शास्त्रम् किं करोति । लोचनाभ्याम् विहीनस्य दर्पणः किं करिष्यति ॥ १२१ ॥

यस्य = पुरुषस्य । स्वयम् = आत्मनः । प्रज्ञा = बुद्धिः । तस्य = पुरुषस्य । शास्त्रम् = शास्त्रोपदेशः । किम् करोति = कमुपकारं करोति । लोचनाभ्याम् = नेत्राभ्याम् । विहीनस्य = रहितस्य ॥ १२१ ॥

जिसके पास स्वयं बुद्धि नहीं होती तो शास्त्र उसका क्या उपकार कर सकता है । भला नेत्रहीन के लिए दर्पण की क्या उपयोगिता हो सकती है ॥ १२१ ॥

—इत्यालोच्याऽहमपि तूष्णीं स्थितः । अथ राजा बद्धाऽञ्जलिराह—'तात ! अस्त्ययं ममाऽपराधः, इदानीं यथाऽहमवशिष्टबलसहितः प्रत्यावृत्य विन्ध्याचलं गच्छामि, तथोपदिश ।' गृध्रः स्वगतं चिन्तयति—'क्रियतामत्र प्रतीकारः' । यतः—

इत्यालोच्य = एवं विचार्य । तूष्णीं स्थितः = मौनमासादितम् । बद्धाञ्जलिः = निबद्धकरसम्पुटः । प्रतीकारः = उपायः ।

इस प्रकार विचार करके गृध्र मौन हो गया । तब राजा चित्रवर्ण ने हाथ जोड़कर कहा—तात, यह मेरा अपराध तो है किन्तु अब जिस उपाय से बची हुई सेना के साथ लौट कर विन्ध्याचल जाऊँ, वह उपाय बताइए । गृध्र ने मन में ही विचार किया—अब यहाँ कोई न कोई उपाय करना ही होगा । क्योंकि—

'देवतासु, गुरौ, गोषु, राजसु, ब्राह्मणेषु च ।
नियन्तव्यः सदा कोपो, बाल वृद्धा—ऽऽतुरेषु च' ॥ १२२ ॥

अन्वय —देवतासु, गुरौ, गोषु, राजसु, ब्राह्मणेषु, बालवृद्धातुरेषु च कोपः सदा नियन्तव्यः ॥ १२२ ॥

देवतासु = देवेषु । गुरौ = गुरुप्रसंगे । राजसु = नृपेषु । ब्राह्मणेषु = द्विजेषु । आतुरेषु = रोगार्तेषु । कोपः = क्रोधः । नियन्तव्यः = निग्रहीतव्यः ॥ १२२ ॥

देवता, गुरु, गाय, राजा, ब्राह्मण, बालक, वृद्ध और रोगी के प्रति अपने क्रोध को सर्वदा रोकते रहना चाहिए ॥ १२२ ॥

मन्त्री प्रहस्य ब्रूते—'देव मा भैषीः, समाश्वसिहि । शृणु देव !

मा भैषीः = भय मा कुरु । समाश्वसिहि = धैर्यं धारय ।

मन्त्री गृद्ध ने हँसकर कहा—राजन्, आप डरें मत । धैर्य धारण करें । हे देव, सुनिए—

'मन्त्रिणां भिन्नसन्धाने, भिषजां सांनिपातिके ।
कर्मणि व्यज्यते प्रज्ञा, सुस्थे को वा न पण्डितः ?' ॥१२३॥

अन्वय —मन्त्रिणाम् भिन्नसंधाने कर्मणि भिषजाम् सांनिपातिके कर्मणि प्रज्ञा व्यज्यते, सुस्थे कः वा न पण्डितः (भवति) ॥ १२३ ॥

भिन्नसंधाने = भिन्नस्य = स्फुटितस्य, सधाने = मेलने । कर्मणि = व्यापारे । भिषजाम् = वैद्यानाम् । सान्निपातिके = सन्निपातचिकित्सायाम् । प्रज्ञा = बुद्धिः । व्यज्यते = ज्ञायते । सुस्थे = सामान्यस्थितौ ॥ १२३ ॥

फूट पैदा हो जाने पर पुन उसे मिलाने (दूर करने) के कार्य में मन्त्रियों तथा सन्निपात हो जाने पर वैद्यों की बुद्धि का पता चल जाता है । यों सामान्य स्थिति में कौन पण्डित नहीं होता है ॥ १२३ ॥

अपरञ्च—

'आरभन्तेऽल्पमेवाऽज्ञाः, कामं व्यग्रा भवन्ति च ।
महाऽऽरम्भा कृतधियस्तिष्ठन्ति च निराकुला.' ॥ १२४ ॥

अन्वय —(यद्यपि) अज्ञा. अल्पमेव आरभन्ते (किन्तु) काम व्यग्राः भवन्ति कृतधिय च महारम्भा' निराकुला. च तिष्ठन्ति ॥ १२४ ॥

अज्ञा = मूढा. । अल्पमेव—स्तोकमेव । आरभन्ते = प्रारम्भ करोति । कामम् = अत्यन्तम् । व्यग्रा = व्याकुलाः । कृतधियः = कृतबुद्धय. । महारम्भा = बृहत्कार्यारम्भा । निराकुला = अव्यग्रा. ॥ १२४ ॥

बुद्धिहीन किसी छोटे कार्य का आरम करके भी अत्यत व्यग्र हो जाते हैं किन्तु बुद्धिमान बहुत बडा कार्य आरम करके भी अत्यन्त धैर्यशाली बने रहते हैं ॥ १२४ ॥

'तदत्र भवत्प्रतापादेव दुर्गं भङ्क्त्वा, कीर्तिप्रतापसहितं त्वामचिरेण कालेन विन्ध्याचलं नेष्यामि ।' राजाऽऽह—'कथमधुना स्वल्पबलेन तत्सम्पद्यते ? ।' गृध्रो वदति—'देव ! सर्वं भविष्यति । यतो

विजिगीषोरदीर्घसूत्रता विजयसिद्धेरवश्यंभावि लक्षणम्।' तत्सहसैव दुर्गद्वाराऽवरोधः क्रियताम्।'

अत्र = अस्मिन्नवसरे। भवत्प्रतापात् = भवत्तेजसः। दुर्गम् = राजहंसस्य दुर्गम्। भङ्क्त्वा = भेदनं कृत्वा। कीर्तिप्रतापसहितम् = यशस्तेजःसमन्वितम्। अचिरेण = शीघ्रमेव। नेष्यामि = प्रापयिष्यामि। स्वल्पबलेन = अत्यल्पसैन्येन। तत् = विन्ध्याचलनयनम्। सम्पद्यते = भवति। अदीर्घसूत्रता = क्षिप्रक्रिया। विजयसिद्धेः = जयकामस्य।

इसलिए इस कठिनाई के समय भी आपके प्रताप से ही शत्रु का दुर्ग भेदकर यश और तेज के साथ आपको शीघ्र ही विन्ध्याचल ले चलूँगा। राजा चित्रवर्ण ने कहा—'इस समय इतनी थोडी सेना से यह कैसे हो सकता है।' गृद्ध ने कहा—'राजन्, सब होगा। क्योंकि विजय की अभिलाषा रखने वाले को फलप्राप्ति के लिए कार्य में शीघ्रता अत्यत आवश्यक है। अत सहसा किले पर घेरा डाल देना चाहिए।'

अथ (प्रहित—) प्रणिधिना बकेनाऽऽगत्य हिरण्यगर्भस्य कथितं 'देव! स्वल्पबल एवाऽयं राजा चित्रवर्णो गृध्रस्य वचनोपष्टम्भादाग-त्य दुर्गद्वाराऽवरोधं करिष्यति।' राजहंसो ब्रूते—भोः सर्वज्ञ! किम-धुना विधेयम्?। चक्रवाको ब्रूते—'स्वबले साराऽसारविचारः क्रिय-ताम्। तज्ज्ञात्वा सुवर्णवस्त्रादिकं यथाऽर्हं प्रसादप्रदानं च क्रियताम्'।

प्रहितेन = प्रेषितेन। प्रणिधिना = प्रधानगुप्तचरेण। वचनोपष्टम्भात् = वाक्यबलात्। सारासारविचारः = तत्त्वातत्त्वविमर्शः। तत् ज्ञात्वा = निर्णयम् अवगम्य। यथाऽर्हम् = यथायोग्यम्। प्रसादप्रदानम् = पारितोषिकवितरणम्।

शत्रुपक्ष का पता लगाने के लिए भेजे गये गुप्तचर बगुले ने आकर हिरण्यगर्भ से कहा—'राजन् थोडी सेना होते हुए भी राजा चित्रवर्ण मत्री गृद्ध की मत्रणा के बलपर किले पर घेरा डालेगा।' राजहस ने कहा—'मत्री सर्वज्ञ, अब क्या करना चाहिए।' चकवे ने कहा—अपनी सेना की सबलता निर्बलता का विचार करना चाहिए। उसे जान कर सोने तथा वस्त्र इत्यादि का यथायोग्य पारितोषिक वितरण करना चाहिए।

यतः—

'यः काकिणीमप्यपथप्रपन्नां
समुद्धरेन्निष्कसहस्रतुल्याम्।
कालेषु कोटिष्वपि मुक्तहस्त-
स्तं राजसिंहं न जहाति लक्ष्मीः' ॥ १२५ ॥

अन्वय—य अपथप्रपन्नाम् काकिणीम् अपि निष्कसहस्रतुल्याम् समुद्धरेत्, (किन्तु) कालेषु कोटिषु अपि मुक्तहस्तः भवेत् त राजसिंहम् लक्ष्मीः न जहाति ॥ १२५ ॥

अपथप्रपन्नाम् = अस्थानच्युताम् । काकिणीम् = एकाम् कपर्दिकाम् । निष्कसहस्रतुल्याम् = दीनारसहस्रसमानाम् । समुद्धरेत् = उत्थापयेत् । कालेषु = प्राप्तावसरेषु । कोटिषु = कोटिषु दीनारेषु । मुक्तहस्तः = अविचारितव्ययः । राजसिंहम् = श्रेष्ठ राजानम् । लक्ष्मी = राज्यश्री । न जहाति = न परित्यजति ॥ १२५ ॥

क्योंकि—

जो राजा अनुचित स्थान में पड़ी हुई एक कौड़ी को भी हजारों सोनेके सिक्के के समान समझ कर उठा लेता है, यदि वही समय आने पर करोड़ों का व्यय करने में भी हाथ खोल दे तो उस राजसिंह को लक्ष्मी कभी नहीं छोड़ती है ॥१२५ ॥

अन्यच्च—

'क्रतौ, विवाहे, व्यसने, रिपुक्षये,
यशस्करे कर्मणि, मित्रसंग्रहे ।
प्रियासु नारीष्वधनेषु बान्धवे-
ष्वतिव्ययो नाऽस्ति नराधिपाऽष्टसु' ॥१२६ ॥

अन्वय—क्रतौ ....अष्टसु (अवसरेषु) नराधिपः अतिव्ययः नास्ति ॥१२६॥

क्रतौ = यज्ञकर्मणि । व्यसने = विपदि । रिपुक्षये = शत्रुविनाशने । यशस्करे कर्मणि = कीर्तिप्रदे व्यापारे । अधनेषु = दरिद्रेषु । बान्धवेषु = स्वजनेषु । अष्टसु = अष्टावसरेषु । नराधिप. = नृप. ॥ १२६ ॥

और भी—यज्ञ में, विवाह में, विपत्ति के समय, शत्रु का विनाश करने में, कीर्ति देने वाले कार्यों में, मित्र बनाने में, प्रिय स्त्री के विषय में, दरिद्रों में तथा अपने बन्धुओं में अत्यधिक व्यय करने पर भी राजा इन आठ दशाओं में बहुत खर्च करने वाला नहीं कहा जाता ॥ १२६ ॥

यतः—

'मूर्खः स्वल्पव्ययत्रासात्सर्वनाशं करोति हि ।
कः सुधी सन्त्यजेद्भाण्डं शुल्कस्यैवाऽतिसाध्वसात्' ॥१२७॥

अन्वय—स्वल्पव्ययत्रासात् मूर्खः सर्वनाशम् करोति हि शुल्कस्यातिसाध्वसात् कः सुधी भाण्डम् सन्त्यजेत् ॥ १२७ ॥

स्वल्पव्ययत्रासात् = स्तोकव्ययभीत्या। सर्वनाशम् = सर्वधनविनाशनम्। शुल्कस्य = राज्यकरस्य। अतिसाध्वसात् = अतिभयात्। भाण्डम् = द्रव्यम् (माल)। सुधीः = विद्वान्, कार्यकुशलश्च ॥ १२७ ॥

क्योंकि—मूर्ख थोड़े से खर्च के डर से सभी वस्तुओं का नाश कर बैठता है। भला कौन बुद्धिमान राज्यकर के डर से अपना माल छोड देगा ॥ १२७ ॥

राजाऽऽह—'कथमिह समयेऽतिव्ययो युज्यते ?' उक्तञ्च—'आपदर्थे धनं रक्षेत्' इति। मन्त्री ब्रूते—'श्रीमतां कथमापदः'। राजाऽऽह—'कदाचिच्चलिता लक्ष्मीः।' मन्त्री ब्रूते—'सञ्चिताऽपि विनश्यति।' तद्देव ! कार्पण्यं विमुच्य स्वभटा दान-मानाभ्यां पुरस्क्रियन्ताम्'।

इह समये = अस्मिन् विपत्तिकाले। आपदर्थे = विपदर्थे। श्रीमताम् = धनिनाम्। सञ्चितापि = रक्षितापि। कार्पण्यम् = कृपणताम्। विमुच्य = त्यक्त्वा। स्वभटाः = स्वसैनिकाः।

राजा ने कहा—इस आपत्ति के समय अधिक खर्च कैसे उचित हो सकता है। कहा भी गया है—आपत्ति काल में काम आने के लिए धन का संग्रह करना चाहिए। मंत्री ने कहा—लक्ष्मीवानों को कैसी आपत्ति ? राजा ने कहा—अगर कहीं दैवात् लक्ष्मी जाय तो। मंत्री ने कहा—तो संचित किया हुआ भी नष्ट हो जायगा। इसलिए हे राजन् कंजूसी छोड कर दान-मान से अपने योद्धाओं को पुरस्कृत कीजिए। जैसा कि कहा भी गया है—

तथा चोक्तम्—

'परस्परज्ञाः, संहृष्टास्त्यक्तुं प्राणान् सुनिश्चिताः।
कुलीनाः, पूजिताः, सम्यग्विजयन्ते द्विषद्बलम् ॥ १२८ ॥

अन्वय—परस्परज्ञाः, संहृष्टाः, प्राणान् त्यक्तुं सुनिश्चिताः, कुलीनाः, पूजिताः (भटाः) द्विषद्बलम् सम्यग्विजयन्ते ॥ १२८ ॥

परस्परज्ञाः = एकत्र सम्मिलिताः, अन्योन्यं शुभेच्छुकाश्च। संहृष्टाः = राज्ञा पारितोषिकेण मुदिताः। प्राणान् त्यक्तुं सुनिश्चिताः = प्राणत्यागे दृढनिश्चयाः। कुलीनाः = सद्वंशे प्रसूताः। सम्यक् पूजिताः = सर्वप्रकारेण आदृताः। द्विषद्बलम् = शत्रुसैन्यम्। विजयन्ते = स्वाधीनीकुर्वन्ते ॥ १२८ ॥

आपस में मिलकर एक दूसरे की शुभ कामना करने वाले, राजा के पारितोषिकादि से प्रसन्न, अपने प्राणों के परित्याग करने में भी दृढ, उच्च वंश में जन्म लेने वाले और राजा द्वारा भली भांति सम्मानित सैनिक शत्रु की सेना को जीत लेते हैं ॥ १२८ ॥

अपरञ्च—

'सुभटाः, शीलसम्पन्ना, संहता, कृतनिश्चयाः ।
अपि पञ्चशतं शूरा निघ्नन्ति रिपुवाहिनीम्' ॥ १२९ ॥

अन्वय—शीलसम्पन्नाः, संहता, कृतनिश्चयाः पञ्चशतम् सुभटाः शूराः अपि रिपुवाहिनीम् निघ्नन्ति ॥ १२९ ॥

शीलसम्पन्नाः=शीलपूर्णाः। संहता=परस्परम् मिलिताः। कृतनिश्चयाः=दृढप्रतिज्ञाः। शूराः सुभटाः=वीरसैनिकाः। रिपुवाहिनीम्=शत्रुसेनाम्। निघ्नन्ति=विघातयन्ति ॥ १२९ ॥

और भी—शीलवान, आपस में मिले हुए, दृढ निश्चय वाले बहादुर पाच सौ सैनिक सारी शत्रु की सेना का विनाश कर सकते हैं ॥ १२९ ॥

किञ्च—

'शिष्टैरप्यविशेषज्ञ, उग्रश्च, कृतनाशकः ।
त्यज्यते, किं पुनर्नाऽन्यैर्यश्चाऽप्यात्मम्भरिर्नरः' ॥ १३० ॥

अन्वय—अविशेषज्ञः, उग्रः, कृतनाशकः आत्मम्भरिः नरः शिष्टैः अपि त्यज्यते किं पुनः अन्यैः च न (त्यज्यते) ॥ १३० ॥

अविशेषज्ञः=विशेषयोग्यताशून्यः। उग्रः=उद्दण्डः। कृतनाशकः=कार्यविघातकः। शिष्टैः=साध्वाचरणैः। त्यज्यते=परिह्रीयते। अन्यैः=इतरैः, सामान्यलोकैः। न=न त्यज्यते? अपितु त्यज्यते एव ॥ १३० ॥

और भी—विशेष योग्यता से रहित, उद्दण्ड, कार्य को नष्ट करने वाले तथा अपने स्वार्थ की चिन्ता करने वाले मनुष्य को सज्जन भी छोड देते हैं साधारण व्यक्ति की तो बात ही क्या ॥ १३० ॥

यतः—

'सत्यं, शौर्य, दया, त्यागो नृपस्यैते महागुणाः ।
एतैस्त्यक्तो महीपालः प्राप्नोति खलु वाच्यताम्' ॥ १३१ ॥

अन्वय—सत्य, त्यागः, दया, शौर्यम् एते नृपस्य महागुणाः। एभिः त्यक्तः महीपालः वाच्यताम् खलु प्राप्नोति ॥ १३१ ॥

सत्यम् = सत्यभाषणम् । शौर्यम्=वीरताप्रदर्शनम् । दया=प्रजोपरि कारुण्यम् । त्यागः = सत्पात्रे धनवितरणम् । एभिस्त्यक्तः = उक्तगुणैः मुक्त । महीपालः = नृपः । वाच्यताम् = लोकनिन्दाम् । प्राप्नोति = अधिगच्छति ॥ १२१ ॥

क्योंकि—सत्य, वीरता, दया और त्याग ये राजा के महान गुण होते हैं। इनसे वञ्चित राजा निश्चय ही लोकनिन्दा का पात्र होता है ॥ १२१ ॥

ईदृशि प्रस्तावेऽमात्यास्तावद्वश्यमेव पुरस्कर्त्तव्याः ।

ईदृशि प्रस्तावे = पुरस्कारवितरणप्रसङ्गे । तावत् = प्रथमम् । अमात्या. = मन्त्रिणः । पुरस्कर्त्तव्याः = पुरस्कार्या. ।

इस प्रकार का समय उपस्थित होने पर पहले अमात्यों को पुरस्कार देना चाहिए। जैसा कि कहा भी गया है—

तथा चोक्तम्—

'यो येन प्रतिबद्धः स्यात्सह तेनोदयी, व्ययी ।
स विश्वस्तो नियोक्तव्यः, प्राणेषु च, धनेषु च' ॥ १३२ ॥

अन्वय —य. येन सह प्रतिबद्ध. (सः) तेन सह उदयी, व्ययी होच, भवति, (अतः) स. (एव) विश्वस्तः प्राणेषु च धनेषु च नियोक्तव्य. ॥ १३२ ॥

यः = पुरुष । येन = येन पुरुषेण नृपेण वा । प्रतिबद्ध. = वर्तनपुरस्कारादिग्रहणात् सम्बद्ध. । तेन सह = नृपेण सह । उदयी = उन्नतिशील. । व्ययी = अवनतिशील. । विश्वस्त' = विश्वासयोग्य. । प्राणेषु = प्राणरक्षणकार्ये । धनेषु = धनरक्षाव्यापारे । नियोक्तव्य. = अधिकारी कार्य. ॥ १३२ ॥

जो व्यक्ति जिस व्यक्ति (राजा) के साथ सम्बन्धित होकर उसकी उन्नति में अपनी भी उन्नति और अवनति में अपनी अवनति समझता है, ऐसे ही विश्वस्त व्यक्ति को प्राणों तथा धन की रक्षा के लिए नियुक्त करना चाहिए ॥ १३२ ॥

यतः—

'धूर्त्तः, स्त्री वा, शिशुर्यस्य मन्त्रिणः स्युर्महीपतेः ।
अनीतिपवनक्षिप्तोऽकार्याब्धौ स निमज्जति' ॥ १३३ ॥

अन्वय —यस्य महीपते. धूर्तः, शिशु. स्त्री वा मन्त्रिणः स्युः, अनीतिपवनक्षिप्तः स अकार्याब्धौ निमज्जति ॥ १३३ ॥

यस्य महीपते' = यस्य राज्ञ । धूर्तः = वञ्चक. । शिशु. = बाल. । मन्त्रिणः = मन्त्रदातार. । स्युः = भवेयु । अनीतिपवनक्षिप्त. = कुनीतिवायुना पातित. । अकार्याब्धौ = दुष्कर्मसागरे । निमज्जति = मग्नो भवति ॥ १३३ ॥

जिस राजा के मन्त्री धूर्त, स्त्री या बालक हों वह राजा अनीतिरूपी वायु से कठिन कार्यरूपी समुद्र में फेंक दिया जाता है और डूब भी जाता है ॥ १२३ ॥

शृणु देव !

'हर्षक्रोधौ यतौ यस्य, शास्त्रार्थे प्रत्ययस्तथा ।
नित्यं भृत्याऽनुपेक्षा च, तस्य स्याद्धनदा धरा' ॥ १२४ ॥

अन्वय —यस्य हर्षक्रोधौ यतौ, तथा शास्त्रार्थे प्रत्ययः, नित्यम् भृत्यानुपेक्षा च तस्य धरा धनदा स्यात् ॥ १२४ ॥

यस्य = नृपस्य । हर्षक्रोधौ, यतौ=संयतौ । तथा शास्त्रार्थे=शास्त्रवचने । प्रत्ययः= विश्वासः । नित्यम् = सदैव । भृत्यानुपेक्षा = सेवकपर्यवेक्षणम् । च, तस्य, धरा = पृथ्वी । धनदा = वित्तदा, स्यात् ॥ १२४ ॥

राजन् सुनिए—

जो राजा हर्ष तथा क्रोध में समान रूप से संयत रहता है, जिसे शास्त्रवचनों में विश्वास होता है और जो सेवकों पर पर बराबर ध्यान रखता है, उसकी राज्यभूमि सर्वदा धन देने वाली होती है ॥ १२४ ॥

'येषां राज्ञा सह स्यातामुच्चयाऽपचयौ ध्रुवम् ।
'अमात्या' इति तान् राजा नाऽवमन्येत्कदाचन' ॥ १२५ ॥

अन्वय —येषाम् राज्ञा सह उच्चयापचयौ ध्रुवम् स्याताम् (ते एव) अमात्याः (भवन्ति अतः) राजा तान् कदाचन न अवमन्येत् ॥ १२५ ॥

येषाम् = पुरुषाणाम् । राज्ञा सह = नृपेण सह । उच्चयापचयौ = उन्नत्यवनती । ध्रुवम् = निश्चितम् । तान् = अमात्यान् । कदाचन = कदाचिदपि । न अवमन्येत् = न तिरस्कुर्यात् ॥ १२५ ॥

जिन अमात्यों की उन्नति तथा अवनति राजा के साथ ही होती है, राजा को चाहिए कि ऐसे अमात्यों का भी निरादर न करे ॥ १२५ ॥

'महीभुजो मदान्धस्य सङ्कीर्णस्येव दन्तिनः ।
स्खलतो हि कराऽऽलम्बः सुशिष्टैरेव दीयते' ॥ १२६ ॥

अन्वय —मदान्धस्य स्खलतः दन्तिनः इव सङ्कीर्णस्य महीभुजः सुशिष्टैः एव करालम्बः दीयते हि ॥ १२६ ॥

मदान्धस्य = मदमत्तस्य, राज्यमदोन्मत्तस्य च । दन्तिनः =गजस्य । स्खलतः= पतितस्य विपन्नस्य च । सङ्कीर्णस्य = सङ्कुचित हृदयस्य । महीभुजः=नृपस्य ।

सत्यम् = सत्यभाषणम् । शौर्यम्=वीरताप्रदर्शनम् । दया=प्रजोपरि कारुण्यम् । त्यागः = सत्पात्रे धनवितरणम् । एभिरत्यक्तः = उक्तगुणैः मुक्तः । महीपालः = नृपः । वाच्यताम् = लोकनिन्दाम् । प्राप्नोति = अधिगच्छति ॥ १२१ ॥

क्योंकि—सत्य, वीरता, दया और त्याग ये राजा के महान् गुण होते हैं। इनसे वंचित राजा निश्चय ही लोकनिन्दा का पात्र होता है ॥ १२१ ॥

ईदृशि प्रस्तावेऽमात्यास्तावद्वश्यमेव पुरस्कर्तव्याः ।

ईदृशि प्रस्तावे = पुरस्कारवितरणप्रसङ्गे । तावत् = प्रथमम् । अमात्याः = मन्त्रिणः । पुरस्कर्तव्याः = पुरस्कार्याः ।

इस प्रकार का समय उपस्थित होने पर पहले अमात्यों को पुरस्कार देना चाहिए। जैसा कि कहा भी गया है—

तथा चोक्तम्—

'यो येन प्रतिबद्धः स्यात्सह तेनोदयी, व्ययी ।
स विश्वस्तो नियोक्तव्यः, प्राणेषु च, धनेषु च' ॥ १२२ ॥

अन्वय—यः येन सह प्रतिबद्धः (सः) तेन सह उदयी, व्ययी शीघ्र, भवति, (अतः) स (एव) विश्वस्तः प्राणेषु च धनेषु च नियोक्तव्यः ॥ १२२ ॥

यः = पुरुषः । येन = येन पुरुषेण नृपेण वा । प्रतिबद्धः = वर्तनपुरस्कारादिग्रहणात् सम्बद्धः । तेन सह = नृपेण सह । उदयी = उन्नतिशीलः । व्ययी = अवनतिशीलः । विश्वस्त = विश्वासयोग्यः । प्राणेषु = प्राणरक्षणकार्ये । धनेषु = धनरक्षाव्यापारे । नियोक्तव्यः = अधिकारी कार्यः ॥ १२२ ॥

जो व्यक्ति जिस व्यक्ति (राजा) के साथ सम्बन्धित होकर उसकी उन्नति में अपनी भी उन्नति और अवनति में अपनी अवनति समझता है, ऐसे ही विश्वस्त व्यक्ति को प्राणों तथा धन की रक्षा के लिए नियुक्त करना चाहिए ॥ १२२ ॥

यतः—

'धूर्त्तः, स्त्री वा, शिशुर्यस्य मन्त्रिणः स्युर्महीपतेः ।
अनीतिपवनक्षिप्तोऽकार्याब्धौ स निमज्जति' ॥ १२३ ॥

अन्वय—यस्य महीपतेः धूर्तः, शिशुः स्त्री वा मन्त्रिणः स्युः, अनीतिपवनक्षिप्तः सः अकार्याब्धौ निमज्जति ॥ १२३ ॥

यस्य महीपतेः = यस्य राज्ञः । धूर्तः = वञ्चकः । शिशुः = बालः । मन्त्रिणः = मन्त्रदातारः । स्युः = भवेयुः । अनीतिपवनक्षिप्तः = कुनीतिवायुना पातितः । अकार्याब्धौ = दुष्कर्मसागरे । निमज्जति = मग्नो भवति ॥ १२३ ॥

जिस राजा के मन्त्री धूर्त, स्त्री या बालक हों वह राजा अनीतिरूपी वायु से कठिन कार्यरूपी समुद्र में फेंक दिया जाता है और डूब भी जाता है ॥ १३३ ॥

शृणु देव !

'हर्षक्रोधौ यतौ यस्य, शास्त्रार्थे प्रत्ययस्तथा ।
नित्यं भृत्याऽनुपेक्षा च, तस्य स्याद्धनदा धरा' ॥ १३४ ॥

अन्वय —यस्य हर्षक्रोधौ यतौ, तथा शास्त्रार्थे प्रत्यय, नित्यम् भृत्यानुपेक्षा च तस्य धरा धनदा स्यात् ॥ १३४ ॥

यस्य = नृपस्य । हर्षक्रोधौ, यतौ=संयतौ । तथा शास्त्रार्थे=शास्त्रवचने । प्रत्ययः= विश्वासः । नित्यम् = सदैव । भृत्यानुपेक्षा = सेवकपर्यवेक्षणम् । च, तस्य, धरा = पृथ्वी । धनदा = वित्तदा, स्यात् ॥ १३४ ॥

राजन् सुनिए—

जो राजा हर्ष तथा क्रोध में समान रूप से संयत रहता है, जिसे शास्त्रवचनों में विश्वास होता है और जो सेवकों पर पर बराबर ध्यान रखता है, उसकी राज्यभूमि सर्वदा धन देने वाली होती है ॥ १३४ ॥

'येषां राज्ञा सह स्यातामुच्चयाऽपचयौ ध्रुवम् ।
'अमात्या' इति तान् राजा नाऽवमन्येत्कदाचन' ॥ १३५ ॥

अन्वय —येषाम् राज्ञा सह उच्चयापचयौ ध्रुवम् स्याताम् (ते एव) अमात्याः (भवन्ति अतः) राजा तान् कदाचन न अवमन्येत् ॥ १३५ ॥

येषाम् = पुरुषाणाम् । राज्ञा सह = नृपेण सह । उच्चयापचयौ = उन्नत्य-वनती । ध्रुवम् = निश्चितम् । तान् = अमात्यान् । कदाचन = कदाचिदपि । न अवमन्येत् = न तिरस्कुर्यात् ॥ १३५ ॥

जिन अमात्यों की उन्नति तथा अवनति राजा के साथ ही होती है, राजा को चाहिए कि ऐसे अमात्यों का भी निरादर न करे ॥ १३५ ॥

'महीभुजो मदान्धस्य सङ्कीर्णस्येव दन्तिनः ।
स्खलतो हि कराऽऽलम्बः सुशिष्टैरेव दीयते' ॥ १३६ ॥

अन्वय —मदान्धस्य स्खलत' दन्तिन' इव सङ्कीर्णस्य महीभुज' सुशिष्टैः एव कराऽऽलम्ब दीयते हि ॥ १३६ ॥

मदान्धस्य = मदमत्तस्य, राज्यमदोन्मत्तस्य च । दन्तिन =गजस्य । स्खलत.= पतितस्य विपन्नस्य च । सङ्कीर्णस्य = संकुचित हृदयस्य । महीभुजः=नृपस्य ।

सुशिष्टैः=अप्रमत्तैः सहचरगजैः, शिष्टैः अमात्यैश्च। करालम्बः=शुण्डावलम्बः, हस्तावश्रयश्च। दीयते=वितीर्यते॥ १२६॥

जिस प्रकार मद से मतवाले तथा कीचड आदि में गिरने वाले हाथी को उसके अन्य सिखाये हुए स्वस्थ हाथी अपनी सूड का सहारा देकर बचा लेते हैं। इसी प्रकार अभिमानी तथा छोटे हृदयवाले विपत्ति में पड़े हुए राजा को अमात्य अपने हाथों का सहारा देकर उबार लेते हैं॥ १२६॥

अथाऽऽगत्य प्रणम्य मेघवर्णो ब्रूते—'देव! दृष्टिप्रसादं कुरु! इदानीं विपक्षो दुर्गद्वारि वर्त्तते। तद्देवपादादेशाद्बहिर्निःसृत्य स्वविक्रमं दर्शयामि। तेन देवपादानामानृण्यमुपगच्छामि।'

चक्रवाको ब्रूते—'मैवं, यदि बहिर्निःसृत्य योद्धव्यं, तदा दुर्गाऽऽश्रयणमेव निष्प्रयोजनम्'। अपरञ्च—

मेघवर्णः=शत्रुचरः वायसः। दृष्टिप्रसादनम्=दर्शनानुग्रहम्। विपक्षः=शत्रुवर्गः। देवपादादेशात्=श्रीमदाज्ञया। बहिर्निःसृत्य=दुर्गाद् बहिर्भूत्वा। आनृण्यमुपगच्छामि=ऋणशोधनम् करिष्यामि।

उसी वाच मेघवर्ण (चित्रवर्ण का कपटदूत जिसे राजहंस चकवे के मना करने पर भी आश्रय दिया था) ने आकर कहा—'राजन्, इधर देखने की कृपा करें। इस समय शत्रु किलेके द्वार पर वर्तमान है। इस लिए मैं आप की आज्ञा से इस किले से बाहर निकल कर अपना पराक्रम दिखाना चाहता हू। और इसी कार्य द्वारा आपके ऋण से मुक्त होना चाहता हूँ। चकवे ने कहा—'नहीं ऐसा मत करो।' अगर बाहर निकल कर ही युद्ध करना है तो किले का आश्रय ही लेना ही व्यर्थ है। और भी—

'विषमोऽपि यथा नक्रः सलिलान्निःसृतो वशः।
वनाद्विनिर्गतः शूरः सिंहोऽपि स्याच्छृगालवत्'॥ १२७॥

अन्वय—यथा सलिलात् निःसृतः विषमः अपि नक्रः, वनाद्विनिर्गतः सिंहः अपि शूर (दुर्गाद् विनिर्गत्य) शृगालवत् वशः स्यात्॥ १२७॥

सलिलात्=जलात्। निःसृतः=निर्गतः। विषमः=भयङ्करः। नक्रः=कुम्भीरः। वनाद्विनिर्गतः=अरण्यान्निःसृतः, वशः स्यात्=शत्रुणा सारल्येन विजितो भवति॥ १२७॥

भयंकर होते हुए भी घड़ियाल पानी से बाहर निकल कर, तथा बहादुर सिंह भी जगल से बाहर जाकर गीदड के समान दूसरों द्वारा वश में कर लिया जाता है॥ १२७॥'

[वायसो ब्रूते—] 'देव ! स्वयं गत्वा दृश्यतां युद्धम्' । यत —

राजन् आप स्वयम् चल कर युद्ध देखिये क्योंकि—

'पुरस्कृत्य बलं राजा योधयेदवलोकयन् ।
स्वामिनाऽधिष्ठितः श्वाऽपि किं न सिंहायते ध्रुवम्' ॥ १३८ ॥

अन्वय·—राजा बलम् पुरस्कृत्य (तत्) अवलोकयन् योधयेत् । स्वामिना धिष्ठित· श्वापि किं ध्रुवम् न सिंहायते ॥ १३८ ॥

राजा = नृप· । बलम् = सैन्यम् । पुरस्कृत्य = अग्रे कृत्वा । अवलोकयन् = निरीक्षमाणः । योधयेत् = युद्ध कारयेत् । स्वामिनाधिष्ठित· = प्रभुणा सनाथः । श्वापि = कुक्कुरोपि । ध्रुवम् = निश्चितम् । सिंहायते = सिंहः इव आचरति ॥ १३८ ॥

राजा सेना को आगे करके स्वयम् उसका निरीक्षण करते हुए युद्ध कराये क्योंकि स्वामी के साथ रहने से कुत्ता भी निश्चय ही सिंह जैसा पराक्रम दिखाता है ॥ १३८ ॥

अथ ते सर्वे दुर्गद्वारं गत्वा महाऽऽहवं कृतवन्त· । 'अपरेद्युश्चित्र-वर्णो राजा गृध्रमुवाच—'तात ! स्वप्रतिज्ञातमधुना निर्वाहय ।'
गृध्रो ब्रूते—'देव ! शृणु तावत्'—

महाहवम् = महायुद्धम । ते = राजहंसादयः । अपरेद्युः = अन्यदिने । स्वप्रतिज्ञा-तम् = निजप्रतिश्रुतम् । निर्वाहय = पूरय ।

तब वे सभी दुर्ग के द्वार पर जाकर महान युद्ध करने लगे । दूसरे दिन चित्रवर्ण ने गृध्र से कहा—'तात अब अपनी प्रतिज्ञा पूरी कीजिए ।' गृद्ध ने कहा तो सुनिए—

'अकालसहमत्यल्पं, मूर्ख व्यसनि-नायकम् ।
अगुप्तं, भीरुयोधं च दुर्गव्यसनमुच्यते ॥ १३९ ॥

अन्वय —अकालसहम् ···· दुर्गव्यसनम् उच्यते ॥ १३९ ॥

अकालसहम् = बहुकालावरोधस्य सहने अशक्तम् । मूर्खव्यसनि नायकम् = युद्धविधानाज्ञमद्यपानादिव्यसनासक्तरक्षकम् । अगुप्तम् = अरक्षितम् । भीरु योधम् = कृपणसैनिकम् । दुर्गव्यसनम् = दुर्गदूषणम् । उच्यते = कथ्यते ॥ १३९ ॥

बहुत दिनों के घेरे को सहन करने में असमर्थता, मूर्ख और व्यसनी नायकों के हाथ में रक्षा का भार होना, भलीभांति रक्षित न होना और कायर सैनिकों से युक्त होना दुर्ग के दोष कहे जाते हैं ॥ १३९ ॥

तत्तावदत्र नास्ति ।

'उपजापश्चिराऽऽरोधोऽवस्कन्दस्तीव्रपौरुषम् ।
दुर्गस्य लङ्घनोपायाश्चत्वारः कथिता इमे' ॥ १४० ॥

अन्वय—उपजापः, चिरारोधः, अवस्कन्दः, तीव्रपौरुषम्, इमे चत्वारः दुर्गस्य लंघनोपायाः कथिताः ॥ १४० ॥

उपजापः = दुर्गान्तरे सैनिकानाम् मिथो भेदः । चिरारोधः = दुर्गस्य बहुकालावरोधः । अवस्कन्द = सहसाक्रमणम् । तीव्रपौरुषम् = अतिपराक्रमः । लङ्घनोपायाः = विजयोपायाः ॥ १४० ॥

वे सब तो इस दुर्ग में नहीं हैं ।

किले के भीतर सैनिकों में फूट डाल देना, बहुत समय तक घेरा डाले रहना, सहसा आक्रमण कर देना और अत्यत कठिन पौरुष करना यही चार दुर्ग जीतने के उपाय हैं ॥ १४० ॥

अत्र यथाशक्ति क्रियते यत्नः । कर्णे कथयति—एवमेवम् । ततोऽनुदित एव भास्करे चतुर्ष्वपि दुर्गद्वारेषु प्रवृत्ते युद्धे, दुर्गाभ्यन्तरगृहेष्वेकदा काकैरग्निर्निक्षिप्तः ततः 'गृहीतं गृहीतं दुर्गम्' इति कोलाहलं श्रुत्वा सर्वतः प्रदीप्ताऽग्निमवलोक्य, राजहंससैनिका, बहवो दुर्गवासिनश्च सत्वर ह्रदं प्रविष्टाः । यतः—

अनुदिते = अनभ्युदिते । भास्करे = सूर्ये । एकदैव = सहसा । प्रदीप्ताग्निम् = प्रज्वलिताग्निम् । सत्वरम् = शीघ्रम् । ह्रद = सरोवरम् ।

अब यहाँ शक्तिभर प्रयत्न करना चाहिए । कान में कहता है—ऐसे ही है, अभी सूर्य निकला भी नहीं था कि किले के चारों द्वारों पर भयकर युद्ध होने लगा । इसी बीच कौवे ने किले के भीतर आग लगा दी । फिर किला ले लिया, ले लिया इस प्रकार के कोलाहल सुनकर तथा जलती हुई आग देखकर राजहंस के सभी सैनिक तथा किले के रहने वाले शीघ्र ही तालाब में घुस गए । क्योंकि—

सुमन्त्रितं, सुविक्रान्तं, सुयुद्धं, सुपलायितम् ।
कार्यकाले यथाशक्ति कुर्यान्नतु विचारयेत् ॥ १४१ ॥

अन्वय—कार्यकाले सुमन्त्रितम्, सुविक्रान्तम्, सुयुद्धम्, सुपलायितम् यथाशक्ति (त्वरितम्) कुर्यात् न तु विचारयेत् ॥ १४१ ॥

कार्यकाले = प्राप्तावसरे । सुमन्त्रितम् = सुष्ठुविमर्शनम् । सुविक्रान्तम् = पराक्रमातिप्रदर्शनम् । सुयुद्धम् = सुष्ठुरीत्या युद्धकरणम् । सुपलायितम् = विजयस्य

सर्वोपाये विनष्टे सति पलायनम् । यथाशक्ति=शक्त्यनुसारेण । त्वरितम्]कुर्यात् , न तु विचारयेत्=विमृशेत् ॥ १४१ ॥

समय आ जाने पर अच्छी मंत्रणा, अच्छा पराक्रम, अच्छी लड़ाई और ठीक ढंग से भागने का काम तत्काल कर डालना चाहिए । इसमें किसी प्रकार का विचार नहीं करना चाहिए ॥ १४१ ॥

राजा हंसश्च स्वभावान्मन्दगतिः, सारसद्वितीयश्चित्रवर्णस्य सेनापतिना कुक्कुटेनाऽऽगत्य वेष्टितः। हिरण्यगर्भः सारसमाह–'सेनापते! सारस'! ममाऽनुरोधादात्मानं कथं व्यापादयसि । (अधुनाऽहं गन्तुमसमर्थः), त्वं गन्तुमधुनाऽपि समर्थः । तद्गत्वा जलं प्रविश्याऽऽत्मानं परिरक्ष । अस्मत्पुत्रं चूडामणिनामानं सर्वज्ञस्य संमत्या राजानं करिष्यसि' । सारसो ब्रूते—'देव ! न वक्तव्यमेवं दुःसहं वचः, यावच्चन्द्रार्कौ दिवि तिष्ठतस्तावद्विजयतां देव' । अहं देव ! दुर्गाधिकारी । तन्मम मांसाऽसृग्विलिप्तेन द्वारवर्त्मना तावत् प्रविशतु शत्रुः' । अपरञ्च–देव !

मन्दगतिः=धीरगमनः । सारसद्वितीयः=सारसेन सहितः । वेष्टितः=आक्रान्तः । ममानुरोधात्=मदपेक्षणात् । व्यापादयसि=मारयसि । दुःसहं वचः=कठोरवचनम् । दिवि=आकाशे । चन्द्रार्कौ=शशिसूर्यौ । दुर्गाधिकारी=दुर्गपतिः । मांसासृग्विलिप्तेन=मांसरुधिरपूरितेन । द्वारवर्त्मना=दुर्गद्वारमार्गेण ।

स्वभाव से ही धीरे धीरे चलने वाला राजहंस सारस के साथ जाते समय चित्रवर्ण के सेनापति मुर्गे द्वारा घेर लिया गया । तब हिरण्यगर्भ ने सारस से कहा—'सेनापति सारस, मेरी प्रतीक्षा में तुम अपना विनाश क्यों करोगे ? तुम इस समय जा सकते हो । इसलिए जल जाकर अपनी रक्षा करो । मेरे पुत्र चूडामणि को सर्वज्ञ की राय से राजा बना देना । सारस ने कहा—'राजन् , आप ऐसी असह्य बात न कीजिए । जब तक आकाश में सूर्य-चन्द्रमा स्थित रहे तब तक आप विजयी बने रहें । राजन् , मैं दुर्ग का अधिकारी हूँ । इसलिए मेरे मांस और रक्त से सने हुए द्वार के मार्ग से ही शत्रु भीतर जाने पावेंगे और भी—

'दाता, क्षमी, गुणग्राही स्वामी दुःखेन लभ्यते' ।

राजाऽऽह—'सत्यमेवैतत्' । किन्तु—

'शुचिर्दक्षोऽनुरक्तश्च जाने भृत्योऽपि दुर्लभः' ॥ १४२ ॥

अन्वयः—दाता क्षमी ..... भृत्यः अपि दुर्लभः जाने ॥ १४२ ॥

तत्तावदत्र नास्ति ।

'उपजापश्चिरारोधोऽवस्कन्दस्तीव्रपौरुषम् ।
दुर्गस्य लङ्घनोपायाश्चत्वारः कथिता इमे' ॥ १४० ॥

अन्वयः—उपजापः, चिरारोधः, अवस्कन्दः, तीव्रपौरुषम्, इमे चत्वारः दुर्गस्य लंघनोपायाः कथिताः ॥ १४० ॥

उपजापः = दुर्गान्तरे सैनिकानाम् मिथो भेदः । चिरारोधः = दुर्गस्य बहुकालावरोधः । अवस्कन्दः = सहसाक्रमणम् । तीव्रपौरुषम् = अतिपराक्रमः । लङ्घनोपायाः = विजयोपायाः ॥ १४० ॥

वे सब तो इस दुर्ग में नहीं हैं ।

किले के भीतर सैनिकों में फूट डाल देना, बहुत समय तक घेरा डाले रहना, सहसा आक्रमण कर देना और अत्यत कठिन पौरुष करना यही चार दुर्ग जीतने के उपाय हैं ॥ १४० ॥

अत्र यथाशक्ति क्रियते यत्नः । कर्णे कथयति—एवमेवम् । ततोऽनुदित एव भास्करे चतुर्ष्वपि दुर्गद्वारेषु प्रवृत्ते युद्धे, दुर्गाभ्यन्तरगृहेष्वेकदा काकैरग्निर्निक्षिप्तः ततः 'गृहीतं गृहीतं दुर्गम्' इति कोलाहलं श्रुत्वा सर्वतः प्रदीप्ताऽग्निमवलोक्य, राजहंससैनिका, बहवो दुर्गवासिनश्च सत्वरं ह्रदं प्रविष्टाः । यतः—

अनुदिते = अनभ्युदिते । भास्करे = सूर्ये । एकदैव = सहसा । प्रदीप्ताग्निम् = प्रज्वलिताग्निम् । सत्वरम् = शीघ्रम् । ह्रद = सरोवरम् ।

अब यहाँ शक्तिभर प्रयत्न करना चाहिए । कान में कहता है—ऐसे ही !, अभी सूर्य निकला भी नहीं था कि किले के चारों द्वारों पर भयकर युद्ध होने लगा । इसी बीच कौवे ने किले के भीतर आग लगा दी । फिर किला ले लिया, ले लिया इस प्रकार के कोलाहल सुनकर तथा जलती हुई आग देखकर राजहस के सभी सैनिक तथा किले के रहने वाले शीघ्र ही तालाब में घुस गए । क्योंकि—

सुमन्त्रितं, सुविक्रान्तं, सुयुद्धं, सुपलायितम् ।
कार्यकाले यथाशक्ति कुर्यान्नतु विचारयेत् ॥ १४१ ॥

अन्वयः—कार्यकाले सुमन्त्रितम्, सुविक्रान्तम्, सुयुद्धम्, सुपलायितम् यथाशक्ति (त्वरितम्) कुर्यात् न तु विचारयेत् ॥ १४१ ॥

कार्यकाले = प्राप्तावसरे । सुमन्त्रितम् = सुष्ठुविमर्शनम् । सुविक्रान्तम् = पराक्रमातिप्रदर्शनम् । सुयुद्धम् = सुष्ठुरीत्या युद्धकरणम् । सुपलायितम् = विजयस्य

सर्वोपाये विनष्टे सति पलायनम् । यथाशक्ति=शक्त्यनुसारेण । त्वरितम्]कुर्यात् , न तु विचारयेत्=विमृशेत् ॥ १४१ ॥

समय आ जाने पर अच्छी मंत्रणा, अच्छा पराक्रम, अच्छी लड़ाई और ठीक ढंग से भागने का काम तत्काल कर डालना चाहिए । इसमें किसी प्रकार का विचार नहीं करना चाहिए ॥ १४१ ॥

राजा हंसश्च स्वभावान्मन्दगति', सारसद्वितीयश्चित्रवर्णस्य सेनापतिना कुक्कुटेनाऽऽगत्य वेष्टितः । हिरण्यगर्भः सारसमाह—'सेनापते ! सारस' ! ममाऽनुरोधादात्मानं कथं व्यापादयसि । (अधुनाऽहं गन्तुमसमर्थः), त्वं गन्तुमधुनाऽपि समर्थः । तद्गत्वा जलं प्रविश्याऽऽत्मानं परिरक्ष । अस्मत्पुत्रं चूडामणिनामानं सर्वज्ञस्य संमत्या राजानं करिष्यसि' । सारसो ब्रूते—'देव ! न वक्तव्यमेवं दुःसहं वचः, यावच्चन्द्राकौं दिवि तिष्ठतस्तावद्विजयतां देव' । अहं देव ! दुर्गाधिकारी । तन्मम मांसाऽसृग्विलिप्तेन द्वारवर्त्मना तावत् प्रविशतु शत्रु.' । अपरञ्च—देव !

मन्दगति =धीरगमन. । सारसद्वितीय.=सारसेन सहित. । वेष्टितः=आक्रान्तः । ममानुरोधात्=मदपेक्षणात् । व्यापादयसि = मारयसि । दु सहं वच: = कठोरवचनम् । दिवि = आकाशे । चन्द्रार्कौ = शशिसूर्यौ । दुर्गाधिकारी = दुर्गपतिः । मांसासृग्विलिप्तेन = मांसरुधिरपूरितेन । द्वारवर्त्मना = दुर्गद्वारमार्गेण ।

स्वभाव से ही धीरे धीरे चलने वाला राजहंस सारस के साथ जाते समय चित्रवर्ण के सेनापति मुर्गे द्वारा घेर लिया गया । तब हिरण्यगर्भ ने सारस से कहा—'सेनापति सारस, मेरी प्रतीक्षा में तुम अपना विनाश क्यों करोगे ? तुम इस समय जा सकते हो । इसलिए जल जाकर अपनी रक्षा करो । मेरे पुत्र चूडामणि को सर्वज्ञ की राय से राजा बना देना । सारस ने कहा—'राजन् , आप ऐसी असह्य बात न कीजिए । जब तक आकाश में सूर्य-चन्द्रमा स्थित रहे तब तक आप विजयी बने रहें । राजन् , मैं दुर्ग का अधिकारी हूँ । इसलिए मेरे मांस और रक्त से सने हुए द्वार के मार्ग से ही शत्रु भीतर जाने पावेंगे और भी—

'दाता, क्षमी, गुणग्राही स्वामी दु खेन लभ्यते' ।

राजाऽऽह—'सत्यमेवैतत्' ! किन्तु—

'शुचिर्दक्षोऽनुरक्तश्च जाने भृत्योऽपि दुर्लभ' ॥ १४२ ॥

अन्वय —दाता क्षमी ·· ·· 'भृत्य. अपि दुर्लभ. जाने ॥ १४२ ॥

दाता = दानशील'। क्षमी = क्षमायुक्तः। गुणग्राही = गुणानुरक्त'। स्वामी = प्रभुः। दुःखेन = आयासेन। लभ्यते = प्राप्यते। शुचिः = शुद्धाचरण.। दक्षः = सेवायाम् कुशलः। अनुरक्तः = स्वामिभक्त.। दुर्लभ. = दुराप.। जाने = मन्ये ॥१४२॥

दाता, क्षमाशील और गुणों को ग्रहण करने वाले स्वामी बडी कठिनाई से मिलते हैं।

राजा ने कहा—यह तो ठीक है किन्तु—

मैं ऐसा समझता हूँ कि पवित्र, चतुर एवं स्वामिभक्त सेवक भी दुर्लभ होते हैं ॥१४२॥

सारसो ब्रूते—'शृणु देव।

'यदि समरमपास्य नास्ति मृत्यो-
भयमिति युक्तमितोऽन्यतः प्रयातुम्।
अथ मरणमवश्यमेव जन्तोः,
किमिति मुधा मलिनं यशः क्रियेत ? ॥ १४३ ॥

अन्वय — यदि समरम् अपास्य मृत्योर्भयम् नास्ति इति (तर्हि) इतोऽन्यतः प्रयातुम् युक्तम्। अथ जन्तोः मरणम् अवश्यम् एव (तर्हि) यशः मुधा किमिति मलिनम् क्रियेत ॥ १४३ ॥

यदि = चेत्। समरम् = युद्धम्। अपास्य = त्यक्त्वा पलायिते सति। मृत्यो' र्भयम् = मृत्युभीतिः। न = न भवेत्। तर्हि। इतोऽन्यतः = समरभूमे.। अन्यत्र। प्रयातुम् = गन्तुम्। युक्तम् = उचितम्। अथ = चेत्। जन्तो. = प्राणिनः। मरणम् = मृत्यु.। अवश्यमेव = ध्रुवमेव। तर्हि। यश. = कीर्तिः। मुधा = वृथा। किमिति = कथम्। मलिनम् = म्लानम्, क्रियेत = विधीयेत ॥ १४३ ॥

सारस ने कहा—राजन्, सुनिए

यदि युद्ध छोड कर भाग जाने से मृत्यु का भय नष्ट हो जाये तो यहाँ से दूसरी जगह भाग जाना उचित हो सकता है। किन्तु जब प्राणी के लिए मृत्यु अवश्यम्भावी है तो व्यर्थ ही भागकर कीर्ति को मलिन क्यों बनाया जाय ॥ १४३ ॥

अन्यच्च—

'भवेऽस्मिन्पवनोद्भ्रान्तवीचिविभ्रमभङ्गुरे।
जायते पुण्ययोगेन परार्थे जीवितव्ययः ॥ १४४ ॥

अन्वय.—पवनोद्भ्रान्तवीचिविभ्रमभङ्गुरे अस्मिन्भवे पुण्ययोगेन परार्थं जीवितव्ययः जायते ॥ १४४ ॥

पवनोद्भ्रान्तेन = वायुनोत्थितेन । वीचिविभ्रमभङ्गुरे = तरङ्गविलासवत् नाशशीले। अस्मिन्भवे = अस्मिन् संसारे । पुण्ययोगेन = सुकृतसम्पर्केण । परार्थे = अन्योपकारव्यापारे । जीवितव्यय. = प्राणोत्सर्जनम् । जायते = भवति ॥ १४४ ॥

और भी—वायुद्वारा उठने गिरने वाली चचल लहरों के समान क्षण भरमें नाश हो जाने वाले इस ससार से बडे पुण्य से ही दूसरों की भलाई में प्राणत्याग करने का अवसर मिलता है ॥ १४४ ॥

'स्वाम्यमात्यश्च, राष्ट्रं च, दुर्गं, कोशो, बलं, सुहृत् ।
राज्याऽङ्गानि प्रकृतयः, पौराणां श्रेणयोऽपि च' ॥ १४५ ॥

अन्वय.— स्वामी, अमात्यः, राष्ट्रम् , दुर्गम् , कोशः, बलम् , सुहृत् , प्रकृतयः, पौराणाम् श्रेणयः अपि च राज्याङ्गानि ॥ १४५ ॥

स्वामी = नृपः । अमात्यः = मन्त्री । राष्ट्रं = स्वशासितदेश. । दुर्गम् = दुर्गमःयुद्धोपकरणयुक्त विशालं राजभवनम् , बलम् = सैन्यम् । सुहृत् = मित्रम् । प्रकृतयः = प्रजा. । पौराणाम् = पुरवासिनाम् । श्रेणय. = मण्डलानि । राज्याङ्गानि = राज्यस्य अवयवा. ॥ १४५ ॥

राजा, मन्त्री, राष्ट्र, दुर्ग, कोश, सेना, मित्र तथा प्रजा एव नागरिकों के मडल-ये आठ राज्य के अङ्ग होते हैं ॥ १४५ ॥

देव ! त्वं च स्वामी, सर्वथा रक्षणीयः । यतः—

'प्रकृतिः स्वामिनं त्यक्त्वा समृद्धाऽपि न जीवति ।
अपि धन्वन्तरिर्वैद्यः, किं करोति गताऽऽयुषि' ॥ १४६ ॥

अन्वय —स्वामिनम् त्यक्त्वा समृद्धापि प्रकृतिः न जीवति । धन्वन्तरिः वैद्यः अपि गतायुषि किं करोति ॥ १४६ ॥

स्वामिनम् = राजानम् । त्यक्त्वा = विहाय । समृद्धा = सवैभवा । प्रकृतिः = प्रजा । धन्वन्तरि. वैद्य. = तन्नामा कुशलवैद्य. अपि । गतायुषि = क्षीणायुषि । किं करोति = न किमपि कर्तुं प्रभवेत् ॥ १४६ ॥

राजन् , आप स्वामी हैं इसलिए आप की रक्षा सभी प्रकार से होनी ही चाहिए । क्योंकि—

धन धान्य से भरीपुरी होने पर भी प्रजा स्वामी को छोडकर जीवित नहीं रह सकती । अगर किसी रोगी की आयु ही समाप्त हो जाय तो धन्वन्तरि वैद्य भी क्या कर सकते हैं ॥ १४६ ॥

अपरञ्च—

> 'नरेशे जीवलोकोऽयं निमीलति, निमीलति ।
> उदेत्युदीयमाने च रवाविव सरोरुहम्' ॥ १४७ ॥

अन्वय —अयम् जीवलोकः नरेशे निमीलति निमीलति, उदीयमाने रवौ सरोरुहम् इव उदेति ॥ १४७ ॥

अयम् जीवलोक' = दृश्यमानप्राणिवर्गः । नरेशे = राजनि । निमीलति = विपन्ने मृते वा सति । निमीलति = विपन्नो भवति, म्रियते च । उदीयमाने = अभ्युदयमापन्ने । उदेति = अभ्युदयमाप्नोति । रवौ = सूर्ये । निमीलति = अस्त गच्छति सति । निमीलति = मुकुलीभवति, सरोरुहम् = कमलम्, इव = यथा ॥ १४७ ॥

यह सारे प्राणी राजा के नष्ट हो जाने पर नष्ट हो जाते हैं और सूर्य के उदय होने पर कमल के समान राजा की उन्नति से विकसित हो जाते हैं ॥ १४७ ॥

अन्याधि प्रधानाऽङ्गं राजा ।

अथ कुक्कुटेनाऽऽगत्य राजहंसस्य शरीरे खरतरनखाऽऽघातः कृतः । तदा सत्वरमुपसृत्य सारसेन स्वदेहाऽन्तरितो राजा जले क्षिप्तः ।

अथ कुक्कुटनखप्रहारजर्जरीकृतेनाऽपि सारसेन कुक्कुटसेना बहुशो हता । पश्चात्सारसोऽपि बहुभिः पक्षिभिः समेत्य चञ्चुप्रहारेण विभिद्य व्यापादितः । अथ चित्रवर्णो दुर्गं प्रविश्य, दुर्गाऽवस्थितं द्रव्यं ग्राहयित्वा, बन्दिभिर्जयशब्दैरानन्दितः स्वस्कन्धाऽऽवारं जगाम ।

शरीरे = देहे । खरतरनखाघातः = तीक्ष्णनखप्रहारः । स्वदेहान्तरित = निजशरीरवेष्टितः । नखप्रहारेण = नखाघातेन । जर्जरीकृतेन = छिन्नभिन्नशरीरेण । विभिद्य = विदार्य । व्यापादितः = हतः । चञ्चुप्रहारेण = तुण्डाघातेन । दुर्गम् = राजहंसदुर्गम् । दुर्गावस्थितम् = दुर्गे विद्यमानम् । द्रव्यम् = पदार्थम् । ग्राहयित्वा = निजाधिकारिणे समर्प्य । स्वस्कन्धावारम् = स्वसेनानिवेशम् । बन्दिभिः = चारणैः । तस्मिन् राजबले = राजहंसस्य सैन्ये । पुण्यवान् = पुण्यात्मा । स्वदेहत्यागेन = निजशरीरविसर्जनेन ।

इस के पश्चात् मुर्गे ने आकर अपने तेज नखों का प्रहार किया किन्तु सारस ने शीघ्रता के साथ अपने शरीर से उसे ढककर पानी में फेंक दिया । यद्यपि मुर्गा के नख को

चोट से सारस का शरीर छिन्न-भिन्न हो गया फिर भी उसने बहुत सी मुर्गों की सेना को मार गिराया। किंतु मुर्गों के चोंचों की मार से अन्त में वह मर गया। इसके बाद चित्रवर्ण ने किले में प्रवेश किया और वहाँ की वर्तमान सभी सामग्री को लेकर चारणों के जय शब्द से आनंदित होता हुआ अपने पड़ाव पर चला गया।

अथ राजपुत्रैरुक्तम्—'तस्मिन्राजहंसबले पुण्यवान् स सारस एव, येन स्वदेहत्यागेन स्वामी रक्षितः'। यत—

'जनयन्ति सुतान् गावः सर्वा एव गवाऽऽकृतीन्।
विषाणोल्लिखितस्कन्धं काचिदेव गवां पतिम्'॥ १४८॥

अन्वय—सर्वा गावः एव गवाकृतीन् सुतान् जनयन्ति (किन्तु) विषाणोल्लिखितस्कन्धम् गवाम् पतिम् काचिदेव (जनयति)॥ १४८॥

सर्वा गाव.=सर्वाः सुरभय.। गवाकृतीन्=स्वसमानाकृतीन्। सुतान्=वत्सान्। जनयन्ति = उत्पादयन्ति। विषाणोल्लिखितस्कन्धम्=शृङ्गक्षतककुदम्। गवांपतिम्=बलीवर्दश्रेष्ठम्॥ १४८॥

राजकुमारों ने कहा—उस राजहंस की सेना में सारस ही पुण्यात्मा था जिसने अपने शरीर का त्याग करके स्वामी की रक्षा की। ऐसा कहा भी गया है—

सभी गायें बैलों जैसी आकृति वाले बछड़ों का जन्म देती हैं किन्तु युद्ध में सींगों के प्रहार से कटे हुए कन्धों वाले साँड का जन्म कोई कोई गाय ही देती है॥ १४८॥

विष्णुशर्मोवाच—'स तावत्स्वक्रीतानक्षयलोकान् विद्याधरीपरिवृतोऽनुभवतु महासत्त्वः'। तथा चोक्तम्—

सः=सारस.। विद्याधरीपरिवृतः=विद्याधरीभिः सेवित.। महासत्त्व.=महापराक्रमः।

विष्णुशर्मा ने कहा—वह महापराक्रमी तो विद्याधरियों से घिरा हुआ स्वर्ग सुख का अनुभव कर रहा होगा। जैसा कि कहा गया है—

'आहवेषु च ये शूराः स्वाम्यर्थे त्यक्तजीविताः।
भर्तृभक्ताः, कृतज्ञाश्च, ते नराः स्वर्गगामिनः'॥ १४९॥

अन्वय—ये आहवेषु शूराः, स्वाम्यर्थे त्यक्तजीविता. भर्तृभक्ता. कृतज्ञाः च (भवन्ति) ते नराः स्वर्गगामिन. भवन्ति॥ १४९॥

ये = नराः। आहवेषु = युद्धेषु। शूराः = पराक्रमशीलाः। स्वाम्यर्थे = नृपार्थे। त्यक्तजीविताः = परित्यक्तप्राणाः। भर्तृभक्ताः = स्वामिभक्ताः ॥ १४९ ॥

जो वीर युद्ध में स्वामी की रक्षा में अपने प्राणों का परित्याग कर देते हैं ऐसे स्वामि-भक्त और कृतज्ञ लोग स्वर्ग में चले जाते हैं ॥ १४९ ॥

'यत्र तत्र हतः शूरः शत्रुभिः परिवेष्टितः।
अक्षयाँल्लभते लोकान्यदि क्लैब्यं न गच्छति' ॥ १५० ॥

अन्वय —यत्र तत्र शत्रुभिः परिवेष्टितः हतः शूरः यदि क्लैब्यम् न गच्छति (तर्हि) अक्षयान् लोकान् लभते ॥ १५० ॥

यत्र तत्र = यत्र कुत्रापि स्थाने। शत्रुभिः = अरिभिः परिवेष्टितः = आक्रान्तः। हतः = मृतः। शूरः = वीरः। क्लैब्यम् = दैन्यम्। अक्षयान् लोकान् = ब्रह्मादि-नित्यलोकान्। लभते = प्राप्नोति ॥ १५० ॥

शत्रुओं से घिर कर जहाँ कहीं भी मरा हुआ वीर यदि कायरता न दिखाये तो वह अक्षय लोक को प्राप्त करता है ॥ १५० ॥

अथ विष्णुशर्मा प्राऽऽह—

विग्रहः श्रुतो भवद्भिः। राजपुत्रैरुक्तम्-'श्रुत्वा सुखिनो भूता वयम्।' विष्णुशर्माऽब्रवीत्-अपरमप्येवमस्तु—

'विग्रहः करितुरङ्गपत्तिभि—
र्नो कदापि भवतान्महीभुजाम्।
नीतिमन्त्रपवनैः समाहृताः
संश्रयन्तु गिरिगह्वरं द्विषः ॥ १५१ ॥

इति श्रीनारायणपण्डितकृते हितोपदेशे नीतिशास्त्रे
विग्रहो नाम तृतीयः कथासंग्रहः ॥ ३ ॥

अन्वय —करितुरङ्गपत्तिभिः कदापि महीभुजाम् विग्रहः न भवतात् नीतिमन्त्र-पवनैः समाहृताः द्विषः गिरिगह्वरम् संश्रयन्तु ॥ १५१ ॥

करितुरङ्गपत्तिभिः = गजाश्वपदातिकैः सह। कदापि महीभुजां = राज्ञाम्, विग्रहः = युद्धम्। नो भवतात् = न भूयात्। नीतिमन्त्रपवनैः=नयशुभमन्त्राणिकैः।

समाहताः=प्रताडिताः । द्विषः = शत्रवः । गिरिगह्वरम् = पर्वतकन्दरम् । संश्रयन्तु= अवलम्बन्ताम् ॥ १५१ ॥

फिर विष्णुशर्मा ने कहा—

आपलोगों ने विग्रह सुन लिया । राजपुत्रों ने कहा—सुनकर हमलोग सुखी हुए । अब यह और भी हो ।

राजाओं का हाथी घोड़े तथा पैदल सेना में कभी भी युद्ध न हो । किन्तु शत्रु नीति और मन्त्रणा रूपी वायु से पीडित हो कर पहाड की गुफाओं का आश्रय लें। अर्थात् राजा लोग नीतिकुशलता तथा मन्त्रियों की सन्मन्त्रणा से ही शत्रुओं को मार भगाएँ ॥१५१ ॥

॥ श्री ॥

हितोपदेशः

सन्धिः

पुन॰ कथाऽऽरम्भकाले राजपुत्रैरुक्तम्—'आर्य ! विग्रह॰ श्रुतोऽस्माभि । सन्धिरघुनाऽभिधीयताम् ।' विष्णुशर्मणोक्तम्—'श्रूयताम्, सन्धिमपि कथयामि । यस्याऽयमाद्य श्लोक॰—

पुन कथारमकाले=भूय कथाप्रारभसमये । आर्य = समान्य । विग्रह = युद्धम् । श्रुत = आकर्णित । सधि = परस्परमेलनम् । अधुना = इदानीम् । अभिधीयताम्= कथ्यताम् ।

फिर कथा प्रारम्भ होने के समय राजपुत्रों ने कहा—आर्य, हम लोगो ने युद्ध का प्रसग सुन लिया, अब सधि का प्रसङ्ग सुनाइए ।' विष्णुशर्मा ने कहा—सुनिए, सधि का विषय भी कह रहा हूँ । जिसका पहिला श्लोक यह है—

'वृत्ते महति सग्रामे राज्ञोर्निहतसेनयो॰ ।
स्थेयाभ्या गृध्र-चक्राभ्या वाचा सन्धि॰ कृत क्षणात्' ॥ १ ॥

राजपुत्रा ऊचु —'कथमेतत् ?' । विष्णुशर्मा कथयति—

अन्वयः—महति सग्रामे वृत्ते स्थेयाभ्याम् गृध्रचक्राभ्याम् निहतसेनयो राज्ञो क्षणात् वाचा सन्धि कृतः ॥ १ ॥

महति—अतिभीषणे । सग्रामे=युद्धे । वृत्ते = सञ्जाते सति । स्थेयाभ्याम् = मध्यस्थाभ्याम् । गृध्रचक्राभ्याम् = द्वयो राज्ञो मन्त्रिभ्याम् । निहतसेनयो. = नष्टबलयो । राज्ञो = हसमयूरयो नृपयो । क्षणात् = तत्कालमेव । वाचा = वाङ्मात्रेणैव । सन्धि = परस्परमेलनम् । कृत = विहित. ॥ १ ॥

उन दोनों राजाओं (राजहस तथा चित्रवर्ण) के बीच भयानक युद्ध होने तथा दोनों पक्षों के बहुत से सैनिकों के मारे जाने पर उन दोनों के प्रधान मन्त्री चकवे तथा गृद्ध ने बीच में पड़कर क्षण भर में ही बातचीत के द्वारा सन्धि कर ली ॥ १ ॥

राजपुत्रों ने कहा—'वह कैसे हुआ ?' विष्णुशर्मा ने कहा—

'ततस्तेन राजहंसेनोक्त—केनाऽस्मद्दुर्गे निक्षिप्तोऽग्नि ?। किं पारक्येण ?, किं वाऽस्मद्दुर्गवासिना केनापि विपक्षप्रयुक्तेन ?' चक्रवाको ब्रूते-देव ! भवतो निष्कारणबन्धुरसौ मेघवर्ण सपरिवारो न दृश्यते । तन्मन्ये तस्यैव विचेष्टितमिदम् ।'

राजा क्षण विचिन्त्याऽऽह—'अस्ति तावदेव, मम दुर्दैवमेतत्' । तथा चोक्तम्—

तेन=केनापि प्रकारेण सारसेन रक्षितेन । राजहंसेन=हिरण्यगर्भेण । अग्निः = वह्नि । निक्षिप्त =पातित । पारक्येण = अपरपक्षीयेण । विपक्षप्रयुक्तेन = शत्रुणा नियुक्तेन । भवत = तव । निष्कारणबन्धु = अकारुणसुहृद् । न दृश्यते=नावलोक्यते । मन्ये = जाने । विचेष्टितम् = निष्पादितम् । इदम् = अग्निप्रक्षेपणम् । अस्ति तावदेवम् = युक्तमेतदेवम् । दुर्दैवम् = दुर्भाग्यम् ।

इसके पश्चात् उस राजहंस ने कहा—'हमारे किले में आग किसने फेंकी थी ? क्या किसी शत्रु ने अथवा मेरे किले में ही रहने वाले शत्रु से मिले हुए किसी व्यक्ति ने ? चकवे ने कहा—राजन्, आपका अकारणबंधु बना हुआ मेघवर्ण इस समय अपने परिवार वालों के साथ यहाँ नहीं दिखाई पड़ रहा है इसलिए मैं समझता हूँ कि उसी ने यह अग्निकांड किया है । राजा ने थोड़ी देर सोच कर कहा—हाँ, ऐसा ही है, किंतु यह मेरा दुर्भाग्य भी है । जैसा कि कहा भी गया है—

अपराध स दैवस्य, न पुनर्मन्त्रिणामयम् ।
कार्यं सुचरित क्वापि दैवयोगाद्विनश्यति' ॥ २ ॥

मन्त्री ब्रूते-'उक्तमेवैतत्—

अन्वय —स दैवस्य अपराध न पुन अयम् मन्त्रिणाम् (अपराधः) क्वापि सुचरितम् कार्यमपि दैवयोगात् विनश्यति ॥ २ ॥

स =पराजय । दैवस्य=भाग्यस्य । अपराध =दोष । अयम् मन्त्रिणाम् दोष न । क्वापि=कुत्रापि । सुचरितम = सुनिष्पन्नमपि । कार्यम् = करणीयम् । दैवयोगात् = भाग्यवशात् । विनश्यति = विनाशमुपगच्छति ॥ २ ॥

यह जो कुछ हुआ वह सभी दुर्भाग्य के दोष से ही हुआ । इसमें मंत्रियों का कोई भी दोष नहीं है । क्योंकि कभी-कभी भली-भाँति सोच कर किए गए कार्य भी भाग्यदोष से नष्ट हो जाते हैं ॥ २ ॥

मंत्री चकवाक ने कहा—'यह भी तो कहा गया है—

'विषमा हि दशा प्राप्य दैव गर्हयते नरः।
आत्मन कर्मदोषाश्च नैव जानात्यपण्डित' ॥ ३ ॥

अन्वय —नर विषमा दशाम् प्राप्य दैव गर्हयते। अपडित आत्मन कर्मदोषान् नैव जानाति ॥ ३ ॥

नरः = मनुष्य। विषमाम् = विपत्तिभीषणाम्। दशाम् = स्थितिम्। प्राप्य = लब्ध्वा। दैवम् = भाग्यम्। गर्हयते = विनिन्दति। अपडित = मूर्ख। आत्मन = स्वस्य। कर्मदोषान् = कर्तव्यच्युती। न जानाति = नावगच्छति ॥ ३ ॥

मनुष्य विपत्तियों में पड़ कर भाग्य को दोष देता है किन्तु वह मूर्ख अपने किए हुए काम की त्रुटियों को नहीं समझता है ॥ ३ ॥

अपरञ्च—

'सुहृदा हितकामाना यो वाक्य नाऽभिनन्दति।
स कूर्म इव दुर्बुद्धि' काष्ठाद् भ्रष्टो विनश्यति' ॥ ४ ॥

अन्वय —य हितकामानाम् सुहृदाम् वाक्यम् न अभिनन्दति स दुर्बुद्धि काष्ठाद् भ्रष्ट कूर्म इव विनश्यति ॥ ४ ॥

या = नर। हितकामानाम् = शुभेच्छुकानाम्। सुहृदाम् = मित्राणाम्। वाक्यम् = उपदेशम्। न अभिनन्दति = नाद्रियते। स दुर्बुद्धि = स दुर्मति। काष्ठाद्भ्रष्ट = काष्ठात्पतित। कूर्म = कच्छप इव। विनश्यति = मृत्युमाप्नोति ॥ ४ ॥

और भी—जो व्यक्ति अपनी भलाई चाहने वाले मित्रों की बात का आदर नहीं करता है वह मूर्ख, कछुवे के समान लकड़ी से नीचे गिर कर नष्ट हो जाता है ॥ ४ ॥

[अन्यच्च—

रक्षितव्य सदा वाक्य, वाक्याद्भवति नाशनम्।
हसाभ्या नीयमानस्य कूर्मस्य पतन यथा' ॥ ५] ॥

राजाऽऽह—'कथमेतत् ?' मन्त्री कथयति—

अन्वय —वाक्यम् सदा रक्षितव्यम् (यत) वाक्यात् नाशनम् भवति यथा हसाभ्याम् नीयमानस्य कूर्मस्य (वचनात् एव) पतनम् (अभवत्) ॥ ५ ॥

वाक्यम् = स्ववाणी। रक्षितव्यम् = सयमनीयम्। वाक्यात् = वृथा प्रालापात्। नाशनम् = विनाश। भवति = आगच्छति। यथा हसाभ्याम् = मरालाभ्याम्। नीयमानस्य = वाह्यमानस्य। कूर्मस्य = कच्छपस्य। पतनम् = काष्ठाद् भ्रश, (अभवत्) ॥ ५ ॥

और भी—मनुष्य को सदा अपनी वाणी को संयत रखना चाहिए क्योंकि बोलने से कभी-कभी मृत्यु तक हो जाती है जैसे हंसों द्वारा ले जाए जाते हुए कछुवे का पतन हुआ था।

राजा-राजहंस ने कहा—'यह कैसे ?' मंत्री चकवे ने कहा—

कथा १

अस्ति मगधदेशे फुल्लोत्पलाभिधानं सरः। तत्र चिरं सङ्कटविकटनामानौ हंसौ निवसतः। तयोर्मित्रं कम्बुग्रीवनामा कूर्मश्च प्रतिवसति।

अथैकदा धीवरैरागत्य तत्रोक्तं, यत्—अत्राऽस्माभिरद्योषित्वा प्रातर्मत्स्यकूर्मादयो व्यापादयितव्याः'। तदाकर्ण्य कूर्मो हंसावाह—'सुहृदौ! श्रुतोऽयं धीवराऽऽलापः। अधुना किं मया कर्तव्यम्?।' हंसावाहतुः—ज्ञायतान्तावत्, पुनस्तावत्प्रातर्यदुचितं तत्कर्त्तव्यम्'। कूर्मो ब्रूते—'मैवम्। यतो दृष्टव्यतिकरोऽहमत्र'। तथा चोक्तम्—

फुल्लोत्पलाभिधानम् = फुल्लोत्पलनामकम्। तत्र = तस्मिन् सरसि। चिरं = बहुकालात्। धीवरैः = मत्स्यवधाजीविभिः। अत्र = अस्मिन् स्थाने। उषित्वा = निवासं कृत्वा। व्यापादयितव्याः = हन्तव्याः। तदाकर्ण्य = धीवरवचः श्रुत्वा। हंसौ = स्वमित्रे हंसौ प्रति। आह = उवाच। श्रुतः = आकर्णितः। धीवरालापः = धीवरवार्ता। अधुना = इदानीम्। किं कर्तव्यम् = कः प्रतीकारः कार्यः। ज्ञायताम् तावत् = विचार्यताम् तावत्। आहतुः = ऊचतुः। यदुचितम् = यत् योग्यं प्रतिकार्यम्। दृष्टव्यतिकरः = निरीक्षितोपेक्षाक्षतिः, समुत्पन्ने व्यसने उपेक्षया या क्षतिः जायते सा मया दृष्टा एवेत्यर्थः।

मगध देश में फुल्लोत्पल नाम का एक तालाब है उसमें बहुत दिनों से संकट और विकट नाम के दो हंस रहते थे। उन दोनों का मित्र कम्बुग्रीव नामक कछुवा भी वहीं रहता था। एक बार मछुओं ने वहाँ आकर कहा कि—'आज हम लोग यहीं ठहरें और प्रातःकाल मछली तथा कछुओं आदि का शिकार करें।' यह सुन कर कछुवे ने हंसों से कहा—'मित्रों, इन मछुओं की बात सुन ली न। अब मुझे क्या करना चाहिए ?' 'हंसों ने कहा—'अभी विचार किया जाय, फिर प्रातःकाल जैसा उचित होगा, वैसा किया जायगा।' कछुवे ने कहा—नहीं ऐसा नहीं क्योंकि मैंने ऐसा करने से होने वाली हानि देखी है। जैसा कि कहा भी गया है—

'अनागतविधाता च, प्रत्युत्पन्नमतिस्तथा ।
द्वावेतौ सुखमेधेते, यद्भविष्यो विनश्यति' ॥ ६ ॥

तावाहतु —'कथमेतत् ?' । कूर्मं कथयति—

अन्वय —अनागतविधाता तथा प्रत्युत्पन्नमति च एतौ द्वौ सुखमेधेते (किन्तु) यद्भविष्य विनश्यति ॥ ६ ॥

अनागतविधाता=तन्नामा मत्स्य , भाविन्यर्थे विचारकुशल , इत्यभिधेयार्थं । प्रत्युत्पन्नमति = तन्नामा अपर मत्स्य , कार्यकाले तीक्ष्णबुद्धि , इति अभिधेयार्थं । सुखमेधेते = सुखेन वर्द्धेते । यद्भविष्य = तन्नामा मत्स्य । भाविन्यर्थे न कोऽपि शक्त यद्भविष्यति तद्भविष्यत्येवेति विचारक इति अभिधेयार्थं । विनश्यति = मृत्यु प्राप्नोति ॥ ६ ॥

'जो भविष्य की चिन्ता करने वाला तथा समयानुसार बुद्धि द्वारा कार्य पूरा करने वाला होता है वह दोनों सुख से बढते हैं किन्तु जो होगा सो होगा, ऐसा सोचने वाला नष्ट हो जाता है ॥ ६ ॥

दोनों हसों ने कहा—यह कैसे । कछुवे ने कहा—

कथा २

पुराऽस्मिन्नेव सरस्येवविधेष्वेव धीवरेपूपस्थितेषु मत्स्यत्रयेणाऽऽलोचितम् । तत्राऽनागतविधाता नामैको मत्स्य. । तेनोक्तम्—'अह तावज्जलाशयाऽन्तर गच्छामि' । इत्युक्त्वा स ह्रदान्तर गत॰ । अपरेण प्रत्युत्पन्नमतिनाम्ना मत्स्येनाऽभिहित—'भविष्यदर्थे प्रमाणाऽभावात्कुत्र मया गन्तव्यम् ? । तदुत्पन्ने यथाकार्य तदनुष्ठेयम्' । तथा चोक्तम्—

पुरा = प्राचीनकाले । एवविधेषु = ईदृशेषु । उपस्थितेषु = मत्स्यव्यापादनायागतेपु । आलोचितम् = निरूपितम् । जलाशयान्तरम् = अन्यसरोवरम् । ह्रदान्तरम् = अन्यतडागम् । अपरेण = द्वितीयेन । अभिहितम् = उक्तम् । भविष्यदर्थे = भाविनि विषये । प्रमाणाभावात् = प्रमाण विना । तदुत्पन्ने = भये समागते सति । यथाकार्यं= कर्तव्यमनुगम्य । अनुष्ठेयम् = प्रतिविधान कार्यम् ।

आज से बहुत पहिले इसी तालाब पर इसी प्रकार मछुओं के आने पर तीन मछलियों ने विचार किहा था । उनमें एक मछली का नाम अनागतविधाता था । उसने कहा कि 'मैं तो दूसरे तालाब में चली जा रही हूँ ।' ऐसा कह कर वह दूसरे तालाब में चली

गई। प्रत्युत्पन्नमति नाम की दूसरी मछली ने कहा—'भविष्य में होने वाली बात के प्रमाण के अभाव में भला मैं क्यों कहीं जाऊँ ? समयानुसार जो करना होगा, करूँगा। जैसा कि कहा भी गया है—

'उत्पन्नामापद यस्तु समाधत्ते स बुद्धिमान् ।
वणिजो भार्यया जार: प्रत्यक्षे निह्नुतो यथा' ॥ ७ ॥

यद्भविष्य: पृच्छति—'कथमेतत् ? प्रत्युत्पन्नमति: कथयति—

अन्वय —य: उत्पन्नम् आपदम् समाधत्ते स बुद्धिमान् (भवति) यथा वणिज भार्यया जार प्रत्यक्षे निह्नुत ॥ ७ ॥

उत्पन्नाम् = समागताम् । आपदम् = विपदाम् । समाधत्ते = समाधान करोति, दूरीकरोतीत्यर्थं । स बुद्धिमान् = पडित । यथा = येन प्रकारेण । वणिज भार्यया = वणिक्पत्न्या । प्रत्यक्षे = स्वपत्यु समक्षे अपि । निह्नुत: = अपनीत ॥ ७ ॥

जो आई हुई विपत्ति का समाधान तत्काल कर लेता है वही बुद्धिमान कहा जाता है जैसे बनिए की स्त्री ने अपने पति के सामने ही अपने जार को छिपा लिया था' ॥ ७ ॥

यद्भविष्य ने पूछा—'यह कैसे' ? प्रत्युत्पन्नमति ने कहा—

कथा ३

'पुरा' विक्रमपुरे समुद्रदत्तो नाम वणिगस्ति। तस्य रत्नप्रभा नाम गृहिणी स्वसेवकेन सह सदा रमते। यत —

विक्रमपुरे = तन्नामनगरे । गृहिणी = पत्नी । स्वसेवकेन = निजभृत्येन । रमते= सहगमन करोति ।

'प्राचीन काल में विक्रमपुर में समुद्रदत्त नाम का एक बनिया था। उसकी स्त्री रत्नप्रभा अपने नौकर के साथ सदा भोग-विलास करती थी। क्योंकि—

'न स्त्रीणामप्रिय कश्चित्, प्रियो वाऽपि न विद्यते ।
गावस्तृणमिवाऽरण्ये प्रार्थयन्ते नव नवम्' ॥ ८ ॥

अन्वय —स्त्रीणाम् कश्चित् अप्रिय: प्रिय वापि न विद्यते । (यथा) अरण्ये गाव: नवम् नवम् तृणम् प्रार्थयन्ते (तथैव) स्त्रिय (नवम् नवम् प्रार्थयन्ते) ॥ ८ ॥

स्त्रीणाम्=नारीणाम् । अप्रिय प्रिय वापि=अश्लाघ्य श्लाघ्यो वापि । न = न भवति । कश्चित् = पुरुष । यथा = येन प्रकारेण । गाव = सुरभय । अरण्ये = वने । नव नवम् = नूतन नूतनम् । तृणम् = शष्पम् । प्रार्थयन्ते = वाञ्छन्ति । तथैव=स्त्रिय अपि । नवम् नवम् =युवानम् पुरुषम् अभिलषन्ति ॥ ८ ॥

स्त्रियों के लिए न तो कोई अप्रिय होता है और न तो कोई प्रिय ही होता है। बल्कि जैसे जंगल में गायें नित्य नई-नई घास चरना चाहती हैं उसी प्रकार स्त्रियाँ नए-नए नवयुवकों की कामना किया करती हैं ॥ ८ ॥

अथैकदा सा रत्नप्रभा तस्य सेवकस्य मुखे चुम्बनं ददती समुद्रदत्तेनाऽवलोकिता। ततः सा बन्धकी सत्वरं भर्तुः समीपं गत्वाऽऽह—'नाथ! एतस्य सेवकस्य महती निकृतिः। यतोऽयं 'चौरिकां कृत्वा कर्पूरं खादती'ति मयाऽस्य मुखमाघ्राय ज्ञातम्। तथा चोक्तम्—

सेवकस्य = भृत्यस्य। अवलोकिता = दृष्टा। बन्धकी = कुलटा। सत्वरम् = शीघ्रम्। आह = उक्तवती। निकृतिः = दुष्टप्रवृत्तिः। चौरिकाम् कृत्वा = चोरयित्वा।

एक बार रत्नप्रभा उस सेवक का चुम्बन ले रही थी कि समुद्रदत्त ने देख लिया। तब उस कुल्टा ने शीघ्र ही पति के पास जाकर कहा कि 'नाथ, इस नौकर में एक बहुत बड़ी दुष्टता है, यह चोरी करके कपूर खाता है। मैंने इसका मुख सूँघ कर ऐसा जान लिया है। कहा भी गया है—

'आहारो द्विगुणः स्त्रीणां, बुद्धिस्तासां चतुर्गुणा।
षड्गुणो व्यवसायश्च, कामश्चाऽष्टगुणः स्मृतः।' ॥ ९ ॥

अन्वय—स्त्रीणाम् आहारः द्विगुणः, तासाम् बुद्धिः चतुर्गुणा, व्यवसायः षड्गुणः, कामः च अष्टगुणः स्मृतः ॥ ९ ॥

स्त्रीणाम् = नारीणाम्। आहारः = भोज्यम्। द्विगुणः = पुरुषापेक्षया द्विगुणः। व्यवसायः = उद्यमः। कामः = विषयाभिलाषः ॥ ९ ॥

स्त्री में पुरुष की अपेक्षा भोजन की शक्ति दुगुनी, बुद्धि चौगुनी, परिश्रम करने की शक्ति छगुनी और कामवासना आठगुनी होती है ॥ ९ ॥

तच्छ्रुत्वा सेवकेनापि प्रकुप्योक्तम्—'नाथ! यस्य स्वामिनो गृहे एतादृशी भार्या तत्र सेवकेन कथं स्थातव्यम्?। यत्र च प्रतिक्षणं गृहिणी सेवकस्य मुखं जिघ्रति।' ततोऽसावुत्थाय चलितः। साधुना च यत्नात्प्रबोध्य धृतः। अतोऽहं ब्रवीमि—'उत्पन्नामापदम्' इत्यादि ॥ ❀ ॥

ततो यद्भविष्येणोक्तम्—

प्रकुप्योक्तम् = क्रोधावेशेन कथितम्। जिघ्रति = गन्धमुपादत्ते। असौ = सेवकः। यत्नात्प्रबोध्य = प्रयत्नेन सतोष्य। धृतः = गमनात् वारितः।

यह सुनकर सेवक ने क्रुद्ध होकर कहा कि—स्वामी, जिस मालिक के घर में ऐसी स्त्री होगी वहाँ भला नौकर कैसे रह सकते हैं ? जहाँ स्त्री हर समय नौकर का मुँह सूँघती है। कछुवे ने कहा इसके बाद वह नौकर उठ कर चल पड़ा। तब उस बनिये ने उसे समझा-बुझा कर किसी प्रकार रोका। इसीलिए मैं कह रहा हूँ—'आपत्ति आने पर' इत्यादि। तब यद्भविष्य ने कहा—

'यदभावि न तद्भावि, भावि चेन्न तदन्यथा'।
इति चिन्ताविषघ्नोऽयमगदः किं न पीयते' ?॥ १०॥

अन्वय—यत् अभावि न तद्भावि भावि चेत् तत् अन्यथा न, इति अयम् चिन्ताविषघ्न अगद किं न पीयते ? ॥ १० ॥

यत् अभावि = यत् न भविष्यति। न तद्भावि = तत् न भविष्यत्येव। भावि चेत् = यदि भविष्यति। तत् अन्यथा न = तत् कदापि केनापि दूरीकर्तुं न शक्य। चिन्ताविषघ्न = चिन्तागरलापहारक। अगद = औषधम्। किं न पीयते = कथं न सेव्यते॥ १० ॥

'जो नहीं होने वाला है वह नहीं होगा और जो होने वाला है वह अवश्य ही होगा, उसे कोई टाल नहीं सकता। यह चिन्तारूपी विष को दूर करने की सबसे अच्छी दवा है। इसे क्यों नहीं पीते ? ॥ १० ॥

ततः प्रातर्जालेन बद्ध प्रत्युत्पन्नमतिर्मृतवदात्मान सन्दर्श्य स्थित। ततो जालादपसारितो यथाशक्त्युत्प्लुत्य गभीर नीर प्रविष्ट। यद्भविष्यश्च धीवरै प्राप्तो, व्यापादित। अतोऽहं ब्रवीमि—'अनागतविधाता च' इत्यादि॥

तद्यथाऽहमन्य ह्रद प्राप्नोमि तथा क्रियताम्।' हंसावाहतु—'जलाशयान्तरे प्राप्ते तव कुशलम्। स्थले गच्छतस्ते को विधिः ?।' कूर्म आह—'यथाऽहं भवद्भ्यां सहाऽऽकाशवर्त्मना यामि, तथा विधीयताम्। हंसौ ब्रूत—'कथमुपाय सम्भवति' ?। कच्छपो वदति—'युवाभ्या चञ्चुधृत काष्ठखण्डमेक मया मुखेनाऽवलम्बितव्यम्। ततश्च युवयो पक्षबलेन मयाऽपि सुखेन गन्तव्यम्।' हंसौ ब्रूत—'सम्भवत्येष उपाय'। किन्तु—

जालेन बद्ध = धीवरजालमागत। आत्मानम्=स्वम्। मृतवत्=मृत्यु गत इव। सन्दर्श्य = प्रदर्श्य। अपसारित = निष्कासित। उत्प्लुत्य = ऊर्ध्वप्लवन कृत्वा (उछलकर)। जलाशयान्तरम् = अन्यह्रदम्। प्राप्ते = लब्धे। तव कुशलम् = भवत

मगलम् । स्थले = भूमौ । को विधि = क रक्षणोपाय: । आकाशवर्त्मना = गगन-मार्गेण । विधीयताम् = उपाय क्रियताम् ।

तब प्रात काल जाल में बँधे हुए प्रत्युत्पन्न मति ने अपने आप को मुर्दे के समान पड़ा हुआ प्रदर्शित किया । जिससे मछुओं ने उसे जाल से बाहर फेंक दिया । और वह तत्काल अपनी शक्ति के अनुसार शीघ्रता से उछल कर गहरे पानी में चली गई । यद्भविष्य मछुओं के द्वारा पकड़ कर मार डाली गई । इसीलिए मैं कह रहा हूँ कि 'अनागत विधाता इत्यादि' ।

इसलिए मैं जिस उपाय से दूसरे तालाब में जा सकूँ, वही उपाय कीजिए । हंसों ने कहा—'दूसरे तालाब में चले जाने पर तो आपकी रक्षा हो जायगी किन्तु भूमि पर चलते समय रक्षा का क्या उपाय होगा ?' कछुवे ने कहा मैं आप दोनों के साथ आकाश मार्ग से जा सकूँ, ऐसा उपाय कीजिए । हंसों ने कहा—'इसके लिए क्या उपाय हो सकता है ?' कछुवे ने कहा—आप दोनों अपनी चोंच से इधर उधर एक काठ का टुकड़ा पकड़ लीजिएगा और मैं उस लकड़ी के बीच में अपने मुँह से पकड़ कर लटक जाऊँगा इस प्रकार आप दोनों के परों के बल से मैं भी आसानी से चल चलूँगा ।' हंसों ने कहा—'यह उपाय तो हो सकता है' किन्तु—

'उपाय चिन्तयन्प्राज्ञो, ह्यपायमपि चिन्तयेत् ।
पश्यतो बकमूर्खस्य नकुलैर्भक्षिता: प्रजा.' ॥ ११ ॥

कूर्म पृच्छति—'कथमेतत् ? ।' तौ कथयत'—

अन्वय —उपायम् चिन्तयन् प्राज्ञ अपायमपि चिन्तयेत् बकमूर्खस्य पश्यत प्रजा नकुलै भक्षिता ॥ ११ ॥

उपायम् = विधिम् । चिन्तयन् = विचारयन् । प्राज्ञ = बुद्धिमान् । अपायमपि = हानिमपि । चिन्तयेत् = विचारयेत् । पश्यत = दृश्यत । प्रजा = सन्ताना, भक्षिता = खादिता ॥ ११ ॥

बुद्धिमान् को उचित है कि वह उपाय का विचार करते समय उससे होने वाली हानि का भी विचार कर ले । नहीं तो जैसे उस मूर्ख बगुले की सन्तानों को नेवले ने खा डाला उसी प्रकार हानि का विचार न करने वाला भी नष्ट हो जाता है ॥ ११ ॥

कछुवे ने पूछा 'यह कैसे हुआ ?' दोनों हंसों ने कहा—

कथा ४

अस्त्युत्तरापथे गृध्रकूटनाम्नि पर्वते महान्पिप्पलवृक्ष. । तत्राऽनेके बका निवसन्ति । तस्य वृक्षस्याऽधस्ताद्विवरे सर्पस्तिष्ठति । स च बकाना बालाऽ-

पत्यानि खादति । अथ शोकार्त्तानां विलापं श्रुत्वा, केनचिद् वृद्धवकेनाऽभि-हितम्-'भो एवं कुरुत, यूयं मत्स्यानुपादाय, नकुलविवरादारभ्य सर्पविवरं यावत्पङ्क्तिक्रमेण एकैकशो विकिरत । ततस्तदाहारलुब्धैर्नकुलैरागत्य सर्पो द्रष्टव्यः, स्वभावद्वेषाद्व्यापादयितव्यश्च ।' तथाऽनुष्ठिते सति तद् वृत्तम् ।

अथ नकुलैर्वृक्षोपरि बकशावकानां रावः श्रुतः । पश्चात्तद्वृक्षमारुह्य, बकशावकाः खादिताः । अत आवां ब्रूवः—'उपायं चिन्तयन्'—इत्यादि ॥

आवाभ्यां नीयमानं त्वामवलोक्य लोकैः किञ्चिद्वक्तव्यमेव । यदि त्वमुत्तरं दास्यसि, तदा त्वन्मरणम् । तत्सर्वथाऽत्रैव स्थीयताम् ।'

कूर्मो वदति—'किमहमप्राज्ञः, नाऽहमुत्तरं दास्यामि । न किमपि मया वक्तव्यम् ।' तथाऽनुष्ठिते तथाविधं कूर्ममालोक्य, सर्वे गोरक्षकाः पश्चाद्धावन्ति, वदन्ति च । अहो ! महदाश्चर्यं ! पक्षिभ्यां कूर्मो नीयते ।

कश्चिद्वदति—'यद्ययं कूर्मः पतति, तदाऽत्रैव पक्त्वा खादितव्यः' । कश्चिद्वदति—'सरसस्तीरे दग्ध्वा खादितव्योऽयम् ।' कश्चिद्वदति—'गृहं नीत्वा भक्षणीयः' इति । तद्वचनं श्रुत्वा स कूर्मः कोपाऽऽविष्टो विस्मृतपूर्वसंस्कारः प्राह—'युष्माभिर्भस्म भक्षितव्यम्' ।—इति वदन्नेव पतितस्तैर्व्यापादितश्च । अतोऽहं ब्रवीमि—'सुहृदां हितकामानाम्' इत्यादि ॥ ❀ ॥

अथ प्रणिधिर्बकस्तत्राऽऽगत्योवाच—'देव ! प्रागेव मया निगदितं, 'दुर्गशोधं हि प्रतिक्षणं कर्त्तव्य'मिति । तच्च युष्माभिर्न कृतं, तदनवधानस्य फलमिदमनुभूतम् । 'दुर्गदाहो मेघवर्णेन वायसेन गृध्रप्रयुक्तेन कृतः' राजा निःश्वस्याऽऽह—

उत्तरापथे = उत्तरस्यां दिशि । वृक्षस्याधस्तात् = तरोः मूले । विवरे = बिले । बालापत्यानि = शिशून् । शोकार्तानाम् = शोकपीडितानाम् । विलापम् = रोदनध्वनिम् । अभिहितम् = उक्तम् । उपादाय = गृहीत्वा । विकिरत = विक्षिपत । तदाहारलुब्धैः = मत्स्यभोजनेच्छुकैः । स्वभावद्वेषात् = प्रकृतवैरात् । व्यापादयितव्यः = हन्तव्यः । बकशावकानाम् = बकशिशूनाम् । रावः = ध्वनिः । श्रुतः = आकर्णितः । तैः = नकुलैः । आरुह्य = आरोहणम् कृत्वा । नीयमानम् = आकाशपथे उह्यमानम् । लोकैः =

जने । किञ्चिद् = उचितमनुचितं वा । तदाकर्ण्य = लोकवचनं श्रुत्वा । सर्वथा = सर्वतोभावेन । अप्राज्ञ = अविवेकी । गोरक्षका = गोपालका । कोपाविष्ट = क्रोधाभिभूत । विस्मृतपूर्वसंस्कार = विस्मृतस्वपूर्वप्रतिज्ञ । निगदितम् = कथितम् । दुर्गशोधनम् = दुर्गान्वेषणम् । अनवधानस्य — असावधानताया । अनुभूतम् = अनुभवविषयीकृतम् । गृध्रप्रयुक्तेन = गृध्रनियुक्तेन । वायसेन = काकेन । निःश्वस्य = दीर्घश्वासं विसृज्य ।

उत्तरापथ में गृध्रकूट नाम के पहाड़ पर एक बहुत बड़ा पीपल का पेड़ था। उस पर बहुत से बगुले रहते थे। उस वृक्ष के नीचे बिल में एक साँप रहता था। वह बगुलों के बच्चों को खा जाया करता था। किसी दिन शोक से व्याकुल उन बगुलों का रोना सुन कर एक बूढ़े बगुले ने कहा—'तुम लोग ऐसा करो, मछलियाँ लेकर नेवले के बिल से साँप के बिल तक एक कतार बाँध कर फैला दो। तब भोजन की लालच में नेवले साँप की बिल तक पहुँच कर उसे देख लेंगे और स्वाभाविक शत्रुता के कारण उसे मार डालेंगे। बगुलों के ऐसा करने पर वह साँप नेवलों द्वारा मार डाला गया। फिर उन नेवलों ने वृक्ष के ऊपर बगुलों के बच्चों की आवाज सुनी और पेड़ पर चढ़ कर उन बच्चों को भी खा डाला। इसीलिए हम दोनों कह रहे है कि 'उपाय सोचते समय' इत्यादि। हम दोनों के द्वारा ले जाते हुए तुम्हें देख कर लोग अवश्य ही कुछ कहेंगे। उसे सुनकर यदि तुम उत्तर दोगे तो तुम्हारी मृत्यु निश्चित है। इस लिए तुम्हें यहीं रहना उचित है। कछुवे ने कहा कि क्या मैं मूर्ख हूँ। मैं उत्तर नहीं दूँगा। मैं कुछ भी नहीं कहूँगा। ऐसा करने पर कछुए को उस प्रकार हसों द्वारा ले जाते हुए देख कर गाय के सभी रखवाले पीछे पीछे दौड़ते हुए कुछ न कुछ कहने लगे। कितना आश्चर्य है कि दो पक्षी कछुवा लिए जा रहे हैं। किसी ने कहा—यदि यह कछुवा गिर पड़े तो यहीं पका कर खाया जाय।' किसी ने कहा—'तालाब के किनारे भूनकर खाया जायगा।' किसी ने कहा—'घर ले जाकर खाना ठीक होगा।' इस प्रकार की बातें सुन कर कछुवा क्रोध में आकर अपनी पहली प्रतिज्ञा भूल गया और उसने कहा कि 'तुम लोग राख खाना।' यह कहते ही वह गिर पड़ा और मारा गया। इसी लिए मैं कह रहा हूँ कि—'हित चाहने वाले मित्रों का' इत्यादि। इसके बाद प्रधान गुप्तचर बगुले ने आकर कहा कि राजन्, मैंने पहले ही कहा था कि किले की टोह हर समय की जानी चाहिए। आप लोगों ने वैसा नहीं किया। उसी असावधानी का यह फल भोगना पड़ा है। किले के जलाने का काम गृद्ध द्वारा भेजे गए मेघवर्ण कौवे ने किया है। राजा ने साँस खींचते हुए कहा—

'प्रणयादुपकाराद्वा यो विश्वसिति शत्रुषु ।
स सुप्त इव वृक्षाग्रात्पतितः प्रतिबुध्यते' ॥ १२ ॥

अन्वय'—प्रणयात् उपकाराद्वा य शत्रुषु विश्वसिति स सुप्त इव वृक्षाग्रात्पतित प्रतिबुध्यते ॥ १२ ॥

प्रणयात् = प्रेम्ण । उपकाराद्वा = हितकामाद्वा । स सुप्त इव = वृक्षाग्रे निद्रित इव । वृक्षाऽग्रात् = तरुशिखरात् । पतित = भ्रष्ट । प्रतिबुध्यते = जागर्ति ॥ १२ ॥

जो व्यक्ति प्रेम अथवा उपकार की भावना से शत्रु पर विश्वास करता है वह कुछ खोने के बाद ही सावधान होता है जैसे पेड़ की चोटी पर सोने वाला वहाँ से गिरने पर जाग जाता है ॥ १२ ॥

अथ प्रणिधिरुवाच—इतो दुर्गदाह विधाय, यदा गतो मेघवर्णस्तदा चित्रवर्णेन प्रसादितेनोक्तम्—'अय मेघवर्णोऽत्र कर्पूरद्वीपराज्येऽभिषिच्यताम्' । तथा चोक्तम्—

प्रणिधि = गुप्तचर । विधाय = कृत्वा । प्रसादितेन = प्रसन्नेन । अभिषिच्यताम् = अभिषेक क्रियताम् ।

तब प्रधान गुप्तचर ने कहा—जब किले को जलाकर मेघवर्ण यहाँ से गया तो उसके ऊपर प्रसन्न होकर चित्रवर्ण ने कहा—इस मेघवर्ण को इस कर्पूरद्वीप का राजा बना दिया जाय। क्योंकि कहा भी गया है—

'कृतकृत्यस्य भृत्यस्य कृत नैव प्रणाशयेत् ।
फलेन मनसा, वाचा, दृष्ट्या चैन प्रहर्षयेत् ॥ १३ ॥

अन्वय —कृतकृत्यस्य भृत्यस्य कृतम् न प्रणाशयेत् फलेन मनसा वाचा दृष्ट्या च एनम् प्रहर्षयेत् ॥ १३ ॥

कृतकृत्यस्य = कृतस्वामिकार्यस्य । भृत्यस्य = सेवकस्य । कृतम् = उपकारम् । न प्रणाशयेत् = न विस्मरेत् । फलेन = उपहारादिना । मनसा = सौम्यभावेन । वाचा = प्रशसावचनैश्च । दृष्ट्या = प्रसन्नेक्षणेन । एनम् = भृत्यम् । प्रहर्षयेत् = सतोषयेत् ॥ १३ ॥

क्योंकि अच्छी तरह से अपने काम को पूरा करने वाले नौकर के कार्य की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। बल्कि धन, मन, वाणी और कृपा दृष्टि से उसे प्रसन्न करना चाहिए ॥ १३ ॥

चक्रवाको ब्रूते—'देव श्रुत यत्प्रणिधि' कथयति' ? । राजा प्राऽऽह-ततस्तत. ? ।' प्रणिधिरुवाच—'तत' प्रधानमन्त्रिणा गृध्रेणाऽभिहितम्—'देव ! नेदमुचित, प्रसादाऽन्तर किमपि क्रियताम्' । यतः—

देव = राजन् । श्रुतम् = आकर्णितम् । यत्=दुर्गदाहविषयकतथ्यम् । प्रणिधि = चरनायक । ततस्तत = अग्रे किं वृत्तम् । नेदमुचितम् = वायसस्य कर्पूरद्वीपराज्याभिषेचन नोपयुक्तम् । प्रसादान्तरम् = अभिषेक विहाय अन्यमनुग्रहम् ।

चकवे ने कहा—'राजन्' गुप्तचर ने जो कुछ कहा है उसे आपने सुन लिया न ! राजा राजहस ने कहा—'तो फिर आगे क्या हुआ ?' गुप्तचर ने कहा—'तब प्रधान मन्त्री गृद्ध ने कहा—'राजन् , यह ठीक नहीं है । इसके ऊपर (राज्याभिषेक के अतिरिक्त) कोई दूसरी कृपा होनी चाहिए । क्योंकि—

अविचारयतो युक्तिकथन तुषखण्डनम् ।
नीचेपूपकृत राजन्वालुकास्विव मूत्रितम् ॥ १४ ॥

अन्वय —अविचारयत युक्तिकथनम् तुषखण्डनम् (एष) हे राजन्, नीचेषु उपकृतम् वालुकासु मूत्रितम् इव ॥ १४ ॥

अविचारयत =विचाररहितस्य । युक्तिकथनम् = उपायोपदेश । तुषखण्डनम्= तुषावघात , व्यर्थप्रयास (भूसी कूटना अर्थात् व्यर्थ परिश्रम करना) । नीचेषु= निम्नाचारेषु । उपकृतम् = उपहारादिदानम् । बालुकासु = सिकतासु । मूत्रितम् इव= मूत्रोत्सर्ग इव ॥ १४ ॥

जैसे विचाररहित पुरुष से कोई युक्तिसगत बात कहना भूसी कूटने के समान (व्यर्थ) होता है वैसे ही नीच पुरुष का उपकार करना भी बालू पर किए गए मूत्र के समान होता है ॥ १४ ॥

महतामास्पदे नीच· कदाऽपि न कर्त्तव्य· । तथा चोक्तम्—

महतामास्पदे = महापुरुषाणा योग्यस्थाने । न कर्तव्य = न प्रतिष्ठेय ।

महान् लोगों के योग्य स्थान पर नीच को कभी नहीं नियुक्त करना चाहिए । जैसा कि कहा भी गया है—

'नीच· श्लाघ्यपद प्राप्य स्वामिन हन्तुमिच्छति ।
मूषिको व्याघ्रता प्राप्य मुनिं हन्तु गतो यथा' ॥ १५ ॥

चित्रवर्णः पृच्छति—'कथमेतत् ?' । मन्त्री कथयति—

अन्वय —नीच श्लाघ्यपद प्राप्य स्वामिनम् हन्तुम् इच्छति । यथा मूषिक व्याघ्रताम् प्राप्य मुनिम् हन्तु गत ॥ १५ ॥

नीच = निम्नपुरुष । श्लाघ्यपदम् = उन्नतस्थानम् । प्राप्य = लब्ध्वा । स्वामिनम् = उपकारकारक नृपमपि । हन्तुम् = व्यापादयितुम् । इच्छति = अभिलषति । मुनिम् = येन स मूषिक व्याघ्र· कृत तमपि ॥ १५ ॥

नीच स्वामी की कृपा से उच्च पद पाकर स्वामी को ही मारना चाहता है। चूहा मुनि द्वारा बाघ बन जाने पर मुनि को ही मारने के लिए तैयार हो गया ॥ १५ ॥

कथा ५

अस्ति गौतमस्य महर्षेस्तपोवने महातपा नाम मुनि । तत्र तेन आश्रम-सन्निधाने मूषिकशावक काकमुखाद् भ्रष्टो दृष्ट । ततो दयायुक्तेन तेन मुनिना नीवारकणै सर्वद्धित. । ततो विडालस्त मूषिक खादितुमुपधावति। तमवलोक्य मूषिकस्तस्य मुने क्रोडे प्रविवेश । ततो मुनिनोक्तम्–'मूषिक ! त्व मार्जारो भव ।' तत स विडाल कुक्कुर दृष्ट्वा पलायते। ततो मुनि-नोक्तम्–'कुक्कुराद्बिभेषि, त्वमेव कुक्कुरो भव'। स च कुक्कुरो व्याघ्राद् बिभेति। ततस्तेन मुनिना कुक्कुरो व्याघ्र कृत.।

अथ त व्याघ्र मुनिर्मूषिकोऽयमिति पश्यति। अथ त मुनि, व्याघ्रञ्च दृष्ट्वा सर्वे वदन्ति—'अनेन मुनिना मूषिको व्याघ्रता नीत'।

एतच्छ्रुत्वा सव्यथो व्याघ्रोऽचिन्तयत्–'यावदनेन मुनिना स्थीयते, तावदिद मे स्वरूपाऽऽख्यानमकीर्तिकर न पलायिष्यते'।—इत्यालोच्य मूषिकस्त मुनि हन्तु गत । ततो मुनिना तज्ज्ञात्वा 'पुनर्मूषिको भव'—त्युक्त्वा मूषिक एव कृत । अतोऽह ब्रवीमि–'नीच श्लाघ्यपद प्राप्य' इत्यादि ॥ * ॥

अपरञ्च देव—'सुकरमिद'मिति न मन्तव्यम्, श्रृणु–

काकमुखात् = वायसवदनात्। शावक = शिशु । दयायुक्तेन = कृपासहितेन। नीवारकणै = श्यामाकधान्यकणै । सर्वधित = वृद्धि प्रापित पोषितश्च। खादितुम् = भक्षयितुम्। तमवलोक्य = बिडाल दृष्ट्वा। क्रोडे = अङ्के। प्रविवेश = प्रविष्टोऽभ-वत्। मार्जार = बिडाल । पलायते = भयात् पलायन करोति। बिभेषि = भयमा-प्नोषि। सर्वे वदन्ति = सर्वे जना कथयन्ति।

स्वरूपाख्यानम् = मद्रूपपरिवर्तनसम्बन्धिनी कथा। अकीर्तिकरम् = वचनीयम्। न पलायिष्यते = न गमिष्यति। इत्यालोच्य = एव विचार्य। तज्ज्ञात्वा = तद्भावम-वगम्य।

सुकरम् = अनायाससिद्धम्। इदम् = वायसस्य राज्याभिषेचनम्। न मन्तव्यम् = न ज्ञातव्यम्।

चित्रवर्ण ने पूछा—यह कैसे हुआ? मन्त्री ने कहा—'गौतम ऋषि के तपोवन में महातपा नाम के एक मुनि रहते थे। उन्होंने अपने आश्रम के पास कौवे के मुँह से गिरा हुआ एक चूहा देखा। उस दयालु मुनि ने उसे नीवारकण खिलाकर पाला पोसा। एक बार एक वनविलाव ने उस चूहे को खाने के लिए उसे दौड़ाया। चूहा उस विलाव को देखकर मुनि की गोद में चला गया। तब मुनि ने कहा—'चूहे तुम भी विलाव बन जाओ।' इसके बाद वह विलाव कुत्ते को देख कर भागा तो मुनि ने कहा 'कुत्ते से डरते हो तो तुम भी कुत्ते हो जाओ।' वह कुत्ता व्याघ्र से डरने लगा तो मुनि ने उसे बाघ बना दिया। उस बाघ को मुनि चूहा ही समझते थे। और उस मुनि तथा बाघ को देखकर सभी लोग कहा करते थे कि इस मुनि ने चूहे को बाघ बना दिया है। यह सुनकर उस बाघ ने सोचा कि जब तक यह मुनि रहेंगे तब तक हमारे रूप बदलने की यह बदनामी से भरी हुई कहानी समाप्त नहीं होगी। यह सोचकर वह मुनि को मारने के लिए गया। मुनि ने यह जानकर 'फिर चूहे बन जाओ' ऐसा कह कर उसे चूहा बना दिया। इसी लिए मैं कह रहा हूँ 'नीच उत्तम पद पाकर' इत्यादि और भी इसे राजा बनाना आप सरल न समझिए। सुनिए—

'भक्षयित्वा बहून्मत्स्यानुत्तमाऽधममध्यमान्।
अतिलोभाद्बक. पश्चान्मृत· कर्कटकग्रहात्' ॥ १६ ॥

अन्वय—उत्तमाधममध्यमान् बहून् मत्स्यान् भक्षयित्वा बक अतिलोभात् कर्कटकग्रहात् पश्चात् मृत ॥ १६ ॥

उत्तमा = महान्त । अधमा = अत्यल्पा । बहून् = बहुसख्यकान् । मत्स्यान् = मीनान् । अतिलोभात् = अतिलौल्यात् । कर्कटकग्रहात् = कर्कटकतृकादानात् (पकड़ने से) । मृत = मृत्युम् प्राप्त ॥ १६ ॥

उत्तम, मध्यम और अधम कोटि की बहुत सी मछलियों को खाने के बाद लोभ में बगुले ने केकड़े को खाना चाहा जिससे वह केकड़े द्वारा पकड़े जाने से मर गया॥ १६ ॥

कथा ६

चित्रवर्ण पृच्छति—'कथमेतत्?'। मन्त्री कथयति—

अस्ति मालवविषये पद्मगर्भाऽभिधान सर। तत्रैको वृद्धो बक: सामर्थ्यहीन उद्विग्नमिवाऽऽत्मान दर्शयित्वा स्थित। स च केनचित्कुलीरेण दूरादेव दृष्ट, पृष्टश्च—'किमिति भवानत्राऽऽहारत्यागेन तिष्ठति'?। बकेनोक्तम्—"मत्स्या मम जीवनहेतव। ते 'कैवर्तैरागत्य व्यापादयितव्या'—इति वार्ता नगरोपान्ते मया श्रुता। अतो 'वर्त्तनाऽ-

भावादेवाऽस्मन्मरणमुपस्थितमिति ज्ञात्वाऽऽहारेऽप्यनादरः कृतः। ततो मत्स्यैरालोचितम्—इह समये तावदुपकारक एवाऽयं लक्ष्यते, तदयमेव यथाकर्त्तव्यं पृच्छ्यताम्। तथा चोक्तम्—

मालवविषये = मालवदेशे। पद्मगर्भाभिधानम् = पद्मगर्भनामधेयम्। सरः = तटाकः। सामर्थ्यहीनः = वृद्धत्वादतिशक्तिरहितः। तद्विग्नमिव = व्याकुलम् इव। कुलीरेण = कर्कटकेन। आहारत्यागेन = भोजनवर्जनेन। मत्स्याः = मीनाः। जीवनहेतवः = प्राणावलम्बनाः। भोज्याश्च। कैवर्तैः = धीवरैः। व्यापादयितव्या = हन्तव्याः। नगरोपान्ते = नगरनिकटे। वर्तनाभावात् = जीविकाविरहात्। उपस्थितम् = आगतम्। आहारेऽपि = भोजनेऽपि। अनादरः कृतः = तिरस्कृतः = परित्यक्त इत्यर्थः। मत्स्यैरालोचितम् = मीनैः चिन्तितम्। इह समये = इदानीम्। उपकारकः = शुभेच्छुः। लक्ष्यते = दृश्यते। यथाकर्तव्यम् = समयोचितम् कार्यम्।

चित्रवर्ण ने पूछा—'यह कैसे हुआ, मन्त्री ने कहा—मालवा देश में पद्मगर्भ नाम का एक तालाब था वहाँ एक शक्तिहीन और अत्यन्त व्याकुल सा बूढ़ा बगुला पड़ा हुआ था। उसे किसी केकड़े ने दूर से ही देखा और पूछा—'आप यहाँ भोजन छोड़कर क्यों पड़े हैं? बगले ने कहा—'मछली ही मेरे जीवन का सहारा है, और उसे मछुवे कल आकर मारेंगे ऐसी बात मैंने नगर के पास सुनी है। इसलिए भोजन के बिना अब मेरी मौत आ गई है ऐसा सोचकर अभी भोजन करना छोड़ दिया है। तब मछलियों ने विचार किया कि इस समय तो यह हम लोगों की भलाई करने वाला मालूम पड़ रहा है, इस लिए इसी से पूछना चाहिए कि अब हम लोगों को क्या करना चाहिए। जैसा कि कहा भी गया है—

'उपकर्त्राऽरिणा सन्धिर्न मित्रेणाऽपकारिणा।
उपकाराऽपकारौ हि लक्ष्यं लक्षणमेतयोः'॥ १७॥

अन्वयः—उपकर्त्रा अरिणा सन्धिः (कार्यः किन्तु) अपकारिणा मित्रेण न (कार्यः) एतयोः उपकारापकारौ, लक्षणम् हि॥ १७॥

उपकर्त्रा = उपकारकारिणा। अरिणा=शत्रुणा। सन्धिः =मेलनम्। अपकारिणा= अपकारकारकेण। मित्रेण = सुहृदा। एतयोः = शत्रुमित्रयोः। लक्षणम् = चिह्नम्। लक्ष्यम् = ज्ञेयम्॥ १७॥

उपकार करने वाले शत्रु से सन्धि करना अच्छा है लेकिन बुराई चाहने वाले मित्र से सन्धि करना ठीक नहीं है। क्योंकि शत्रु और मित्र का लक्षण ही अपकार और उपकार करना होता है॥ १७॥

मत्स्या ऊचु —'भो वक ! कोऽत्र अस्माक रक्षणोपाय ?' । वको ब्रूते—'अस्ति रक्षणोपायो जलाऽऽशयान्तराऽऽश्रयणम् । तत्राऽहमेकैकशो युष्मान्नयामि' । मत्स्या आहु—'एवमस्तु ।' ततोऽसौ दुष्टवकस्तान्मत्स्या-नेकैकशो नीत्वा खादति । अनन्तर कुलीरस्तमुवाच'भो वक, मामपि तत्र नय ।' ततो वकोऽप्यपूर्वकुलीरमासार्थी साऽऽदर त नीत्वा स्थले धृतवान् । कुलीरोऽपि मत्स्यकण्टकाऽऽकीर्ण तम् स्थलमालोक्याऽचिन्तयत्—'हा हतोऽस्मि मन्दभाग्य । भवतु । इदानी समयोचित व्यवहरिष्यामि ।' यत —

अत्र = इदानीम् । जलाशयान्तराश्रयणम् = अन्यस्य सरोवरस्यालम्बनम् । आहु = उक्तवन्त । स्थले = भूमौ । मत्स्यकण्टकाकीर्णम् = मीनास्थिसकुलम् । अचिन्तयत् = व्यचारयत् । हतोऽस्मि = मृतोऽस्मि । मन्दभाग्य = हतभाग्य । समयोचितम् = यथावसरम् । व्यवहरिष्यामि = आचरिष्यामि ।

मछलियों ने कहा—'हे बगुले अब हम लोगों की रक्षा का क्या उपाय है ?' बगुले ने कहा—'दूसरे तालाब में चला जाना ही रक्षा का उपाय है । इससे तुम लोगों में से एक एक को वहाँ पहुँचा भी दूँगा ।' मछलियों ने कहा—ठीक है, ऐसा ही करो ।' तब वह दुष्ट बगुला एक एक को ले जाकर खाने लगा । इसके बाद केकडे ने कहा—'हे बगुले मुझे भी वहाँ ले चलो । बगुला भी केकडे को पहले कभी नहीं खाया था इसलिए उसके मांस खाने की लालच से बडे आदर के साथ उसे पानी से बाहर निकाल कर रखा । केकडे ने मछलियों की हड्डियों से भरी हुई उस जगह को देखकर विचार किया कि अब तो मुझ अभागे को मरना पडा । अच्छा, समयानुसार उपाय करना चाहिए । क्योंकि—

'तावद्भयेन भेतव्य यावद्भयमनागतम् ।
आगतन्तु भय दृष्ट्वा प्रहर्त्तव्यमभीतवत्' ॥ १८ ॥

अन्वय —यावत् भयम् अनागतम तावत् भयेन भेतव्यम् । तु भयम् आगत दृष्ट्वा अभीतवत् प्रहर्त्तव्यम् ॥ १८ ॥

भयम् = भयहेतु । अनागतम् = अनुपस्थितम् । अभीतवत् = निर्भयसदृश । प्रहर्त्तव्यम् = तस्योपरि प्रहार करणीय , प्रतीकार कार्य इत्यर्थ ॥ १८ ॥

'भय से तभी तक डरना चाहिए जब तक वह सामने न हो किन्तु भय को सामने उपस्थित देखकर निडर होकर उस पर प्रहार करना चाहिए' ॥ १८ ॥

किञ्च—

'अभियुक्तो यदा पश्येन्न किञ्चिद् गतिमात्मन ।
युध्यमानस्तदा प्राज्ञो म्रियेत रिपुणा सह' ॥ १९ ॥

अन्वयः—अभियुक्तः यदा आत्मनः किञ्चित् गतिम् न पश्येत् तदा प्राज्ञः रिपुणा सह युध्यमानः म्रियेत ॥ १९ ॥

अभियुक्तः = शत्रुणा, भयकारणेन वा आक्रान्तः पुरुषः। आत्मनः = स्वस्य। किञ्चिद्गतिम् = किञ्चिदन्यम् प्रतीकारोपायम्। न पश्येत् = न विलोकयेत्। प्राज्ञः = बुद्धिमान्। रिपुणा सह = शत्रुणा सह। युध्यमानः = युद्धं कुर्वाणः। म्रियेत=प्राणमुत्सृजेत् ॥ १९ ॥

शत्रु द्वारा आक्रान्त व्यक्ति जब अपने बचने का दूसरा कोई भी उपाय न देखे तो शत्रु के साथ युद्ध करते हुए मरना ही उसकी बुद्धिमानी है ॥ १९ ॥

—इत्यालोच्य स कुलीरकस्तस्य बकस्य ग्रीवां चिच्छेद। अथ स बकः पञ्चत्वं गतः। अतोऽहं ब्रवीमि—'भक्षयित्वा बहून्मत्स्यान्' इत्यादि ॥

इत्यालोच्य = एवं विचार्य। कुलीरकः = कर्कटकः। ग्रीवाम् = गलप्रदेशम्। चिच्छेद = कर्तितवान्। पञ्चत्वं गतः = मृत्युं प्राप्तः।

ऐसा विचार कर केकड़े ने उस बगुले के गले को काट दिया जिससे वह बगुला मर गया। इसीलिए मैं कह रहा हूँ बहुत सी मछलियों को खाकर इत्यादि।'

ततश्चित्रवर्णोऽवदत्—'शृणु तावन्मन्त्रिन्! मयैतदालोचितम्—(-अस्ति-) यद्—अत्राऽवस्थितेनाऽनेन मेघवर्णेन राज्ञा यावन्ति वस्तूनि कर्पूरद्वीपस्योत्तमानि तावन्त्यस्माकमुपनेतव्यानि। तेनाऽस्माभिर्महासुखेन विन्ध्याचले स्थातव्यम्'। दूरदर्शी विहस्याऽऽह—'देव!

आलोचितम् = विचारितम्। अत्रावस्थितेन = अत्राभिषिक्तेन। उपनेतव्यानि = उपढौकितव्यानि। दूरदर्शी = राज्ञः चित्रवर्णस्य मन्त्री गृध्रः।

तब चित्रवर्ण ने कहा—हे मन्त्री सुनो, मैंने यह सोचा है कि यहाँ राज्यपद पर नियुक्त मेघ वर्ण कर्पूर द्वीप की सभी अच्छी-अच्छी वस्तुओं को हमारे पास भेजा करेगा, जिससे हम लोग विन्ध्याचल पर बड़े सुख से रहेंगे। दूरदर्शी ने हँस कर कहा—राजन्,

'अनागतवतीं चिन्तां कृत्वा यस्तु प्रहृष्यति।
स तिरस्कारमाप्नोति भग्नभाण्डो द्विजो यथा' ॥ २० ॥

राजाऽऽह—'कथमेतत्?'। मन्त्री कथयति—

अन्वयः—यः अनागतवतीं चिन्तां कृत्वा प्रहृष्यति सः भग्नभाण्डः द्विजः यथा तिरस्कारमाप्नोति ॥ २० ॥

य = पुरुष । अनागतवती = भविष्यानुवर्तिनीम् । प्रहृष्यति = मोदते । भग्न-भाण्ड = भग्नसक्तुपूर्णपात्र । द्विज = ब्राह्मण । यथा = इव । तिरस्कारमाप्नोति = अनादृतो भवति ॥ २० ॥

जो मनुष्य भविष्य की कल्पना करके झूठे सुख की आशा से प्रसन्न होता है वह कुम्हार का वर्तन फोड़ डालने वाले ब्राह्मण के समान अपमानित होता है ॥ २० ॥

राजा ने कहा—यह कैसे ? मन्त्री ने कहा—

कथा ७

अस्ति देवीकोट्टनाम्नि नगरे देवशर्मा नाम ब्राह्मणः। तेन महा-विषुवत्सङ्क्रान्त्या सक्तुपूर्णशराव एक. प्राप्त·। ततस्तमादायाऽसौ कुम्भकारस्य भाण्डपूर्णमण्डपैकदेशे रौद्रेणाऽऽकुलित· सुप्त·। ततः सक्तुरक्षार्थं हस्ते दण्डमेकमादायाऽचिन्तयत्—'अद्यह सक्तुशराव विक्रीय दश कपर्दकान्प्राप्स्यामि, तदाऽत्रैव तैं कपर्दकैर्घटशरावादिक-मुपक्रीयाऽनेकधा वृद्धैस्तद्धनै पुन पुन· पूगवस्त्रादिमुपक्रीय, विक्रीय, लक्षसङ्ख्यानि धनानि कृत्वा, विवाहचतुष्टय करिष्यामि। अनन्तर तासु स्वपत्नीषु या रूपयौवनवती तस्यामधिकाऽनुराग करिष्यामि। सपत्न्यो यदा द्वन्द्व करिष्यन्ति, तदा कोपाऽऽकुलोऽह ता· सर्वा लगुडेन ताडयिष्यामीत्यभिधाय तेन लगुड· प्रक्षिप्त·। तेन सक्तुशरा-वश्चूर्णितो भाण्डानि च बहूनि भग्नानि। ततस्तेन शब्देनाऽऽगतेन कुम्भकारेण तथाविधानि भाण्डान्यवलोक्य, ब्राह्मणस्तिरस्कृतो, मण्डपाद्बहिष्कृतश्च। अतोऽह ब्रवीमि—'अनागतवती चिन्ताम्' इत्यादि ॥

ततो राजा रहसि गृध्रमुवाच—'तात ! यथा कर्त्तव्य तथोपदिश।' गृध्रो ब्रूते—

विषुवत्सङ्क्रान्त्याम् = वैशाखमासस्य मेषसङ्क्रान्तिवासरे । सक्तुपूर्ण-शराव = सक्तुपूरितवर्द्धमानक (सतुवे से भरा कसोरा)। भाण्डपूर्णमण्डपैक-देशे = मृत्पात्रपूर्णगृहस्यैकभागे । रौद्रेण = घर्मेण । आकुलित = व्यग्र । सुप्त = सुप्तवान् । दण्डमेकम् = एका यष्टिकाम् । आदाय = गृहीत्वा । कपर्दकान् = काकिणी । अनेकधावृद्धै = वार वार क्रयविक्रयकरणेन वर्द्धितै । तद्धनै, = तन्मूल्यत्वेन प्राप्तधनै । पुन पुन = वार वारम् । पूगवस्त्रादिकम् = पूगीफलवस्त्रादिकम्

(सुपाडी तथा कपडे आदि) । द्वन्द्वम् = कलहम् । कोपाकुल = क्रोधोन्मत्त । लगुडेन = दण्डेन । ताडयिष्यामि = मारयिष्यामि । चूर्णित = भग्न । भाण्डानि = कुम्भकारस्य पात्राणि । तेन शब्देन = चूर्णितस्य भाण्डस्य शब्देन । तथाविधानि = भग्नानि । अवलोक्य = दृष्ट्वा । तिरस्कृत = अपमानित । वहिष्कृत = निष्कासित । रहसि = एकान्ते ।

दर्वाकोट्ट नाम के नगर में देवशर्मा नाम का एक ब्राह्मण रहता था एक बार सतुवा सक्रान्ति के दिन उसने सतुवे से भरा हुआ एक मिट्टी का कसोरा पाया । वह उसे लेकर बर्तनों से भरे हुए कुम्हार के मण्डप के एक किनारे गया और धूप से व्याकुल हो कर वहीं सो गया । तब सतुवे की रक्षा के लिए हाथ में एक डण्डा लेकर वह मन ही मन सोचने लगा । यदि मैं इस सतुवे के कसोरे को बेंच कर दस कौडी पा जाऊँ तो उसी से घडे कसोरे आदि खरीद कर बेंच कर लाखों का धन प्राप्त करके चार विवाह करूँगा इसके पश्चात् उन चारों स्त्रियों में जो सबसे सुन्दरी तथा युवती होगी, मैं उससे अधिक प्रेम करूँगा । जब वह चारों आपस में झगड़ा करेंगी तो मैं क्रुद्ध होकर उन सभी को डंडे से पीटूगा । ऐसा कहकर उसने डंडा चला दिया । जिससे सतुवे का कसोरा तो टूट ही गया साथ ही कुम्हार के बहुत से बर्तन भी टूट गए । बर्तन के टूटने का शब्द सुनकर कुम्हार वहाँ आया और उन टूटे फूटे बर्तनों को देख कर उसने ब्राह्मण को डाँटा इसी से । मैं कह रहा हूँ—'भविष्य की कल्पना करने वाले' आदि ।

तब राजा ने एकान्त में गृद्ध से कहा—तात,

अब मुझे बताइए कि क्या करना चाहिए । गृद्ध ने कहा—

मदोद्धतस्य नृपते प्रकीर्णस्येव दन्तिन. ।
गच्छन्त्युन्मार्गयातस्य नेतारः खलु वाच्यताम् ॥ २१ ॥

अन्वय —मदोद्धतस्य प्रकीर्णस्य उन्मार्गयातस्य दन्तिन नेतार इव (मदोन्मत्तस्य प्रकीर्णस्य उन्मार्गयातस्य) नृपते नेतार वाच्यताम् गच्छन्ति ॥ २१ ॥

मदोद्धतस्य = उन्मत्तस्य, नृपतिपक्षे, गर्वोन्मत्तस्य । प्रकीर्णस्य = मदाकुलस्य, नृपतिपक्षे विवेकरहितस्य उन्मार्गयातस्य = कुपथप्रवृत्तस्य । दन्तिन = हस्तिन । नेतार = हस्तिपका , उपदेष्टार = मन्त्रिण । इव = यथा । वाच्यम् = लोकनिन्दनीयताम् । गच्छन्ति = प्राप्नुवन्ति ॥ २१ ॥

जैसे मद से पागल हाथी के बुरे मार्ग में चले जाने का सारा दोष महावत के ऊपर होता है उसी प्रकार अभिमानी मतवाले राजा के बुरे मार्ग में जाने का सारा दोष मन्त्री पर होता है और वह निन्दा का पात्र बनता है ॥ २१ ॥

'शृणु देव ! किमस्माभिर्बलदर्पाद् दुर्गं भग्नम् ?, उत तव प्रतापाऽधिष्ठितेनोपायेन ? ।' राजाऽऽह—'भवतानुपायेन ।' गृध्रो ब्रूते—'यद्यस्मद्वचनं क्रियते, तदा स्वदेशे गम्यताम् । अन्यथा वर्षाकाले प्राप्ते पुनस्तुल्यबलेन विग्रहे सत्यस्माकं परभूमिष्ठानां स्वदेशगमनमपि दुर्लभं भविष्यति । तत्सुखशोभार्थं सन्धाय गम्यताम् । दुर्गं भग्नं, कीर्त्तिश्च लब्धैव' । मम सम्मतं तावदेतत्' । यतः —

बलदर्पात् = पराक्रमाभिमानात् । उत = अथवा । प्रतापाधिष्ठितेन = प्रतापाश्रयेण । अस्मद्वचनम् = अस्मन्मन्त्रणाम् । पुनर्विग्रहे = पुनः युद्धे सति । परभूमिष्ठानाम् = शत्रुदेशस्थितानाम् । सुखशोभार्थम् = स्वस्य सुखाय यशसे वा । सन्धाय = सन्धिं विधाय ।

'यो हि धर्मं पुरस्कृत्य हित्वा भर्त्तुः प्रियाऽप्रिये ।
अप्रियाण्याह पथ्यानि, तेन राजा सहायवान्' ॥ २२ ॥

अन्वय —यः भर्तुः प्रियाप्रिये हित्वा धर्मं पुरस्कृत्य अप्रियाणि तथ्यानि आह, तेन राजा सहायवान् (भवति) ॥ २२ ॥

यः = राजमन्त्री । भर्तुः = नृपस्य । प्रियाप्रिये = इदम् स्वामिनः प्रियम्, इदम् अप्रियम् इति च । हित्वा = विहाय । धर्मम् = न्यायम् । पुरस्कृत्य = अग्रेकृत्वा । तथ्यानि = तथ्यवचनानि । तेन = मन्त्रिणा । राजा = नृपः । सहायवान् = सहायकान्वितः भवति ॥ २२ ॥

राजन्, सुनिए—'क्या हम लोगों ने अपनी सेना के अभिमान से किला तोड़ा है अथवा आपके प्रताप या उपाय से ?' राजा ने कहा—'आपके उपाय से ।' गृध्र ने कहा—यदि हमारी बात मानते हैं तो अपने देश चलिए । नहीं तो वर्षा आ जाने पर और फिर समान बल वाले शत्रु से युद्ध होने पर दूसरे देश में रहने वाले हम लोगों को अपने देश में जाना भी कठिन हो जायगा । इसलिए सुख और यश दोनों के लिए सन्धि करके चले चलिए । किला टूट ही गया और यश मिल ही गया । मेरा तो अब यही विचार है । क्योंकि—जो धर्म को आगे करके राजा के प्रिय और अप्रिय का ध्यान छोड़ कर केवल राजा के हित की बात को ही कहता हैं, भले ही वह राजा को बुरा लगे, वही राजा का सच्चा सहायक होता है ॥ २२ ॥

अन्यच्च —

'सुहृद्बलं, तथा राज्यमात्मानं, कीर्त्तिमेव च ।
युधि सन्देहदोलास्थं को हि कुर्यादबालिशः ?' ॥ २३ ॥

(सुपाडो तथा कपडे आदि) । द्वन्द्वम् = कलहम् । कोपाकुल = क्रोधोन्मत्त । लगुडेन=दडेन । ताडयिष्यामि = मारयिष्यामि । चूर्णित = भग्न । भाडानि= कुम्भकारस्य पात्राणि । तेन शब्देन = चूर्णितस्य भाण्डस्य शब्देन । तथाविधानि = भग्नानि । अवलोक्य = दृष्ट्वा । तिरस्कृत =अपमानित. । बहिष्कृत =निष्कासित । रहसि = एकान्ते ।

देवीकोट्ट नाम के नगर में देवशर्मा नाम का एक ब्राह्मण रहता था एक बार सतुवा सक्रान्ति के दिन उसने सतुवे से भरा हुआ एक मिट्टी का कसोरा पाया । वह उसे लेकर बर्तनों से भरे हुए कुम्हार के मडप के एक किनारे गया और धूप से व्याकुल हो कर वहीं सो गया । तब सतुवे की रक्षा के लिए हाथ में एक डटा लेकर वह मन ही मन सोचने लगा । यदि मैं इस सतुवे के कसोरे को बेंच कर दस कौडी पा जाऊँ तो उसी से घडे कसोरे आदि खरीद कर बेंच कर लाखों का धन प्राप्त करके चार विवाह करूँगा इसके पश्चात् उन चारों स्त्रियों में जो सबसे सुन्दरी तथा युवती होगी, मैं उससे अधिक प्रेम करूँगा । जब वह चारों आपस में झगड़ा करेंगी तो मैं क्रुद्ध होकर उन सभी को डडे से पीटूगा । ऐसा कहकर उसने डडा चला दिया । जिससे सतुवे का कसोरा तो टूट ही गया साथ ही कुम्हार के बहुत से बर्तन भी टूट गए । बर्तन के टूटने का शब्द सुनकर कुम्हार वहाँ आया और उन टूटे फूटे बर्तनों को देख कर उसने ब्राह्मण को डाँटा इसी से । मैं कह रहा हूँ—'भविष्य की कल्पना करने वाले' आदि ।

तब राजा ने एकान्त में गृद्ध से कहा—तात,

अब मुझे बताइए कि क्या करना चाहिए । गृद्ध ने कहा—

मदोद्धतस्य नृपते प्रकीर्णस्येव दन्तिन. ।
गच्छन्त्युन्मार्गयातस्य नेतार: खलु वाच्यताम् ॥ २१ ॥

अन्वय.—मदोद्धतस्य प्रकीर्णस्य उन्मार्गयातस्य दन्तिन नेतार इव (मदोन्मत्तस्य प्रकीर्णस्य उन्मार्गयातस्य) नृपते नेतार वाच्यताम् गच्छन्ति ॥ २१ ॥

मदोद्धतस्य = उन्मत्तस्य, नृपतिपक्षे, गर्वोन्मत्तस्य । प्रकीर्णस्य = मदाकुलस्य, नृपतिपक्षे विवेकरहितस्य उन्मार्गयातस्य = कुपथप्रवृत्तस्य । दन्तिन = हस्तिन । नेतार = हस्तिपका , उपदेष्टार = मन्त्रिण । इव = यथा । वाच्यम् = लोकनिन्दनीयताम् । गच्छन्ति = प्राप्नुवन्ति ॥ २१ ॥

जैसे मद से पागल हाथी के बुरे मार्ग में चले जाने का सारा दोष महावत के ऊपर होता है उसी प्रकार अभिमानी मतवाले राजा के बुरे मार्ग में जाने का सारा दोष मंत्री पर होता है और वह निन्दा का पात्र बनता है ॥ २१ ॥

'शृणु देव ! किमस्माभिर्बलदर्पाद् दुर्ग भग्नम् ?, उत तव प्रतापाऽधिष्ठितेनोपायेन ? ।' राजाऽऽह—'भवतामुपायेन ।' गृध्रो ब्रूते—'यद्यस्मद्वचन क्रियते, तदा स्वदेशे गम्यताम् । अन्यथा वर्षाकाले प्राप्ते पुनस्तुल्यबलेन विग्रहे सत्यस्माक परभूमिष्ठाना स्वदेशगमनमपि दुर्लभं भविष्यति । तत्सुखशोभार्थं सन्धाय गम्यताम् । दुर्ग भग्न, कीर्त्तिश्च लब्धैव' । मम समत तावदेतत्' । यत —

बलदर्पात् = पराक्रमाभिमानात् । उत = अथवा । प्रतापाधिष्ठितेन = प्रतापाश्रयेण । अस्मद्वचनम् = अस्मन्मन्त्रणाम् । पुनर्विग्रहे = पुन युद्धे सति । परभूमिष्ठानाम् = शत्रुदेशस्थितानाम् । सुखशोभार्थम् = स्वस्य सुखाय यशसे वा । सन्धाय = सन्धि विधाय ।

'यो हि धर्म पुरस्कृत्य हित्वा भर्त्तु प्रियाऽप्रिये ।
अप्रियाण्याह पथ्यानि, तेन राजा सहायवान्' ॥ २२ ॥

अन्वय —य भर्तु प्रियाप्रिये हित्वा धर्म पुरस्कृत्य अप्रियाणि तथ्यानि आह, तेन राजा सहायवान् (भवति) ॥ २२ ॥

य = राजमन्त्री । भर्तु = नृपस्य । प्रियाप्रिये = इदम् स्वामिन प्रियम्, इदम् अप्रियम् इति च । हित्वा = विहाय । धर्मम् = न्यायम् । पुरस्कृत्य = अग्रेकृत्वा । तथ्यानि = तथ्यवचनानि । तेन = मन्त्रिणा । राजा = नृप । सहायवान् = सहायकान्वित भवति ॥ २२ ॥

राजन्, सुनिए—'क्या हम लोगों ने अपनी सेना के अभिमान से किला तोड़ा है अथवा आपके प्रताप या उपाय से ?' राजा ने कहा—'आपके उपाय से ।' गृध्र ने कहा—यदि हमारी बात मानते हैं तो अपने देश चलिए । नहीं तो वर्षा आ जाने पर और फिर समान बल वाले शत्रु से युद्ध होने पर दूसरे देश में रहने वाले हम लोगों को अपने देश में जाना भी कठिन हो जायगा । इसलिए सुख और यश दोनों के लिए सन्धि करके चले चलिए । किला टूट ही गया और यश मिल ही गया । मेरा तो अब यही विचार है । क्योंकि—जो धर्म को आगे करके राजा के प्रिय और अप्रिय का ध्यान छोड़ कर केवल राजा के हित की बात को ही कहता हैं, भले ही वह राजा को बुरा लगे, वही राजा का सच्चा सहायक होता है ॥ २२ ॥

अन्यच्च —

'सुहृद्बल, तथा राज्यमात्मान, कीर्त्तिमेव च ।
युधि सन्देहदोलास्थ को हि कुर्यादबालिश ?' ॥ २३ ॥

अन्वय.—युधि सुहृत्, बलम्, राज्यम्, तथा आत्मानं कीर्तिमेव च हि कः अबालिशः संदेहदोलास्थम् कुर्यात् ॥ २३ ॥

युधि = युद्धे । सुहृत् = मित्रम् । बलम् = सैन्यम् । राज्यम्=स्वदेशम् । आत्मानं कीर्तिम् = स्वकीयं यशः । अबालिशः = पंडितः । संदेहदोलास्थम् = संशयदोलारूढम् ॥ २३ ॥

भला कौन बुद्धिमान् युद्ध में पड़कर मित्र, सेना, राज्यकीर्ति तथा अपने आप को सन्देह रूपी झूले में डालेगा ॥ २३ ॥

अपरञ्च—

'सन्धिमिच्छेत्समेनाऽपि, सन्दिग्धो विजयो युधि ।
नहि संशयितं कुर्यादित्युवाच बृहस्पतिः' ॥ २४ ॥

अन्वय.—युधि विजयः संदिग्धः (अतः) समेनापि संधिं इच्छेत् । संशयितं नहि कुर्यात् इति बृहस्पतिः उवाच ॥ २४ ॥

युधि = युद्धे । विजयः = विजयलाभः । संदिग्धः = अनिश्चितः । अत एव समेनापि = स्वतुल्यपराक्रमेणापि । संधिमिच्छेत् = संधिं कुर्यात् । संशयितं = संदिग्धम् कार्यम् । नहि कुर्यात् = नाचरेत् ॥ २४ ॥

लड़ाई में विजय प्राप्त होने में सन्देह होता है इसलिए समान बल वालों के साथ संधि कर लेना चाहिए । क्योंकि बृहस्पति ने बताया है कि जिस कार्य के पूरा होने में संदेह हो, उसे नहीं करना चाहिए ॥ २४ ॥

अपिच—

'युद्धे विनाशो भवति कदाचिदुभयोरपि ।
सुन्दोपसुन्दावन्योन्यं, नष्टौ तुल्यबलौ न किम् ?' ॥ २५ ॥

राजोवाच—'कथमेतत् ?' मन्त्री कथयति—

अन्वय.—कदाचित् युद्धे उभयोरपि विनाशः भवति तुल्यबलौ सुन्दोपसुन्दौ अन्योन्यं किम् नष्टौ न ? ॥ २५ ॥

युद्धे = संग्रामे । उभयोरपि = युध्यमानयोः द्वयोरपि । अन्योन्यम् = परस्परम् । तुल्यबलौ = तुल्यपराक्रमौ । किम् न नष्टौ = नष्टौ एव ॥ २५ ॥

और भी—युद्ध में कभी-कभी दोनों पक्षों का विनाश निश्चित होता है । समान बल वाले सुन्द और उपसुन्द क्या आपस में लड़कर नष्ट नहीं हुए ? ॥ २५ ॥

राजा ने कहा—यह कैसे ? मन्त्री ने कहा—

कथा ८

पुरा दैत्यौ सहोदरौ सुन्दोपसुन्दनामानौ महता कायक्लेशेन त्रैलोक्य-राज्यकामनया चिराच्चन्द्रशेखरमाराधितवन्तौ। ततस्तयोर्भगवान् परितुष्ट' सन् 'वर वरयतम्' इत्युवाच। अनन्तर तयो कण्ठाऽधिष्ठिताया सरस्वत्या प्रभावात्तावन्यद्वक्तुकामावन्यदभिहितवन्तौ—'यद्यावयोर्भवान्परितुष्टस्तदा स्वप्रिया पार्वती परमेश्वरो ददातु।'

कायक्लेशेन = शरीरकष्टेन। त्रैलोक्यराज्यकामनया = त्रिभुवनराज्याभिलाषेण। चिरात् = बहुकालात्। चन्द्रशेखरम् = शिवम्। भगवान् = शिव। वरयतम् = याचेथाम्। कण्ठाधिष्ठिताया = कण्ठे स्थिताया। अन्यद् वक्तुकामौ = अन्यत् वक्तुम् अभिलाषुकौ। अभिहितवन्तौ = उक्तवन्तौ। स्वप्रियाम् = निजपत्नीम्।

प्राचीन काल में सगे भाई सुन्द और उपसुन्द ने तीनों लोक के राज्य की अभिलाषा से बहुत अधिक शारीरिक कष्ट उठा कर बहुत दिनों तक भगवान शकर की आराधना की। तब भगवान् शकर ने प्रसन्न होकर कहा कि 'वर मांगो !' तब कठ में बसी सरस्वती के प्रभाव से वह दोनों जो कुछ माँगना चाहते थे उसके प्रतिकूल बोले—यदि आप हम दोनों पर प्रसन्न हैं, तो अपनी प्रियपत्नी पार्वती को हमें दे दीजिए।

अथ भगवता क्रुद्धेन वरदानस्याऽऽवश्यकतया, विचारमूढयो पार्वती प्रदत्ता। ततस्तस्या रूपलावण्यलुब्धाभ्या, जगद्घातिभ्या मनसोत्सुकाभ्या, पापतिमिराभ्या, ममे'त्यन्योन्य कलहायमानाभ्या 'प्रमाणपुरुष कश्चित्पृच्छ्यता' मिति मतौ कृताया, स एव भट्टारको वृद्धद्विजरूप समागत्य तत्रोपस्थित। अनन्तरम्—'आवाभ्यामिय स्वबललब्धा, कस्येयमावयोर्भवति'—इति ब्राह्मणमपृच्छताम्। ब्राह्मणो ब्रूते—

विचारमूढयो = विवेकशून्ययो। रूपलावण्यलुब्धाभ्याम् = सौन्दर्यप्रसक्ताभ्याम्। जगद्घातिभ्याम् = लोकपीडकाभ्याम्। मनसोत्सुकाभ्याम् = चित्तेनोत्सुकाभ्याम्। पापतिमिराभ्याम् = पापान्धकाराच्छादिताभ्याम्। कलहायमानाभ्याम् = द्वन्द्वायमानाभ्याम्। प्रमाणपुरुष = मध्यस्थ। पृच्छ्यताम् = निर्णयार्थम्, पृच्छ्यताम्। भट्टारक = परमेश्वर। वृद्धद्विजरूप = वृद्धब्राह्मणवेश। स्वबललब्धा = स्वपराक्रमे उपार्जिता।

यह सुन कर भगवान् शिव बहुत क्रुद्ध हुए किन्तु अपनी वरदान देने की बात पूरी

करने के लिए इन मूर्खों को उन्होंने पार्वती को दे दिया। तब दोनों पार्वती के रूप पर मुग्ध हो गये और ममार के घाती तथा अत्यन्त पापी वह दोनों अत्यन्त उत्सुक होकर 'यह मेरी है' यह मेरी है इस प्रकार झगड़ा करने लगे। तब उन दोनों ने यह विचार किया कि किसी मध्यस्थ द्वारा निर्णय करा लेना चाहिए। उसी समय शङ्कर जी वृद्ध ब्राह्मण का वेश धारण करके उन दोनों के पास उपस्थित हुए। इसके पश्चात् इन दोनों ने ब्राह्मण से पूछा कि हम दोनों ने इसे अपने बल से प्राप्त किया है अत यह किसकी होनी चाहिए। ब्राह्मण ने कहा—

'ज्ञानश्रेष्ठो द्विज पूज्य, क्षत्त्रियो वलवानपि।
धनधान्याऽधिको वैश्य, शूद्रस्तु द्विजसेवया' ॥ २६ ॥

अन्वय —ज्ञानश्रेष्ठ द्विज, वलवान् क्षत्रिय, धनधान्याधिको वैश्य, द्विजसेवया तु शूद्र पूज्य (भवति) ॥ २६ ॥

वर्णश्रेष्ठ = वर्णेषु उत्तम। द्विज = ब्राह्मण। वलवान् = बलाधिक। धनधान्याधिक = वैभवादियुक्त। द्विजसेवया = ब्राह्मणसेवया। पूज्य = श्रेष्ठ ॥ २६ ॥

ज्ञान में श्रेष्ठ ब्राह्मण, बल में श्रेष्ठ क्षत्रिय, धनधान्य में श्रेष्ठ वैश्य और सेवा करने में श्रेष्ठ शूद्र सबसे बड़ा माना जाता है ॥ २६ ॥

तद्युवा क्षात्त्रधर्मानुगौ। युद्ध एव युवयोर्नियम.।' इत्यभिहिते सति, 'साधूक्तमनेने'ति कृत्वाऽन्योन्यतुल्यवीर्यौ, समकालमन्योन्यघातेन विनाशमुपगतौ। अतोऽहं ब्रवीमि—'सन्धिमिच्छेत्समेनापि' इत्यादि ॥

राजाऽऽह—'तत् प्रागेव किं नेदमुपदिष्टं भवद्भि ?।' मन्त्री ब्रूते—'तदा मद्वचनं किमवसानपर्यन्तं श्रुतं भवद्भि ?। तदाऽपि मम सम्मत्या नाऽऽस्य विग्रहाऽऽरम्भ। यत—साधुगुणयुक्तोऽयं हिरण्यगर्भो, न विग्राह्य'। तथा चोक्तम्—

क्षत्रधर्मानुगौ = क्षत्रियधर्मानुचारिणौ। नियम = विधि निर्णयोपाय इत्यर्थ। अभिहिते सति=कथिते सति। साधूक्तम् = युक्तमुचितम्। इति कृत्वा = इत्थमवधार्य। समकालम् = तुल्यकालमेव। अन्योन्यघातेन=परस्परप्रहारेण। विनाशमुपगतौ= मृतौ। प्रागेव = आदौ एव। अवसानपर्यन्तम् = यावदन्तम्। तथापि = तस्मिन्नेव काले, विग्रहात्पूर्वम्। विग्रहारम्भ = युद्धारम्भ। साधुगुणयुक्त = शिष्टगुणपूर्ण, साधुस्वभाव। न विग्राह्य = युद्धाय नोचित।

तुम दोनों क्षत्रिय हो। युद्ध ही तुम दोनों के बीच निर्णय करने का उपाय है। ब्राह्मण के ऐसा कहने पर 'इन्होंने बहुत ठीक कहा है' ऐसा कह कर समान बल वाले वह दोनों आपस में तत्काल ही एक दूसरे के ऊपर प्रहार करके मर गए। इसी लिये मैं कह रहा हूँ—'समान बलवाले के साथ संधि कर लेनी चाहिए' इत्यादि।

राजा चित्रवर्ण ने कहा—'तो पहले ही आप ने ऐसा क्यों नहीं कहा?' मन्त्री गृद्ध ने कहा—

उस समय क्या आप ने मेरी पूरी-पूरी बातें सुनी थीं? उस समय भी मेरी राय से यह युद्ध प्रारम्भ नहीं हुआ था। उत्तम गुणों से पूर्ण राजा राजहंस के साथ युद्ध करना उचित नहीं है। जैसा कि कहा भी गया है—

'सत्याऽऽर्यौ, धार्मिकोऽनार्यो, भ्रातृसङ्घातवान्बली।
अनेकयुद्धविजयी, सन्धेया सप्त कीर्तिता ॥ २७ ॥

अन्वय —सत्यार्यौ, धार्मिकः, अनार्यः, भ्रातृसंघातवान्, बली, अनेकयुद्धविजयी (एते) सप्त सन्धेयाः कीर्तिताः ॥ २७ ॥

सत्यार्यौ = सत्यवादी कुलीनश्च। अनार्यः = नीचवंशप्रसूनः। भ्रातृसंघातवान् = बहुभ्रातृयुक्तः। सन्धेयाः = सन्धियोग्याः। कीर्तिताः = कथिताः ॥ २७ ॥

सत्यवादी, आर्य धर्म के पालन करने वाले, धार्मिक, बहुत अनार्य, भाइयों वाले, बलवान्, तथा अनेक युद्धों में विजयी ये सात प्रकार के राजा सन्धि करने के योग्य हैं ॥ २७ ॥

'सत्योऽनुपालयन् सत्यं सन्धितो नैति विक्रियाम्।
प्राणबाधेऽपि सुव्यक्तमार्यो नाऽऽयात्यनार्यताम्' ॥ २८ ॥

अन्वय —सत्यः सत्यम् अनुपालयन् सन्धितः विक्रियाम् न एति, आर्यः प्राणबाधे अपि अनार्यताम् न आयाति इति सुव्यक्तम् ॥ २८ ॥

सत्यः = सत्यपरः। सत्यम् = याथातथ्यम्। अनुपालयन् = समाचरन्। सन्धितः = कृतसंधानः। विक्रियाम् = विकृतिम्। न एति = न प्राप्नोति। आर्यः = सद्वंशप्रसूतः। प्राणबाधेऽपि = जीवितसंदेहेऽपि। अनार्यताम् = अकुलीनताम्। न आयाति = नागच्छति। सुव्यक्तम् = सुस्पष्टम् ॥ २८ ॥

सत्य का पालन करने वाला राजा सन्धि करने पर भी कभी दोषयुक्त नहीं होता अर्थात् सन्धि के नियमों को नहीं तोड़ता और प्राण संकट उपस्थित होने पर भी आर्य नियमों का पालन करने वाला राजा दुष्टता कभी नहीं ग्रहण करता है ॥ २८ ॥

'धार्मिकस्याऽभियुक्तस्य सर्वं एव हि युध्यते।
प्रजाऽनुरागाद्धर्माच्च दुःखोच्छेद्यो हि धार्मिकः' ॥ २९ ॥

करने के लिए इन मूर्तों को उन्होंने पार्वती को दे दिया। तब दोनों पार्वती के रूप पर मुग्ध हो गये और संसार के घाती तथा अत्यन्त पापी वह दोनों अत्यन्त उत्सुक होकर 'यह मेरी है' यह मेरी है इस प्रकार झगड़ा करने लगे। तब इन दोनों ने यह विचार किया कि किसी मध्यस्थ द्वारा निर्णय करा लेना चाहिए। उसी समय शंकर जी वृद्ध ब्राह्मण का वेश धारण करके उन दोनों के पास उपस्थित हुए। इसके पश्चात् इन दोनों ने ब्राह्मण से पूछा कि हम दोनों ने इसे अपने बल से प्राप्त किया है अत यह किसकी होनी चाहिए। ब्राह्मण ने कहा—

'ज्ञानश्रेष्ठो द्विज पूज्य, क्षत्रियो बलवानपि।
धनधान्याऽधिको वैश्य, शूद्रस्तु द्विजसेवया' ॥ २६ ॥

अन्वय —ज्ञानश्रेष्ठ द्विज, बलवान् क्षत्रिय, धनधान्याधिको वैश्य, द्विजसेवया तु शूद्र पूज्य (भवति) ॥ २६ ॥

वर्णश्रेष्ठ = वर्णेषु उत्तम। द्विज = ब्राह्मण। बलवान् = बलाधिक। धनधान्याधिक = वैभवादियुक्त। द्विजसेवया = ब्राह्मणसेवया। पूज्य = श्रेष्ठ ॥ २६ ॥

ज्ञान में श्रेष्ठ ब्राह्मण, बल में श्रेष्ठ क्षत्रिय, धनधान्य में श्रेष्ठ वैश्य और सेवा करने में श्रेष्ठ शूद्र सबसे बड़ा माना जाता है ॥ २६ ॥

तद्युवा क्षात्रधर्मानुगौ। युद्ध एव युवयोर्नियम.।' इत्यभिहिते सति, 'साधूक्तमनेने'ति कृत्वाऽन्योन्यतुल्यवीर्यौ, समकालमन्योन्यघातेन विनाशमुपगतौ। अतोऽहं ब्रवीमि—'सन्धिमिच्छेत्समेनापि' इत्यादि ॥

राजाऽऽह—'तत् प्रागेव किं नेदमुपदिष्ट भवद्भि?।' मन्त्री ब्रूते—'तदा मद्वचन किमवसानपर्यन्त श्रुत भवद्भि?। तदाऽपि मम सम्मत्या नाऽऽस्य विग्रहाऽऽरम्भ। यत—साधुगुणयुक्तोऽय हिरण्यगर्भो, न विग्राह्य'। तथा चोक्तम्—

क्षात्रधर्मानुगौ = क्षत्रियधर्मानुचारिणौ। नियम = विधि निर्णयोपाय इत्यर्थ। अभिहिते सति = कथिते सति। साधूक्तम् = युक्तमुचितम्। इति कृत्वा = इत्थमवधार्य। समकालम् = तुल्यकालमेव। अन्योन्यघातेन = परस्परप्रहारेण। विनाशमुपगतौ = मृतौ। प्रागेव = आदौ एव। अवसानपर्यन्तम् = यावदन्तम्। तथापि = तस्मिन्नेव काले, विग्रहात्पूर्वम्। विग्रहारम्भ = युद्धारम्भ। साधुगुणयुक्त = शिष्टगुणपूर्ण, साधुस्वभाव। न विग्राह्य = युद्धाय नोचित।

तुम दोनों क्षत्रिय हो। युद्ध ही तुम दोनों के बीच निर्णय करने का उपाय है। ब्राह्मण के ऐसा कहने पर 'इन्होंने बहुत ठीक कहा है' ऐसा कह कर समान बल वाले वह दोनों आपस में तत्काल ही एक दूसरे के ऊपर प्रहार करके मर गए। इसी लिये मैं कह रहा हूँ—'समान बलवाले के साथ सधि कर लेनी चाहिए' इत्यादि।

राजा चित्रवर्ण ने कहा—'तो पहले ही आप ने ऐसा क्यों नहीं कहा?' मन्त्री गृद्ध ने कहा—

उस समय क्या आप ने मेरी पूरी-पूरी बातें सुनी थी? उस समय भी मेरी राय से यह युद्ध प्रारम्भ नहीं हुआ था। उत्तम गुणों से पूर्ण राजा राजहस के साथ युद्ध करना उचित नहीं है। जैसा कि कहा भी गया है—

'सत्याऽऽर्यौ, धार्मिकोऽनार्यो, भ्रातृसङ्घातवान्वली।
अनेकयुद्धविजयी, सन्धेया सप्त कीर्तिता ॥ २७ ॥

अन्वय —सत्यार्यौ, धार्मिक, अनार्य, भ्रातृसघातवान्, वली, अनेकयुद्धविजयी (एते) सप्त सन्धेया कीर्तिता ॥ २७ ॥

सत्यार्यौ = सत्यवादी कुलीनश्च। अनार्य = नीचवशप्रसून। भ्रातृसघातवान् = वहुभ्रातृयुक्त। सन्धेया = सन्धियोग्या। कीर्तिता = कथिता ॥ २७ ॥

सत्यवादी, आर्य धर्म के पालन करने वाले, धार्मिक, बहुत अनार्य, भाइयों वाले, बलवान्, तथा अनेक युद्धों में विजयी ये सात प्रकार के राजा सन्धि करने के योग्य हैं ॥ २७ ॥

'सत्योऽनुपालयन् सत्य सन्धितो नैति विक्रियाम्।
प्राणबाधेऽपि सुव्यक्तमार्यो नाऽऽयात्यनार्यताम्' ॥ २८ ॥

अन्वय —सत्य सत्यम् अनुपालयन् सन्धित विक्रियाम् न एति, आर्य प्राणबाधे अपि अनार्यताम् न आयाति इति सुव्यक्तम् ॥ २८ ॥

सत्य = सत्यपर। सत्यम् = याथातथ्यम्। अनुपालयन् = समाचरन्। सन्धित = कृतसधान। विक्रियाम् = विकृतिम्। न एति = न प्राप्नोति। आर्य = सद्वशप्रसूत। प्राणबाधेऽपि = जीवितसदेहेऽपि। अनार्यताम् = अकुलीनताम्। न आयाति = नागच्छति। सुव्यक्तम् = सुस्पष्टम् ॥ २८ ॥

सत्य का पालन करने वाला राजा सन्धि करने पर भी कभी दोषयुक्त नहीं होता अर्थात् सन्धि के नियमों को नहीं तोड़ता और प्राण सकट उपस्थित होने पर भी आर्य नियमों का पालन करने वाला राजा दुष्टता कभी नहीं ग्रहण करता है ॥ २८ ॥

'धार्मिकस्याऽभियुक्तस्य सर्व एव हि युध्यते।
प्रजाऽनुरागाद्धर्माच्च दु खोच्छेद्यो हि धार्मिक' ॥ २९ ॥

अन्वय'—अभियुक्तस्य धार्मिकस्य सर्वं एव हि युध्यते (अत) प्रजानुरागाद धर्माद च धार्मिक दु सोच्छेद्य (भवति) ॥ २९ ॥

अभियुक्तस्य = शत्रुणा आक्रान्तस्य । धार्मिकस्य = धर्मपरायणस्य नृपस्य । सर्वं एव = सम्पूर्णलोकवर्ग. । प्रजानुरागात् = प्रजाप्रेम्ण । धर्मात् = धर्मावलम्बनाद । दु खोच्छेद्य = काठिन्येन विनाश्य ॥ २६ ॥

धार्मिक राजा पर जब शत्रु चढाई करता है तो मन्त्री, सेना और प्रजा आदि सभी उसके लिये जान देकर लडते हैं। इसलिए प्रजाप्रेम तथा धर्म का पालन करने के कारण धार्मिक राजा को जीतना अत्यन्त कठिन होता है ॥ २९ ॥

'सन्धिः कार्योऽप्यनार्येण विनाशे समुपस्थिते ।
विना तस्याऽऽश्रयेणाऽऽर्यो न कुर्यात्कालयापनम्' ॥ ३० ॥

अन्वयः—विनाशे समुपस्थिते अनार्येण सन्धि कार्यं तस्य आश्रयेण विना आर्यं कालयापनम् न कुर्याद ॥ ३० ॥

विनाशे = राज्यकोशादिनाशे । समुपस्थिते = आगते सति, अनार्येणापि=नीचेन सहापि । तस्य = अनार्यस्य । आश्रयेण = अवलम्बनेन, सन्धानेन इत्यर्थं । कालयापनम् =समयातिक्रमणम् ॥ ३० ॥

अपना विनाश आया हुआ देख कर दुष्ट राजा के साथ भी सन्धि कर लेनी चाहिए क्योंकि उसका सहारा लिये बिना भी अपना समय नहीं बिता सकता है ॥ ३० ॥

'संहतत्वाद्यथा वेणुर्निबिडै कण्टकैर्वृतः ।
न शक्यते समुच्छेत्तु भ्रातृसङ्घातवांस्तथा' ॥ ३१ ॥

अन्वयः—निबिडै कण्टकै वृत. वेणु संहतत्वाद यथा समुच्छेत्तु न शक्यते तथा भ्रातृसंघातवान् (अपि) ॥ ३१ ॥

निबिडै = घनैं । कण्टकै = ग्रन्थकण्टकै । वृत = आच्छादित । वेणु =वंश । संहतत्वाद = मिलितत्वाद । समुच्छेत्तुम् = समुद्धर्तुम्, न शक्यते = न पार्यते ॥३१॥

घने कॉंटों से घिरा हुआ तथा एक में एक गुथा हुआ बॉंस जिस प्रकार नहीं काटा जा सकता उसी प्रकार भाइयों का समूह रखने वाला राजा भी शीघ्र ही नहीं विनष्ट किया जा सकता है ॥ ३१ ॥

'बलिना सह योद्धव्य' मिति नास्ति निदर्शनम् ।
प्रतिवात न हि घन' कदाचिदुपसर्पति' ॥ ३२ ॥

अन्वय —बलिना सह योद्धव्यम् इति निदर्शनम् नास्ति हि घन कदाचिद प्रतिवातम् न उपसर्पति ॥ ३२ ॥

बलिना सह = सपराक्रमेण सार्द्धम् । योद्धव्यम् = युद्धम् करणीयम् । निदर्शनम् = दृष्टान्त । घन = पयोद । प्रतिघातम् = विपरीत वायुम्प्रति । न उपगच्छति = न उपधावति ॥ ३२ ॥

ऐसा दृष्टान्त कहीं भी नहीं मिलता है कि बली के साथ युद्ध करना उचित है। क्योंकि बादल भी वायु के प्रतिकूल चढाई नहीं करता है ॥ ३२ ॥

'जमदग्ने. सुतस्येव सर्वं सर्वत्र सर्वदा ।
अनेकयुद्धजयिन प्रतापादेव भज्यते' ॥ ३३ ॥

अन्वय —जनदग्ने सुतस्येव अनेकयुद्धजयिन प्रतापात् एव सर्वत्र सर्वदा सर्वं भज्यते ॥ ३३ ॥

जमदग्ने = भृगुवंशोद्भूतस्य महर्षे । सुतस्य = पुत्रस्य, परशुरामस्येत्यर्थ । प्रतापादेव = प्रभावादेव । सर्वत्र = सर्वस्थाने । सर्वदा = सर्वकाले । सर्वं = समस्तरिपुवर्गं । भज्यते = समराद् पलायते ॥ ३३ ॥

जमदग्नि के पुत्र परशुराम के समान अनेक युद्धों में विजय प्राप्त करने वाले राजा के प्रताप से ही सभी स्थान पर और सभी समय सारे शत्रु वश में हो जाते हैं ॥ ३३ ॥

'अनेकयुद्धविजयी सन्धान यस्य गच्छति ।
तत्प्रतापेन तस्याऽऽशु वशमायान्ति शत्रव ' ॥ ३४ ॥

अन्वय'—अनेकयुद्धविजयी यस्य सन्धान गच्छति तत्प्रतापेन तस्य शत्रव आशु वशमायान्ति ॥ ३४ ॥

अनेकयुद्धविजयी = बहुसमरविजेता नृप । यस्य = राज्ञ । सन्धान गच्छति = सन्धिमायाति । तत्प्रतापेन = विजयप्रभावेण । तस्य, रिपव = शत्रव आशु = शीघ्रम् । वशम् = अधीनत्वम्, आयान्ति = प्राप्नुवन्ति ॥ ३४ ॥

अनेक युद्धों में जीतने वाले राजा के साथ सन्धि करने वाला राजा भी उसी के प्रताप से शीघ्र ही अपने शत्रुओं को वश में कर लेता है ॥ ३४ ॥

तत्र तावद्बहुभिर्गुणैरुपेत सन्धेयोऽय राजा ।' चक्रवाकोऽवदत्—'प्रणिधे ! सर्वमवगतम् । व्रज । पुनरागमिष्यसि' ।

अथ राजा हिरण्यगर्भश्चक्रवाक पृष्ठवान्— 'मन्त्रिन् ! असन्धेया कति ? ताञ्छ्रोतुमिच्छामि ।' मन्त्री ब्रूते—'देव ! कथयामि । शृणु—

बालो, वृद्धो, दीर्घरोगो, तथा ज्ञातिबहिष्कृत ।
भीरुको, भीरुकजनो, लुब्धो, लुब्धजनस्तथा ॥ ३५ ॥

अन्वय —अभियुक्तस्य धार्मिकस्य सर्वं एव हि युध्यते (अत) प्रजानुरागात धर्मात् च धार्मिक दु खोच्छेद्य (भवति) ॥ २९ ॥

अभियुक्तस्य = शत्रुणा आक्रान्तस्य । धार्मिकस्य = धर्मपरायणस्य नृपस्य । सर्वं एव = सम्पूर्णलोकवर्ग । प्रजानुरागात् = प्रजाप्रेम्ण । धर्मात् = धर्मावलम्बनात् । दु खोच्छेद्य = काठिन्येन विनाश्य ॥ २६ ॥

धार्मिक राजा पर जब शत्रु चढाई करता है तो मन्त्री, सेना और प्रजा आदि सभी उसके लिये जान देकर लडते हैं । इसलिए प्रजाप्रेम तथा धर्म का पालन करने के कारण धार्मिक राजा को जीतना अत्यन्त कठिन होता है ॥ २९ ॥

'सन्धिः कार्योऽप्यनार्येण विनाशे समुपस्थिते ।
विना तस्याऽऽश्रयेणाऽर्यो न कुर्यात्कालयापनम्' ॥ ३० ॥

अन्वय'—विनाशे समुपस्थिते अनार्येण सन्धि कार्यं तस्य आश्रयेण विना आर्य कालयापनम् न कुर्यात् ॥ ३० ॥

विनाशे = राज्यकोशादिनाशे । समुपस्थिते = आगते सति, अनार्येणापि=नीचेन सहापि । तस्य = अनार्यस्य । आश्रयेण = अवलम्बनेन, सन्धानेन इत्यर्थं । कालयापनम् = समयातिक्रमणम् ॥ ३० ॥

अपना विनाश आया हुआ देख कर दुष्ट राजा के साथ भी सन्धि कर लेनी चाहिए क्योंकि उसका सहारा लिये विना भी अपना समय नहीं बिता सकता है ॥ ३० ॥

'सहतत्वाद्यथा वेणुर्निविडैः कण्टकैर्वृतः ।
न शक्यते समुच्छेत्तु भ्रातृसङ्घातवांस्तथा' ॥ ३१ ॥

अन्वयः—निबिडे कण्टके वृत. वेणु सहतत्वात् यथा समुच्छेत्तु न शक्यते तथा भातृसघातवान् (अपि) ॥ ३१ ॥

निविडै = घने । कण्टकै = ग्रन्थकण्टकै । वृत = आच्छादित । वेणु =वश । सहतत्वात् = मिलितत्वात् । समुच्छेत्तुम् = समुद्धर्तुम्, न शक्यते = न पार्यते ॥३१॥

घने काँटों से घिरा हुआ तथा एक में एक गुथा हुआ बाँस जिस प्रकार नहीं काटा जा सकता उसी प्रकार भाइयों का समूह रखने वाला राजा भी शीघ्र ही नहीं विनष्ट किया जा सकता है ॥ ३१ ॥

'बलिना सह योद्धव्य' मिति नास्ति निदर्शनम् ।
प्रतिवात न हि घन' कदाचिदुपसर्पति' ॥ ३२ ॥

अन्वय —बलिना सह योद्धव्यम् इति निदर्शनम् नास्ति हि घन कदाचित् प्रतिवातम् न उपसर्पति ॥ ३२ ॥

बलिना सह = सपराक्रमेण सार्द्धम् । योद्धव्यम् = युद्धम् करणीयम् । निदर्शनम्= दृष्टान्त । घन = पयोद । प्रतिवातम् = विपरीत वायुम्प्रति । न उपगच्छति = न उपधावति ॥ ३२ ॥

ऐसा दृष्टान्त कहीं भी नही मिलता है कि बली के साथ युद्ध करना उचित है। क्योंकि बादल भी वायु के प्रतिकूल चढाई नही करता है ॥ ३२ ॥

'जमदग्ने' सुतस्येव सर्व सर्वत्र सर्वदा ।
अनेकयुद्धजयिन प्रतापादेव भज्यते' ॥ ३३ ॥

अन्वय —जमदग्ने सुतस्येव अनेकयुद्धजयिन प्रतापात् एव सर्वत्र सर्वदा सर्वं भज्यते ॥ ३३ ॥

जमदग्ने = भृगुवशोद्भूतस्य महर्षे । सुतस्य = पुत्रस्य, परशुरामस्येत्यर्थः । प्रतापादेव = प्रभावादेव । सर्वत्र = सर्वस्थाने । सर्वदा = सर्वकाले । सर्व = समस्तरिपुवर्ग । भज्यते = समरात् पलायते ॥ ३३ ॥

जमदग्नि के पुत्र परशुराम के समान अनेक युद्धों में विजय प्राप्त करने वाले राजा के प्रताप से ही सभी स्थान पर और सभी समय सारे शत्रु वश में हो जाते हैं ॥ ३३ ॥

'अनेकयुद्धविजयी सन्धान यस्य गच्छति ।
तत्प्रतापेन तस्याऽऽशु वशमायान्ति शत्रव ' ॥ ३४ ॥

अन्वय —अनेकयुद्धविजयी यस्य सन्धान गच्छति तत्प्रतापेन तस्य शत्रव आशु वशमायान्ति ॥ ३४ ॥

अनेकयुद्धविजयी = बहुसमरविजेता नृप । यस्य = राज्ञ । सन्धान गच्छति = सन्धिमायाति । तत्प्रतापेन = विजयप्रभावेण । तस्य, रिपव =शत्रव आशु=शीघ्रम् । वशम् = अधीनत्वम्, आयान्ति = प्राप्नुवन्ति ॥ ३४ ॥

अनेक युद्धों में जीतने वाले राजा के साथ सन्धि करने वाला राजा भी उसी के प्रताप से शीघ्र ही अपने शत्रुओं को वश में कर लेता है ॥ ३४ ॥

तत्र तावद्बहुभिर्गुणैरुपेत सन्धेयोऽस्य राजा ।' चक्रवाकोऽवदत्— 'प्रणिधे ! सर्वमवगतम् । व्रज । पुनरागमिष्यसि' ।

अथ राजा हिरण्यगर्भश्चक्रवाक पृष्ठवान्— 'मन्त्रिन् ! असन्धेया कति ? ताञ्छ्रोतुमिच्छामि ।' मन्त्री ब्रूते—'देव ! कथयामि । शृणु—

बालो, वृद्धो, दीर्घरोगो, तथा ज्ञातिबहिष्कृत ।
भीरुको, भीरुकजनो, लुब्धो, लुब्धजनस्तथा ॥ ३५ ॥

विरक्तप्रकृतिश्चैव, विषयेष्वतिसक्तिमान् ।
अनेकचित्तमन्त्रस्तु, देव-ब्राह्मण-निन्दक ॥ ३६ ॥
दैवोपहतकश्चैव, तथा दैवपरायण ।
दुर्भिक्षव्यसनोपेतो, वलव्यसनसङ्कुल ॥ ३७ ॥
अदेशस्थो, वहुरिपुर्युक्त कालेन यश्च न ।
सत्यधर्मव्यपेतश्च, विंशति पुरुषा अमी ॥ ३८ ॥

वहुभिर्गुणैरुपेन = अनेकगुणयुक्त । अयम् राजा = राजहस । सर्वमवगतम् = सर्वम् ज्ञातम् । असन्धेया = सन्धयोग्या ।

अन्वय —वाल अमी विंशति (असधेया भवन्ति) ॥ ३५–३८ ॥

य वाल = शिशु । दीर्घरोगी = वहुकालरोगी । ज्ञातिवहिष्कृत = सम्बन्धिना परित्यक्त । भीरुक = कातर । भीरुकजन = कातरसैन्य । लुब्ध = लोभी । लुब्धजन = लुब्धानुचरवर्ग । विरक्तप्रकृति = अननुरक्तप्रजाजन । विषयेषु = इन्द्रियार्थेषु । अतिसक्तिमान् = आसक्तचित्त । अनेकचित्तमन्त्र = चचलचित्तमन्त्रियुक्त । देवब्राह्मणनिन्दक = सुरविप्रगर्हक । दैवोपहत = दुर्भाग्योपहत । दैवपरायण = भाग्याधीन , दुर्भिक्षव्यसनोपेत = दुष्कालापदुपहत । वलव्यसनसङ्कुल = सैन्यापत्समयुत । अदेशस्थ = परदेशे स्थित । वहुरिपु = अनेकशत्रु । कालेन = समयेन । न युक्त = नोपेत मत्यधर्मव्यपेत = सत्येन, धर्मेण च हीन ॥ ३५–३८ ॥

इस लिए बहुत गुणों से युक्त यह राजहस राजा सधि करने के योग्य है । चकवे ने कहा—'गुप्तचर, मुझे सब मालूम हो गया । जाओ । फिर आना ।' तब राजा राजहस ने चक्रवाक से पूछा—'मन्त्रिवर, कितने प्रकार के राजा सधि करने योग्य नहीं होते, मैं उन्हें सुनना चाहता हूँ ।' मन्त्री ने कहा—राजन् , कह रहा हूँ, सुनिए—

बालक, बूढ़ा, रोगी, जाति से निकाला गया, कायर, कायर सैनिकों वाला, लालची, लालची सैनिकों अथवा सेवकों वाला, जिसके मन्त्री सेवक आदि उससे उदासीन हों, जो अत्यन्त विषयी हो, जो चचल हृदय तथा राय वाला हो, देव ब्राह्मण की निन्दा करने वाला, भाग्य का मारा हुआ, भाग्य के अधीन रहने वाला, दुर्भिक्ष की विपत्ति में पड़ा हुआ, सैनिक विपत्ति में फँसा हुआ, बुरे स्थान में स्थित, बहुत शत्रुओं वाला, समयानुसार कार्य न करने वाला, सच्चे धर्म से रहित—ये बीस प्रकार के राजा सधि करने योग्य नहीं होते हैं ॥ ३५–३८ ॥

एतै सन्धि न कुर्वीत, विगृह्णीयात्तु केवलम्' ।
एते विगृह्यमाणा हि क्षिप्र यान्ति रिपोर्वशम्' ॥ ३९ ॥

अन्वय —एते सन्धिम् न कुर्वीत केवलम विगृह्णीयात् यत एते विगृह्यमाणा क्षिप्रम् रिपोर्वशम् यान्ति ॥ ३९ ॥

एते =पूर्वोक्ते विश-र्यें पुरुषे । विगृह्णीयात्=युद्धमेव कुर्यात् । विगृह्य-माणा =युध्यमाना । क्षिप्रम्=त्वरितम् । रिपो =शत्रो । वशम् यान्ति = अधीना भवन्ति ॥ ३९ ॥

इनसे सधि न करके केवल युद्ध ही करना चाहिए क्योंकि यह बीसों प्रकार के राजा युद्ध करने से शीघ्र ही शत्रु के वश में हो जाते हैं ॥ ३९ ॥

बालस्याऽल्पप्रभावत्वान्न लोको योद्धुमिच्छति ।
युद्धाऽयुद्धफल यस्माज्ज्ञातु शक्तो न बालिश ' ॥ ४० ॥

अन्वय —लोक अल्पप्रभावत्वात् बालस्य योद्धुम् न इच्छति । यस्मात् बालिश युद्धायुद्धफलम् ज्ञातु न शक्त ॥ ४० ॥

लोक =जन । अल्पप्रभावत्वात् = स्वल्पप्रतापत्वात् । बालस्य = शिशुनृपते । योद्धु नेच्छन्ति = विग्रह कर्तुं न वाञ्छन्ति । यस्मात् = यत , बालिश =बालक , मूर्खश्च । युद्धायुद्धफलम् = विग्रहाविग्रहपरिणामम् । ज्ञातुम् न शक्त = ज्ञातुमसमर्थ भवति ॥ ४० ॥

राजा यदि बालक होता है तो उसमें तेज का अभाव होने से मन्त्री, सैनिक तथा प्रजा आदि पर उसका प्रभाव बहुत कम पड़ता है जिससे ये सभी लोग उसके लिए ठीक से युद्ध नहीं करते हैं और युद्ध तथा अयुद्ध का परिणाम जानने की शक्ति भी बालक अथवा मूर्ख में नहीं होती है ॥ ४० ॥

'उत्साहशक्तिहीनत्वाद्वृद्धो, दीर्घाऽऽमयस्तथा ।
स्वैरेव परिभूयेते द्वावप्येतावसशयम्' ॥ ४१ ॥

अन्वय'—वृद्ध तथा दीर्घामय उत्साहशक्तिहीनत्वात् द्वौ अपि एतौ असशयम् स्वैरेव परिभूयेते ॥ ४१ ॥

वृद्ध =स्थविर । तथा दीर्घामय =दीर्घरोगी । उत्साहशक्तिहीनत्वात्=सामर्थ्यो-त्साहरहितत्वात् । असशयम् = निस्सन्देहम् । स्वैरेव = आत्मीयैरेव । परिभूयेते = तिरस्क्रियेते ॥ ४१ ॥

वृद्ध तथा बहुत दिनों से रोगी राजा उत्साह और शक्ति से रहित होते हैं । अत यह दोनों ही अपने आप पराजित हो जाते हैं, इसमें कोई भी सन्देह नहीं है' ॥ ४१ ॥

'सुखोच्छेद्यो हि भवति सर्व-ज्ञाति-बहिष्कृत ।
त एवंन विनिघ्नन्ति ज्ञातयस्त्वात्मसात्कृता' ॥ ४२ ॥

अन्वय —स्वज्ञातिबहिष्कृत सुखच्छेद्य भवति। आत्मसात्कृता ज्ञातय तु ते एव एनम् विनिघ्नन्ति ॥ ४२ ॥

स्वज्ञातिबहिष्कृत = स्वसजातीयै निष्कासित सुखोच्छेद्य = सारल्येनोन्मूलनीय । आत्मसात्कृता = स्वपक्षे नीता । ज्ञातय = सजातीया, तु ते एव = ज्ञातिलोका । एवम् = जातिबहिष्कृतम् । विनिघ्नन्ति = विनाशयन्ति ॥ ४२ ॥

अपनी जातिवालों (भाई-बन्धुओं) से निकाला गया राजा आसानी से नष्ट किया जा सकता है। क्योंकि अपने पक्ष में किए गये उसके भाई-बन्धु ही उसे मार डालते हैं ॥ ४२ ॥

'भीरुर्युद्धपरित्यागात्स्वयमेव प्रणश्यति ।
तथैव भीरुपुरुष. सग्रामे तैर्विमुच्यते' ॥ ४३ ॥

अन्वय —भीरु युद्धपरित्यागात् स्वयमेव प्रणश्यति तथैव भीरुपुरुष सग्रामे तैं विमुच्यते ॥ ४३ ॥

भीरु = कापुरुष । युद्धपरित्यागात् = युद्धस्य परिहारात् । प्रणश्यति = विनश्यति । भीरुपुरुष = कातरसैनिक युद्धत्यागात्, स्वयमेव—आत्मना, नृप । ते = भीरुभि सैनिकै । सग्रामे = युद्धे । विमुच्यते = परित्यज्यते ॥ ४३ ॥

कायर युद्ध छोड कर भागने से अपने आप मारा जाता है और यदि राजा के सैनिक-मन्त्री आदि कायर हुए तो वे सभी राजा को युद्ध में छोड कर भाग जाते हैं ॥ ४३ ॥

'लुब्धस्याऽसविभागित्वान्न युध्यन्तेऽनुजीविन. ।
लुब्धाऽनुजीवी तैरेव दानभिन्नैर्निहन्यते' ॥ ४४ ॥

अन्वय —असविभागित्वात् अनुजीविन लुब्धस्य न युध्यन्ते । लुब्धानुजीवी दानभिन्नै ते एव निहन्यते ॥ ४४ ॥

असविभागित्वात् = उचिताशादानात् । अनुजीविन = सैनिका । लुब्धस्य = लोभपरायणस्य नृपस्य । लुब्धानुजीवी = लोलुपसैनिक नृप । दानभिन्नै = शत्रुभि दत्तै: द्रव्यैः तत्पक्षे स्थितै । ते = लुब्धसेवकै । निहन्यते = व्यापाद्यते ॥ ४४ ॥

लोभी राजा अपने कर्मचारियों को उचित रूप से उनका हिस्सा न देकर स्वय हडप लेता है जिससे उसके कर्मचारी उसके लिए मन से युद्ध नहीं करते हैं। और जिस राजा के कर्मचारी लालची होते हैं वे सभी शत्रु के घूस देने पर फूट जाते तथा राजा को मार डालते हैं ॥ ४४ ॥

'सन्त्यज्यते प्रकृतिभिर्विरक्तप्रकृतिर्युधि ।
सुखाऽभियोज्यो भवति विषयेष्वतिसक्तिमान्' ॥ ४५ ॥

अन्वय —विरक्तप्रकृति युधि प्रकृतिभि सन्त्यज्यते । विषयेषु अतिसक्तिमान् सुखोभियोज्य भवति ॥ ४५ ॥

विरक्तप्रकृति = उदासीनप्रज , विरक्ता उदासीना प्रकृतय यस्य स नृप । युधि = सग्रामे । प्रकृतिभि = प्रजाभि अमात्यादिभिश्च । सत्यज्यते=विमुच्यते । विषयेषु = इन्द्रियार्थेषु । अतिसक्तिमान् = अत्यासक्त । सुखाभियोज्य = अनायासवश्य भवति ॥ ४५ ॥

जिस राजा के मन्त्री-कर्मचारी आदि उससे प्रेम नहीं करते वे सभी युद्ध में राजा का साथ छोड़ देते हैं और जो राजा विषय-वासनाओं में लिपटा हुआ होता है वह आसानी से पराजित किया जा सकता है ॥ ४५ ॥

'अनेकचित्तमन्त्रस्तु द्वेष्यो भवति मन्त्रिणाम् ।
अनवस्थितचित्तत्वात्कार्यतः स उपेक्ष्यते' ॥ ४६ ॥

अन्वय —अनेकचित्तमन्त्रस्तु मन्त्रिणाम् द्वेष्य भेद्य भवति अनवस्थितचित्तत्वात् कार्यत स उपेक्ष्यते ॥ ४६ ॥

अनेकचित्तमन्त्रस्तु = मन्त्रणायाम् चचलस्वभाव , मन्त्रापरायण । मन्त्रिणाम् = अमात्यानाम् । द्वेष्य = द्वेषार्ह: भवति । अनवस्थितचित्तत्वात् = चचलहृदयत्वात् । कार्यत =कार्यकाले, विग्रहे उपस्थिते सति । स:=नृप । उपेक्ष्यते=उपेक्षितो भवति ॥४६॥

जिस राजा का चित्त चचल और राय अनिश्चित होती है, वह राजा अपने मन्त्रियों द्वारा ही शत्रु समझा जाता है और चचल चित्त होने के कारण लोग कार्य के समय उसकी उपेक्षा करने लगते हैं ॥ ४६ ॥

'सदाऽधर्मबलीयस्त्वाद्देव-ब्राह्मण-निन्दक ।
विशीर्यते स्वय ह्येष', 'दैवोपहतकस्तथा' ॥ ४७ ॥

अन्वय —देवब्राह्मणनिन्दक, सदा अधर्मबलीयस्त्वात् हि एष दैवोपहतक स्वयम् विशीर्यते ॥ ४७ ॥

देवब्राह्मणनिन्दक = देवताद्विजविनिन्दक । सदा=सर्वदैव । अधर्मबलीयस्त्वात्= पापस्य बलवत्त्वात् । दैवोपहतक = भाग्यापहत । स्वय विशीर्यते = आत्मनैव नश्यति ॥ ४७ ॥

सदा अधर्म बली होने से देवता और ब्राह्मण की निन्दा करने वाला अधर्म—बल से युक्त होने के कारण तथा भाग्य का मारा हुआ राजा अपने आप नष्ट हो जाता है ॥ ४७ ॥

'सम्पत्तेश्च, विपत्तेश्च दैवमेव हि कारणम् ।
इति दैवपरो ध्यायन्नात्मना न विचेष्टते' ॥ ४८ ॥

अन्वयः—दैवपर सम्पत्ते. विपत्तेश्च दैवमेव हि कारणम् इति ध्यायन् आत्मना न विचेष्टते ॥ ४८ ॥

दैवपर = भाग्यवादी । दैवमेव = भाग्यमेव । हि=निश्चयेन, का.रणम्=हेतु । इति ध्यायन् = एव चिन्तयन् । न विचेष्टते = कर्तव्यकर्मणि न यतते ॥ ४८ ॥

'सम्पत्ति और विपत्ति का देने वाला केवल भाग्य होता है' इस प्रकार भाग्य के अधीन रहने वाला राजा स्वय ठीक ठीक प्रयत्न नहीं करता है अत वह भी नष्ट हो जाता है ॥ ४८ ॥

'दुर्भिक्षव्यसनी चैव स्वयमेव विषीदति ।
बलव्यसनसक्तस्य योद्धु शक्तिर्न जायते' ॥ ४९ ॥

अन्वय —दुर्भिक्षव्यसनी च न जायते ॥ ४९ ॥

दुर्भिक्षव्यसनी = दुर्भिक्षरूपापदाग्रस्त । चैव स्वयमेव = आत्मनैव । विषीदति= व्याकुलो भवति । बलव्यसनसक्तस्य = सैन्यापदाग्रस्तस्य । योद्धु = विग्रहीतुम् । शक्ति = सामर्थ्यम् । न जायते = नोद्भवति ॥ ४९ ॥

अकाल की विपत्ति में पड़ा हुआ राजा स्वयम् दुखी होता है और सैनिक विपत्ति में पड़े हुए राजा में युद्ध करने की शक्ति ही नहीं होती है ॥ ४९ ॥

'अदेशस्थो हि रिपुणा स्वल्पकेनाऽपि हन्यते ।
ग्राहोऽल्पीयानपि जले गजेन्द्रमवकर्षति' ॥ ५० ॥

अन्वयः—अदेशस्थ हि स्वल्पकेनापि रिपुणा हन्यते, अल्पीयान् अपि ग्राह जले गजेन्द्रम् अवकर्षति ॥ ५० ॥

अदेशस्थ = अनुचितप्रदेशस्थ । हि=निश्चयेन स्वल्पकेन=तुच्छबलेन सामान्येन । रिपुणा = शत्रुणा । हन्यते = विनाश्यते । अल्पीयान् = अल्पकाय अपि । ग्राह = मकर । गजेन्द्रम् = बृहत्काय गजम् अपि । अवकर्षति = अपकर्षति ॥ ५० ॥

बुरे स्थान में पड़ा हुआ राजा छोटे शत्रुओं द्वारा भी आसानी से मारा जाता है जैसे जल में पड़े हुए हाथी को छोटा सा मगर मार डालता है ॥ ५० ॥

'बहुशत्रुस्तु सन्त्रस्त श्येनमध्ये कपोतवत् ।
येनैव गच्छति पथा तेनैवाऽऽशु विपद्यते' ॥ ५१ ॥

अन्वय —श्येनमध्ये कपोतवत् सन्त्रस्त बहुशत्रु येनैव पथा गच्छति तेनैव आशु विपद्यते ॥ ५१ ॥

श्येनमध्ये = पक्षिमध्ये (बाजो के बीच मे)। कपोतवत् = पारावतसदृश । बहुशत्रु = बहुरिपु नृप । सन्त्रस्त = शत्रुणा भीत सन्। येनैव पथा = येनैव मार्गेण । आशु = शीघ्रम् । विपद्यते = विपत्तिमाप्नोति ॥ ५१ ॥

बहुत शत्रुओं वाला राजा बाज के बीच में पड़े हुए कबूतर के समान पीड़ित रहता है और जिस मार्ग से जाता है उसी मार्ग में शीघ्र ही मारा जाता है ॥ ५१ ॥

'अकालयुक्तसैन्यस्तु हन्यते कालयोधिना ।
कौशिकेन हतज्योतिर्निशीथ इव वायस' ॥ ५२ ॥

अन्वय.—निशीथे कौशिकेन हतज्योतिः वायस इव कालयोधिना अकालयुक्त-सैन्यस्तु हन्यते ॥ ५२ ॥

निशीथे = अर्द्धरात्रे । हतज्योति = नष्टनेत्रद्युतिः । वायस = काकः । इव = यथा । कौशिकेन = उलूकेन । कालयोधिना = अनुकूलावसरे युद्धकारकेण शत्रुणा । अकालयुक्तसैन्य = असमये सैन्यसचालक नृप । हन्यते = मार्यते ॥ ५२ ॥

जो राजा अवसर का ध्यान रखे बिना दूसरे राजा पर चढाई कर देता है वह समयानुसार युद्ध करने वाले राजा से उसी प्रकार मारा जाता है जैसे आधी रात के समय दिखाई न देने के कारण कौवा उल्लू द्वारा मारा जाता है ॥ ५२ ॥

'सत्यधर्मव्यपेतेन सन्दध्यान्न कदाचन ।
स सन्धितोऽप्यसाधुत्वादचिराद्याति विक्रियाम्' ॥ ५३ ॥

अन्वय —सत्यधर्मव्यपेतेन कदाचन न सन्दध्यात् स सन्धित अपि असाधुत्वाद् अचिरात् विक्रियाम् याति ॥ ५३ ॥

सत्यधर्मव्यपेतेन=सत्यधर्मरहितेन, न सन्दध्यात् = सन्धि न कुर्वीत । सन्धित = सन्धिना युक्त अपि । असाधुत्वाद = दुष्टप्रकृतित्वाद् । विक्रियाम् = विकारम्, निरोधम् । याति = प्राप्नोति ॥ ५३ ॥

सत्य तथा धर्म से हीन राजा के साथ कभी भी सधि नहीं करनी चाहिए क्योंकि वह सधि करने पर भी दुष्टता के कारण शीघ्र ही बिगड़ जाता है अर्थात् सधि के नियमों का पालन करना छोड़ देता है ॥ ५३ ॥

अपरमपि कथयामि—सन्धि–विग्रह–यानासन–संश्रय–द्वैधीभावा षाड्गुण्यम् । कर्मणामारम्भोपायः, पुरुष-द्रव्य-सम्पत्, देश-कालविभाग, विनिपातप्रतीकार, कार्यसिद्धिश्च (इति) पञ्चाङ्गो मन्त्र.। साम-दान-भेद-दण्डाश्चत्वार उपायाः । उत्साहशक्तिः, मन्त्र-

शक्ति प्रभुशक्तिश्चेति शक्तित्रयम् । एतत्सर्वमालोच्य नित्य विजिगीषवो भवन्ति महान्त । यतः—

सन्धि =सन्धानम् । विग्रह. = युद्धम् । यानम् =रिपुम् प्रति अभियानम् (चढाई) । आसनम् = दुर्गादौ स्थित्वा उचितावसरस्य प्रतीक्षणम् । सश्रय = बलवदाश्रयणम् । द्वैधीभाव = द्विधा व्यवहार । कर्मणाम् = कार्याणाम् । आरम्भोपाय = प्रारम्भस्य प्रयत्न । पुरुषद्रव्यसम्पत् = पुरुषाणाम् सैन्यादीनाम् सहायकानाम्, द्रव्यस्य = धनधान्यादेश्च, सम्पत् = समृद्धि । देशकालविभाग. = देशकाल-(कुत्र कदा च) भेदेन कर्तव्यनिश्चय । विनिपातप्रतीकार = विपत्ते प्रतीकार । विजगीषव = विजयाभिलाषुका ॥

और भी कह रहा हूँ—'सधि, युद्ध, चढाई, समय की प्रतीक्षा, अपने से बडी का आश्रय लेना तथा दोरगी नीति ग्रहण करना—ये राजनीति के छ गुण होते हैं । कार्यों के आरम्भ करने का उपाय, सहायक व्यक्तियों तथा उचित द्रव्य का सग्रह, देश-काल का उचित विभाग, आई हुई विपत्तियों के दूर करने का उपाय और कार्य की सिद्धि—यह पाँच मन्त्रणा के अग होते हैं । साम, दाम, दण्ड और भेद—ये चार शत्रु को वश में करने के उपाय होते हैं । उत्साह, मन्त्रणा तथा प्रभुत्व यह राज्य की तीन शक्तियाँ होती हैं । महान लोग इन सभी बातों का विचार करके ही शत्रु को जीतने की अभिलाषा करते हैं । क्योंकि—

'या हि प्राणपरित्यागमूल्येनाऽपि न लभ्यते ।
सा श्रीर्नीतिविद पश्य चञ्चलाऽपि प्रधावति' ॥ ५४ ॥

अन्वय —या (श्री) प्राणपरित्यागमूल्येनापि न लभ्यते सा श्री चञ्चलापि नीतिविद प्रधावति इति पश्य ॥ ५४ ॥

या श्री = या लक्ष्मी । प्राणपरित्यागमूल्येनापि=युद्धे जीवितदानेनापि । नीतिविदम् = नीतिज्ञम् । चचलापि = चचलस्वभावापि । प्रधावति = स्वयमेवागच्छति । इति पश्य = अवलोकय ॥ ५४ ॥

जो लक्ष्मी प्राणत्यागरूपी मूल्य चुकाने पर भी नहीं प्राप्त होती है वही लक्ष्मी नीतिमान राजा के पास अपने आप दौडी हुई जाती हैं ॥ ५४ ॥

तथा चोक्तम्—

'वित्तं सदा यस्य समं विभक्त,
गूढश्चर, सनिभृतश्च मन्त्रः ।
न चाऽप्रियं प्राणिषु यो ब्रवीति,
स सागरान्तां पृथिवीं प्रशास्ति' ॥ ५५ ॥

अन्वय —यस्य वित्त सदा सम विभक्तम्, चर गूढ मन्त्रश्च मनिभृत, य प्राणिपु अप्रिय न ब्रवीति स सागरान्ता पृथिवी प्रशास्ति ॥ ५५ ॥

यस्य = राज्ञः । वित्तम् = धनम् । सम विभक्तम्=सेवकेपु तुल्यभावेन विभक्तम् । चर = गुप्तचर । सर्वदा गूढ = सर्वदैव अत्यतगोप्यभावेन विचरति । मन्त्रश्च मनिभृत = यस्य मत्रणाविषय अतिसुगुप्त. । य प्राणिपु = समस्तप्रजासु । अप्रिय न ब्रवीति = प्रियवाग्भवति । स समुद्रान्ताम् = आसमुद्राम् । पृथ्वी शास्ति = चक्रवर्ती नृप भवति ॥ ५५ ॥

जो राजा अपनी सम्पत्ति को अपने सेवकों में समान रूप से बाँट देता है, जिसके गुप्तचर तथा मत्रणाएँ अत्यन्त गुप्त होती हैं और जो कभी किसी से कटुभाषण नहीं करता वह समुद्र-पर्यन्त पृथ्वी का शासन करता है ॥ ५५ ॥

किन्तु देव ! यद्यपि महामन्त्रिणा गृध्रेण सन्धानमुपन्यस्त, तथापि तेन राज्ञा सम्प्रति भूतजयदर्पान्न मन्तव्यम् । (देव !) तदेव क्रियता—सिंहलद्वीपस्य महाबलो नाम सारसो राजाऽस्मन्मित्र जम्बुद्वीपे कोप जनयतु । यत —

महामंत्रिणा = मयूरस्य चित्रवर्णस्य प्रधानमन्त्रिणा । सन्धानम् = सन्धिम् । उपन्यस्तम् = राज्ञ सम्मुखे उपस्थापितम् । सम्प्रति = इदानीम् । भूतजयदर्पात् = पूर्वं प्राप्तविजयाभिमानात् । न मन्तव्यम् = न स्वीकरिष्यति । कोपम् = क्रोधम् । जनयतु = उत्पादयतु ॥

किन्तु राजन्, यद्यपि महामत्री गृध्र ने सन्धि का प्रस्ताव उपस्थित किया किन्तु इस समय राजा चित्रवर्ण प्राप्तविजय के अभिमान से उसे स्वीकार नहीं कर रहा है इसलिए ऐसा कीजिये—सिंहल द्वीप का राजा महाबली सारस, जो हम लोगों का मित्र है, उसे जम्बूद्वीप के प्रति क्रुद्ध करा दीजिए ।

'सुगुप्तिमाधाय, सुसहतेन
बलेन वीरो विचरन्नरातिम् ।
सन्तापयेद् येन सम सुतप्त-
स्तप्तेन सन्धानमुपैति तप्त.' ॥ ५६ ॥

अन्वय —वीर सुगुप्तिमाधाय सुसहतेन बलेन विचरन् अरातिम् सन्तापयेद् येन स सम सुतप्त भवेत् हि तप्तेन तप्त सन्धानम् उपैति ॥ ५६ ॥

वीर = बलवान् नृप । सुगुप्तिमाधाय = अत्यंतप्रच्छन्नभाव विधाय । सुसंहतेन = परस्परमनुरक्तेन सुसंगठितेनेत्यर्थं । बलेन = सैन्येन सह । विचरन् = इतस्ततं भ्रमन् । अरातिम् = शत्रुम् । सन्तापयेत् = पीडयेत् । येन स = यस्मात्कारणात् स

शत्रु । समम् =तुल्यमेव, सतप्त =पीडित, उत्ततथ्व । तप्तेन = उत्तप्तेन, पीडितेन च सह । तप्त. = उत्तप्त, पीडित । सन्धानमुपैति = सन्धिम् प्राप्नोति ॥ ५६ ॥

क्यों के—

विजय की अभिलाषा रखनेवाले को अपनी रक्षा का दृढ उपाय करके सुसगठित सेना लेकर इधर-उधर घूमते हुए शत्रु को भलीभाँति पीडित करना चाहिए, उसे सताप पहुँचाना चाहिए, जिससे वह भी अपने ही समान सतप्त हो जाय, तभी वह सधि कर सकता है क्योंकि दो लोहे भलीभाँति गरम हो जाने पर ही आपस में मिल सकते हैं ॥ ५६ ॥

राजा 'एवमस्तु' इति निगद्य विचित्रनामा वक सुगुप्तलेख दत्त्वा सिहलद्वीप प्रहित ।

निगद्य = उक्त्वा । सुगुप्तलेखम् = गुप्तपत्रम् । प्रहित = प्रेषित ।

राजा राजहस ने कहा कि ठीक है, ऐसा ही हो । फिर उसने विचित्र नाम वाले बगुले को बुलाकर और उसे गुप्त पत्र देकर सिंहलद्वीप भेज दिया ।

अथ प्रणिधि पुनरागत्योवाच—'देव ! श्रूयता तावत्तत्रत्यप्रस्ताव: ।— एव तत्र गृध्रेणोक्त—'देव ! मेघवर्णस्तत्र चिरमुषित', स वेत्ति किं सन्धेय-गुणयुक्तो हिरण्यगर्भो राजा, न वा' ?-इति । ततोऽसौ मेघवर्णश्चित्रवर्णेन राज्ञा समाहूय पृष्ठ —'वायस ! कीदृशोऽसौ हिरण्यगर्भो राजा ? । चक्रवाको मन्त्री वा कीदृश.' ? । वायस उवाच—'देव ! स हिरण्यगर्भो राजा युधिष्ठिरसमो महाशय, सत्यवाक् । चक्रवाक-समो मन्त्री न काऽप्यव-लोक्यते ।' राजाऽऽह—'यद्येव तदा कथमसौ त्वया वञ्चित ? ।' विहस्य मेघवर्ण: प्राह देव !

प्रणिधि =प्रधानगुप्तचर । तत्रत्यप्रस्ताव =शत्रुपक्षस्य कार्यम् । तत्र = शत्रुदुर्गे । चिरमुषित. = बहुकालपर्यन्तस्थित । वेत्ति = जानाति । महाशय = उदारहृदय ।

इसके बाद गुप्तचर ने फिर आकर कहा—राजन् , शत्रुपक्ष में अब जो हो रहा है, उसे सुनिए । वहाँ मन्त्री गृध्र ने कहा कि—राजन् , मेघवर्ण तो वहाँ बहुत दिनों तक रहा है, उसे मालूम है कि राजहस संधि करने के गुणों से युक्त है या नहीं । तब राजा चित्रवर्ण ने मेघ-वर्ण को बुलाकर पूछा—'कौवे, वह राजा हिरण्यगर्भ कैसा है ? और मन्त्री चकवाक कैसा है ?' कौवे ने कहा—वह राजा हिरण्यगर्भ युधिष्ठिर के समान उदार और सत्यवादी है । चक्रवाक के समान मन्त्री तो कहीं नहीं दिखाई पड़ता । राजा चित्रवर्ण ने

कहा यदि ऐसी बात है तो तुमने उसे कैसे धोखा दिया। हँस कर कौवे ने कहा—राजन्,

'विश्वासप्रतिपन्नाना वञ्चने का विदग्धता ? ।
अङ्कमारुह्य सुप्त हि हत्वा कि नाम पौरुषम्' ॥ ५७ ॥

अन्वय:—विश्वासप्रतिपन्नानाम् वञ्चने का विदग्धता (अस्ति) हि अङ्कमारुह्य सुप्तम् हत्वा किं नाम पौरुषम् ॥ ५७ ॥

विश्वासप्रतिपन्नानाम् = विश्वासभूमिमुपगतानाम् वञ्चने = प्रतारणे । का विदग्धता = किं चातुर्यम् । अङ्कमारुह्य = क्रोडमासाद्य । सुप्तम् हत्वा = सुप्तजनम् व्यापाद्य । किं नाम पौरुषम् = किं पराक्रम ॥ ५७ ॥

विश्वास में पड़े हुए लोगों को धोखा दे देने में कौन सी चतुराई है ? गोद में आकर सोए हुए व्यक्ति को मार डालने में कौन-सी बहादुरी है ॥ ५७ ॥

शृणु देव ! तेन मन्त्रिणाऽहं प्रथमदर्शने एव विज्ञात । किन्तु महाशयोऽसौ राजा, तेन मया विप्रलब्ध । तथा चोक्तम्—

तेन = चक्रवाकेण । प्रथमदर्शने = प्रथमप्रत्यक्षे । विज्ञात = तत्त्वत ज्ञात, 'गुप्तचरोऽहम्' इति ज्ञातवान् इत्यर्थ । महाशय = उदारहृदय । तेन = उदारहृदयत्वेन । विप्रलब्ध = प्रतारित ।

राजन्, उस मन्त्री ने तो मुझे देखते ही देखते पहचान लिया था किन्तु वह राजा अत्यन्त उदार है इसीलिए मैंने उसे धोखा दे दिया। जैसा कि कहा भी गया है—

'आत्मौपम्येन यो वेत्ति दुर्जन सत्यवादिनम् ।
स तथा वञ्च्यते धूर्तैर्ब्राह्मणश्छागतो यथा' ॥ ५८ ॥

अन्वय.—य दुर्जनम् आत्मौपम्येन = सत्यवादिनम् वेत्ति स धूर्तै तथा वञ्च्यते यथा ब्राह्मण छागत (वञ्चित) ॥ ५८ ॥

दुर्जनम् = दुष्टमपि । आत्मौपम्येन=आत्मसदृशेन । सत्यवादिनम्=सत्याचरणम् । वेत्ति = जानाति । वञ्च्यते = प्रतार्यते । छागत = छागप्रसगेन ॥ ५८ ॥

जो व्यक्ति अपने समान ही दुष्ट को भी सत्यवादी समझता है वह उसी प्रकार ठगा जाता है जैसे बकरे के प्रसग में धूर्तों ने ब्राह्मण को ठग लिया था ॥ ५८ ॥

राजोवाच—कथमेतत् ? । मेघवर्ण कथयति—

राजा ने कहा—यह कैसे ?—मेघवर्ण ने कहा—

कथा ९

अस्ति गौतमस्याऽरण्ये प्रस्तुतयज्ञः कश्चिद् ब्राह्मणः। स च यज्ञार्थं ग्रामान्तराच्छागमुपक्रीय, स्कन्धे नीत्वा, गच्छन्धूर्तत्रयेणाऽवलोकितः। ततस्ते धूर्ता—'यद्येष च्छागः केनाप्युपायेन लभ्यते, तदा मतिप्रकर्षो भवती'ति समालोच्य, वृक्षत्रयतले क्रोशान्तरेण तस्य ब्राह्मणस्याऽऽगमनं प्रतीक्ष्य, पथि स्थिताः।

प्रस्तुतयज्ञः = यज्ञं कर्तुं प्रस्तुतः। ग्रामान्तरात् = अन्यस्मात् ग्रामात्। छागम् = अजम् (बकरा)। उपक्रीय = मूल्येनादाय। अवलोकितः = दृष्टः। लभ्यते = प्राप्यते। मतिप्रकर्षः = बुद्धिचातुर्यम्। समालोच्य = विचार्य। क्रोशान्तरेण वृक्षत्रयतले = क्रमशः क्रोशान्तरेण त्रयाणाम् वृक्षाणाम् अधःप्रदेशे। प्रतीक्ष्य = प्रतीक्षां कुर्वन्तः। पथि = मार्गे।

गौतमारण्य में एक ब्राह्मण यज्ञ करना चाहता था। वह यज्ञ के लिए किसी गाँव में जाकर एक बकरा खरीदकर उसे कंधेपर रखकर ले आ रहा था कि रास्ते में उसे तीन धूर्तों ने देखा और विचार किया कि अगर किसी तरह यह बकरा मिल जाय तो हम लोगों की बुद्धि की चतुराई समझी जाय। यह सोचकर वह तीनों एक-एक कोस की दूरी पर तीन पेड़ों के नीचे खड़े होकर ब्राह्मण के आने की बाट जोहने लगे।

तत्रैकेन धूर्त्तेन गच्छन्स ब्राह्मणोऽभिहितः—'भो ब्राह्मण! किमिति त्वया कुक्कुरः, स्कन्धेनोह्यते'। विप्रेणोक्तम्—'नाऽयं श्वा, किन्तु यज्ञच्छागः।' अथाऽन्तरस्थितेनाऽन्येन धूर्तेन तथैवोक्तम्। तदाकर्ण्य ब्राह्मणश्छागं भूमौ निधाय, मुहुर्निरीक्ष्य, पुनः स्कन्धे कृत्वा, दोलायमानमतिश्चलितः। यतः—

उह्यते = नीयते। भूमौ निधाय = पृथिव्यां संस्थाप्य। मुहुः = पुनः। निरीक्ष्य = सम्यक्तत्त्वेन दृष्ट्वा। दोलायमानमतिः = शङ्काकुलबुद्धिः। चलितः = अग्रे गतवान्।

तब अपने पास से जाते हुए ब्राह्मण को देखकर एक धूर्त ने उनसे कहा—तुम कुत्ते को क्यों अपने कंधेपर ले जा रहे हो? ब्राह्मण ने कहा—यह कुत्ता नहीं है यह तो यज्ञ का बकरा है। फिर थोड़ी दूर स्थित दूसरे धूर्त ने भी वही कहा। तब यह सुन कर ब्राह्मण बकरे को पृथ्वी पर रख कर, बार-बार देखकर और फिर कंधे पर रखकर सन्देह में पड़ा हुआ आगे चला। क्योंकि—

'मतिर्दोलायते सत्य सतामपि खलोक्तिभिः ।
ताभिर्विश्वासितश्चाऽसौ म्रियते चित्रकर्णवत्' ।। ५९ ।।

अन्वय'—सतामपि मति खलोक्तिभि-सत्यम् दोलायते असौ ताभि विश्वासित चित्रकर्णवत् म्रियते ।। ५९ ।।

सतामपि = सज्जनानामपि । मति = बुद्धि । खलोक्तिभि = दुष्टवचनै । सत्यम् = नूनम् । दोलायते = चचला भवति । ताभि = दुष्टवचनै । विश्वासित = विश्वास-मुपनीत । म्रियते = मृत्यु प्राप्नोति ।। ५९ ।।

सज्जनों की बुद्धि भी दुष्टों की बातों से चचल हो जाती है और वे उसकी बातों का विश्वास करके उसी प्रकार मारे जाते हैं जैसे चित्रकर्ण मारा गया था ।। ५९ ।।

राजाऽऽह—कथमेतत् ? स कथयति—

राजा ने कहा—यह कैसे ? उसने कहा—

कथा १०

अस्ति कस्मिंश्चिद्वनोद्देशे मदोत्कटो नाम सिंह । तस्य सेवकास्त्रय. काको, व्याघ्रो, जम्बुकश्च । अथ तैर्भ्रमद्भि सार्थभ्रष्ट' कश्चिदुष्ट्रो दृष्ट, पृष्टश्च—'कुतो 'भवानागत सार्थाद् भ्रष्ट.' ? । स चाऽऽत्मवृत्तान्तमकथयत् । ततस्तैर्नीत्वा सिंहायाऽसौ समर्पित. । तेन चाऽभयवाच दत्त्वा, 'चित्रकर्ण' इति नाम कृत्वा, स्थापित ।

वनोद्देशे = वनप्रान्ते । काक = वायस । जम्बुक = शृगाल । भ्रमद्भि = इतस्तत विचरद्भि । सार्थभ्रष्ट = वणिक्सघातच्युत । आत्मवृत्तान्तम् = स्वकथाम् । अभय-वाचम् = प्राणदानम् ।

किसी जगल में मदोत्कट नाम का एक सिंह था उसके तीन सेवक थे, एक कौवा, दूसरा बाघ और तीसरा गीदड । उन तीनों ने घूमते घामते बनियों के सघ से छूटे हुए किसी ऊँट को देखा और पूछा—आप सघ से बिछुड कर कहाँ से आ रहे हैं ? इस पर ऊँट ने अपना वृत्तान्त कह सुनाया तब उन तीनों ने उसे ले जाकर सिंह को समर्पित कर दिया । उसने उसे अभयदान देकर उसका नाम चित्रकर्ण रखा और अपने पास रख लिया ।

अथ कदाचित्सिंहस्य शरीरवैकल्याद्भूरिवृष्टिकारणाच्चाऽऽहारमल-भमानास्ते व्यग्रा बभूवु । ततस्तैरालोचितम्— चित्रकर्णमेव यथा

स्वामी व्यापादयति तथाऽनुष्ठीयताम् । किमनेन कण्टकभुजाऽस्माकम् ?' ।

व्याघ्र उवाच—'स्वामिनाऽभयवाच दत्त्वाऽनुगृहीतोऽयं, तत्कथमेव सम्भवति' ? । काको ब्रूते—'इह समये परिक्षीण. स्वामी पापमपि करिष्यति' । यत —

शरीरवैकल्यात्=देहास्वास्थ्यात् । भूरिवृष्टिकारणात्=अतिजलपातेन । आहारम्= भोजनम् । अलभमाना =अप्राप्नुवाना. । व्यग्रा =व्याकुला । व्यापादयति = हन्ति । अनुष्ठीयताम् = क्रियताम् । कण्टकभुजा = कण्टकभोजिना । अस्माकम् किम् = अस्माकम् किम् प्रयोजनम् । अनुगृहीत =अनुकम्पया स्वाश्रये रक्षित । इह समये = शरीरवैकल्यात् अलभ्यभोज्यावसरे । परिक्षीण = बुभुक्षयातिविपन्न । पापम् = अनुचिताचरणम् ।

एक बार सिंह के अस्वस्थ हो जाने तथा बहुत अधिक पानी बरसने के कारण भोजन न मिलने से वे बहुत व्यग्र हुए । फिर उन सबों ने विचार किया कि ऐसा उपाय करना चाहिए जिससे स्वामी चित्रकर्ण को ही मारें । इस काँटा खाने वाले से हम लोगों का प्रयोजन ही क्या है ? इस पर व्याघ्र ने कहा कि स्वामी ने अभयदान देकर इस पर कृपा की है अत ऐसा कैसे हो सकता है ? कौवे ने कहा—इस समय स्वामी भूख से व्याकुल हैं अत वह पाप कर्म भी कर सकते हैं । क्योंकि—

'त्यजेत्क्षुधाऽऽर्ता महिला स्वपुत्र,
खादेत्क्षुधार्ता भुजगी स्वमण्डम् ।
बुभुक्षित· किं न करोति पाप,
क्षीणा नरा निष्करुणा भवन्ति' ॥ ६० ॥

अन्वय —क्षुधार्ता महिला स्वपुत्र त्यजेत्, क्षुधार्ता भुजगी स्वमण्डम् खादेत्, बुभुक्षित किं पापम् न करोति (यत) क्षीणा नरा निष्करुणा भवन्ति ॥ ६० ॥

क्षुधार्ता=बुभुक्षया पीडिता । महिला = स्त्री । स्वपुत्रम् = स्वसुतमपि । त्यजेत्= परित्यजति । भुजगी = सर्पिणी । स्वमण्डम् = स्वापत्यम् । खादेत् = भक्षयति । बुभुक्षित = क्षुधित । पापम्=पापाचरणम् । क्षीणा =विपद्ग्रस्ता । नरा=मनुष्या । निष्करुणा = निष्ठुरहृदया ॥ ६० ॥

भूख से व्याकुल स्त्री अपने पुत्र को भी छोड देती है, और सर्पिणी भूख से व्याकुल होकर अपना अण्डा खा डालती है । भूखा कौन सा पाप नहीं कर सकता है क्योंकि व्याकुल मनुष्य करुणा से रहित होता है ॥'६० ॥

अन्यच्च—

'मत्त प्रमत्तश्चोन्मत्त, श्रान्त, क्रुद्धो, बुभुक्षित ।
लुब्धो, भीरुस्त्वरायुक्त, कामुकश्च न धर्मवित्' ॥ ६१ ॥

अन्वय —मत्त कामुकश्च धर्मवित् न भवति ॥ ६१ ॥

मत्त = गर्वोद्धत । प्रमत्त = असावधान । उन्मत = विक्षिप्त । श्रान्त = श्रमविह्वल । क्रुद्ध = कोपयुक्त । बुभुक्षित = क्षुधापीडित । भीरु = कातर । त्वरायुक्त = सहसा कार्यविधायक । कामुक = कामासक्त । न । धर्मवित्=धर्मज्ञ ।

और भी—अभिमानी, असावधान, पागल, थका हुआ, क्रोधी, भूखा, लालची, डरपोक, जल्दबाज और कामी व्यक्ति धर्मज्ञ नहीं होते हैं ॥ ६१ ॥

इति सञ्चिन्त्य सर्वे सिंहाऽन्तिक जग्मु । सिंहेनोक्तम्—'आहाराऽर्थं किञ्चित्प्राप्तम् ?' तैरुक्तम्—'देव ! यत्नादपि न प्राप्त किञ्चित् !' सिंहेनोक्तम—'कोऽधुना जीवनोपाय ?' काको वदति—'देव ! स्वाधीनाऽऽहारपरित्यागात्सर्वनाशोऽयमुपस्थित' ? । सिंहेनोक्तम्—'अत्राऽऽहारः क स्वाधीन ? ।' काक कर्णे कथयति—'चित्रकर्ण' इति । सिंहो भूमिं स्पृष्ट्वा, कर्णौ स्पृशति । अब्रवीच्च—'अभयवाच दत्त्वा धृतोऽयमस्माभि, तत्कथमेव सम्भवति' ? । तथा हि—

संचिन्त्य = विचार्य । सिंहान्तिकम् = सिंहस्य समीपम् । जग्मु = गतवन्त । आहारार्थम् = भोजनाय । जीवनोपायः = प्राणधारणस्य उपाय । स्वाधीनाहारपरित्यागात् = निजायत्तभोज्यत्यागात् । सर्वनाश = अस्माकम् प्राणहानि । उपस्थित = समुखागत । क आहार = क भोज्य । स्वाधीन = निजायत्त । अभयवाच दत्वा = प्राणदानस्य वचन दत्त्वा । धृत = स्वाश्रये रक्षित । एव = तस्य मारणम् । कथ समवति = केन प्रकारेण भवितु शक्नोति ।

यह सोच कर सभी सिंह के पास गए। सिंह ने कहा—'क्या भोजन के लिए कुछ मिला ?' उन सबों ने कहा—राजन्, बहुत उपाय करने पर भी कुछ नहीं प्राप्त हुआ। सिंह ने कहा 'तो अब जीवन का क्या उपाय है ?' कौवे ने कहा—राजन् अपने अधीन रहने वाले भोजन का परित्याग करने से ही यह सवनाश उपस्थित हुआ है।' सिंह ने कहा—'यहाँ कौन सा आहार अपने अधीन है ?' कौवे ने कान में कहा—'चित्रकर्ण'। तब सिंह ने जमीन छूकर कान छुआ और कहा—हम लोगों ने उसे अभयदान देकर रखा है इसलिए ऐसा कैसे हो सकता है ? क्योंकि—

'न भूप्रदानं, न सुवर्णदानं,
न गोप्रदानं, न तथाऽन्नदानम् ।
यथा वदन्तीह महाप्रदानं,
सर्वेषु दानेष्वभयप्रदानम्' ॥ ६२ ॥

अन्वय —सर्वेषु दानेषु यथा अभयप्रदानम् महाप्रदानम् (विज्ञा) प्रवदन्ति तथा न भूप्रदानम्...... तथा न अन्नदानम् ॥ ६२ ॥

सर्वेषु दानेषु = सर्वप्रकारेषु दानविषयेषु । अभयप्रदानम् = प्राणदानम् । महाप्रदानम् = महद्दानम् । प्रवदन्ति = कथयन्ति । भूप्रदानम् = पृथ्वीदानम् ॥ ६२ ॥

पृथ्वीदान, सोने का दान, गोदान तथा अन्नदान उतने बड़े नहीं कहे जाते हैं जितना कि सब दानों में सबसे महान दान अभयदान कहा जाता है ॥ ६२ ॥

अन्यच्च—

'सर्वकामसमृद्धस्य अश्वमेधस्य यत्फलम् ।
तत्फलं लभते सम्यग् रक्षिते शरणाऽऽगते' ॥ ६३ ॥

अन्वय —सर्वकामसमृद्धस्य अश्वमेधस्य यत्फलम् भवति तत्फलम् शरणागते रक्षिते सम्यक् लभते ॥ ६३ ॥

सर्वकामसमृद्धस्य = सर्वेप्सितपरिपूर्णस्य । अश्वमेधस्य = अश्वमेधनामयज्ञस्य । शरणागते = आश्रयमागते । रक्षिते = परित्राणे कृते सति । सम्यक् = पूर्णरूपेण । लभते = प्राप्नोति ॥ ६३ ॥

और भी—सभी कामनाओं को पूरी करने वाले अश्वमेध यज्ञ करने से जो फल प्राप्त होता है, वह सभी फल शरण में आए हुए की रक्षा करने से भी प्राप्त होता है ॥ ६३ ॥

काको ब्रूते—'नाऽसौ स्वामिना व्यापादयितव्यः, किन्त्वस्माभिरेव तथा कर्त्तव्यं, यथाऽसौ स्वदेहदानमङ्गीकरोति' ।

काकः = वायसः । ब्रूते = उवाच । असौ = चित्रकर्णः । स्वामिना = मदोत्कटेन । स्वदेहदानम् = निजशरीरसमर्पणम् ।

कौवे ने कहा—'स्वामी उसे मारेंगे नहीं बल्कि हम लोग ऐसा उपाय करेंगे जिससे वह स्वयम् अपने आपको स्वामी को समर्पित कर देगा ।

सिंहस्तच्छ्रुत्वा तूष्णीं स्थितः । ततोऽसौ लब्धाऽवकाशः कूटं कृत्वा, सर्वानादाय सिंहाऽन्तिकं गतः । अथ काकेनोक्तं—'देव !

यत्नादप्याहारो न प्राप्त, अनेकोपवासक्लिष्टश्च स्वामी, तदिदानी मदीय-मासमुपभुज्यताम्' । यत —

तूष्णीम् = मौनम् । लब्धावकाश = प्राप्तकाल । कूट कृत्वा = कपट विधाय । सर्वानादाय = व्याघ्रजम्बुकचित्रकर्णादीन् गृहीत्वा । सिंहान्तिकम् = सिंहसमीपम् । गत = प्राप्त । यत्नात् अपि = प्रयत्ने कृतेऽपि । आहार = भोजनम् । अनेकोपवास-कृश = चिरकालात् भोज्याभावेन क्षीण ।

सिंह यह सुन कर चुप रह गया । इसके पश्चात् कौवे ने अवसर पाकर षट्यन्त्र करके सभी को लेकर सिंह के पास गया और उसने कहा—'राजन् प्रयत्न करने पर भी भोजन नहीं मिला, आप अनेक उपवासों से बहुत कष्ट में हैं इसलिए इस समय मेरे मास को खाकर प्राण-रक्षा कीजिए । क्योंकि—

'स्वामिमूला भवन्त्येव सर्वा. प्रकृतय: खलु ।
समूलेष्वपि वृक्षेषु प्रयत्न: सफलो नृणाम्' ॥ ६४ ॥

अन्वय:—सर्वा प्रकृतय खलु स्वामिमूला भवन्ति नृणाम् प्रयत्न समूलेषु वृक्षेषु अपि सफल (भवति) ॥ ६४ ॥

सर्वा प्रकृतय = समस्ता प्रजा । स्वामिमूला = नृपाश्रया । नृणाम् = मनुष्या-णाम् । प्रयत्न = यत्न । सफल = समूलात् वृक्षादेव फलाशा भवति ॥ ६४ ॥

सारी प्रजा की जड राजा ही होता है और जड वाले वृक्ष में किया गया उपाय ही लोगों के लिए फलदायक होता है अर्थात् जब जड ही नष्ट हो जायगी तो फल कहाँ से प्राप्त होगा ॥ ६४ ॥

सिंहेनोक्तम्—'भद्र ! वर प्राणपरित्यागो, न पुनरीदृशे कर्मणि प्रवृत्ति ।' जम्बुकेनाऽपि तथोक्तम् । तत सिंहेनोक्त—'मैवम्' । अथ व्याघ्रेणोक्त—'मद्देहेन जीवतु स्वामी ।' सिंहेनोक्त—'न कदाचिदे-वमुचितम्' ।

वरम् = श्रेष्ठ । प्राणपरित्याग = मरणम् । ईदृशे कर्मणि = आश्रितस्य मास-भोजने ।

सिंह ने कहा—भद्र, प्राण छोड देना तो अच्छा है किन्तु इस प्रकार के कार्य में लगना अच्छा नहीं है । गीदड ने भी वैसा ही कहा । तब सिंह ने कहा—नहीं, ऐसा नहीं हो सकता । व्याघ्र ने कहा—'तो स्वामी मेरे शरीर को खाकर अपने जीवन की रक्षा करें ।' सिंह ने कहा—'यह ठीक नहीं है ।'

अथ चित्रकर्णोऽपि जातविश्वासस्तथैवाऽऽत्मदेहदानमाह। ततस्तद्वचनात्तेन व्याघ्रेणाऽसौ कुक्षिं विदार्य्य, व्यापादितः, सर्वैर्भक्षितश्च। अतोऽहं ब्रवीमि—'मतिर्दोलायते सत्यम्' इत्यादि ॥

जातविश्वास = जातप्रत्ययः, स्वामी वायसादिवद् मामपि न भक्षयिष्यति इति विश्वस्त इत्यर्थः। तद्वचनात् = स्वशरीरार्पणवार्ताकथनात्।

फिर विश्वास में आकर चित्रकर्ण ने भी अपने शरीरदान की बात कही। उसकी बात सुनते ही बाघ ने उसके पेट को फाड़ कर मार डाला और सभी ने मिल कर भोजन किया इसीलिए मैं कह रहा हूँ—'सज्जनों की बुद्धि भी चञ्चल हो जाती है' इत्यादि।

ततस्तृतीयधूर्त्तवचनं श्रुत्वा, स्वमतिभ्रमं निश्चित्य छागं त्यक्त्वा, ब्राह्मणः स्नात्वा, गृहं ययौ। छागश्च तैर्धूर्तैर्नीत्वा भक्षितः। अतोऽहं ब्रवीमि—'आत्मौपम्येन यो वेत्ति'—इत्यादि ॥ ॥

स्वमतिभ्रमम् = स्वबुद्धिमान्द्यम्। निश्चित्य = निर्णीय।

तब तीसरे धूर्त की बात सुनकर अपनी बुद्धि का भ्रम जान कर वह ब्राह्मण बकरे को छोड कर स्नान करके घर चला गया और उन धूर्तों ने बकरे को ले जाकर खा डाला। इसीलिए मैं कह रहा हूँ—'जो अपने समान समझता है' इत्यादि।

राजाऽऽह—'मेघवर्ण! कथं शत्रुमध्ये त्वया सुचिरमुषितम्?, कथं वा तेषामनुनयः कृतः!'। मेघवर्ण उवाच—'देव! स्वामिकार्यार्थितया, स्वप्रयोजनवशाद्वा किं किं न क्रियते। पश्य—

चिरमुषितम् = बहुकालम् निवासः कृतः। अनुनयः = चाटुकारिता। स्वामिकार्यार्थिना = राजकार्याभिलाषुकेण। स्वप्रयोजनवशात् = स्वार्थसिद्ध्यर्थं च।

राजा चित्रवर्ण ने कहा—'मेघवर्ण! तुम शत्रुओं के बीच में कैसे बहुत दिन तक रहे और किस प्रकार उन्हें अपना बना रखा।' मेघवर्ण ने कहा—राजन्, स्वामी का कार्य पूरा करने के लिए तथा अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिए मनुष्य क्या नहीं करता है। देखिए—

'लोको वहति किं राजन्न मूर्ध्ना दग्धुमिन्धनम्।
क्षालयन्त्यपि वृक्षाङ्घ्रिं नदीवेला निकृन्तति' ॥ ६५ ॥

अन्वय—हे राजन्, लोकः इन्धनम् दग्धुम् मूर्ध्ना किं न वहति। नदीवेला वृक्षाङ्घ्रिं क्षालयन्त्यपि निकृन्तति ॥ ६५ ॥

राजन् = हे नृप । लोक = जन । इन्धनम् = शुष्ककाष्ठम् । दग्धुम् = प्रज्वालयितुम् । मूर्ध्ना=शिरसा । न वहति=न धारयति । नदीवेला=सरित्पूर । वृक्षाङ्घ्रि=तरुमूलम् । क्षालयन्ती = प्रक्षालनम् कुर्वन्ती । निकृन्तति = उन्मूलयति ॥ ६५ ॥

क्या लोग जलाने वाली लकडी को अपने सिर पर रख कर नहीं ले जाते हैं और नदी की धारा वृक्षों की जडों (पैरों) को धोकर भी क्या उन्हें काटती नहीं है ? ॥ ६५ ॥

तथा चोक्तम्—

'स्कन्धेनाऽपि वहेच्छत्रून् कार्यमासाद्य बुद्धिमान् ।
यथा वृद्धन सर्पेण मण्डूका विनिपातिता' ॥ ६६ ॥

अन्वय:—कार्यमासाद्य बुद्धिमान् शत्रून् स्कन्धेनापि वहेत् । यथा वृद्धेन सर्पेण मण्डूका विनिपातिता ॥ ६६ ॥

बुद्धिमान् = प्राज्ञ । कार्यमासाद्य=स्वार्थसिद्धयर्थम् । शत्रून् = अरीन् । वहेत् = धारयेत् । विनिपातिता = विनाशिता ॥ ६६ ॥

कहा भी गया है—
काम पड जाने पर बुद्धिमान् शत्रु को भी अपने कंधे पर ले जाता है जैसे बूढे साँप ने मेढकों को अपने सिर पर रख कर फिर उन्हें मार डाला था ॥ ६६ ॥

राजाऽऽह—'कथमेतत् ?' मेघवर्ण कथयति—
राजा चित्रवर्ण ने कहा—यह कैसे ? मेघवर्ण ने कहा—

कथा ११

अस्ति जीर्णोद्याने मन्दविषो नाम सर्प । सोऽतिजीर्णतया स्वाऽऽहारमप्यन्वेष्टुमक्षम. सरस्तीरे पतित्वा स्थित । ततो दूरादेव केनचिन्मण्डूकेन दृष्ट, पृष्टश्च—'किमिति त्वमाहार नाऽन्विष्यति' ? । सर्पोऽवदत्—'गच्छ भद्र ! किन्ते मम मन्दभाग्यस्य वृत्तान्तप्रश्नेन' ? तत. सञ्जातकौतुक: स च भेक 'सर्वथा कथ्यताम्' इत्याह । सर्पोऽप्याह—'भद्र ! ब्रह्मपुरवासिन: श्रोत्रियस्य कौण्डिन्यस्य पुत्रो विंशतिवर्षदेशीय, सर्वगुणसम्पन्नो, दुर्दैवान्मया नृशसेन दष्ट: । ततस्त सुशीलनामान पुत्र मृतमवलोक्य, शोकेन मूर्छित: कौण्डिन्य पृथिव्या लुलोठ । अनन्तर ब्रह्मपुरवासिन: सर्वे बान्धवास्तत्राऽऽगत्योपविष्टा: । तथा चोक्तम्—

जीर्णोद्यानं = पुरातनोपवने । अतिजीर्णतया = अतिवार्द्धक्येन । आहारमपि = भोजनमपि । अन्वेष्टुम् = उपार्जितुम् । अक्षम = असमर्थ । नान्विष्यति = अन्वेषण न करोति । मन्दभाग्यस्य = दैवोपहतकस्य । वृत्तान्तप्रश्नेन = वृत्तान्तज्ञानाय पृच्छाकरणेन । सञ्जातकौतुक = उद्भूताश्चर्यं । भेक = मण्डूक । सर्वथा = अवश्यमेव । कथ्यताम् = उच्यताम् । श्रोत्रियस्य = वेदपाठिन । विंशतिवर्षदेशीय = विंशतिवर्षप्राय । दुर्दैवात् = दुर्भाग्यात् । नृशसेन = निष्ठुरेण । मूर्च्छित = विसज्ञ । लुलोठ = पपात ।

एक उजडे हुए बगीचे में मन्दविष नाम का एक साँप रहता था । वह बुड्ढा हो जाने के कारण अपना भोजन खोजने में भी असमर्थ हो गया था इसलिए तालाब के किनारे लेट पड़ा हुआ था । उसे दूर ही से देखकर एक मेढक ने पूछा कि—तुम अपने भोजन की खोज क्यों नहीं करते हो ? साँप ने कहा—'भद्र, जाओ मुझ भाग्यहीन का समाचार पूछने का कष्ट क्यों कर रहे हो ?' तब आश्चर्य में पड़े हुए मेढक ने कहा—'आप अपनी पूरी कहानी अवश्य सुनाइये ।' इस पर साँप ने कहा—'ब्रह्मपुर में रहने वाले वेदपाठी कौण्डिन्य के सभी गुणों से युक्त बीस वर्ष की अवस्था वाले पुत्र को दुर्भाग्य से मुझ निष्ठुर ने काट लिया जिससे सुशील नाम वाले अपने पुत्र को मरा हुआ देख कर कौण्डिन्य शोक से मूर्च्छित होकर पृथ्वी पर लोटने लगा । इसके बाद ब्रह्मपुर के उसके सभी भाई-बन्धु वहाँ आए । जैसा कि कहा भी गया है—

'उत्सवे, व्यसने, युद्धे, दुर्भिक्षे, राष्ट्रविप्लवे ।
राजद्वारे, श्मशाने च यस्तिष्ठति, स बान्धवः' ।। ६७ ।।

अन्वय.—उत्सवे · स बान्धव (अस्ति) ।। ६७ ।।

उत्सवे = आनन्दपूर्णसमारोहे । व्यसने = विपत्तौ । युद्धे = विग्रहे । दुर्भिक्षे = अन्नसकटे । राष्ट्रविप्लवे = राज्यक्रान्तौ । राजद्वारे = राजगृहे । य तिष्ठति = य सहायको भूत्वा उपस्थित भवति ।। ६७ ।।

उत्सव, विपत्ति, युद्ध, दुर्भिक्ष, राष्ट्रविप्लव, राजदरबार और श्मशान भूमि में जो साथ देता है वही भाई-बन्धु कहा जाता है ।। ६७ ।।

तत्र कपिलो नाम स्नातकोऽवदत्—'अरे कौण्डिन्य ! मूढोऽसि, येनैव विलपसि' । शृणु—

स्नातक = वेदव्रतपारगत ब्रह्मचारी । मूढोऽसि = अज्ञ प्रतिभासि । विलपसि = रोदिषि ।

वहाँ कपिल नाम के स्नातक ने कहा—अरे कौण्डिन्य तुम बड़े मूर्ख हो, जो इस प्रकार विलाप कर रहे हो । सुनो—

'क्रोडीकरोति प्रथम यदा जातमनित्यता ।
धात्रीव, जननी पश्चात् , तदा शोकस्य क क्रम ' ? ॥ ६८ ॥

अन्वय —यदा प्रथमम् धात्रीव अनित्यता क्रोडीकरोति पश्चात् जननी, तदा शोकस्य क क्रम ? ॥ ६८ ॥

प्रथमम् = आदौ । जातम् = उत्पन्नम् शिशुम् । धात्रीव = उपमातेव । अनित्यता, क्रोडीकरोति = अङ्के स्थापयति । जननी = माता । शोकस्य = पश्चात्तापस्य । क क्रम = क काल ? ॥ ६८ ॥

उत्पन्न होने वाले बालक को सबसे पहले अनित्यता ही दाई के समान अपनी गोद में लेती है, फिर माता लेती है अत शोक करने की क्या आवश्यकता है ? ॥ ६८ ॥

तथा च—

'क गता. पृथिवीपाला: ससैन्यबलवाहना ।
वियोगसाक्षिणी येषा भूमिरद्यापि तिष्ठति' ॥ ६९ ॥

अन्वय —ससैन्यबलवाहना पृथिवीपाला क्व याता येषाम् वियोगसाक्षिणी भूमि अद्यापि तिष्ठति ॥ ६९ ॥

ससैन्यबलवाहना = सेनापौरुषवाहनादिसहिता । पृथ्वीपाला = नृपा । क्व = कुत्र । गता = प्रस्थिता । येषा = नृपाणाम् । वियोगसाक्षिणी = विरहसाक्षीभूता । भूमि = पृथिवी । अद्यापि = इदानीमपि । तिष्ठति = स्थितोऽस्ति ॥ ६९ ॥

सेना, पराक्रम और अपने हाथी-घोड़ों के साथ वे राजा लोग कहाँ चले गए जिनके वियोग की साक्षिणी (गवाह) यह पृथ्वी आज भी पड़ी हुई है ॥ ६९ ॥

तथा च—

'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुव जन्म मृतस्य च ।
अद्य वाऽब्दशतान्ते वा मृत्युर्वै प्राणिना ध्रुव ' ॥ ७० ॥

अन्वय —जातस्य मृत्यु ध्रुव मृतस्य च जन्म ध्रुवम् । अद्य अब्दशतान्ते वा प्राणिनाम् मृत्यु ध्रुव ॥ ७० ॥

जातस्य = शरीरधारिण । ध्रुव = निश्चय । अद्य = अस्मिन्नेव दिने । अब्दशतान्ते = वर्षशतान्ते वा । प्राणिनाम् = शरीरधारिणाम् ॥ ७० ॥

जो पैदा हुआ है उसकी मृत्यु अवश्य होगी और जो मरा है उसका जन्म अवश्य होगा आज अथवा सैकड़ों वर्षों के बाद प्राणियों की मृत्यु निश्चित है ॥ ७० ॥

अपरञ्च—

'कायः सन्निहितापायः, सम्पदः पदमापदाम् ।
समागमाः सापगमाः, सर्वमुत्पादि भङ्गुरम्' ॥ ७१ ॥

अन्वयः—कायः सन्निहितापाय सम्पद. आपदाम् पदम् समागमा सापगमा' सर्वम् उत्पादि भंगुरम् ॥ ७१ ॥

काय = शरीरम् । सन्निहितापाय = विनाशोन्मुख । सम्पद = सम्पत्तय । आपदाम् = विपदाम् । पदम् = स्थानम् । समागमा. = सयोगा । सापगमा = विरह॰ युक्ता । उत्पादि = जायमानम् । भगुरम् = विनश्वरम् ॥ ७१ ॥

और भी—शरीर प्रतिक्षण नाशवान है, सम्पत्ति विपत्तियों का स्थान है, मिलन वियोग से पूर्ण है और सभी उत्पन्न होने वाली वस्तुएँ नाश होने वाली हैं ॥ ७१ ॥

'प्रतिक्षणमयं कायः क्षीयमाणो न लक्ष्यते ।
आमकुम्भ इवाऽम्भःस्थो विशीर्णः सन्विभाव्यते' ॥ ७२ ॥

अन्वय'—प्रतिक्षणम् क्षीयमाण अयम् काय न लक्ष्यते अम्भ स्थ आमकुम्भः इव विशीर्ण सन् विभाव्यसे ॥ ७२ ॥

प्रतिक्षणम् = प्रतिपलम् । अय काय = देह । क्षीयमाण = विनश्वरता प्राप्य-माण । न लक्ष्यते = न दृश्यते । अम्भ स्थ = जलस्थित । आमकुम्भ = अपक्व घट । विशीर्णं = प्रस्फुटित सन् । विभाव्यते = प्रतीयते ॥ ७२ ॥

यह शरीर प्रतिक्षण नष्ट होता रहता है किन्तु दिखाई नहीं पड़ता है लेकिन जैसे पानी में पड़ा हुआ कच्चा घड़ा गल जाने पर दिखाई पड़ता है उसी प्रकार शरीर के नष्ट हो जाने पर ही उसका नाश हो जाना मालूम होता है ॥ ७२ ॥

'आसन्नतरतामेति मृत्युर्जन्तोर्दिने-दिने ।
आघातं नीयमानस्य वध्यस्येव पदे-पदे' ॥ ७३ ॥

अन्वय.—आघात नीयमानस्य वध्यस्य पदे-पदे इव जन्तो मृत्यु॰ दिने-दिने आसन्नतरताम् एति ॥ ७३ ॥

आघातम् = वध्यभूमिम् । नीयमानस्य = प्राप्यमाणस्य । वध्यस्य = वधार्हस्य जीवस्य । पदे-पदे = प्रतिपदम् । जन्वो = प्राणिन । मृत्यु = मरणम् । दिने-दिने = प्रतिदिवसम् । आसन्नतरताम् = अतिसन्निकटताम् । एति = प्राप्नोति ॥ ७३ ॥

मृत्यु प्रतिदिन प्राणियों के समीप आती जाती है जैसे वधभूमि में ले जाया जाता हुआ प्राणी पद-पद में मृत्यु के सन्निकट होता जाता है ॥ ७३ ॥

यत:—

'अनित्यं यौवन, रूप, जीवित, द्रव्यसञ्चय.।
ऐश्वर्यं, प्रियसवासो, मुह्येत्तत्र न पण्डित' ॥ ७४ ॥

अन्वय —यौवन ··· प्रियसवास अनित्यम् (अत) पण्डित तत्र न मुह्येत् ॥

यौवनम् = तारुण्यम् । रूपम्=सौन्दर्यम् । जीवितम् = प्राणितम् । द्रव्यसञ्चय = धनसग्रह । ऐश्वर्यम् = समृद्धि । प्रियसवास = प्रियसमागम । पण्डित = विवकी । न मुह्येत् = मोह न गच्छेत् ॥ ७४ ॥

जवानी, सुन्दरता, जीवन, धन का सचय, एश्वर्य और प्रिय लोगों का समागम अनित्य होते हैं इसलिए विद्वानों को चाहिए कि व इन विषयों मे आसक्त न हों ॥ ७४ ॥

'यथा काष्ठञ्च काष्ठञ्च समेयाता महोदधौ।
समेत्य च व्यपेयाता तद्वद्भूतसमागम ॥ ७५ ॥

अन्वय —महोदधौ यथा काष्ठम् च काष्ठम् च समेयाताम् समेत्य च व्यपेयाताम् तद्वत् भूतसमागम (अपि भवति) ॥ ७५ ॥

महोदधौ = महासागरे । समेयाताम् = सम्मिलितौ भवेताम् । समेत्य = सगम्य च । व्यपेयाताम् = वियुक्तौ भवेताम् । तद्वद्—तेनैव प्रकारेण । भूतसमागम = प्राणिना सयोग ॥ ७५ ॥

जैसे समुद्र में एक लकडी दूसरी लकडी मे मिल जाती है और मिलकर पुन अलग हो जाती है उसी प्रकार प्राणियों का मिलन भी बिछुडने के लिए ही होता है ॥ ७५ ॥

'यथा हि पथिक कश्चिच्छायामाश्रित्य तिष्ठति।
विश्रम्य च पुनर्गच्छेत्तद्वद्भूतसमागम' ॥ ७६ ॥

अन्वय —यथा पथिक ·· तद्वत् भूतसमागम ॥ ७६ ॥

यथा = येन प्रकारेण । पथिक = पान्थ । छाया = तरुच्छायाम् । आश्रित्य = अवलम्ब्य । तिष्ठति = विश्राम्यति ॥ ७६ ॥

जिस प्रकार राही किसी पेड की छाया का आश्रय लेकर उसके नीचे बैठता है और कुछ देर विश्राम करके फिर चला जाता है उसी प्रकार प्राणी भी इस ससार में कुछ देर तक आपस में मिलकर रहते हैं और फिर एक दूसरे को छोड कर चल देते है ॥ ७६ ॥

अन्यच्च—

'पञ्चभिर्निर्मिते देहे, पञ्चत्व च पुनर्गते।
स्वा स्वा योनिमनुप्राप्ते, तत्र का परिदेवना ?' ॥ ७७ ॥

अपरञ्च—

'काय. सन्निहितापायः, सम्पद पदमापदाम् ।
समागमा' साऽपगमाः, सर्वमुत्पादि भङ्गुरम्' ॥ ७१ ॥

अन्वयः—कायः सन्निहितापाय सम्पद आपदाम् पदम् समागमा सापगमाः सर्वम् उत्पादि भगुरम् ॥ ७१ ॥

काय = शरीरम् । सन्निहितापाय — विनाशोन्मुख । सम्पद = सम्पत्तय । आपदाम् = विपदाम् । पदम् = स्थानम् । समागमा. = सयोगा । सापगमा = विरह॰युक्ता । उत्पादि = जायमानम् । भगुरम् = विनश्वरम् ॥ ७१ ॥

और भी—शरीर प्रतिक्षण नाशवान है, सम्पत्ति विपत्तियों का स्थान है, मिलन वियोग से पूर्ण है और सभी उत्पन्न होने वाली वस्तुएँ नाश होने वाली हैं ॥ ७१ ॥

'प्रतिक्षणमय कायः क्षीयमाणो न लक्ष्यते ।
आमकुम्भ इवाऽम्भ.स्थो विशीर्णः सन्विभाव्यते' ॥ ७२ ॥

अन्वयः—प्रतिक्षणम् क्षीयमाण अयम् काय न लक्ष्यते अम्भ स्थ आमकुम्भः इव विशीर्णं सन् विभाव्यते ॥ ७२ ॥

प्रतिक्षणम् = प्रतिपलम् । अय काय = देह । क्षीयमाण = विनश्वरता प्राप्यमाण । न लक्ष्यते = न दृश्यते । अम्भ स्थ = जलस्थित । आमकुम्भ = अपक्व-घट । विशीर्णं — प्रस्फुटित सन् । विभाव्यते = प्रतीयते ॥ ७२ ॥

यह शरीर प्रतिक्षण नष्ट होता रहता है किन्तु दिखाई नहीं पड़ता है लेकिन जैसे पानी में पड़ा हुआ कच्चा घड़ा गल जाने पर दिखाई पड़ता है उसी प्रकार शरीर के नष्ट हो जाने पर ही उसका नाश हो जाना मालूम होता है ॥ ७२ ॥

'आसन्नतरतामेति मृत्युर्जन्तोर्दिने-दिने ।
आघात नीयमानस्य वध्यस्येव पदे-पदे' ॥ ७३ ॥

अन्वय.—आघात नीयमानस्य वध्यस्य पदे-पदे इव जन्तो मृत्यु॰ दिने-दिने आसन्नतरताम् एति ॥ ७३ ॥

आघातम् = वध्यभूमिम् । नीयमानस्य = प्राप्यमाणस्य । वध्यस्य = वधार्हस्य जीवस्य । पदे-पदे = प्रतिपदम् । जन्तो = प्राणिन । मृत्यु = मरणम् । दिने-दिने = प्रतिदिवसम् । आसन्नतरताम् = अतिसन्निकटताम् । एति = प्राप्नोति ॥ ७३ ॥

मृत्यु प्रतिदिन प्राणियों के समीप आती जाती है जैसे वधभूमि में ले जाया जाता हुआ प्राणी पद-पद में मृत्यु के सन्निकट होता जाता है ॥ ७३ ॥

यतः—

'अनित्य यौवन, रूप, जीवित, द्रव्यसञ्चय.।
ऐश्वर्यं, प्रियसवासो, मुह्येत्तत्र न पण्डित' ॥ ७४ ॥

अन्वय —यौवन ·····प्रियसवास अनित्यम् (अत) पण्डित तत्र न मुह्येत् ॥

यौवनम् = तारुण्यम् । रूपम्=सौन्दर्यम् । जीवितम् = प्राणितम् । द्रव्यसञ्चय = धनसग्रह । ऐश्वर्यम् = समृद्धि । प्रियसवास = प्रियसमागम । पण्डित = विवेकी । न मुह्येत् = मोह न गच्छेत् ॥ ७४ ॥

जवानी, सुदरता, जीवन, धन का सचय, ऐश्वर्य और प्रिय लोगों का समागम अनित्य होते हैं इसलिए विद्वानों को चाहिए कि वे इन विषयों में आसक्त न हों ॥ ७४ ॥

'यथा काष्ठञ्च काष्ठञ्च समेयाता महादधौ।
समेत्य च व्यपेयाता तद्वद्भूतसमागम ॥ ७५ ॥

अन्वय —महोदधौ यथा काष्ठम् च काष्ठम् च समेयाताम् समेत्य च व्यपेयाताम् तद्वत् भूतसमागम (अपि भवति) ॥ ७५ ॥'

महोदधौ = महासागरे । समेयाताम् = सम्मिलितौ भवेताम् । समेत्य = सगम्य च । व्यपेयाताम् = वियुक्तौ भवेताम् । तद्वद्—तेनैव प्रकारेण । भूतसमागम = प्राणिना सयोग ॥ ७५ ॥

जैसे समुद्र में एक लकडी दूसरी लकडी से मिल जाती है और मिलकर पुन अलग हो जाती है उसी प्रकार प्राणियों का मिलन भी बिछुडने के लिए ही होता है ॥ ७५ ॥

'यथा हि पथिक कश्चिच्छायामाश्रित्य तिष्ठति।
विश्रम्य च पुनर्गच्छेत्तद्वद्भूतसमागम' ॥ ७६ ॥

अन्वय —यथा पथिक · · तद्वत् भूतसमागम ॥ ७६ ॥

यथा = येन प्रकारेण । पथिक = पान्थ । छाया = तरुच्छायाम् । आश्रित्य = अवलम्ब्य । तिष्ठति = विश्राम्यति ॥ ७६ ॥

जिस प्रकार राही किसी पेड की छाया का आश्रय लेकर उसके नीचे बैठता है और कुछ देर विश्राम करके फिर चला जाता है उसी प्रकार प्राणी भी इस ससार में कुछ देर तक आपस में मिलकर रहते हैं और फिर एक दूसरे को छोड कर चल देते है ॥ ७६ ॥

अन्यच्च—

'पञ्चभिर्निर्मिते देहे, पञ्चत्व च पुनर्गते।
स्वा स्वा योनिमनुप्राप्ते, तत्र का परिदेवना ?' ॥ ७७ ॥

अन्वय –पञ्चभि निर्मिते देहे पुनः पञ्चत्व गते स्वां स्वा योनिमनुप्राप्ते सति तत्र का परिदेवना ॥ ७७ ॥

पञ्चभि = पृथव्यादिपञ्चमहाभूतैं (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश)। निर्मिते = सङ्घटिते । देहे = शरीरे । पञ्चत्व गते = मृते । स्वां स्वा = स्वकीयाम् । योनिम् = आदिस्थानम् । अनुप्राप्ते = गते सति । तत्र = अस्मिन् । वृत्ते । परिदेवना= विलाप , शोकश्च ॥ ७७ ॥

इस शरीर का निर्माण क्षिति, जल, पावक, गगन और समीर नाम के पाँच तत्त्वों से हुआ है और मरने के बाद ये सभी तत्त्व अपने-अपने तत्त्वों मे फिर मिल जाते हैं अत इस विषय में शोक करने का क्या आवश्यकता है ? ॥ ७७ ॥

'यावत कुरुते जन्तु सम्बन्धान्मनस प्रियान् ।
तावन्तोऽस्य निखन्यन्ते हृदये शोकशङ्कव' ॥ ७८ ॥

अन्वय —जन्तु यावत मनस प्रियान् सम्बन्धान् कुरुते तावन्त अस्य हृदये शोकशङ्कव निखन्यन्ते ॥ ७८ ॥

जन्तु = प्राणी । मनस प्रियान = हृदयस्य प्रियकरान् । अस्य = प्राणिनः । हृदये = मनसि । शोकशङ्कव =परितापकीलका' । निखन्यन्ते = आरोप्यन्ते ॥

प्राणी जितना अधिक अपने मन को अच्छे लगने वाले सम्बन्धों को करता चलता है उतना ही वह अपने हृदय में शोक की कीलें धसाता जाता है अर्थात् एक दिन उन्हीं-उन्हीं प्रिय वस्तुओं का वियोग उसके दु ख का कारण बनता है ॥ ७८ ॥

'नाऽयमत्यन्तसंवादो लभ्यते येन केनचित् ।
अपि स्वेन शरीरेण, किमुताऽन्येन केनचित्' ॥ ७९ ॥

अन्वय —अयम् येन केनचित् अत्यन्तसवास न लभ्यते (यदा) स्वेन शरीरेण अपि (न) किमुत अन्येन केनचित् ॥ ७९ ॥

अयम् = प्राणी । येन केनचित् = केनापि सह । अत्यन्तसवास. = दृढसम्बन्ध , चिरसयोगश्च । न लभ्यते = न प्राप्यते । स्वेन शरीरेणापि = यदा स्वदेहेनापि नित्यसम्बन्ध न भवति । किमुत = तर्हि । अन्येन केनचित् ससारस्य केनापि सह ॥ ७९ ॥

इस ससार में किसी भी प्राणी का मिलन चिरकाल तक नहीं हो सकता, यहाँ तक कि उसका अपना शरीर भी उसका नित्य साथ नहीं दे सकता तो दूसरी वस्तुओं की गिनती ही क्या है ? ॥ ७९ ॥

अपि च—

'सयोगो हि वियोगस्य ससूचयति सम्भवम् ।
अनतिक्रमणीयस्य जन्म मृत्योरिवाऽऽगमम्' ॥ ८० ॥

अन्वय—सयोग वियोगस्य सम्भवम् ससूचयति, जन्म अनतिक्रमणीयस्य मृत्यो आगमम् इव ॥ ८० ॥

सयोग = सवास । वियोगस्य = विरहस्य । सभवम् = उत्पत्तिम् । सूचयति = प्रकटयति । अनतिक्रमणीय य = अनुल्लघनीयस्य । आगमम्=कारणम् । इव ॥८०॥

किसी वस्तु का सयोग ही उससे होने वाले वियोग की सूचना देता है । जैसे किसी प्राणी का जन्म उसकी अवश्यभावी मृत्यु के आगमन की सूचना देने वाला होता है ॥ ८० ॥

'आपातरमणीयाना सयोगाना प्रियै सह ।
अपथ्यानामिवाऽन्नाना परिणामोऽतिदारुण.' ॥ ८१ ॥

अन्वय—अपथ्यानाम् अन्नानाम् इव प्रियै सह । आपातरमणीयानाम् सयोगानाम् परिणाम अतिदारुण भवति ॥ ८१ ॥

अपथ्यानाम् = कुभोज्यानाम् । अन्नानाम् = भोज्यपदार्थानाम् इव । आपातरमणीयानाम् = तत्क्षणप्रियकराणाम् । सयोगानाम् = सलम्भानाम् । परिणाम = फलम् । अतिदारुण = अतिदु खदायक ॥ ८१ ॥

जैसे अपथ्य भोजन ऊपर से देखने में बहुत ही स्वादिष्ट होता है किन्तु उसका अन्तिम परिणाम बहुत ही भयकर होता है, उसी प्रकार प्रियजनों का समागम देखने में बहुत ही आनन्ददायक होता है किन्तु वियोग होने के कारण उसका फल बहुत ही दुखदायी होता है ॥ ८१ ॥

अपरञ्च—

'व्रजन्ति, न निवर्त्तन्ते स्रोतासि सरिता यथा ।
आयुरादाय मर्त्याना तथा रात्र्यहनी सदा' ॥ ८२ ॥

अन्वय—सरिताम् स्रोतासि यथा व्रजन्ति न निवर्तन्ते तथा रात्र्यहनी मर्त्यानाम् आयु आदाय सदा व्रजत न निवर्तेते ॥ ८२ ॥

सरिताम् = नदीनाम् । स्रोतासि = प्रवाहा । व्रजन्ति = गच्छन्ति, न निवर्तन्ते = न प्रत्यागच्छन्ति । रात्र्यहनी = रात्रि दिवसश्च । मर्त्यानाम् = समस्तप्राणिनाम् । आयु = जीवितसमयम् । आदाय = गृहीत्वा । सदा = सर्वदैव गच्छत किन्तु पुन न प्रत्यागच्छत ॥ ८२ ॥

जैसे आगे जाने वाली नदी की धारा फिर लौट कर पीछे नहीं आती है उसी प्रकार रात और दिन प्राणियों की आयु लेकर सदा आगे बढते ही जाते हैं अर्थात् प्रतिदिन मनुष्य की आयु क्षीण ही होती जाती है ॥ ८२ ॥

'सुखाऽऽस्वादपरो यस्तु ससारे सत्समागम ।
स वियोगाऽवसानत्वाद् दु खाना धुरि युज्यते' ॥ ८३ ॥

अन्वय'—ससारे सुखास्वादपर यस्तु सत्समागम स वियोगावसानत्वाद् दु खानाम् धुरि युज्यते ॥ ८३ ॥

ससारे = जगति । सुखास्वादपर = नितान्तसुखपूर्ण । सत्समागम = सज्जन-सहवास । वियोगावसानत्वात् = विरहान्तत्वात् । दु खानाम् धुरि = परितापानाम् अग्रे । युज्यते = गण्यन्ते ॥ ८३ ॥

इस ससार में सज्जनों का मिलन अत्यन्त सुख स्वाद का देने वाला कहा जाता है किन्तु उसका भी अन्त वियोग में ही होता है इसलिए वह भी दु खों की कोटि में सबसे पहले गिना जाता है ॥ ८३ ॥

'अत एव हि नेच्छन्ति साधव सत्समागमम् ।
यद्वियोगाऽसिलूनस्य मनसो नास्ति भेषजम्' ॥ ८४ ॥

अन्वय.—अत साधव सत्समागमम् एव हि न इच्छन्ति । यद् वियोगासि-लूनस्य मनस भेषजम् नास्ति ॥ ८४ ॥

अत = अस्मात्कारणात् । साधव = सज्जना । सत्समागमम् = सत्सगतिम् । न इच्छन्ति = न अभिलषन्ति । यद्वियोगासिलूनस्य = यस्य विरहखड्गच्छिन्नस्य । मनस = हृदयस्य । भेषजम् = औषधम् । नास्ति = न विद्यते ॥ ८४ ॥

इसीलिए सज्जन लोग इस ससार में सज्जनों का मिलन भी नहीं चाहते हैं, क्योंकि उनके विरहरूपी तलवार से कटे हुए हृदय की कोई दवा ही नहीं होती है ॥ ८४ ॥

'सुकृतान्यपि कर्माणि राजभि सगरादिभि ।
अथ तान्येव कर्माणि, ते चाऽपि, प्रलय गताः' ॥ ८५ ॥

अन्वय —सगरादिभि राजभि सुकृतानि कर्माणि (कृतानि) तानि कर्माणि एव ते चापि प्रलय गता ॥ ८५ ॥

सगरादिभि = सगरनहुषादिभि । राजभि = नृपै सुकृतानि कर्माणि=यज्ञादी-नि पुण्यकर्माणि । ते चापि = नृपाश्चापि । प्रलय गता = विनष्टा ॥ ८५ ॥

सगर इत्यादि राजाओं ने बहुत से पुण्य कार्यों को किया था किन्तु आज उनके वे पुण्य कर्म तथा वे स्वय भी नष्ट हो गए । अर्थात् कर्ता और कर्म दोनों का विनाश हो गया ॥ ८५ ॥

'सञ्चित्य सञ्चिन्त्य तमुग्रदण्ड,
मृत्यु मनुष्यस्य विचक्षणस्य ।
वर्षाम्बुसिक्ता इव चर्मबन्धा,
सर्वे प्रयत्ना शिथिलीभवन्ति' ॥ ८६ ॥

अन्वय — तम् उग्रदण्ड मृत्यु सचिन्त्य मचिन्त्य विचक्षणस्य मनुष्यस्य सर्वे प्रयत्ना वर्षाम्बुसिक्ता चर्मबन्धा इव शिथिलीभवन्ति ॥ ८६ ॥

उग्रदण्डम् = अतितीक्ष्णदण्डम् । मृत्युम् = मरणम् । मचिन्त्य सचिन्त्य = सस्मृत्य सस्मृत्य । विचक्षणस्य=कुशलस्य विदुष इत्यर्थ । मनुष्यस्य = नरस्य । सर्वे प्रयत्ना:= कार्यसिद्धे सर्वे प्रयासा । वर्षाम्बुसिक्ता = वर्षाजलक्लिन्ना । चर्मबन्धा = चर्मरज्जु-ग्रन्थय । इव = यथा । शिथिलीभवन्ति = शिथिलता प्राप्नुवन्ति ॥ ८६ ॥

प्राणी को प्राप्त होने वाले मृत्युरूपी महाभयानक दण्ड की बार-बार याद करके बुद्धिमान् मनुष्य के सम्पूर्ण प्रयास वर्षा के जल मे भीगे हुए चमड़े के बन्धन के समान ढीले पड़ जाते हैं । अर्थात् बुद्धिमान सांसारिक प्रयत्नों मे विमुख हो जाता है ॥ ८६ ॥

'यामेव रात्रि प्रथमामुपैति
गर्भे निवास नरवीर ! लोक ।
तत' प्रभृत्यस्खलितप्रयाण:,
स प्रत्यह मृत्युसमीपमेति' ॥ ८७ ॥

अन्वय —हे नरवीर, लोक याम् प्रथमाम् रात्रि गर्भे निवासम् उपैति तत प्रभृति अस्खलितप्रयाण स प्रत्यहम् मृत्युसमीपम् एति ॥ ८७ ॥

नरवीर = राजन् । लोक = प्राणी । प्रथमाम् = आद्याम् । रात्रिम् = रजनीम् । उपैति = प्राप्नोति । तत प्रभृति = गर्भनिवासमारभ्य । अस्खलितप्रयाण = अनवरुद्धगमन । स = मनुष्य । प्रत्यहम् = प्रतिदिनम् । मृत्युसमीपम् = मृत्यो सन्निकटम् । एति = आगच्छति ॥ ८७ ॥

हे राजन् , प्राणी सर्वप्रथम जिस रात्रि को गर्भ में निवास करता है उसी समय से वह अबाध गति से प्रतिदिन मृत्यु के निकट चलता जाता है ॥ ८७ ॥

अथ ससार विचारय, शोकोऽयमज्ञानस्य प्रपञ्च । पश्य—

ससारम् विचारय = विश्वगतिम् चिन्तय । अज्ञानस्य = अविवेकस्य ।

इसलिए इस ससार की स्थिति का विचार करो, यह शोक अज्ञान का ही प्रपञ्च है । देखो—

'अज्ञान कारण न स्याद् वियोगो यदि कारणम् ।
शोको दिनेषु गच्छत्सु वर्द्धतामपयाति किम्' ॥ ८८ ॥

अन्वय.—यदि (शोकस्य) अज्ञानस्य कारणम् न स्यात् (तस्य) कारणम् वियोग (स्यात् तर्हि) दिनेषु गच्छत्सु शोक वर्धताम् किन्नु (स) अपयाति किम् ॥ ८८ ॥

यदि शोक अज्ञानात् नोद्भवति, वियोगाज्जायते तर्हि किञ्चित्कालोपरान्ते, वियोगे विद्यमाने सति शोकोऽयम् वर्धताम् किन्तु स न वर्द्धते अपितु क्षयमुपयाति, अत शोकस्य कारणम् अज्ञानम् एव ॥ ८८ ॥

यदि अज्ञान शोक का कारण नहीं बल्कि वियोग शोक का कारण है तो कुछ दिनों के बीतने पर शोक को और भी बढ़ना चाहिए। (क्योंकि वियोग तो तब भी रहता है) किन्तु वह बढ़ता नहीं है अपितु धीरे-धीरे घटता जाता है। इससे प्रतीत होता है कि वियोग शोक का कारण नहीं बल्कि अज्ञान ही शोक का कारण होता है ॥ ८८ ॥

तद् भद्र ! तद् आत्मानमनुसन्धेहि, शोकचर्चा च परिहर । यत —

आत्मानम् = स्वात्मतत्त्वम् । अनुसन्धेहि = अन्वेषय । परिहर = परित्यज ।

इसलिए हे भद्र, आत्मा की खोज करो और इस शोक की चर्चा छोड़ो । क्योंकि—

'अकाण्डपातजाताना गात्राणा मर्मभेदिनाम्' ।
गाढशोकप्रहाराणामचिन्तैव महौषधम्' ॥ ८९ ॥

अन्वय —अकाण्डपातजातानाम् महौषधम् ॥ ८९ ॥

अकाण्डपातजातानाम् = आकस्मिकोपस्थितानाम् । गात्राणाम् = शरीराणाम् । मर्मभेदिनाम् = पीडाप्रदानाम् । गाढशोकप्रहाराणाम् = घनीभूतशोकाघातानाम् । अचिन्तैव = चिन्ताराहित्यमेव । महौषधम् = सफलभैषज्यम् ॥ ८९ ॥

आकस्मिकरूप से असमय में ही आने वाले और शरीर के मर्म का भेदन करने वाले अत्यन्त घने शोक के आघातों की सबसे बड़ी औषधि है उनकी चिन्ता ही छोड़ देना अर्थात् शोक की चिन्ता ही शोक को बढ़ा कर कष्ट देने वाली होती है ॥ ८९ ॥

ततस्तद्वचन निशम्य, प्रबुद्ध इव कौण्डिन्य उत्थायाऽब्रवीत्–तदलमिदानी गृह-नरक-वासेन, वनमेव गच्छामि ।'

तद्वचनम् = कपिलस्योपदेशम् । निशम्य = श्रुत्वा । गृहनरकवासेन = गृहरूपनरकस्थित्या ।

इसके पश्चात् यह बातें सुन कर सोते से जगे हुए के समान कौण्डिन्य ने उठ कर कहा—तो अब इस घररूपी नरक में रहना हो चुका । अब तो मैं जगल में जा रहा हूँ ।

कपिल पुनराह—

'वनेऽपि दोषा. प्रभवन्ति रागिणा,
गृहेऽपि पञ्चेन्द्रियनिग्रहस्तप ।
अकुत्सिते कर्मणि य प्रवर्त्तते,
निवृत्तरागस्य गृह तपोवनम्' ॥ ९० ॥

अन्वय —रागिणाम् वनेऽपि दोपा प्रभवन्ति, पञ्चेन्द्रियनिग्रह एव गृहेऽपि तप (अत एव) य अकुत्सिते कर्मणि प्रवर्तते तस्य निवृत्तरागस्य गृहम् तपोवनम् भवति ॥ ९० ॥

रागिणाम् = विपयासक्तहृदयानाम् । वनेऽपि = काननेऽपि, दोपा = कामक्रोधादिविकारा । प्रभवन्ति = सप्रजायन्ते । पञ्चेन्द्रियनिग्रह = नेत्रादीनाम् इन्द्रियाणा सयम । गृहेऽपि = विकारसभूतिस्थानेपि । तप एव = तपस्तुल्य भवति । य = पुरुप । अकुत्सिते = अनिन्दिते, शास्त्रसम्पादिते । कर्मणि = करणीये । प्रवर्तते = सलग्नो भवति । निवृत्तरागस्य = आसक्तिरहितस्य । गृहमपि तपोवनम् एव भवति ॥ ९० ॥

कपिल ने फिर कहा—

विषय वासनाओं म लिप्त रहने वाले वन में भी जाकर शोक-दु खादि प्रपञ्चों से छूट नहीं पाते हैं और पाँचो इन्द्रियों का यदि घर पर ही सयम किया जाय तो वही तप हो सकता है। जो शास्त्रविधानों के अनुसार कार्यों में लगा रहता है, उस विषय-वासनारहित के लिए घर ही तपोवन के समान है ॥ ९० ॥

यत —

'दु खितोऽपि चरेद्धर्म, यत्र कुत्राऽऽश्रमे रत ।
सम सर्वेषु भूतेषु, न लिङ्ग धर्मकारणम्' ॥ ९१ ॥

अन्वय —यत्र कुत्राश्रमे रत दु खित अपि सर्वेषु भूतेपु सम धर्मम् चरेत् (यत) लिङ्गम् धर्मकारणम् न (अस्ति) ॥ ९१ ॥

यत्र कुत्राश्रमे=यस्मिन्कस्मिन्नाश्रमे । रत =लग्न । सर्वेषु भूतेषु = सम्पूर्णप्राणिषु । सम =समबुद्धि भूत्वा । धर्मं चरेत्=धर्माचरणम् कुर्यात् । लिङ्गानि=आश्रमचिह्नानि । धर्मकारणम्=धर्मस्य हेतु । न=न भवति, अपि तु आचार एव हेतु. ॥९१॥

मनुष्य को चाहिए कि वह चाहे जिस किसी आश्रम में रहे किन्तु सभी प्राणियों के प्रति समान भाव रखता हुआ दु ख के समय भी धर्म का आचरण करता रहे। क्योंकि धर्म का आचरण सभी जगह हो सकता है केवल बाना बना लेना (वेशमात्र ही धारण कर लेना) ही धर्म का कारण नहीं होता ॥ ९१ ॥

उक्तञ्च—

'वृत्त्यर्थं भोजन येषा, सन्तानार्थं च मैथुनम् ।
वाक्सत्यवचनार्थाय, दुर्गाण्यपि तरन्ति ते' ॥ ९२ ॥

अन्वय —येषाम् भोजनम् वृत्त्यर्थम्, मैथुनम् सन्तानार्थम्, वाक् सत्यवचनार्थाय (भवति) ते दुर्गाणि अपि तरन्ति ॥ ९२ ॥

वृत्त्यर्थम् = प्राणधारणाय । मैथुनम् = सुरतम् । सन्तानार्थम् = सन्तानोत्पत्त्यर्थम् । वाक् = वाणी । सत्यवचनार्थम् = सत्योद्धाटनप्रयोजनाय । ते = महापुरुषा । दुर्गाणि = कृच्छ्राणि । तरन्ति = पार गच्छन्ति ॥ ९२ ॥

जो केवल जीने के लिए ही भोजन करते हैं, सतानोत्पत्ति के लिए ही सभोग करते हैं और वाणी का प्रयोग, सत्य का प्रदर्शन करने के लिए ही करते हैं, वे महापुरुष कठिन विपत्तियों से भी छुटकारा पा जाते हैं ॥ ९२ ॥

तथा हि—

'आत्मानदी सयमपुण्यतीर्था,
सत्योदका, शीलतटा, दयोर्मि ।
तत्राऽभिषेक कुरु पाण्डुपुत्र !
न वारिणा शुध्यति चाऽन्तरात्मा' ॥ ९३ ॥

अन्वय.—हे पाण्डुपुत्र, वारिणा च अन्तरात्मा न शुद्धयति अत आत्मानदी, सयमपुण्यतीर्था, सत्योदका, शीलतटा, दया ऊर्मि (अस्ति) तत्र अभिषेक कुरु ॥ ९३ ॥

महाभारते भीष्मपितामहेनैवमुक्तम्—हे पाण्डुपुत्र = हे युधिष्ठिर ! वारिणा = जलस्नानेन । आत्मानदी = आत्मा एव नदी । सयमपुण्यतीर्था = सर्वेन्द्रियाणाम् वशित्वमेव पवित्र तीर्थस्थान यस्या सा । सत्योदका = सत्यमेव जलम् यस्या सा । शीलतटा = सदाचारस्वभाव एव तट यस्या सा । दयोर्मि = दया भूतकरुणा एव ऊर्मि यस्याम् सा । अभिषेकम् = स्नानम् । मनोनिरोध एव आत्मशुद्धे कारणम् इत्यर्थ ॥ ९३ ॥

जैसा कि—(भीष्मपितामह ने युधिष्ठिर से कहा था—)

यह आत्मा ही नदी है, सयम ही पवित्र तीर्थ स्थान है, सत्य ही जल है, शील ही किनारा है, दया ही लहरें हैं । अत हे युधिष्ठिर ! इसी आत्मारूपी नदी में स्नान कीजिए तब अन्तरात्मा पवित्र होगा वह केवल जल से नहीं शुद्ध होता ॥ ९३ ॥

विशेषतश्च—

'जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधि-वेदनाभिरुपद्रुतम्।
ससारमिममुत्पन्नमसार त्यजत सुखम्' ॥ ९४ ॥

अन्वय —जन्म-मृत्यु‥ ‥‥ उत्पन्नम् इमम् असारम् ससारम् त्यजत सुखम् ॥ ९४ ॥

जरा = वृद्धावस्था । व्याधि = रोग । उपद्रुतम् = परिप्लुतम् । असारम् = निस्तत्त्वम् । असारससारपरित्याग एव सुखम् इत्यर्थ ॥ ९४ ॥

विशेष करके—

जन्म, मृत्यु, बुढापा, रोग, पीड़ा आदि मे भरे हुए इस तत्त्वरहित ससार का परित्याग करना ही सुख है ॥ ९४ ॥

यत —

'दु खमेवाऽस्ति, न मुख, यस्मात्तदुपलक्ष्यते ।
दु खार्तस्य प्रतीकारे सुखसज्ञा विधीयते' ॥ ९५ ॥

अन्वयः—(अस्मिन् ससारे) दु खमेव अस्ति, सुख नास्ति यस्मात् तत् (एव) उपलक्ष्यते । दु खार्तस्य प्रतीकारे सुखसज्ञा विधीयते ॥ ९५ ॥

अस्मिन् ससारे । सुख न = सुखात्मक किञ्चिदपि नास्ति । यस्मात् = यत । तत् = दु खमेव । उपलक्ष्यते = दृश्यते । दु खार्तस्य = दु खै पीडितस्य । प्रतीकारे = दु खापनयनप्रयत्ने ॥ ९५ ॥

क्योंकि—

इस ससार में सचमुच दु ख है सुख कहीं भी नहीं है इसीलिए दु ख ही दिखाई देता है । किन्तु दु ख से पीड़ित के दु खों से छुटकारा पाने के प्रयत्न को ही लोग सुख नाम से पुकारते हैं ॥ ९५ ॥

कौण्डिन्यो ब्रूते—'एवमेव' । ततोऽह तेन शोकाऽऽकुलेन ब्राह्मणेन शप्तो, यद्—'अद्यारभ्य मण्डूकाना वाहन भविष्यसि'—इति । कपिलो ब्रूते 'सम्प्रत्युपदेशाऽसहिष्णुर्भवान् , शोकाऽऽविष्ट ते हृदयम् । तथापि कार्यं शृणु'—

एवमेव = सत्यमेव । तेन = ब्राह्मणेन । शोकाकुलेन = शोकव्याकुलेन । असहिष्णु = ग्रहणे अशक्त । शोकाविष्टम् = शोकाभिभूतम् । हृदयम् = चित्तम् ।

कौण्डिन्य ने कहा—हाँ, आपका कहना बिल्कुल ठीक है। सर्पने कहा कि 'उसी शोक से व्याकुल कौण्डिन्य ब्राह्मण ने मुझे शाप दिया कि तुम आज से मेढकों का वाहन बनोगे।' तब कपिल ने कहा—'इस समय उपदेश ग्रहण करने में तुम असमर्थ हो। तुम्हारा हृदय शोक से दबा हुआ है फिर भी कर्तव्य कर्म सुनो—

'सङ्गः सर्वाऽऽत्मना त्याज्य', स चेत्यक्तु न शक्यते।
स सद्भिः सह कर्त्तव्य, सता सङ्गो हि भेषजम्' ॥ ९६ ॥

अन्वय.—सङ्ग सर्वात्मना त्याज्य (किन्तु) चेत् स त्यक्तु न शक्यते (तर्हि) स सद्भि सह कर्तव्य (यत) सता सङ्ग हि भेषजम् ॥ ९६ ॥

सङ्ग = सम्बन्ध। चेत् = यदि। त्यक्तु न शक्यते = त्याज्य न भवति। स सद्भि = सज्जने सह सम्बन्ध। कर्तव्य = करणीय। सता सङ्ग = सत्सम्बन्ध। भेषजम् = शोकव्याधे औषधम् ॥ ९६ ॥

इस ससार में सम्बन्ध का सर्वथा परित्याग कर देना चाहिए और यदि वह पूर्णत छोड़ा न जा सके तो सज्जनों के साथ करना चाहिए क्योंकि सासारिक रोगों की एकमात्र दवा सज्जनों का सहवास है ॥ ९६ ॥

अन्यच्च—

'काम सर्वाऽऽत्मना हेय, स चेद्धातु न शक्यते।
स्वभार्यां प्रति कर्त्तव्य., सैव तस्य हि भेषजम् ॥ ९७ ॥

अन्वय —काम औषधम् ॥ ९७ ॥

काम = विषयेच्छा। हेय = परित्याज्य। हातु न शक्यते। स्वभार्यां प्रति = स्वपत्नीम् प्रति। तस्य = कामोपशमस्य। भेषजम् = औषधम् ॥ ९७ ॥

कामवासना का सर्वथा परित्याग कर देना चाहिए और यदि वह पूर्णत छोड़ी न जा सके तो उसे अपनी पत्नी तक ही सीमित रखनी चाहिए क्योंकि वही वासना तृप्ति का एकमात्र औषधि है ॥ ९७ ॥

एतच्छ्रुत्वा स कौण्डिन्यः, कपिलोपदेशामृतप्रशान्तशोकानलो, यथाविधि दण्डग्रहण कृतवान्। अतो 'ब्राह्मणशापान्मण्डूकान्वोढुमत्र तिष्ठामि'। अनन्तर तेन मण्डूकेन गत्वा मण्डूकनाथस्य जालपादनाम्नोऽग्रे तत्कथितम्। ततोऽसावागत्य मण्डूकनाथस्तस्य सर्पस्य पृष्ठमारूढवान्। स च सर्पस्त पृष्ठे कृत्वा चित्रपदक्रम बभ्राम।

उपदेशामृतप्रशान्तशोकानल = उपदेश एव अमृत पीयूषम् तेन प्रशान्त मन्दीभूत शोक एव अनल अग्नि यस्य स । यथाविधि = यथाशास्त्रम् । दण्डग्रहणम् = सन्यासग्रहणम् । मण्डूकान् = भेकान् । वोढुम् = वहनाय । अत्र = तटाकस्य तटे । पृष्ठमारूढवान् = पृष्ठोपरि आरुरोह । तम् = जालपादम् मण्डूकनाथम् । पृष्ठे कृत्वा = पृष्ठोपरि आरोप्य । चित्रपदक्रमम् = विचित्राभि गतिभि ।

यह सुनकर, कपिल के उपदेशरूपी अमृत से कौण्डिन्य को शोकाग्नि शान्त हो गई और उसने विधिपूर्वक सन्यास ले लिया । इसलिए ब्राह्मण के शाप से मेढकों को ढोने के लिए मैं यहाँ पड़ा हूँ । इसके पश्चात् उस मेढक ने जाकर यह सारी बातें मण्डकों के राजा जालपाद से कह सुनायीं । तब वह मेढकों का राजा वहाँ आकर साँप की पीठ पर चढ गया और वह साँप उसे पीठ पर लेकर विचित्र गति से उसे इधर-उधर घुमाने लगा ।

परेद्युश्चलितुमसमर्थं त मण्डूकनाथोऽवदत्—'किमद्य भवान्मन्दगति ?' सर्पो ब्रूते—'देव ! आहारविरहादसमर्थोऽस्मि ।

परेद्यु = द्वितीये दिने । चलितुमसमर्थम् = गन्तुमक्षमम् । त = मढकम् ।' अवदत = अगदत । आहारविरहात = भोजनाभावात । असमर्थोऽस्मि = गन्तुमशक्तोऽस्मि ।

दूसरे दिन साँप को चलने में असमर्थ देखकर मण्डूकराज ने कहा—'आज आप धीरे-धीरे क्यों चल रहे हैं ।' साँप ने कहा—राजन्, भोजन न मिलने के कारण असमर्थ हो गया हू ।

मण्डूकनाथोऽवदत्—'अस्मादाज्ञया मण्डूकान्भक्षय ।' तत 'गृहीतोऽय महाप्रसाद' इत्युक्त्वा, क्रमशो मण्डूकान् खादितवान् । अथ निर्मण्डूक सरो विलोक्य मण्डूकनाथोऽपि तेन खादित. । अतोऽह ब्रवीमि—'स्कन्धेनाऽपि वहेच्छत्रून्' इत्यादि ।

गृहीत = स्वीकृत । अय महाप्रसाद = महानुग्रह । निर्मण्डूकम् = मण्डूकेन रहितम् । सरो विलोक्य = तटाकम् दृष्ट्वा तेन = सर्पेण । खादित = भक्षित ।

मण्डकराज ने कहा—हमारी आज्ञा से मेढकों को खाया करो । तब 'आपकी यह कृपा स्वीकार है' ऐसा कह कर वह मेढकों को खाने लगा और जब तालाब मेढकों से रहित हो गया तो उसने मण्डूकराज को भी खा डाला । इसीलिए मैं कह रहा हूँ कि—'शत्रु को भी कंधे पर ग्रहण करना चाहिए' इत्यादि ।

'देव ! यात्विदानीं पुरावृत्ताऽऽख्यानकथन, सर्वथा सन्धेयोऽय हिरण्यगर्भो राजा, सन्धीयता'मिति मे मति । राजोवाच—'कोऽय

भवतो विचार· ? यतो जितस्तावदयमस्माभि । ततो यद्यस्मत्सेवया वसति, तदाऽऽस्ताम्, नो चेद्विगृह्यताम्' ।

यात्विदानीम् = आस्ताम् तावत् । पुनरावृत्ताख्यानकथनम् = पूर्वघटितघटना· वचनम् । मे मति = मम बुद्धि । जित = स्वाधीनीकृत । सेवया = दास्येन । आस्ताम् = स्वभूमौ तिष्ठतु । विगृह्यताम् ।

राजन्, अब पुरानी कथाओं का कहना निष्प्रयोजन है अत सधि करने योग्य राजा हिरण्यगर्भ से सधि करना ही उचित है, यही मेरी राय है। राजा चित्रवर्ण ने कहा—यह तुम्हारा कैसा विचार है ? क्योंकि हम लोगों ने उसे पराजित कर दिया है इस लिए यदि वह हमारी अधीनता में रहना चाहे तो अपने देश में रह सकता है, नहीं तो इससे लड़ना ही चाहिए।

अत्राऽन्तरे जम्बूद्वीपादागत्य शुकेनोक्त—'देव ! सिंहलद्वीपस्य सारसो राजा सम्प्रति जम्बूद्वीपमाक्रम्याऽवतिष्ठते । राजा ससम्भ्रम ब्रूते—'किं किम् ?' । शुक· पूर्वोक्त कथयति ।

गृध्र स्वगतमुवाच—'साधु रे चक्रवाक मन्त्रिन् ! साधु ।' राजा सकोपमाह—'आस्ता तावदय, गत्वा तमेव समूलमुन्मूलयामि' । दूरदर्शी विहस्याऽऽह—

सम्प्रति = इदानीम् । आक्रम्य = स्वसेनया परिवृत्य । ससम्भ्रमम् = साश्चर्यम् । तमेव = सारसमेव । उन्मूलयामि = विनाशयामि ।

इसी बीच जम्बूद्वीप से आकर सुग्गे ने कहा 'राजन्, सिंहलद्वीप के राजा सारस ने इस समय जम्बूद्वीप पर चढाई करके घेर लिया है ।' राजा चित्रवर्ण अचकचा कर बोल उठा—क्या कहा ? । सुग्गे ने पहिले कही हुई बात फिर दुहरा दी ।

गृद्ध ने मन ही मन कहा—मन्त्री चक्रवाक तुम धन्य हो और तुमने अच्छा किया । राजा ने क्रोध से कहा—'अब यहाँ की सारी बातें छोड़ो, अब वहाँ चलकर मैं पहिले उसे जड़मूल से नष्ट कर डालूँगा ।' तब मन्त्री दूरदर्शी ने हँस कर कहा—

'न शरन्मेघवत्कार्यं वृथैव घनगर्जितम् ।
परस्याऽर्थमनर्थं वा प्रकाशयति नो महान्' ॥ ९८ ॥

अन्वय —(नरेण) शरन्मेघवत् वृथैव घनगर्जितम् न कार्यम् । महान् परस्यार्थम् अनर्थम् वा न प्रकाशयति ॥ ९८ ॥

शरन्मेघवत् = शरत्कालस्य पयोदवत् । वृथैव = निरर्थकम् । घनगर्जितम् = गम्भीरध्वनि, स्वकार्यस्य प्रलाप । न कार्यम् = न करणीयम् । महान् = उदारा·

शय । परस्य = शत्रोरपि । अर्थमनर्थम् = उचितानुचितम् । न प्रकाशयति = स्व-मुखेन न कथयति ॥ ६८ ॥

शरद् ऋतु के बादल के समान व्यर्थ गरजना नहीं चाहिए अर्थात् व्यर्थ ही डींग नहीं हाँकनी चाहिए। बडे लोग दूसरों का जो कुछ भी भला बुरा करते हैं उसे अपने मुँह से नहीं कह सुनाते हैं ॥ ९८ ॥

अपरञ्च—

'एकदा न विगृह्णीयाद्बहून् राजाऽभिघातिन ।
सदर्पोऽप्युरगः कीटैर्बहुभिर्नाश्यते ध्रुवम्' ॥ ९९ ॥

अन्वय —राजा एकदा बहून् अभिघातिन न विगृह्णीयात् बहुभि कीटै सदर्प अपि उरग ध्रुवम् नाश्यते ॥ ९९ ॥

एकदा = एकस्मिन् एव काले । अभिघातिन = आक्रामकान् शत्रून् । न विगृ-ह्णीयात् = न युध्येत् । कीटै = कृमिभि । सदर्प = सगर्व । उरग = सर्प । ध्रुवम् = निश्चितम् ॥ ९९ ॥

एक ही साथ प्रहार करने वाले बहुत से शत्रुओं के साथ राजा को कभी नहीं लड़ना चाहिए। क्योंकि बहुत से कीडे-मकोड़ों के द्वारा अत्यन्त अभिमानी साँप भी मारा जाता है ॥ ९९ ॥

'देव ! किमितो विना सन्धान गमनमस्ति ? । यतस्तदाऽस्माक पश्चा-त्प्रकोपोऽनेन कर्त्तव्य. ।

इत = अस्मात् स्थानात् । सन्धानम् बिना = बिना सन्धिम् । पश्चात् = पृष्ठत । प्रकोप = आक्रमणम् ।

राजन्, क्या यहाँ से सन्धि किए बिना ही जाना उचित है ? क्योंकि यह पीछे से हम लोगों पर आक्रमण कर देगा । और भी—

अपरञ्च—

'योऽर्थतत्त्वमविज्ञाय क्रोधस्यैव वश गत ।
स तथा तप्यते मूढो, ब्राह्मणो नकुलाद्यथा' ॥ १०० ॥

अन्वय—य अर्थतत्त्वम् अविज्ञाय क्रोधस्य एव वशगत स मूढ तथा तप्यते यथा नकुलात् ब्राह्मण (तप्तोऽभवत्) ॥ १०० ॥

य = पुरुष । अर्थतत्त्वम् = वस्तुस्थितिम् । अविज्ञाय = अविचार्य । क्रोधस्य वश गत = क्रुद्ध्यति । स मूढ = स मूर्ख । तप्यते = मनस्ताप प्राप्नोति । नकुलात् ब्राह्मण = यथा ब्राह्मण अज्ञानात् नकुल हत्वा दु खितोऽभवत् ॥ १०० ॥

जो किसी विषय के तत्व को जाने बिना पहले ही क्रोध के वशीभूत हो जाता है, वह मूर्ख नेवले को मार कर ब्राह्मण के समान ही दुखी होता है ॥ १०० ॥

राजाऽऽह—'कथमेतत् ?' । दूरदर्शी कथयति—

राजा ने कहा—यह कैसे ? दूरदर्शी ने कहा—

कथा ११

अस्त्युज्जयिन्यां माधवो नाम विप्रः । तस्य ब्राह्मणी प्रसूता, (सा) बालाऽपत्यस्य रक्षार्थं ब्राह्मणमवस्थाप्य, स्नातुं गता । अथ ब्राह्मणाय राज्ञः पार्वणश्राद्धं दातुमाह्वानमागतम् । तच्छ्रुत्वा ब्राह्मणोऽपि सहज-दारिद्र्यादचिन्तयत्—'यदि सत्वरं न गच्छामि, तदाऽन्यः कश्चिच्छ्रुत्वा श्राद्धं ग्रहीष्यति । यतः—

विप्रः = ब्राह्मणः । प्रसूता = कृतप्रसवा । बालापत्यस्य = स्वशिशोः । रक्षार्थम्= रक्षणाय । ब्राह्मणमवस्थाप्य = स्वपतिम् तत्र नियोज्य । पार्वणश्राद्धं दातुम् = श्राद्ध-दक्षिणादानाय । आह्वानमागतम् = आमन्त्रणं प्राप्तम् । सहजदारिद्र्यात् = स्वाभा-विकाकिञ्चनत्वात् । अचिन्तयत् = व्यचारयत् । सत्वरम् = शीघ्रम् । अन्यः कश्चित् = कश्चिदन्यः ब्राह्मणः । श्राद्धम् = श्राद्धदक्षिणाम् ॥

उज्जयिनी में माधव नाम का एक ब्राह्मण था। उसकी पत्नी को बच्चा हुआ। वह पुत्र की रक्षा करने के लिए वहाँ ब्राह्मण को बिठा कर स्नान करने चली गयी। इसी बीच श्राद्ध का दान लेने के लिए राजा के यहाँ से उस ब्राह्मण को बुलावा आया। यह सुनकर स्वभाव से ही दरिद्र ब्राह्मण ने विचार किया कि यदि शीघ्र ही न जाऊँगा तो कोई दूसरा ब्राह्मण आकर उसे ले लेगा। क्योंकि—

> 'आदेयस्य प्रदेयस्य, कर्त्तव्यस्य च कर्मणः ।
> क्षिप्रमक्रियमाणस्य कालः, पिबति तद्रसम्' ॥ १०१ ॥

अन्वयः—आदेयस्य प्रदेयस्य कर्तव्यस्य कर्मणः च क्षिप्रम् अक्रियमाणस्य कालः तद् रसम् पिबति ॥ १०१ ॥

आदेयस्य = ग्रहणयोग्यस्य । प्रदेयस्य = दानस्य, कर्तव्यस्य कर्मणः = करणीयस्य कार्यस्य । क्षिप्रम् = शीघ्रम् । अक्रियमाणस्य = न कृतस्य । कालः = समयः । तस्य रसम् = तत्त्वम् । पिबति = पानं करोति, विनाशयतीति भावः ॥ १०१ ॥

लेने, देने तथा करने योग्य काम करने में शीघ्रता न करने के कारण समय उसके रस को पी जाता है अर्थात् उचित समय के बीत जाने पर काम बिगड़ जाता है ॥ १०१ ॥

किन्तु बालकस्याऽत्र रक्षको नास्ति। तत्किं करोमि?। यातु। चिरकालपालितमिमं नकुलं पुत्रनिर्विशेषं बालकरक्षायां व्यवस्थाप्य गच्छामि। तथा कृत्वा गतः। ततस्तेन नकुलेन बालकसमीपमागच्छन् कृष्णसर्पो दृष्टो, व्यापाद्य कोपात्खण्डं खण्डं कृत्वा, भक्षितश्च। ततोऽसौ नकुलो ब्राह्मणमायान्तमवलोक्य, रक्तविलिप्तमुखपादः, सत्वरमुपगम्य, तच्चरणयोर्लुलोठ। ततः स विप्रस्तथाविधं तं दृष्ट्वा 'मम बालकोऽनेन खादितः' इत्यवधार्य नकुलं व्यापादितवान्। अनन्तरं यावदुपसृत्याऽपत्यं पश्यति ब्राह्मणस्तावद्बालकः सुस्थः स्वपिति, सर्पश्च व्यापादितस्तिष्ठति। ततस्तमुपकारकं नकुलं निरीक्ष्य, भावितचेताः स ब्राह्मणः परं विषादमगमत्। अतोऽहं ब्रवीमि—'योऽर्थतत्त्वमविज्ञाय'—इत्यादि॥

चिरकालात् पालितम् = बहुदिनात् रक्षितम्। पुत्रनिर्विशेषम् = पुत्रतुल्यम्। बालकरक्षायाम् = शिशुरक्षणार्थम्। व्यवस्थाप्य = नियोज्य। आयान्तम् = आगच्छन्तम्। रक्तविलुप्तमुखपादः = रक्तरञ्जितमुखचरणः। सत्वरमुपगम्य = शीघ्रमेव गत्वा। तथाविधम् = रक्तरञ्जितमुखचरणम्। अवधार्य = निश्चित्य। उपसृत्य = समीपं गत्वा। अपत्यं = बालकम्। सुस्थः = निश्चिन्तः। निरीक्ष्य = विचार्य। भावितचेताः = भावपूर्णहृदयः, खिन्न इत्यर्थः। विषादमगमत् = दुःखितोऽभूत्।

किन्तु यहाँ बालक की रखवाली करने वाला कोई नहीं है। तो क्या करूँ? अच्छा, तो पुत्र के समान ही बहुत दिनों से पाले-पोसे गये इस नेवले को ही बालक की रक्षा में नियुक्त करके चला जाऊँ। ऐसा करके वह चला गया। इसके बाद उस नेवले ने बालक के पास आते हुए एक काले साँप को देखा और क्रोध में आकर उसे मार डाला तथा टुकड़े-टुकड़े करके खा डाला। फिर नेवला ब्राह्मण को आते हुए देख कर रक्त में सने हुए मुँह तथा पैरों को लिए हुए उसके चरणों पर लोटने लगा। उस ब्राह्मण ने नेवले को इस प्रकार देख कर यह निश्चय कर लिया कि इसने मेरे बच्चे को मार डाला है अतः उसने नेवले को भी मार डाला। इसके पश्चात् उसने घर में जाकर देखा तो बालक सकुशल सोया है और साँप मरा हुआ पड़ा है तब वह ब्राह्मण अपने प्रति उपकार करने वाले उस नेवले को देखकर अनेक भावनाओं से पूर्ण होकर अत्यन्त दुःखी हुआ। इसीलिए मैं कह रहा हूँ—'जो तत्त्व को समझे बिना इत्यादि।'

अपरञ्च—

'कामः, क्रोधस्तथा मोहो, लोभो, मानो, मदस्तथा।
षड्वर्गमुत्सृजेदेनमस्मिंस्त्यक्ते सुखी नृपः'॥ १०२॥

अन्वयः—काम ......षड्वर्गम् एनम् उत्सृजेत् अस्मिन् त्यक्ते नृप सुखी भवेत् ॥ १०२ ॥

मान = गर्व । षड्वर्गम् = कामादिशत्रुषड्वर्गम् । उत्सृजेत् = परित्यजेत् । अस्मिन् = कामादिषड्वर्गे ॥ १०२ ॥

और भी—राजा को चाहिए कि वह काम, क्रोध, लोभ, मोह, मान तथा मद नाम के छ शत्रुओं का परित्याग कर दे क्योंकि इसे छोड़ने पर ही वह सुखी हो सकता है ॥१०२॥

राजाऽऽह—'मन्त्रिन् ! एष ते निश्चय ?।' मन्त्री ब्रूते—'एवमेव'। यत:—

राजा ने कहा—'मंत्री, क्या तुम्हारा यही निश्चय है ?' मंत्री ने कहा—'हाँ यही क्योंकि—

'स्मृतिस्तत्परतार्ऽथेषु, वितर्को, ज्ञाननिश्चय ।
दृढता, मन्त्रगुप्तिश्च, मन्त्रिण परमो गुण' ॥ १०३ ॥

अन्वय —अर्थेषु तत्परता, स्मृति , वितर्क , ज्ञाननिश्चय , दृढता, मन्त्रगुप्ति च मन्त्रिण परम गुण अस्ति ॥ १०३ ॥

अर्थेषु = कर्तव्यकार्येषु । तत्परता = तत्सपादने एकचित्तता । स्मृति = स्मरण-शक्ति । वितर्क = कर्तव्याकर्तव्ये ऊहापोह । ज्ञाननिश्चय = दृढज्ञानम् । दृढता = स्वकार्ये दृढस्थिति । मन्त्रगुप्ति = मन्त्ररक्षा । परम = उत्कृष्ट ॥ १०६ ॥

स्मरण शक्ति, काम में सलग्नता, किसी विषय का पूर्ण विमर्श करना, ज्ञान का निश्चय, दृढता और मन्त्रणा को छिपाना—यह छ मन्त्रियों के श्रेष्ठ गुण होते हैं ॥ १०३ ॥

तथा च—

'सहसा विदधीत न क्रियामविवेक परमापदा पदम् ।
वृणते हि विमृश्य कारिण गुणलुब्धा स्वयमेव सम्पद.' ॥ १०४ ॥

अन्वय —सहसा क्रियाम् न विदधीत, अविवेक परमापदाम् पदम्, गुणलुब्धा. सम्पद स्वयमेव विमृश्य कारिणम् वृणते हि ॥ १०४ ॥

सहसा = झटिति, अविचार्य । क्रियाम् = कार्यम् । न विदधीत = न कुर्यात । अविवेक = अविचार । परमापदाम् = अत्युत्कृष्टानाम् विपदाम् । पदम्=स्थानम् । गुणलुब्धा = गुणप्रिया । विमृश्य कारिणम् = विविच्य कार्यशीलम् । सम्पद. = श्रिय' । वृणते = भजन्ते । हिर्निश्चये ॥ १०४ ॥

और भी—किसी काम को बिना विचारे नहीं करना चाहिए क्योंकि अविचार ही बहुत बड़ी आपत्तियों का कारण होता है। गुणों को चाहने वाली सम्पत्तियाँ विवेकी पुरुषों को स्वयम् ग्रहण करती हैं ॥ १०४ ॥

तद्देव ! यदीदानीमस्मद्वचन क्रियते, तदा सन्धाय गम्यताम्' । यत —

इसलिए हे राजन्, यदि आप इस समय हमारी बात मानें तो सन्धि करके यहाँ से चले चलिए। क्योंकि—

'यद्यप्युपायाश्चत्वारो निर्दिष्टा साध्यसाधने ।
सख्यामात्र फल तेषा, सिद्धि• साम्नि व्यवस्थिता' ॥ १०५ ॥

अन्वय.—यद्यपि साध्यसाधने चत्वार उपाया निर्दिष्टा किन्तु तेषाम् सख्यामात्रम् फलम् सिद्धि साम्नि व्यवस्थिता ॥ १०५ ॥

यद्यपि साध्यसाधने = कर्तव्यसाधने । चत्वार उपाया = सामदामदण्डभेदा । निर्दिष्टा = निहिता । तथापि तेषाम् = उपायानाम् सख्यामात्रम् फलम् = सख्यापूर्ति एव परिणाम । वस्तुत सिद्धि = कर्तव्यपूर्ति । साम्नि = सामाख्ये उपाये । व्यवस्थिता = स्थिता ॥ १०५ ॥

यद्यपि कार्यसिद्धि के लिए साम, दाम, दण्ड, भेद—नाम के चार उपाय बताए गए हैं किन्तु उनमें तीन की गणना तो सख्या पूरी करने के लिए ही है। वास्तव में कार्य की सिद्धि तो 'साम' से ही होती है ॥ १०५ ॥

राजाऽऽह—'कथमेव सत्वर सम्भाव्यते' ? । मन्त्री ब्रूते—'देव ! सत्वर भविष्यति' । यत —

राजा ने कहा—तो यह सधि इतनी जल्दी कैसे हो सकती है ?, मत्री ने कहा—'राजन्, शीघ्र ही होगी।' क्योंकि—

'मृद्घटवत्सुखभेद्यो, दु सन्धानश्च दुर्जनो भवति ।
सुजनस्तु कनकघटवद् दुर्भेद्यश्चाऽऽशु सन्धेय.' ॥ १०६ ॥

अन्वय.—दुर्जन मृद्घटवत् सुखभेद्य दु सन्धान च भवति किन्तु सुजनस्तु कनकघटवत् दुर्भेद्य आशु सन्धेय च भवति ॥ १०६ ॥

दुर्जन = दुष्ट । मृद्घटवत् = मृत्कलशवत् । सुखभेद्य = सारल्येन भेदनीय. । दु सन्धान = काठिन्येन सधेय । सुजन = सज्जन । कनकघटवत् = सुवर्णकलशवत् । दुर्भेद्य = कठिनतया भेदनीय । आशु = शीघ्रमेव । सन्धेय = सधियोग्य ॥ १०६ ॥

जैसे मिट्टी का घड़ा आसानी से टूट सकता है किन्तु कठिनाई से जोड़ा जा सकता है उसी प्रकार दुष्टों की सन्धि मुश्किल से होती है किन्तु होकर भी वह आसानी से टूट जाती है और जैसे सोने का घड़ा कठिनाई से टूट सकता है किन्तु आसानी से जोड़ा जा सकता है उसी प्रकार सज्जनों की सन्धि सरलता से होती है जिसका टूटना बहुत कठिन होता है ॥ १०६ ॥

'अज्ञ सुखमाराध्य, सुखतरमाराध्यते विशेषज्ञ ।
ज्ञानलवदुर्विदग्ध ब्रह्माऽपि त नर न रञ्जयति' ॥ १०७ ॥

अन्वय —अज्ञ सुखम् आराध्य विशेषज्ञ सुखतरमाराध्यते ज्ञानलवदुर्विदग्धम् तम् नरम् ब्रह्मापि न रञ्जयति ॥ १०७ ॥

अज्ञ =मूर्ख । सुखम्=सारल्येन । आराध्य =स्वानुकूल्य । विशेषज्ञ = विद्वान् । सुखतरम्=आशु । आराध्यते=अनुकूलयितुम् शक्यते । ज्ञानलवदुर्विदग्धम्=स्वल्पज्ञानोन्मत्तम् । ब्रह्माऽपि=प्रजापतिरपि । त नर=त मनुष्यम् । न रञ्जयति=अनुकूलयितु न शक्नोति ॥ १०७ ॥

मूर्ख को सरलता से वश में किया जा सकता है, विद्वान् को और भी सरलता से अपने अनुकूल बनाया जा सकता है, किन्तु थोडे से ज्ञान पर अभिमान करने वाले व्यक्ति को ब्रह्मा भी नहीं प्रसन्न कर सकते हैं ॥ १०७ ॥

'विशेषतश्चाऽस्य धर्मज्ञो राजा, सर्वज्ञो मन्त्री च। ज्ञातमेतन्मया पूर्वं मेघवर्णवचनात्तत्कृतकार्यसन्दर्शनाच्च' । यत —

विशेषकर यह राजा अत्यन्त धार्मिक और मन्त्री बड़ा ज्ञानी है। यह मैंने मेघवर्ण के कथनों और उसके कार्यों को देखकर पहिले ही समझ लिया था। क्योंकि—

'कर्माऽनुमेयाः सर्वत्र परोक्ष-गुण-वृत्तय ।
तस्मात्परोक्षवृत्तीना फलैः कर्माऽनुभाव्यते' ॥ १०८ ॥

अन्वय.—परोक्षगुणवृत्तय. सर्वत्र कर्मानुमेया तस्माद परोक्षवृत्तीनाम् कर्म फलै अनुभाव्यते ॥ १०८ ॥

परोक्षगुणवृत्तय =अप्रत्यक्षगुणव्यापारा । कर्मानुमेया =कर्मणैव अनुमान्या । परोक्षवृत्तीनाम्=अप्रत्यक्षव्यापाराणाम् । कर्म=कर्तव्यम् । फलै =परिणामै । अनुभाव्यते=ज्ञाप्यते ॥ १०८ ॥

आँखों से ओझल रहने वाले मनुष्य के गुण और स्वभाव उसके कार्यों द्वारा ही जाने जाते हैं। इसलिए परोक्ष-वृत्तियों वाले मनुष्यों के कार्य उसके फल द्वारा ही अनुमान किए जाते हैं ॥ १०८ ॥

राजाऽऽह–'अलमुत्तरोत्तरेण, यथाभिप्रेतमनुष्ठीयताम्' । एतन्मन्त्रयित्वा गृध्रो महामन्त्री–'तत्र यथाऽर्हं कर्त्तव्यम्' इत्युक्त्वा, दुर्गाऽभ्यन्तरं चलितः । ततः प्रणिधिबकेनाऽऽगत्य राज्ञो हिरण्यगर्भस्य निवेदितम्–'देव ! सन्धिं कर्तुं महामन्त्री गृध्रोऽस्मत्समीपमागच्छति' । राजहंसो ब्रूते–'मन्त्रिन् ! पुनरभिसन्धिना केनचिदत्राऽऽगमनम् ?' । सर्वज्ञो विहस्याऽऽह–'देव ! न शङ्काऽऽस्पदमेतत् । यतोऽसौ महाशयो, दूरदर्शी ! अथवा स्थितिरियं मन्दमतीनाम्, कदाचिच्छङ्कैव न क्रियते, कदाचित्सर्वत्र शङ्का ? ।

तथा हि—

अलम् = निष्प्रयोजनम् । उत्तरोत्तरेण = वादविवादेन । अभिप्रेतम् = रुचितम् । अनुष्ठीयताम् = क्रियताम् । तत्र = सन्धिविधाने । यथार्हम् = यथोचितम् । अभिसन्धिना = कपटेन । शङ्कास्पदम् = शङ्कायोग्य । महाशय = उदारहृदय । मन्दमतीनाम् = अविवेकिनाम् । स्थिति = प्रकृति ।

राजा ने कहा—यह वाद-विवाद व्यर्थ है इसलिए आपको जैसा अच्छा लगे वैसा ही कीजिए । यह सलाह करके महामन्त्री गृध्र ने कहा—'इस विषय में जैसा उचित होगा वैसा ही किया जायगा' ऐसा कह कर वह किले के भीतर चला गया । तब गुप्तचर बगुले ने आकर राजा हिरण्यगर्भ से निवेदन किया कि राजन्, 'महामन्त्री गृध्र हमलोगों के पास सन्धि करने के लिए आ रहे हैं ।' राजहंस ने कहा कि 'मन्त्रिन्, वह दुष्ट गृध्र किसी छल की भावना से आता होगा ?' सर्वज्ञ ने हँस कर कहा—'राजन् यहाँ शंका करने की आवश्यकता नहीं है । क्योंकि मन्त्री गृध्र अत्यन्त उदार स्वभाव का है । और मन्दबुद्धि वालों की स्थिति ही यही होती है, कभी तो वह शंका ही नहीं करते और कभी सब जगह शंका करने लगते हैं । जैसा कि—

'सरसि बहुशस्ताराच्छायेक्षणात्परिवञ्चितः,
कुमुदविटपाऽन्वेषी हंसो निशास्वविचक्षणः ।
न दशति पुनस्ताराशङ्की दिवाऽपि सितोत्पलं,
कुहकचकितो लोकः सत्येऽप्यपायमपेक्षते' ॥ १०९ ॥

अन्वय —निशासु कुमुदविटपान्वेषी अविचक्षणः हंसः सरसि ताराच्छायेक्षणात् बहुशः परिवञ्चितः दिवापि ताराशङ्की पुनः सितोत्पलम् न दशति (तथैव) कुहकचकितः लोकः सत्ये अपि अपायम् अपेक्षते ॥ १०९ ॥

निशासु = रात्रौ । कुमुदविटपान्वेषी = कुमुदवल्ल्यन्वेषणपर । अविचक्षण = बुद्धिरहित । हस = मराल । सरसि = तडागे । ताराच्छायेक्षणात् = तारकाप्रतिबिम्बदर्शनात् । बहुश = अनेकधा । परिवञ्चित = छलित सन् । दिवापि = दिनेऽपि । ताराशङ्की = तारकाशङ्कायुक्तं स॰ = हस । पुन = भूय । सितोत्पलम् = सितकमलम् । न दशति = न भुङ्क्ते । कुहकचकित = कपटव्यवहारेण वञ्चित । लोक = जन । सत्येऽपि = सत्ये विषयेऽपि । अपायम् = विघ्नम् । अपेक्षते = आशङ्कते ॥१०९॥

रात्रि के समय कुमुदनी की खोज करने वाला हस तालाब में बहुत से तारों की छाया देख कर धोखा खा जाता है अर्थात् उसे कुमुद समझ कर बार-बार उसके पास जाता और निराश हो जाता है किन्तु वही तारों की शका में पड़ा हुआ राजहस दिन में सफेद कमल को भी नहीं भक्षण करता क्योंकि कपट-व्यवहारों से धोखा खाए हुए लोग सच्ची वस्तु में भी अनिष्ट की शका करते हैं ॥ १०९ ॥

'दुर्जनदूषितमनस सुजनेष्वपि नाऽस्ति विश्वास॰ ।
बाल: पायसदग्धो दध्यपि फूत्कृत्य भक्षयति' ॥ ११० ॥

अन्वयः—दुर्जनदूषितमनस विश्वास सुजनेष्वपि नास्ति (यथा) पायसदग्ध बाल दध्यपि फूत्कृत्य भक्षयति ॥ ११० ॥

दुर्जनदूषितमनस = दुष्टेन परिवञ्चितस्य । विश्वास = प्रत्यय । सुजनेष्वपि = सज्जनेष्वपि । पायसदग्ध = दुग्धसिद्धौदनदग्ध । बाल = बालक । फूत्कृत्य = सफूत्कारम् । भक्षयति = अत्ति ॥ ११० ॥

जिनका हृदय दुष्टों के व्यवहार से दूषित हो जाता है वे सज्जनों के व्यवहार पर भी विश्वास नहीं करते । दूध का (खीर का) जला हुआ बालक दही को भी फूँक-फूँक कर खाता है ॥ ११० ॥

तद् देव ! यथाशक्ति तत्पूजार्थं रत्नोपहारादिसामग्री सुसज्जीक्रियताम् । तथाऽनुष्ठिते सति स गृध्रो मन्त्री दुर्गद्वाराच्चक्रवाकेणोपगम्य, सत्कृत्याऽऽनीय, राजदर्शनं कारितो, दत्ताऽऽसने चोपविष्ट॰ । चक्रवाक उवाच—मन्त्रिन् ! युष्मदायत्त सर्वं, स्वेच्छयोपभुज्यतामिद राज्यम्' । राजहसो ब्रूते—'एवमेव' । दूरदर्शी कथयति—'एवमेवैतत्, किन्त्विदानीं बहुप्रपञ्चवचन निष्प्रयोजनम्' । यत —

तत्पूजार्थम् = मन्त्रिस्वागतार्थम् । उपगम्य = उपस्थाय । सत्कृत्य = सत्कार कृत्वा । बहुप्रपञ्चवचनम् = अनेकप्रशसावाक्यविस्तार । निष्प्रयोजनम् = व्यर्थम् ।

इसलिए हे राजन्, उसका सत्कार करने के लिए यथाशक्ति रत्न आदि भेंट की सामग्री तैयार कराइए। इस प्रकार की व्यवस्था हो जाने पर मन्त्री चक्रवाक ने किले के द्वार पर जाकर मन्त्री गृद्ध को बडे सम्मान के साथ लाकर राजा का दर्शन कराया और गृद्ध दिए हुए आसन पर बैठ गया। चक्रवाक ने कहा—'मन्त्री, यह सब कुछ अब तुम्हारे अधीन है। अत अपनी इच्छा के अनुसार इस राज्य का उपभोग कीजिए।' राजहंस ने कहा—यह बिल्कुल ठीक है ! दूरदर्शी गृद्ध ने कहा—यह तो ठीक है किन्तु इस समय इस प्रकार की प्रपञ्च की बातें करना व्यर्थ है। क्योंकि—

'लुब्धमर्थेन गृह्णीयात्, स्तब्धमञ्जलिकर्मणा।
मूर्खं छन्दानुरोधेन, याथातथ्येन पण्डितम्' ॥ १११ ॥

अन्वय—अर्थेन लुब्धम्, अञ्जलिकर्मणा स्तब्धम्, छन्दानुरोधेन मूर्खम्, याथातथ्येन पण्डितम् गृह्णीयात ॥ १११ ॥

अर्थेन = धनप्रदानेन। लुब्धम् = धनाभिलाषिणम्। अञ्जलिकर्मणा=प्रार्थनया। स्तब्धम् = गर्वोन्मत्तम्। छन्दानुरोधेन = अनुकूलव्यवहारेण। याथातथ्येन = सत्यकथनेन, गृह्णीयात = स्वानुकूल्यम् कुर्यात ॥ १११ ॥

लालची को धन से, अभिमानी को हाथ जोड कर, मूर्ख को उसके अनुसार काम करके और बुद्धिमान को सच्ची बातें कह कर अपने अनुकूल बना लेना चाहिए ॥ १११ ॥

अन्यच्च—

'सद्भावेन हरेन्मित्र, सम्भ्रमेण तु बान्धवान्।
स्त्री-भृत्यौ दान-मानाभ्या, दाक्षिण्येनेतराञ्जनान्' ॥ ११२ ॥

अन्वयः—मित्रम् सद्भावेन, बान्धवान् तु सम्भ्रमेण स्त्रीभृत्यौ दानमानाभ्याम्, इतरान् जनान् दाक्षिण्येन हरेत ॥ ११२ ॥

मित्रम् = सुहृदम्। सद्भावेन = सौहार्देन। बान्धवान् = स्वगोत्रजान्। सम्भ्रमेण = आदरातिशयेन। इतरान् जनान् = अन्यान् लोकान्। दाक्षिण्येन = आनुकूल्येन। हरेत = अनुरञ्जयेत ॥ ११२ ॥

और भी—सद्भाव से मित्रों को, सम्मान से बन्धुओं को, दान तथा मान से स्त्री और सेवक को और उदारता से अन्य लोगों को अपने अनुकूल बनाना चाहिए ॥ ११२ ॥

'तदिदानी सन्धात् गम्यताम्। महाप्रतापश्चित्रवर्णो राजा।'

चक्रवाको ब्रूते—'यथा सन्धान कार्यं, तदप्युच्यताम्'। राजहंसो ब्रूते—'कति प्रकारा सन्धीना सम्भवन्ति'?। गृध्रो ब्रूते—कथयामि। श्रूयताम्'—

सन्धातु सन्धिकरणार्थम् । गम्यताम् = चित्रवर्णमनुगम्यताम् । महाप्रताप = महापराक्रम । यथा = येन प्रकारेण । सन्धानम् कार्यम् = सन्धि विधेय ।

इसलिए इस समय सन्धि करने के लिए राजा चित्रवर्ण के पास चलिए । चक्रवाक ने कहा—'जिस प्रकार सधि करनी होगी उसे भी बताइए ।' राजहस ने कहा—'सन्धि कितने प्रकार की होती है ?' गृद्ध ने कहा—'कह रहा हूँ' सुनिये—

'बलीयसाऽभियुक्तस्तु नृपो नाऽन्यप्रतिक्रिय. ।
आपन्न , सन्धिमन्विच्छेत्कुर्वाण कालयापनम्' ॥ ११३ ॥

अन्वय —बलीयसाभियुक्त, नान्यप्रतिक्रिय आपन्न नृप कालयापनम् कुर्वाणा. सन्धिम् अन्विच्छेत् ॥ ११३ ॥

बलीयसाभियुक्त = बलवता शत्रुणाक्रान्त । नान्यप्रतिक्रिय = नान्योपाय । आपन्न' = विपत्तिमुपगत । कालयापनम् = समययापनम् । कुर्वाण = कर्त्तुमिच्छु । सन्धिम् = सन्धानम् । अन्विच्छेत् = अभिलषेत् ॥ ११३ ॥

बलवान शत्रु से आक्रान्त होने पर जब कोई उपाय न रह जाय तो समय काटने के लिए उस विपत्ति में पड़े हुए राजा को शत्रु से सन्धि कर लेनी चाहिए' ॥ ११३ ॥

'कपाल, उपहारश्च, सन्तान., सङ्गतस्तथा ।
उपन्यास , प्रतीकार , सयोग , पुरुषाऽन्तरः ॥ ११४ ॥
अदृष्टनर, आदिष्ट, आत्माऽऽदिष्ट, उपग्रह ।
परिक्रयस्तथोच्छिन्नस्तथा च परभूषण' ॥ ११५ ॥
स्कन्धोपनेयः सन्धिश्च, षोडशैते प्रकीर्तिता ।
इति षोडशक प्राहु. सन्धि सन्धिविचक्षणा ' ॥ ११६ ॥

अन्वय.—कपाल षोडशकम् सधिम् प्राहु ॥ ११४–११६ ॥

कपाल, उपहार, सन्तान, सगत, उपन्यास, प्रतीकार, सयोग, पुरुषान्तर, अदृष्टनर, आदिष्ट, आत्मादिष्ट, उपग्रह, परिक्रय, उच्छिन्न, परभूषण और स्कन्धोपनेय—इस प्रकार विद्वान लोगों ने सधि के सोलह प्रकार बतलाए हैं ॥ ११४–११६ ॥

'कपालसन्धिर्विज्ञेय केवल समसन्धित' ।
सम्प्रदानाद्भवति य उपहारः स उच्यते' ॥ ११७ ॥

अन्वय —केवल समसन्धित कपालसन्धि विज्ञेय य सम्प्रदानाद् भवति स उपहार उच्यते ॥ ११७ ॥

समसन्धित = समानयो बलशालिनो सन्धि । सम्प्रदानात् = धनादिप्रदानात् । उच्यते = कथ्यते ॥ ११७ ॥

समान बलवालों की आपस में की गई सधि को कपालसन्धि और कर, उपहार आदि देकर की गई सन्धि उपहारसन्धि कही जाती है ॥ ११७ ॥

सन्तानसन्धिर्विज्ञेयो दारिकादानपूर्वक. ।
सद्भिस्तु सङ्गत सन्धिर्मैत्रीपूर्व उदाहृत ॥ ११८ ॥

अन्वय —दारिकादानपूर्वक (सन्धान) सन्तानसन्धि विज्ञेय, सद्भि मैत्रीपूर्व सगत सन्धि उदाहृत ॥ ११८ ॥

दारिकादानपूर्वक = पुत्रीदानयुक्त । सद्भि. = सज्जने । मैत्रीपूर्व = मैत्रीयुक्त कृत सन्धान । उदाहृत = कथित ॥ ११८ ॥

प्रतिपक्षी को कन्या देकर जो सधि की जाती है उसे सन्तानसधि और सज्जनों में परस्पर मैत्रीभाव से जो सधि की जाती ह उसे सगतसधि कहते है ॥ ११८ ॥

यावदायु प्रमाणस्तु समानाऽर्थप्रयोजन॰ ।
सम्पत्तौ वा, विपत्तौ वा, कारणैर्यो न भिद्यते' ॥ ११९ ॥

अन्वय॰—य यावदायु प्रमाण समानार्थप्रयोजन सम्पत्तौ वा विपत्तौ वा कारणै यो न भिद्यते ॥ ११९ ॥

य. = सगतसन्धि । यावदायु प्रमाण = समस्तायु पर्यन्त । समानार्थप्रयोजन = समानहित । सम्पत्तौ वा विपत्तौ वा = सुखे दु खे वा । कारणै = कै अपि हेतुभि । न भिद्यते = भेद न प्राप्नोति ॥ ११९ ॥

समान अर्थ और प्रयोजन होने के कारण समस्त जीवन में सम्पत्ति या विपत्ति किसी भी दशा में अथवा किसी कारण से जो सन्धि टूटती नहीं है ॥ ११९ ॥

सङ्गत सन्धिरेवाऽय प्रकृष्टत्वात्सुवर्णवत् ।
तथाऽन्यै॰ सन्धिकुशलैः 'काञ्चन' समुदाहृत॰ ॥ १२० ॥

अन्वय —सुवर्णवत् प्रकृष्टत्वात् अयम् सगत सन्धि एव अन्यै सन्धिकुशलै काञ्चन समुदाहृत ॥ १२० ॥

सुवर्णवत् = काञ्चनवत् । प्रकृष्टत्वात् = निर्मलत्वात् । अन्यै = अपरै । सन्धिकुशलै = सन्धिविचक्षणै । काञ्चन = काञ्चनसन्धि । उदाहृत = कथित ॥१०२॥

यह संगतसधि ही सोने के समान उत्तम होने के कारण अन्य सधिकुशल राजनीतिज्ञों द्वारा 'काञ्चनसधि' के नाम से विख्यात है ॥ १२० ॥

आत्मकार्यस्य सिद्धि तु समुद्दिश्य क्रियेत य. ।
स उपन्यासकुशलैरुपन्यास उदाहृतः ॥ १२१ ॥

अन्वय'—य आत्मकार्यस्य सिद्धिम् समुद्दिश्य क्रियेत, उपन्यासकुशलै स उपन्यास उदाहृत ॥ १२१ ॥

आत्मकार्यस्य = स्वार्थस्य । सिद्धिम् = सफलताम् । समुद्दिश्य = लक्ष्यीकृत्य । उपन्यासकुशलैः = सन्धिविचक्षणै । उदाहृत = उक्त ॥ १२१ ॥

अपने काम की सिद्धि की दृष्टि से जो सधि की जाती है उसे सधिचतुर लोग 'उपन्यास सधि' कहते हैं ॥ १२१ ॥

'मयाऽस्योपकृत पूर्व, ममाप्येप करिष्यति' ।
इति यः क्रियते सन्धि 'प्रतीकारः' स उच्यते ॥ १२२ ॥

अन्वय.—मया पूर्वम् अस्य उपकृतम् (अत) एष ममापि करिष्यति इति य सन्धि क्रियते स प्रतीकार उच्यते ॥ १२२ ॥

मया उपकृतम् = अहम् उपकरोमि । इति = इत्याशयेन ॥ १२२ ॥

मैंने पहले इसका उपकार किया है, यह मेरा भी करेगा इस दृष्टि से जो सधि की जाती है उसे प्रतीकार सधि कहते हैं ॥ १२२ ॥

'उपकारं करोम्यस्य, ममाप्येष करिष्यति' ।
अय चाऽपि प्रतीकारो राम सुग्रीवयोरिव ॥ १२३ ॥

अन्वयः—अस्य उपकारम् करोमि, एष ममापि करिष्यति रामसुग्रीवयो इव अयम् चापि प्रतीकार उच्यते ॥ १२३ ॥

अय चापि = इत्यभिप्रायेण कृत सन्धि अपि ॥ १२३ ॥

मैं इसका उपकार कर रहा हूँ, यह मेरा भी करेगा। इस प्रकार की सधि भी प्रतीकार कही जाती है जैसा राम और सुग्रीव ने किया था ॥ १२३ ॥

'एकार्थां सम्यगुद्दिश्य क्रिया यत्र हि गच्छति ।
सुसहितप्रयाणस्तु स च सयोग उच्यते' ॥ १२४ ॥

अन्वयः—एकार्थाम् क्रियाम् सम्यगुद्दिश्य यत्र गच्छति सुसहितप्रयाण स सयोग (इति) उच्यते ॥ १२४ ॥

एकार्थाम् क्रियाम् = एकप्रयोजनाम् क्रियाम् । सम्यगुद्दिश्य = पूर्णतया लक्ष्यीकृत्य सुसहितप्रयाण = सुष्ठुरीत्या मिलितगमन ॥ १२४ ॥

जहाँ समान अर्थ की सिद्धि के लिए किसी क्रिया (चढाई) को लक्ष्य करके अधिक सख्या में सेना लेकर चढाई करने के लिए सधि की जाती है वह सयोग सधि कही जाती है ॥ १२४ ॥

'आवयोर्योधमुख्यैस्तु मदर्थं साध्यता'मिति– ।
यस्मिन्पणस्तु क्रियते, स सन्धि 'पुरुषाऽन्तर' ॥ १२५ ॥

अन्वय —यस्मिन् (सन्धौ) आवयोर्योधमुख्यै मदर्थं साध्यताम् इति पण क्रियते = स पुरुषान्तर सन्धि (उच्यते) ॥ १२५ ॥

योधमुख्यै = मुख्यसुमटै । मदर्थं = मत्कार्यम् । पण = प्रतिज्ञा (शर्त) ॥

'हमारे और तुम्हारे श्रेष्ठ सैनिक आपस में मिलकर समयानुकूल सहायता देते रहें'– जहाँ इस प्रकार का निश्चय करके सधि की जाती है, वह पुरुषान्तर सधि कही जाती है ॥ १२५ ॥

'त्वयैकेन मदीयोऽर्थं सम्प्रसाध्यस्त्वसा'विति– ।
–यत्र शत्रु पण कुर्यात्सो'ऽदृष्टपुरुष' स्मृत ॥ १२६ ॥

अन्वय.—यत्र शत्रु 'एकेन त्वया मदीय असौ अर्थ सम्प्रसाध्य' इति पणम् कुर्यात् स अदृष्टपुरुष स्मृत ॥ १२६ ॥

एकेन त्वया = एकाकिना त्वया । मदीय = मत्सम्बन्धी । अर्थ = प्रयोजकम् । पणम् = प्रतिज्ञाम् ॥ १२६ ॥

'तुम्हें अकेले ही मेरे काम को पूरा करना होगा'—जहाँ शत्रु इस प्रकार की शर्त रख कर सधि करता है उसे अदृष्ट-पुरुष सधि कहते हैं ॥ १२६ ॥

'यत्र भूम्येकदेशेन पणेन रिपुरूर्जित. ।
सन्धीयते सन्धिविद्भि', स चाऽदिष्ट उदाहृत' ॥ १२७ ॥

अन्वय —यत्र भूम्येकदेशेन पणेन ऊर्जित रिपु सन्धीयते सधिविद्भि स आदिष्ट उदाहृत ॥ १२७ ॥

यत्र = यस्मिन् । सन्धौ । भूम्येकदेशेन = भूम्येकभागेन । पणेन = प्रतिज्ञया । ऊर्जित. = बलिष्ठ । रिपु = शत्रु ॥ १२७ ॥

जिस सधि में राज्य का एक भाग देकर बलवान शत्रु से सधि की जाती है उसे सन्धि के ज्ञाता आदिष्ट सधि के नाम से पुकारते हैं ॥ १२७ ॥

आत्मकार्यस्य सिद्धि तु समुद्दिश्य क्रियेत य. ।
स उपन्यासकुशलैरुपन्यास उदाहृतः ॥ १२१ ॥

अन्वय'—य आत्मकार्यस्य सिद्धिम् समुद्दिश्य क्रियेत, उपन्यासकुशलै स उपन्यास उदाहृत ॥ १२१ ॥

आत्मकार्यस्य = स्वार्थस्य । सिद्धिम् = सफलताम् । समुद्दिश्य = लक्ष्यीकृत्य । उपन्यासकुशलैः = सन्धिविचक्षणै । उदाहृत = उक्त ॥ १२१ ॥

अपने काम की सिद्धि की दृष्टि से जो सधि की जाती है उसे सधिचतुर लोग 'उपन्यास सधि' कहते हैं ॥ १२१ ॥

'मयाऽस्योपकृत पूर्व, ममाप्येप करिष्यति' ।
इति यः क्रियते सन्धि' 'प्रतीकार:' स उच्यते ॥ १२२ ॥

अन्वय.—मया पूर्वम् अस्य उपकृतम् (अत) एष ममापि करिष्यति इति य सन्धि क्रियते स प्रतीकार उच्यते ॥ १२२ ॥

मया उपकृतम् = अहम् उपकरोमि । इति = इत्याशयेन ॥ १२२ ॥

मैंने पहले इसका उपकार किया है, यह मेरा भी करेगा इस दृष्टि से जो सधि की जाती है उसे प्रतीकार सधि कहते हैं ॥ १२२ ॥

'उपकार करोम्यस्य, ममाप्येष करिष्यति' ।
अय चाऽपि प्रतीकारो राम सुग्रीवयोरिव ॥ १२३ ॥

अन्वय:—अस्य उपकारम् करोमि, एष ममापि करिष्यति रामसुग्रीवयो इव अयम् चापि प्रतीकार उच्यते ॥ १२३ ॥

अय चापि = इत्यभिप्रायेण कृत सन्धि अपि ॥ १२३ ॥

मैं इसका उपकार कर रहा हूँ, यह मेरा भी करेगा । इस प्रकार की सधि भी प्रतीकार कही जाती है जैसा राम और सुग्रीव ने किया था ॥ १२३ ॥

'एकार्थां सम्यगुद्दिश्य क्रिया यत्र हि गच्छति ।
सुसहितप्रयाणस्तु स च सयोग उच्यते' ॥ १२४ ॥

अन्वय:—एकार्थाम् क्रियाम् सम्यगुद्दिश्य यत्र गच्छति सुसहितप्रयाण स सयोग (इति) उच्यते ॥ १२४ ॥

एकार्थाम् क्रियाम् = एकप्रयोजनाम् क्रियाम् । सम्यगुद्दिश्य = पूर्णतया लक्ष्यीकृत्य सुसहितप्रयाण = सुष्ठुरीत्या मिलितगमन ॥ १२४ ॥

जहाँ समान अर्थ की सिद्धि के लिए किसी क्रिया (चढाई) को लक्ष्य करके अधिक संख्या में सेना लेकर चढाई करने के लिए सधि की जाती है वह सयोग सधि कही जाती है ॥ १२४ ॥

'आवयोर्योधमुख्यैस्तु मदर्थं साध्यता'मिति– ।
यस्मिन्पणस्तु क्रियते, स सन्धि 'पुरुषाऽन्तर' ॥ १२५ ॥

अन्वय —यस्मिन् (सन्धौ) आवयोर्योधमुख्यै मदर्थं साध्यताम् इति पण क्रियते = स पुरुषान्तर सन्धि (उच्यते) ॥ १२५ ॥

योधमुख्यै = मुख्यसुभटै । मदर्थं = मत्कार्यम् । पण = प्रतिज्ञा (शर्त) ॥

'हमारे और तुम्हारे श्रेष्ठ सैनिक आपस में मिलकर समयानुकूल सहायता देते रहें'– जहाँ इस प्रकार का निश्चय करके सधि की जाती है, वह पुरुषान्तर सधि कही जाती है ॥ १२५ ॥

'त्वयैकेन मदीयोऽर्थं सम्प्रसाध्यस्त्वसा'विति– ।
–यत्र शत्रु. पण कुर्यात्सो'ऽदृष्टपुरुष' स्मृत ॥ १२६ ॥

अन्वय —यत्र शत्रु 'एकेन त्वया मदीय असौ अर्थ सम्प्रसाध्य' इति पणम् कुर्याद स अदृष्टपुरुष स्मृत ॥ १२६ ॥

एकेन त्वया = एकाकिना त्वया । मदीय = मत्सम्बन्धी । अर्थं = प्रयोजकम् । पणम् = प्रतिज्ञाम् ॥ १२६ ॥

'तुम्हें अकेले ही मेरे काम को पूरा करना होगा'—जहाँ शत्रु इस प्रकार की शर्त रख कर सधि करता है उसे अदृष्ट-पुरुष सधि कहते हैं ॥ १२६ ॥

'यत्र भूम्येकदेशेन पणेन रिपुरूर्जित. ।
सन्धीयते सन्धिविद्भि, स चाऽदिष्ट उदाहृत' ॥ १२७ ॥

अन्वय —यत्र भूम्येकदेशेन पणेन ऊर्जित रिपु सन्धीयते सधिविद्भि स आदिष्ट उदाहृत ॥ १२७ ॥

यत्र = यस्मिन् । सन्धौ । भूम्येकदेशेन = भूम्येकभागेन । पणेन = प्रतिज्ञया । ऊर्जित = बलिष्ठ । रिपु = शत्रु ॥ १२७ ॥

जिस सधि में राज्य का एक भाग देकर बलवान शत्रु से सधि की जाती है उसे सन्धि के ज्ञाता आदिष्ट सधि के नाम से पुकारते हैं ॥ १२७ ॥

'स्वसैन्येन तु सन्धानमात्माऽऽदिष्ट उदाहृत ।
क्रियते प्राणरक्षार्थं सर्वदानादुपग्रह' ॥ १२८ ॥

अन्वय —स्वसैन्येन सन्धानम् आत्मादिष्ट उदाहृत' प्राणरक्षार्थम् सर्वदानात् (य सन्धि) क्रियते स उपग्रह (कथ्यते) ॥ १२८ ॥

स्वसैन्येन = स्वसैन्यप्रदानेन । प्राणरक्षार्थम् = आत्मरक्षणाय । सर्वदानात = राज्यादिसर्वप्रदानात् ॥ १२८ ॥

अपनी सेना देकर जो सन्धि की जाती है उसे आत्मादिष्ट सन्धि तथा अपने प्राणों की रक्षा के लिए सब कुछ देकर जो सन्धि की जाती है उसे उपग्रह सन्धि कहते हैं ॥ १२८ ॥

'कोशाऽशेनार्धकोशेन, सर्वकोशेन वा पुन. ।
शिष्टस्य प्रतिरक्षार्थं, परिक्रय उदाहृत ' ॥ १२९ ॥

अन्वय —शिष्टस्य प्रतिरक्षार्थम् कोशाशेन अर्धकोशेन सर्वकोशेन वा (य. सन्धि क्रियते स') परिक्रय उदाहृत ॥ १२९ ॥

शिष्टस्य=शत्रुहरणादवशिष्टस्य राज्यस्य । प्रतिरक्षार्थं = रक्षणाय । कोशांशेन = कोषैकभागप्रदानेन, अर्धकोशेन = कोशार्धभागेन । उदाहृत = कथित ॥ १२९ ॥

बचे हुए राज्य की रक्षा के लिए खजाने का थोड़ा, आधा अथवा पूरा खजाना देकर जो सन्धि की जाती है उसे परिक्रय सन्धि कहते हैं ॥ १२९ ॥

'भुवा सारवतीना तु दानादुच्छिन्न उच्यते ।
भूम्युत्थफलदानेन सर्वेण परभूषण ' ॥ १३० ॥

अन्वय'—सारवतीना भुवाम् दानात् 'उच्छिन्न ' (तथा) सर्वेण भूम्युत्थफलदानेन 'परभूषण ' उच्यते ॥ १३० ॥

सारवतीनाम् = रत्नाद्यादिपूर्णानाम् । भुवाम् = पृथ्वीनाम् । दानात् = प्रदानात् । सर्वेण = पूर्णेन । भूम्युत्थफलदानेन = भूम्युत्पन्नफलदानेन ॥ १३० ॥

रत्न-सुवर्ण आदि से परिपूर्ण पृथ्वी को देकर की जाने वाली सन्धि 'उच्छिन्न' और भूमि से उत्पन्न सभी फलों को देकर की जाने वाली सन्धि 'परभूषण' कही जाती है ॥ १३० ॥

'परिच्छिन्न फल यत्र प्रतिस्कन्धेन दीयते ।
स्कन्धोपनेय त प्राहुः सन्धि सन्धिविचक्षणा ' ॥ १३१ ॥

अन्वय.—यत्र प्रतिस्कन्धेन परिच्छिन्न फल दीयते, सन्धिविचक्षणा त सन्धिम् स्कन्धोपनेयम् प्राहु ॥ १३१ ॥

यत्र = यस्मिन् सन्धौ । प्रतिस्कन्धेन = बहुलांशेन (कई किश्तों में) परिच्छिन्नम् = परिमितम् । फलम् = धान्यादिकम् । सन्धिविचक्षणा = सन्धिकुशला ॥ १३१ ॥

जहाँ कई किश्तों में निश्चित धान्यादि देकर सन्धि की जाती है, उसे सन्धिकुशल लोग 'स्कन्धोपनेय' सन्धि कहते हैं ॥ १३१ ॥

'परस्परोपकारस्तु, मैत्री, सम्बन्धकस्तथा ।
उपहारश्च विज्ञेयाश्चत्वारश्चैव सन्धयः' ॥ १३२ ॥

अन्वय —परस्परोपकार, मैत्री, सम्बन्धक तथा उपहारश्च, चत्वार चैव सन्धय विज्ञेया ॥ १३२ ॥

परस्परोपकार = अन्योन्यमुपकार । मैत्री = मित्रता । सम्बन्धक = विवाहादि-सम्बन्ध । उपहार = धनादिप्रदानम् ॥ १३२ ॥

परस्पर उपकार, मित्रता, सम्बन्ध और उपहार यही चार सन्धियाँ कही जाती हैं ॥१३२॥

'एक एवोपहारस्तु सन्धिरेव मतो मम ।
उपहारविभेदास्तु सर्वे मैत्रविवर्जिता ॥ १३३ ॥

अन्वय —मम मत एक उपहार एव सन्धि एव, मैत्रविवर्जिता सर्वे उपहार-विभेदा ॥ १३३ ॥

मैत्रीसन्धिभिन्ना अन्ये त्रय सन्धय उपहारसन्धे भेदा सन्ति ॥ १३३ ॥

मेरे विचार से एक उपहार ही सन्धि है, मैत्री को छोड़ कर और सभी सन्धियाँ उपहार का ही भेद होती हैं ॥ १३३ ॥

'अभियोक्ता बलीयस्त्वादलब्ध्वा न निवर्त्तते ।
उपहारादृते तस्मात्सन्धिरन्यो न विद्यते' ॥ १३४ ॥

अन्वय —बलीयस्त्वात् अभियोक्ता अलब्ध्वा न निवर्तते, तस्मात् उपहारादृते अन्य सन्धि न विद्यते ॥ १३४ ॥

बलीयस्त्वात् = अतिसमर्थत्वात् । अभियोक्ता = आक्रामक । अलब्ध्वा = उपहार-मगृहीत्वा । न निवर्तते = न परावर्तते । तस्मात् = अत ॥ १३४ ॥

आक्रमण करने वाला बलवान होने के कारण बिना कुछ उपहार लिए नहीं लौटता है। इसलिए उपहार के अतिरिक्त और कोई सन्धि नहीं होती है ॥ १३४ ॥

राजाऽऽह—'भवन्तो महान्त, पण्डिताश्च । तदत्राऽस्माकं यथाकार्य-मुपदिश्यताम्' । दूरदर्शी ब्रूते—'आ ! किमेवमुच्यते ?—

राजा ने कहा—आप लोग बहुत बड़े और पण्डित हैं। अत इस समय हमें क्या करना चाहिए उसे बताइए। दूरदर्शी ने कहा—आप यह क्या कह रहे हैं ?

आधि-व्याधि परीतापादद्य श्वो वा विनाशिने ।
को हि नाम शरीराय धर्माऽपेतं समाचरेत्' ॥ १३५ ॥

अन्वय —आधिव्याधिपरीतापात् अद्य श्व वा विनाशिने शरीराय को नाम हि धर्मापेतम् समाचरेत् ॥ १३५ ॥

आधि = मानसी पीडा । व्याधि = शारीरिकी पीडा । परीतापात्=सन्तापात् । अद्य श्व वा = अचिरात् । विनाशिने = नाशवते । शरीराय = देहार्थम् । धर्मापेतम्= धर्मविरुद्धम् ॥ १३५ ॥

मानसिक तथा शारीरिक पीडा से आज अथवा कल नष्ट हो जाने वाले इस शरीर के लिए कौन ऐसा होगा जो धर्म के विरुद्ध आचरण करेगा ॥ १३५ ॥

'जलान्तश्चन्द्रचपलं जीवितं खलु देहिनाम् ।
तथाविधमिति ज्ञात्वा शश्वत्कल्याणमाचरेत् ॥ १३६ ॥

अन्वय —देहिनाम् जीवितम् जलान्तश्चन्द्रचपलम् खलु तथाविधम् इति ज्ञात्वा शश्वत्कल्याणम् आचरेत् ॥ १३६ ॥

देहिनाम् = शरीरधारिणाम् । जीवितम् = जीवनम् । जलान्तश्चन्द्रचपलम् = जलप्रतिबिम्बितचन्द्रेण तुल्यम् चञ्चलम् । शश्वत् = निरन्तरम् । कल्याणम् = शुभकार्यम् ॥ १३६ ॥

प्राणियों का जीवन जल में प्रतिबिम्बित होने वाले चन्द्रमा के समान चञ्चल होता है । अत उसे नाशवान् समझ कर निरन्तर कल्याणकारी कार्यों को करते रहना चाहिए ॥१३६॥

'वाताऽभ्रविभ्रममिदं वसुधाधिपत्य-
मापातमात्रमधुरो विषयोपभोग ।
प्राणास्तृणाग्रजलबिन्दुसमानलोला,
धर्मः सखा परमहो ! परलोकयाने' ॥ १३७ ॥

अन्वय —इदम् वसुधाधिपत्यम् वाताभ्रविभ्रमम्, विषयोपभोग आपातमात्रमधुर , प्राणा तृणग्रजलबिन्दुसमानलोला (अत) परलोकयाने धर्म परम् सखा (अस्ति) ॥ १३७ ॥

वसुधाधिपत्यम् = राज्यम् । वाताभ्रविभ्रमम् = वायुना ताडितघनवत् क्षणविध्वंसि । विषयोपभोग = कामोपभोग । आपातमात्रमधुर = अविचारितमनोहर । तृणाग्रजलबिन्दुसमानलोला = तृणाग्रस्थितजलकणवत् चञ्चला । परलोकयाने = परलोकयात्रायाम् ॥ १३७ ॥

यह राज्य वायु के आघात से छिन्न-भिन्न हो जाने वाले बादल के समान क्षणभङ्गुर, यह विषयों का उपभोग तात्कालिक (क्षणमात्र) मधुर लगने वाला और

ये प्राण घासों के ऊपर दिखाई पड़ने वाली ओस की बूँदों के समान चञ्चल होते हैं। परलोक यात्रा में केवल धर्म ही श्रेष्ठ मित्र का काम देता है ॥ १३७ ॥

'मृगतृष्णासम वीक्ष्य ससार क्षणभङ्गुरम्।
'सज्जनै सङ्गत कुर्याद्धर्माय च, सुखाय च' ॥ १३८ ॥

अन्वय —ससारम् मृगतृष्णासमम् क्षणभङ्गुरम् वीक्ष्य धर्माय च सुखाय च सज्जनै सङ्गतम् कुर्यात् ॥ १३८ ॥

ससारम् = इमम् लोकम्। मृगतृष्णासमम् = मरीचिकातुल्यम्। क्षणभङ्गुरम् = क्षणनश्वरम्। वीक्ष्य = दृष्ट्वा। सज्जनै मङ्गतम् = सज्जनमैत्रीम्। धर्माय = धर्म-लाभाय। सुखाय = सुखार्थम् ॥ १३८ ॥

इस ससार को मृगतृष्णा के समान क्षणभङ्गुर देख कर सुख तथा धर्मोपार्जन के लिए सज्जनों की मित्रता करनी चाहिए ॥ १३८ ॥

तन्मम समतेन तदेव क्रियताम्।' यत —

इसलिए मेरे मत से वही कीजिए क्योंकि—

'अश्वमेधसहस्राणि, सत्य च तुलया धृतम्।
अश्वमेधसहस्राद्धि सत्यमेवाऽतिरिच्यते ॥ १३९ ॥

अन्वय:—तुलया धृतम् सत्यम् अश्वमेधसहस्राणि च, अश्वमेधसहस्रात् सत्यमेव अतिरिच्यते ॥ १३९ ॥

तुलया धृतम्=तुलाया धारितम्, समुत्तोलितम्। अतिरिच्यते=वर्द्धते ॥ १३९ ॥

हजारों अश्वमेध यज्ञ और सत्य को तराजू पर रखा जाय तो हजारों अश्वमेध यज्ञ से सत्य ही अधिक भार वाला होगा ॥ १३९ ॥

अत सत्याऽभिधानदिव्यपुरस्सरमनयोर्भूपालयो. काञ्चनाभिधान 'सन्धिर्विधीयताम्'। सर्वज्ञो ब्रूते–'एवमस्तु'। ततो राजहसेन राज्ञा वस्त्रालङ्कारोपहारै स मन्त्री दूरदर्शी पूजित प्रहृष्टमनाश्चक्रवाक गृहीत्वा, राज्ञो मयूरस्य सनिधान गत। तत्र चित्रवर्णेन राज्ञा सर्वज्ञो गृध्रवचनाद्बहुमानदानपुरःसर सम्भाषितस्तथाविध सन्धि स्वीकृत्य, राज-हससमीप प्रस्थापित।

सत्याभिधानदिव्यपुरस्सरम् = सत्यनामशपथपूर्वकम्। सन्निधानम् = समीपम्। सम्भाषित =वार्तालापेन परितोषित। न = अस्माकम्। समीहितम् = ईप्सितम्।

इसलिए सत्य की शपथ लेकर इन दोनों राजाओं में काञ्चन सधि करा देनी चाहिए। सर्वज्ञ ने कहा—ठीक है ऐसा ही होना चाहिए। इसके बाद राजा राजहंस द्वारा वस्त्र

और गहनों के उपहार से सम्मानित होकर मन्त्री दूरदर्शी प्रसन्न होकर चक्रवाक को लेकर राजा मयूर के पास गया। वहाँ राजा चित्रवर्ण ने सर्वज्ञ को गृध्र के कथनानुसार बहुत अधिक दान-मान के साथ संतुष्ट करके उस सन्धि को स्वीकार कर उसे राजहंस के पास भेज दिया।

दूरदर्शी ब्रूते—'देव! सिद्धं नः समीहितम्। इदानीं स्वस्थानमेव विन्ध्याचलं व्यावृत्य प्रतिगम्यताम्'

अथ सर्वे स्वस्थानं प्राप्य, मनाभिलषितं फलं प्राप्नुवन्निति।

दूरदर्शी ने कहा—देव, हमलोगों की इच्छा पूरी हुई इस समय अपने देश विन्ध्याचल को लौट चलना चाहिए। इसके पश्चात् सभी अपने-अपने देश जाकर मनोवाञ्छित फल प्राप्त करने लगे।

विष्णुशर्मणोक्तम् - अपरं किं कथयामि, तदुच्यताम्'।

विष्णुशर्मा ने कहा—बताओ अब मैं और क्या आप लोगों को सुनाऊँ?

राजपुत्रा ऊचुः—आर्य! तव प्रसादात्सकलराज्यव्यवहाराङ्गं ज्ञातम्। ततः सुखिनो भूता वयम्।'

राजपुत्रों ने कहा—आर्य तुम्हारी कृपा से हम लोगों ने राज्य-व्यवहार के सभी अंगों को जान लिया है। जिससे हमलोग बहुत प्रसन्न हैं।

विष्णुशर्मोवाच—'यद्यप्येवं तथाप्यपरमपीदमस्तु'—

विष्णुशर्मा ने कहा—यद्यपि ऐसा है तथापि यह भी हो।

'सन्धिः सर्वमहीभुजां विजयिनामस्तु, प्रमोदः सदा,
सन्तः सन्तु निरापदः, सुकृतिनां कीर्तिश्चिरं वर्द्धताम्।
नीतिर्वारविलासिनीव सततं वक्षःस्थले संस्थिता
वक्त्रं चुम्बतु मन्त्रिणामहरहर्भूयान्महानुत्सवः'॥ १४०॥

अन्वय—विजयिनाम् सर्वमहीभुजाम् सन्धिः अस्तु, सदा प्रमोदः (अस्तु) सन्तः निरापदः सन्तु, सुकृतिनाम् कीर्तिः चिरं वर्द्धताम्, मन्त्रिणाम् वक्षःस्थले सततम् संस्थिता वारविलासिनी इव नीतिः वक्त्रम् चुम्बतु, अहरहः महान् उत्सवः भूयात्॥ १४०॥

विजयिनाम् = विजयशालिनाम्। सर्वमहीभृताम् = सर्वराज्ञाम्। प्रमोदः = आनन्दः। सन्तः = सज्जनाः। निरापदः = सुखिनः। सुकृतिनाम् = विदुषाम्। कीर्तिः = यशः। वर्द्धताम् = संसारे विस्तृता भवतु। वक्षःस्थले = उरःप्रदेशे, वार-

विलासिनीव = वेश्या इव । सततम् = सर्वदा । वक्त्रम् = मुखम् । हृदयेस्थिता राजनीति वाचि वसतु । अहरह = प्रतिदिनम् ॥ १४० ॥

सभी राजाओं का विजयी राजाओं के साथ सन्धि हो, आनन्द हो, सज्जन लोग सुखी हों, विद्वानों की कीर्ति का प्रसार हो, मन्त्रियों के हृदय में वेश्या के समान सवदा स्थित रहने वाली राजनीति उनकी वाणी में निवास करे और प्रतिदिन महान् उत्सव होता रहे ॥ १४० ॥

अन्यच्चाऽस्तु—

'प्रालेयाद्रे सुताया प्रणयनिवसतिश्चन्द्रमौलिः स यावद्
यावल्लक्ष्मीर्मुरारेर्जलद इव तडिन्मानसे विस्फुरन्ती ।
यावत्स्वर्णाचलोऽय दवदहनसमो यस्य सूर्य स्फुलिङ्ग-
स्तावन्नारायणेन प्रचरतु रचित सग्रहोऽय कथानाम् ॥ १४१ ॥

अन्वय—प्रालेयाद्रे सुताया प्रणयनिवसति चन्द्रमौलि यावत्, जलदे विस्फुरन्ती तडित् इव मुरारे मानसे लक्ष्मी यावत्, अयम् स्वर्णाचल यावत्, यस्य दवदहनसम स्फुलिङ्ग सूर्य (अस्ति), तावत् नारायणेन रचित कथानाम् अयम् सग्रह प्रचरतु ॥ १४१ ॥

प्रालेयाद्रे = हिमालयस्य । सुताया = पुत्र्या, पार्वत्या । प्रणयनिवास = प्रेमपात्रम् । चन्द्रमौलि = शिव । जलदे = मेघे । विस्फुरन्ती = उन्मिषन्ती । तडित् = विद्युत् । मुरारे = विष्णो । दवदहनसमः = दावाग्निज्वालासदृश । स्वर्णाचल = हेमकूट । नारायणेन रचित नारायणपण्डितेन निर्मित ॥ १४१ ॥

जब तक हिमालय की पुत्री पार्वती जी के प्रेम में भगवान् शकर की स्थिति रहे, जब तक बादलों के बीच चमकती हुई बिजली के समान भगवान् विष्णु के हृदय में लक्ष्मी का निवास रहे और जब तक दावाग्नि की ज्वाला के समान यह हेमकूट विद्यमान रहे, जिसकी चिनगारी के समान यह सूर्य है, तब तक नारायण पण्डित द्वारा रचित कथाओं का यह सग्रह सभी जगह प्रचलित रहे ॥ १४१ ॥

किञ्च—

'उर्वीमुद्दामसस्या जनयतु विसृजन् वासवो वृष्टिमिष्टा-
मिष्टैस्तैर्विष्टपाना विदधतु विधिवत्प्रीणन विप्रमुख्या ।
आकल्पान्तञ्च भूयात्समुपचितसुख सङ्गम सज्जनाना,
निश्शेष यान्तु शान्ति पिशुनजनगिरो दुर्जया वज्रलेपाः' ॥१४२॥

अन्वय—वासव इष्टाम् वृष्टिम् विसृजन् उर्वीम् । उद्दामसस्याम् जनयतु । विप्रमुख्या ते इष्टै विष्टपानाम् विधिवत् प्रीणनम् विदधतु । सज्जनाना सङ्गम

आकल्पान्तरम् समुपचितसुख भूयात् । वज्रलेपा दुर्जया पिशुनजनगिर, निश्शेष शान्ति यान्तु ॥ १४२ ॥

वासव = इन्द्र । इष्टाम् = अभिमताम् । वृष्टिम् = जलवर्षणम् । विसृजन् = त्यजन्, कुर्वन् । उद्दामसस्याम् = धान्यपूरितम् । उर्वीम् = पृथिवीम् । तैं = धान्यादिभि । इष्टै = यज्ञै । विप्रमुख्या = वेदज्ञा, । विष्टपानाम् = लोकानाम् । प्रीणनम्= तृप्तिम् । विदधतु = कुर्वन्तु । सज्जनाना सगम = सत्सगति । आकल्पान्तम् = कल्पान्तम् यावत् । समुपचितसुख = सुखान्वित । दुर्जया = दुर्दमनीया । वज्रलेपा = अतिनिष्ठुरा । पिशुनजनगिर = दुष्टजनवाच । निश्शेष = समूलम् । शान्तिम् = प्रशमम् ॥ १४२ ॥

इन्द्र यथेष्ट जल के द्वारा पृथ्वी को धान्य से परिपूर्ण करें, वेदज्ञ ब्राह्मण धान्यों तथा यज्ञों से देवताओं को विधिपूर्वक प्रसन्न करें। सज्जनों की सगति कल्पान्त तक सम्पत्ति और समृद्धि की देने वाली बने। वज्र के समान कठोर दुष्टों की वाणी भली भाति शान्त हो जाय ॥ १४०॥

अपरञ्च—

श्रीमान्धवलचन्द्रोऽसौ जीयान्माण्डलिको रिपून् ।
येनाऽय सग्रहो यत्नाल्लेखयित्वा प्रचारित ॥ १४३ ॥

इति हितोपदेशे सन्धिर्नाम चतुर्थ कथासग्रह ।

समाप्तश्चाऽय हितोपदेश ।

अन्वय:—माण्डलिक श्रीमान् धवलचन्द्र असौ रिपून् जीयात्, येन अयम् सग्रह' यत्नात् लेखयित्वा प्रचारित' ॥ १४३ ॥

माण्डलिक = मण्डलाधिपति । धवलचन्द्र —गुर्जरप्रदेशस्य राजविशेष । रिपून् = शत्रून् । जीयात् = विजयताम् ॥ १४३ ॥

इति हितोपदेशे सधिर्नाम चतुर्थ कथासग्रह समाप्त' ।
समाप्तोऽय हितोपदेश शुभ भूयात् ।

यह (गुर्जर प्रदेश का) मांडलिक राजा धवलचन्द्र भी शत्रुओं को जीते जिसने बड़े परिश्रम से इस सग्रह को लिखा कर इसका प्रचार कराया ॥ १४३ ॥

हितोपदेश का चौथा कथासग्रह समाप्त ।

हितोपदेश समाप्त ।

श्लोकानुक्रमणिका

(विग्रहः)

अकालसहमत्यल्पम् ८७
अजा सिंहप्रसादेन ११
अदुर्गविषय कस्य ३८
अधीतव्यवहारार्थम् १६
अन्यदा भूपण ७
अन्यदुच्छृङ्खल सत्त्वम् ६०
अपीडयन् बल शत्रून् ५८
अप्रसादोऽनधिष्ठानम् ५७
अभेदेन च युध्येत ५४
अवस्कन्दभयाद्राजा ७४
अविद्वानपि भूपाल ७५
असतुष्टा द्विजा नष्टा ४८
अस्माभिर्निर्मिता ५
आत्मनश्च परेषा च ७
आत्मपक्ष परित्यज्य ४१
आत्मोदय परग्लानि ५९
आरभन्तेऽल्पमेवाऽज्ञा. ७९
आसीद्वीरवरो नाम ६२
आहवेषु च ये शूरा ९३
उद्यतेष्वपि शस्त्रेषु १२
उपजापश्चिरारोधो ८८
एक शत योधयति ३७
किं मन्त्रेणाऽननुष्ठाने ५०
कौर्म सकोचमास्थाय ३६
क्रतौ विवाहे व्यसने ८१
क्रूरामित्र रणे चापि ५९
खल करोति दुर्वृत्त १९
ख्यात सर्वरसाना ४०
चितौ परिष्वज्य २६
छिद्र मर्म च वीर्य च ४४
जनयन्ति सुतान् ९३
जायन्ते च म्रियन्ते ६७
तिस्र कोट्योऽर्धकोटी २५
तीर्थाश्रमसुरस्थाने ३०
दक्ष श्रियमधिगच्छति ७५
दाता क्षमी गुणग्राही ८८
दायाददपरो यस्मात् ५८
दीर्घवर्त्मपरिश्रान्त ७३
देवतासु गुरौ गोषु ७८
दुर्ग कुर्यान्महाखातम् ३८
दुर्जनैरुच्यमानानि २१
दुर्मन्त्रिण कमुपयान्ति ७६
दूतो म्लेच्छोऽप्यवध्य ४६
दूरे भीरुत्वमासन्ने ३५
दूषयेच्चास्य सतत ५४
धनानि जीवितञ्चैव ६६
धान्याना सङ्ग्रहो ४०
धूर्त स्त्री वा ८४
नगरस्थो वनस्थो वा २४
न तथोत्थाप्यते ग्रावा ३४
नद्यद्रि-वन-दुर्गेषु ५०
न नरस्य नरो दासो ५३
नन्द जघान चाणक्य ४५
न राज्य प्राप्तमित्येव ७४
नरेशे जीवलोकोऽयम् ९२
न सा सभा यत्र ४६
न साहसैकान्तरसा ७६
न स्थातव्यम् न १९
नाशयेत्कर्षयेत् ५३
पङ्कपांशुजलाच्छन्नम् ७३
पदातीश्च महीपाल ५४
पय पान भुजङ्गानाम् ४
परस्परज्ञा सहृष्टा ८२
परुषाण्यपि या प्रोक्ता २४
परोऽपि हितवान्बन्धु ६१
पश्चात्सेनापति ५१
पाप, स्त्री, मृगया ७५
पार्श्वयोरुभयोरश्वा ५१
पुण्याल्लब्ध यदेकेन ७०
पुरस्कृत्य बल राजा ८७
पुरावृत्तकथोद्गारै ७२
प्रकृति स्वामिन ९१
प्रजा सरक्षति नृप २
प्रत्यक्षेऽपि कृते दोषे २२
प्रत्यूह सर्वसिद्धीनाम् ३५
प्रथम युद्धकारित्वम् ५६
प्रमत्त भोजनव्यग्र ७३
प्रसाद कुरुते पत्यु १८
प्रिय ब्रूयादकृपण ६८
बलमश्वश्च सैन्यानाम् ५५
बालाध्यक्ष गुरो ५१

बलिना सह योद्धव्यम् ३६
बलेषु प्रमुखो हस्ती ५५
भक्तो गुणी शुचिर्दक्ष १७
भर्त्ता हि परमं नार्या २४
भवेऽस्मिन्पवनो ९०
भवेत्स्वपरराष्ट्राणाम् २९
भूमिर्मित्रं हिरण्यं च ४९
मन्त्रभेदे हि ये दोषा ३१
मन्त्रिणा भिन्नसंधाने ७९
महत्यल्पेऽप्युपायज्ञ ३७
महानप्यल्पतां याति १०
महीभुजो मदान्धस्य ८५
मित्रामात्यसुहृद्वर्गा ४८
मुदं विषाद ७७
मूर्ख स्वल्पव्यय ८१
यत्र तत्र हत शूर ९४
यत्र राजा तत्र कोशो ५३
यथा कालकृतोद्योगात् ३४
यथा प्रभुकृतान्मानात् ५६
यदि न स्यान्नरपति २
यदि समरमपास्य ९०
यस्य नास्ति स्वयं ७८
यस्मै दद्यात् पिता २६
य काकिणीमपि ८०
य स्वभावो हि यस्य ४३
युध्यमाना हयारूढा ५५
येषा राज्ञा सह ८५
योऽकार्यं ६९
यो यत्र कुशल कार्ये ३९
यो येन प्रतिबद्ध ८४
राजा मत्त शिशुश्चैव १७
लुब्ध ७०
वरमल्पबल सारम् ५७
वर्णाऽऽकारप्रतिध्वानै २८
विजेतु प्रयतेताऽरीन् ३३
विद्वानेवोपदेष्टव्य ४
विग्रह करितुरंग ९४
विशन्ति सहसा मूढा ४९
विषमोऽपि यथा नक्र ८६
विस्तीर्णतातिवैषम्यम् ३८
वैद्यानामातुर श्रेयान् २९
वैद्यो गुरुश्च मन्त्री च ७०
व्यपदेशोऽपि सिद्धि ११
व्यालग्राही यथा व्याल २५
शत दद्यान्न २८
शिष्टैरप्यविशेषज्ञ ८३
शैलेषु दुर्गमार्गेषु ५२
षट्कर्णो भिद्यते ३१
स किं भृत्य ३२
सत्य शौर्यं दया ८३
सन्धाय युवराजेन ५८
स मूर्ख कालमप्राप्य ३६
समेयाद्विषमं नागै ५२
सर्व एव जन शूर ३४
साम्ना दानेन भेदेन ३३
सुचिर हि चरन्नित्यम् ७
सुभटा शीलसम्पन्ना ८३
सुमन्त्रित सुविक्रान्त ८८
सेवितव्यो महावृक्ष १०
स्यन्दनाश्वै समे ५४
स्वदेशज कुलाऽऽचार १६
स्पृशन्नपि गजो हन्ति १२
स्वभावशूरमस्त्रज्ञम् ५६
स्वराज्य वासयेद् राजा ५९
स्वापकर्षं परोत्कर्षं ४७
स्वाम्यमात्यश्च ९१
हसै सह मयूराणाम् १
हर्षक्रोधौ यतौ ८५
हस्तिना गमनं प्रोक्त ५२
हीनसेवा न कर्तव्या १०

श्लोकानुक्रमणिका

(सन्धिः)

अकाण्डपातजातानां ७४
अकालयुक्तसैन्यस्तु ३३
अज्ञः सुखमाराध्यः ६६
अज्ञानं कारणं न ५४
अत एव हि नेच्छन्ति ५२
अदेशस्थो हि रिपुणा ३२
अदेशस्थो बहुरिपुः २८
अदृष्टनर आदिष्ट ७०
अनागतविधाता च ५
अनागतवती चिन्ता १८
अनित्यं यौवनं रूपं ४९
अनेकचित्तमन्त्रस्तु ३१
अनेकयुद्धविजयी २७
अपराधः स दैवस्य २
अभियोक्ता बलीयान् ७५
अभियुक्तो यदा पश्येत् १७
अविचारयतो १३
अश्वमेधसहस्राणि ७७
आत्मकार्यस्य सिद्धिं ७२
आत्मा नदी संयम ५६
आत्मौपम्येन यो वेत्ति ३७
आदेयस्य प्रदेयस्य ६२
आधिव्याधिपरीताप ७६
आपातरमणीयानां ५१
आवयोर्योधमुख्यैः ७३
आसन्नतरतामेति ४८
आहारो द्विगुणः ७
उत्पन्नमापदं यस्तु ६
उत्सवे व्यसने युद्धे ४६
उत्साहशक्तिहीनत्वात् २९
उपकर्त्राऽरिणा १६
उपकारं करोम्यस्य ७२
उपायं चिन्तयन् ९
उर्वीमुद्दामसस्याम् ७९
एक एवोपहारस्तु ७५
एकदा न विगृह्णीयात् ६१
एकार्थां सम्यगुद्दिश्य ७२
एतैः सन्धिं न कुर्वीत २८
कपाल उपहारश्च ७०
कपालसन्धिर्विज्ञेयः ७०
कर्मानुमेयाः सर्वत्र ६६
कामः क्रोधस्तथा ६३
कामं सर्वात्मना ५८
कायः संनिहितापाय ४८
कृतकृत्यस्य भृत्यस्य १२
क्रोशार्धेनाधं ७४
क्रोडीकरोति ४७
क्व गता पृथिवीपाला ४७
जन्म-मृत्यु-जरा ५७
जमदग्नेः सुतस्येव २७
जलान्तश्चन्द्रचपलं ७६
जातस्य हि ध्रुवो ४७
ज्ञानश्रेष्ठो द्विजः २४
तावद्भयेन भेतव्यम् १७
त्यजेत्क्षुधार्ता महिला ८०
त्वयैकेन मदीयोऽर्थ ७३
दुःखमेवाऽस्ति ७७
दुःखितोऽपि चरेद्धर्मं ७५
दुर्जनदूषितमनसः ६८
दुर्भिक्षव्यसनी चैव ३२
दैवोपहतकश्चैव २८
धार्मिकस्याभियुक्तस्य २५
न भूप्रदानं न ४२
न शरन्मेघवत्कार्यं ६०
न स्त्रीणामप्रियं ६
नायमत्यन्तसंवासो ५०
नीचः श्लाघ्यपदं १३
पञ्चभिर्निर्मिते देहे ४९
परस्परोपकारस्तु ७५
परिच्छिन्नं फलं ७४
प्रणयादुपकाराद्वा ११
प्रतिक्षणमयं कायः ४८
प्रालेयाद्रेः सुतायाः ७९
बलिना सह योद्धव्यम् २६
बलीयसाऽभियुक्तस्तु ७०
बहुशत्रुस्तु सन्त्रस्तः ३२
बालो वृद्धो दीर्घरोगी २७
बालस्याल्पप्रभावः २९
भक्षयित्वा बहून् १५
भीरुर्युद्धपरित्यागात् ३०
भुवां सारवतीनां तु ७४

- मतिर्दोलायते सत्य ३९
- मत्तः प्रमत्तश्चोन्मत्तः ४१
- मदोद्धतस्य नृपते २०
- मयास्योपकृतं पूर्वं ७२
- मृगतृष्णासमं ७७
- मृद्घटवत्सुखभेद्यो ६५
- यत्र भूम्येकदेशेन ७३
- यथा काष्ठञ्च ४९
- यथा हि पथिकः ४९
- यद्भावि न तद्भावि ८
- यद्यप्युपायाश्चत्वारो ६५
- यामेव रात्रिं ५३
- यावत् कुरुते जन्तुः ५०
- यावन्नायुः प्रमाणस्तु ७१
- या हि प्राणपरित्याग ३४
- युद्धे विनाशो भवति २२
- योऽर्थतत्त्वमविज्ञाय ६१
- यो हि धर्मं पुरस्कृत्य २१
- रक्षितव्यं सदा वाक्यं ३
- लुब्धमर्थेन गृह्णीयात् ६९
- लुब्धस्याऽसंविभागि ३०
- लोको वहति किं ४४
- वनेऽपि दोषा ५५
- वाताभ्रविभ्रममिदं ७६
- वित्तं सदा यस्य ३४
- विरक्तप्रकृतिश्चैव २८
- विश्वासप्रतिपन्नानाम् ३७
- विषमां हि दशां प्राप्य ३
- वृत्त्यर्थं भोजनं ५६
- वृत्ते महति संग्रामे १
- व्रजन्ति न निवर्तन्ते ५१
- सङ्गः सर्वाऽऽत्मना ५८
- सञ्चिन्त्य सञ्चिन्त्य ५३
- सङ्गतः सन्धिरेवायम् ७१
- सपत्नेश्च विपत्तेश्च ३१
- संयोगो हि वियोगस्य ५१
- संहतत्वाद्यथा वेणु २६
- सत्याऽऽर्यौ २५
- सत्यधर्मव्यपेतेन ३३
- सत्योऽनुपालयन् २५
- सदाऽधर्मबलीयस्त्वात् ३१
- सद्भावेन हरेन्मित्रं ६९
- सन्धिमिच्छेत्समेनापि २२
- सन्धि २६
- सन्धिः सर्वमहीभुजां ७८
- सन्तानसन्धि ७१
- सन्त्यज्यते प्रकृतिभिः ३०
- सरसि बहुशस्तारा ६७
- सर्वकामसमृद्धस्य ४२
- सहसा विदधीत न ६४
- सुकृत्यान्यपि कर्माणि ५२
- सुखाऽऽस्वादपरो यस्तु ५२
- सुखोच्छेदो हि २९
- सुगुप्तिमाधाय ३५
- सुहृदां हितकामानां ३
- सुहृद्बलं तथा राज्यम् २१
- स्कन्धेनापि वहेत् ४५
- स्कन्धेनोपनेय ७०
- स्मृतिस्तत्परताऽर्थेषु ६४
- स्वसैन्येन तु ७४
- स्वामिमूला भवन्त्येव ४२